महाराणा प्रताप : एक सृजनात्मक व्यक्तित्व

MAHARANA PRATAP : A CREATIVE PERSONALITY

मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

की पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबंध

मानविकी संकाय

शोधकर्ता

मनीष श्रीमाली



शोध-निर्देशक

प्रो. मीना गौड़

पूर्व आचार्य, इतिहास विभाग

इतिहास विभाग

मानविकी संकाय

मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

2019

शोध सारांश

16वीं शताब्दी भारतीय इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण रही है। इस कालखण्ड में राणा सांगा, बाबर, उदयसिंह, अकबर, शेरशाह तथा प्रताप जैसे वीर और बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्तित्व हुए। इन्होंने भारतीय इतिहास को नए आयाम दिए थे। इन सभी में प्रताप एक ऐसा व्यक्तित्व है जिसने अपने स्वाभिमान, कुल वंश एवं स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अपने समय के सबसे शक्तिशाली शासक अकबर से भी दीर्घकालीन संघर्ष करना स्वीकारा किंतु समकालीन राजपूताना के अन्य शासकों के समान समर्पण नहीं किया। यही वजह थी कि प्रताप स्वतंत्रता की भावना के प्रेरणा स्त्रोत बन गए। प्रताप को अकबर के साथ कई बड़े युद्धों को लड़ना पड़ा था जिसमें हल्दीघाटी युद्ध सबसे मुख्य था। प्रताप के जीवन का एक महत्वपूर्ण दौर संघर्ष एवं युद्ध में ही बीता था अतः प्रताप के मूल्यांकन के समय विद्धानों ने राजनीतिक पक्ष अधिक प्रबल रहा। प्रताप के जीवन के किसी एक पक्ष पर ज्यादा जोर देने पर प्रताप का समग्र मूल्यांकन नहीं हो पाया है बल्कि यह एकांकी चित्रण मात्र है। अतः उक्त शोध ग्रंथ के अध्यायों की रचना इस प्रकार की गई है प्रताप के जीवन के अनछुए पहलुओं का विस्तृत मूल्यांकन हो जिससे प्रताप के विराट व्यक्तित्व को विस्तार से जाना जा सकें। प्रस्तुत शोध ग्रंथ प्रताप के राजनीतिक पहलुओं के इतर युद्ध कर्म, कूटनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक एवं कला के पक्षों पर जोर देते हुए प्रताप के व्यक्तित्व के सृजनात्मक पक्ष को उजागर करने का प्रयास किया गया है।

प्रताप के शासक बनने से पूर्व ही मेवाड़ राज्य का एक बड़ा भाग शत्रु के अधिन हो चुका था। जिसका परिणाम संसाधनों की कमी के रूप में दिखाई देता है। प्रताप के समीप जहां प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधन सीमित थे वहीं उसका सामना संसाधनों से समृद्ध अकबर से था। प्रताप की रचनात्मकता यहां दिखाई देती है कि उसने सीमित संसाधनों का इस प्रकार वितरण सुनिश्चित किया कि प्रजा की भौतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके अतः प्रताप ने जलाशय एवं मंदिर निर्माण किया एवं जनपयोगी साहित्य का सृजन करवाया। प्रताप के द्वारा जिस कुशलता से अकबर जैसे शक्तिशाली शासक से दीर्घकाल

तक सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया वह प्रताप की सैन्य एवं प्रशासनिक गुणों को उजागर करता है। प्रताप ने इस संघर्ष दौर में रणनीति एवं राजनीति के परंपरगत सिद्धातों से हटकर नवीन सिद्धांतों का सफलतापूर्वक प्रतिपादित किया। मेवाड़ का पश्चिमी एवं दक्षिणी क्षेत्र जनजातिय बाहुल्य है। भील, मुस्लिम, सामान्य एवं कुलीन जन ने जिस एकता एवं सौहार्द्र के साथ प्रताप का साथ दिया वह प्रताप के करिश्माई नेतृत्व को दर्शाता है।

प्रस्तुत शोध ग्रंथ 'महाराणा प्रताप: एक रचनात्मक व्यक्तित्व' का मूल उद्देश्य बहुआयामी प्रतिभा के धनी प्रताप का मूल्यांकन एवं विश्लेषण सदैव राजनीतिक पृष्ठभूमि में ही हुआ है। प्रताप का विराट व्यक्तित्व कुछ संकीर्ण मुद्दों में ही उलझ कर रह गया है, जिसके बाहर बहुत कम लेखकों ने प्रताप को देखने का प्रयास किया है। प्रताप देशी बनाम विदेशी शासक के मध्य संघर्ष, साम्राज्यवाद के विरूद्ध स्वतंत्रता संघर्ष, हल्दीघाटी युद्ध में प्रताप की विजय या पराजय, प्रताप का संघर्ष राष्ट्रीय एकता में बाधा था जैसे प्रश्नों तथा राजनीतिक बौद्धिक विवाद में उलझ कर रह गया हैं। ज्यादातर विद्वानों के लेखन की विषय-वस्तु इसी के इर्द-गिर्द घूमती रही हैं। प्रतप के व्यक्तित्व का सृजनात्मक पक्ष जो संघर्ष के समय निखरा एवं शांति काल में वास्तुकला एवं चित्रकला के रूप में परिपक्व होकर सामने आया। अतः प्रताप के इन्हीं पक्षों को लेकर के शोध प्रबन्ध के अध्यायों की रचना की गई है। शोध प्रबन्ध कुल छः अध्यायों में विभाजित है। प्रताप की कूटनीति, युद्ध रणनीति एवं गुरिल्ला युद्ध, प्रशासनिक व्यवस्था, आर्थिक स्थिति तथा कलात्मक कार्य को भिन्न-भिन्न अध्यायों में वर्गीकृत कर इन पर विस्तृत अध्ययन किया गया है। जो कि प्रताप के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को समझने में सहायक है।

प्रताप ने कूटनीति के बल पर अपने आंतरिक एवं बाह्य समस्याओं को नियंत्रण में रखा। प्रताप की कूटनीति प्रयासों के तीन रूप दिखाई देते है- प्रथम शक्ति संतुलन का सिद्धांत जिसमें पड़ोसी राज्यों को अपने विपरित परिस्थितयों में भी अपने प्रभाव में रखने में सफल रहा। दूसरा वैवाहिक कूटनीति जिसके बल पर प्रताप ने अपने सामंतों व पड़ोसी राज्यों का विश्वास अर्जित किया। तीसरा शिष्टमण्डल की कूटनीति जो बेहद संवेदनशील एवं घातक परिणामों वाली थी

किंतु प्रताप ने शांति एवं युद्ध काल दोनों ही हालातों में कूटनीति सफलता से शत्रु को रणनीतिक लाभ नहीं लेने दिया। कूटनीतिक सफलता ने प्रताप को मुगल सेनाओं का सामना करने में सक्षम बनाया था। किंतु प्रताप सैन्य कुशलता के बल पर ही दीर्घकालीन संघर्ष का सामना कर रहे थे। प्रताप की युद्ध नीति में परंपरागत युद्ध नीति में निरंतरता एवं परिवर्तन के तत्व दृष्टिगोचर होते है। हल्दीघाटी एवं दीवेर में मैदानी युद्ध लड़ा गया तो इन दोनों युद्ध के मध्य के दौर में छापामार युद्ध नीति की प्रमुखता रही। प्रताप की युद्ध नीति की सफलता में प्रताप के सामंतों की सैन्य कुशलता एवं वीरता तो थी ही किंतु सबसे महत्वपूर्ण जन सहयोग रहा। विशेषकर छापामार युद्ध में भी प्रताप एवं उसके सामंतों की सेना के अतिरिक्त जन- सामान्य भी युद्ध में शामिल हुआ था। रणनीति एवं कूटनीति के माध्यम से प्रताप बाहरी शत्रुओं को नियंत्रित रखने में सफल रहा। इसे स्थायित्व सुदृढ़ आंतरिक प्रशासन ने दिया। यह सफलता आंतरिक प्रशासन की सुदढ़ता से स्थायी बनी रही तथा शत्रु सेना इसमें किसी प्रकार की सेंधमारी नहीं कर सकी। कर्नल टॉड जैसे इतिहासकारों ने प्रताप के काल को आर्थिक संसाधनों के अभाव के रूप में चित्रित किया है किंतु प्रताप की संपूर्ण सफलता उसके आर्थिक संसाधनों पर ही निर्भर करती थी। प्रताप के समकालीन स्त्रोत आईन-ए-अकबरी तथा प्राप्त ताम्रपत्र से यह सिद्ध होता है कि मेवाड़ का क्षेत्र आर्थिक रूप से समृद्ध था। प्रताप को कृषि, कर, उद्योग, खनन तथा मुगल क्षेत्र की लूट से आय प्राप्त हो रही थी। समृद्ध था। प्रताप को कृषि, कर, उद्योग, खनन तथा मुगल क्षेत्र की लूट से आय प्राप्त हो रही थी। प्रताप का काल संघर्ष, शांति एवं सृजन का काल था। अभी तक प्रताप के राजनीतिक एवं सैन्य पक्ष पर ही अधिक शोध हुआ है। सृजन पक्ष पर ध्यान दिया गया किंतु उस पर केन्द्रण अपेक्षाकृत कम रहा। इन अनछुए पहलुओं पर ध्यान केन्द्रीत करने का प्रयास किया गया है।

Key Words : महाराणा प्रताप, मेवाड़, कौटिल्य, मध्यकालीन, युद्ध नीति

C E R T I F I C A T E

I feel great pleasure in certifying that the thesis entitled **"महाराणा प्रताप : एक सृजनात्मक व्यक्तित्व " (MAHARANA PRATAP : A CREATIVE PERSONALITY)** by **MANISH SHRIMALI** under my guidance.

He has completed the following requirements as per Ph.D. regulations of the University.

(a) Course work as per the university rules.

(b) Residential requirement of the university.

(c) Regularly submitted six monthly progress report.

(d) Presented his work in the departmental committee.

(e) Published/accepted minimum of one research paper in a referred research journal.

I recommend the submission of thesis.

Date :

Prof. Meena Gaur
Supervisor

अनुक्रमणिका

मानचित्र की सूची

चित्रों की सूची

अध्याय प्रथम

मेवाड़ की भौगोलिक स्थिति एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अध्याय प्रथम

मेवाड़ की भौगोलिक स्थिति एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मेवाड़ की भौगोलिक स्थिति

मेवाड़ के प्राचीन नाम

वर्तमान मेवाड़ क्षेत्र भिन्न-भिन्न समय में अलग-अलग नामों से जाना जाता रहा है। ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी के आसपास इसे शिवि-जनपद कहा जाता था। 9वीं-10वीं शताब्दी में प्राग्वाट, मेदपाट और मेवाड़ तीन संज्ञाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। किंतु मेवाड़ नामक संज्ञा सर्वाधिक प्रचलित रही थी। 19वीं शताब्दी से इस प्रदेश को उदयपुर राज्य भी कहा जाने लगा था।[1] यही मेवाड़ क्षेत्र वर्तमान समय में भारतीय गणतंत्र के राजस्थान राज्य का उदयपुर संभाग कहलाता है। इस संभाग में सम्मिलित तीन जिलें यथा-उदयपुर, चित्तौड़ तथा भीलवाड़ा, प्राचीन मेवाड़ राज्य के मुख्य भाग है। शेष दो जिले डूंगरपुर तथा बांसवाड़ा मेवाड़ क्षेत्र की भौगोलिक सीमा में नहीं आते।

मेवाड़ की अवस्थिति

मेवाड़ राज्य राजस्थान के दक्षिण में स्थित है। इसकी सीमाएँ एवं आकार समय-समय पर बदलते रहे है, जैसे- किसी समय में, इसकी सीमाएं पूर्व में भिल्सा व चंदेरी, दक्षिण में रेवाकांठा व महीकांठा, पश्चिम में पालनपुर उत्तर में बयाना तक प्रसारित थी। मेवाड़ प्रदेश 23°49' से 25°28' उत्तर अक्षांश और 73°1' से 75°49' पूर्व देशांत्तर के बीच फैला हुआ है। इसकी लंबाई उत्तर से दक्षिण 107.60 मील है और चौड़ाई पूर्व से पश्चिम 163.04 मील है। इसका क्षेत्रफल 12,691 वर्गमील था।[2] इसके उत्तर में अजमेर-मेरवाड़ा और शाहपुरे (फूलिये) का इलाका, पश्चिम में जोधपुर और सिरोही राज्य, नैत्रदित्य कोण में

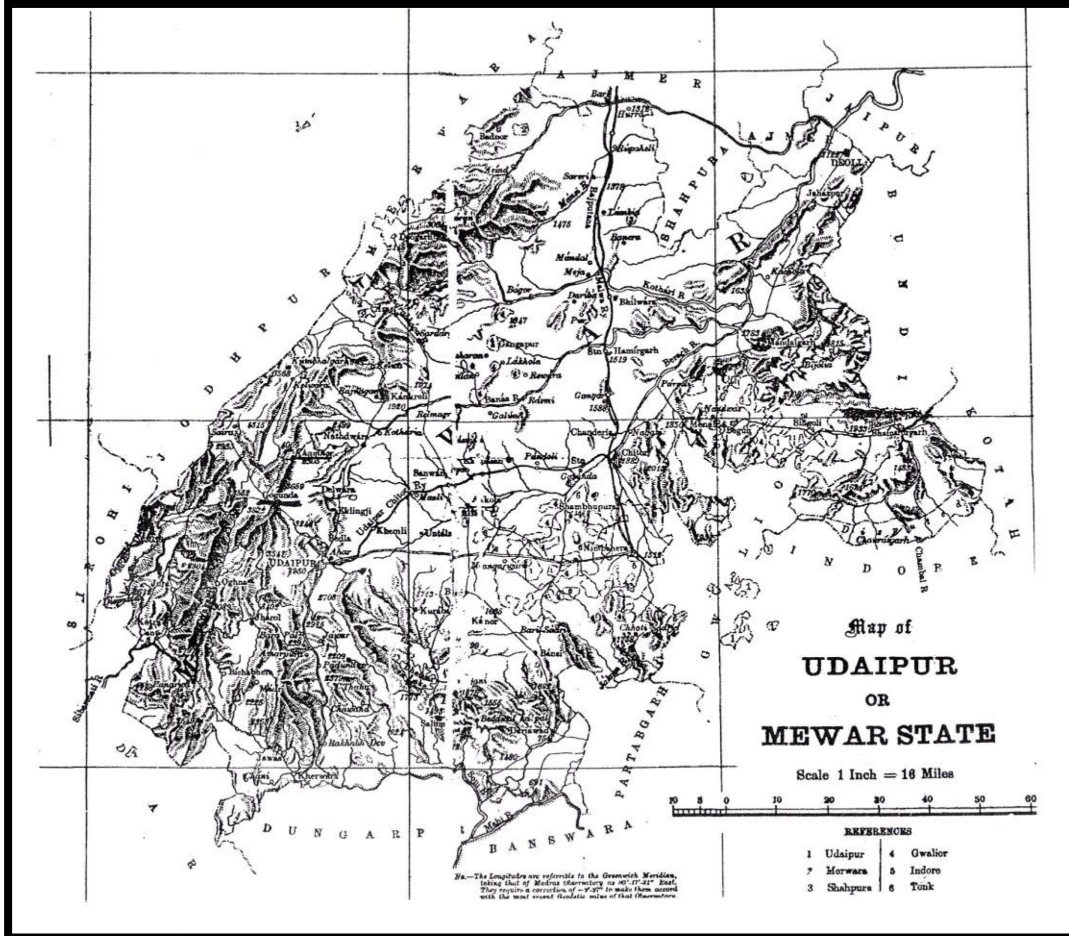
---

1 मेवाड़ रेजीडेन्सी तथा एजेन्सी रिकार्ड में इसे उदयपुर राज्य कहा जाता था।

2 वीर विनोद, भाग 1, पृ. 100; Rajputana Gazetteers. P.No. 107

ईडर, दक्षिण में डुंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ राज्य और पूर्व में सिंधिया का परगना नीमच, टोंक का परगना, निम्बाहेडा और बूंदी तथा कोटा राज्य है, ईशान कोण में बूंदी और कुछ जयपुर से घिरा हुआ है।[1]

मानचित्र संख्या 1.1 : मेवाड़ राज्य का भौगोलिक मानचित्र



भौगोलिक वर्णन

मेवाड़ के पश्चिमी, पश्चिमी-दक्षिणी, उत्तरी और पूर्वी सीमा का अधिकांश भाग पहाड़ी है। मध्य का भाग मैदानी है। इस प्रकार मेवाड़ चारों ओर से पर्वतों से आच्छादित है। प्राकृतिक दृष्टि से मेवाड़ को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं:

1. पर्वतीय भाग
2. मैदानी भाग।

---

1 Rajputana Gazetteers, P. No. 107

मेवाड़ में मैदानी भूमि की अपेक्षा पर्वतीय भूमि अधिक है। यहाँ पाई जाने वाली प्रमुख पर्वत श्रृंखला अरावली है। अरावली को अर्वली या आड़ावला के नाम से भी जाना जाता है। अरावली शब्द का अर्थ है आरा या आड़ा याने रूकावट और टेढ़ापन।[1] अरावली का विस्तार मुख्यरूप से मेवाड़ की पश्चिमी सीमा पर है जो उत्तर में दीवेर से लेकर दक्षिण में देवल तक विस्तृत है। अरावली पर्वतमाला मेवाड़ के लिए प्राकृतिक परकोटे का कार्य करती है। उत्तर में अजमेर-मेरवाडा़ की तरफ इसकी ऊँचाई समुद्र की सतह से 2383 फीट है किंतु चौड़ाई कम है। अरावली की दक्षिण में चौड़ाई व ऊँचाई दोनों ही अधिक है। कुंभलगढ़ की ऊँचाई 3568 फीट है वहीं जरगा की ऊँचाई 4315 फीट है।[2] पहाड़ियों की ढलान वनों से आच्छादित है, जहाँ विभिन्न प्रकार के वन्य-प्राणी निवास करते हैं। इन पर्वत-श्रेणियों में कई दर्रे है जिनके माध्यम से आवागमन सुलभ हो पाता है। इन पर्वत-श्रेणी में होकर निकलने वाले तंग रास्तों को यहां नाल कहते हैं। वहाँ पाई जाने वाली प्रमुख नालों में देसुरी की नाल, जीलवाड़ा की नाल, सोमेश्वर की नाल तथा हाथीगुड़ा की नाल प्रमुख हैं। ये सभी 'नाले' मेवाड़-मारवाड़ मार्ग पर स्थित है। जीलवाड़ा की नाल को पगल्या नाल भी कहते हैं, यह 4 मील लंबी तथा बहुत संकड़ी है। देबारी से लगाकर राज्य का सारा पश्चिमी और दक्षिणी हिस्सा पहाड़ियों से भरा हुआ है। मेवाड़ की पहाड़ियाँ बहुधा घने जंगलों से भरी हुई है और वहां जल भी पर्याप्त है।[3]

अरावती पर्वतमाला विभिन्न छोटी-छोटी पर्वत श्रृंखलाओं का सम्मिलित रूप है, जिन्हें अलग-अलग क्षेत्रों मे भिन्न-भिन्न नामों से जाना ताता है। उसमें मेवाड़ मे पाई जाने वाली 1.मेरवाड़ा का पर्वतीय भाग, 2. जरगा पर्वतमाला, 3. रणकपुर-गोगून्दा का भाग, 4.भोमट के पहाड़, 5.गिरवा पर्वत-माला, 6. मगरा के पर्वत, 7. धरियावाद पर्वतमाला, 8. ऊपरमाल का पठार सम्मिलित है।

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1 पृ. 16

2 वीर विनोद, भाग 1, पृ. 105-106

3 Rajputana Gazetteers, P. No. 107

मेरवाड़ा का पर्वतीय भाग अजमेर-मेवाड़ की सीमा पर स्थित है तथा यहां का पर्वतीय भाग अधिक ऊँचा नहीं है। जरगा पर्वतमाल कुंभलगढ़ के समीप है। यह भू-भाग काफी ऊँचा है और जंगल भी काफी घना है। इस क्षेत्र में कई प्राकृतिक घाटियां भी हैं। इस कारण सैनिक दृष्टि से यह क्षेत्र बड़ा महत्वपूर्ण समझा जाता रहा है। रणकपुर गोगून्दा पर्वतमाला रणकपुर से गोगुन्दा तक विस्तृत है। गोगून्दा मेवाड़ महाराणाओं की शरणस्थली रहा है। यहाँ कई छोटे-बड़े पर्वत स्थित है जिनमें गोगुन्दा राणा-काकर, माल, गूलर के पहाड़ उल्लेखनीय रहे है। मेवाड़ का दक्षिण-पश्चिमी पहाड़ी भाग 'भोमट' के नाम से जाना जाता है। गोगुन्दा से 'सरवण' ग्राम तक दो समानान्तर पर्वतमालाए चलती है। एक पर्वतमाला ओगुणा, कमलनाथ कोल्यारी होकर के जाती है। जबकि दूसरी पर्वतमाला वाकल नदी के पश्चिम में होकर के जाती है। दोनों के बीच में प्राचीन मार्ग भी था जो ईडर और गुजरात की ओर जाता था। भोमट का क्षेत्र जंगलों से घिरा हुआ है और मेवाड़ का सर्वाधिक घना पर्वतीय भाग है। यहाँ औसत वर्षा भी अधिक होती है। इसी कारण 'सरवण' कमलनाथ का क्षेत्र संकट के समय मेवाड़ के शासकों की शरणस्थल था। वर्तमान का उदयपुर नगर गिरवा की पहाड़ियों में स्थित हैं।[1] गिरवा शब्द गिरिवाट से बना है।[2] गिरवा की पहाड़ियाँ तस्तरीनुमा फैली हुई है जिसके मध्य में उदयपुर स्थित है। दक्षिण में डूंगरपुर की सीमा से लगाकर पश्चिम में सिरोही की सीमा तक का सम्पूर्ण हिस्सा ऊँचा होने के कारण "मगरे" के नाम से जाना जाता है। यह क्षेत्र भी पहाड़ी है और घना जंगल है। जयसमंद झील भी उसी क्षेत्र में है। मेवाड़ का उत्तर तथा पूर्वी भाग पठारी जिसे उत्तरमाद्री या उपरमाल के नाम से जाना जाता है। इसका विस्तार चितौड़ से बेंगू, बिजोलिया तथा माण्डलगढ़ तक है।[3]

मैदानी भाग

मेवाड़ का मध्य भाग मैदानी भाग कहलाता है। यह भाग बनास और उसकी सहायक नदियों द्वारा सिंचित है। इनमें पहाड़ी भाग बिल्कुल नहीं के

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ. 16-17

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ. 16-17; मंगल, तारा, महाराणा कुंभा और उनका काल, पृ. 3-4

3 Human Geography of Mewar. P.No. 10

बराबर है। कहीं छुट-पुट पहाड़ियाँ हैं, जैसे-भटक का पर्वत, सांडमाता का पर्वत, हिरण्या-महादेव के मगरे, मंगरोप के मगरे, बनेड़ा के मगरे आदि। मैदानी भागों में उदयपुर जिले के मावली, फतहनगर, राजसमंद जिले के रेलमगरा तथा आमेट (का कुछ भाग), भीलवाड़ा जिले के भाग (मांडलगढ़ उपखण्ड को छोड़कर), चितौड़ जिले को (ऊपर-साल से लगे भाग को छोड़कर) सम्मिलित किया जा सकता है। यहाँ अधिकांशत: तालाबों और नदियों से निकाली नहरों द्वारा सिंचाई होती है। मिट्टी काली या भूरी है जो अत्यधिक उपजाऊ है। यहाँ खरीफ (सियालू) तथा रबी (उनालु) दोनों फसलें होती है। रबी की फसल विशेषकर कुओं से और थोड़ी तालाबों से होती है। माल की जमीन इस राज्य में बहुत थोड़ी ही है। पहाड़ी प्रदेशों में मक्की अधिकता से होती है और पहाड़ों को ढालों में, जहां हल नहीं चलते सकते, जमीन को खोदकर खेती की जाती है, जिसको यहाँ "वालरा" (प्राकृत वल्लर) कहते हैं। यहाँ होने वाली मुख्य फसलों में मुख्य गेहुँ, मक्की, ज्वार, मूंग, उड़द, चना, चावल, तिल, सरसों, जीरा, धनिया, रूई, तंबाकू, ईख और अफीम हैं।[1]

नदियाँ

सालभर बहने वाली मेवाड़ में एक भी नदी नहीं है। चंबल भी वास्तव में मेवाड़ की नदी नहीं कहीं जा सकती, क्योंकि उसका बहाव इस राज्य में केवल भैंसरोड़गढ़ (चित्तौड़) के निकट से निकलता है।

मेवाड़ में बहने वाली नदियों मे बनास प्रमुख नदी है, जो कुंभलगढ़ के निकट पहाड़ियों से निकलती है। यह नाथद्वारा के पाससे बहते हुए मांडलगढ़ के पास पहुँचती है। वहां पर दाहिनी ओर से आकर बेड़च इसमें मिलती है। उसी स्थान पर मेनाली नदी भी इसमें मिल गई है, जिससे वह स्थान त्रिवेणी तीर्थ कहलाता है। वहां से उत्तर की तरफ आगे बहने पर कोटेसरी (कोठारी) भी इसमें जा मिली है। फिर जहाजपुर की पहाड़ियों में होती हुई देवली के निकट अजमेर और जयपुर की सीमा में बहती हुई यह सामेश्वर तीर्थ (सवाई माधोपुर) में चंबल में मिल जाती है। बनास के अतिरिक्त मेवाड़ की प्रमुख नदियाँ है- बेड़च, कोटेसरी

1 Rajputana Gazetteers. P.No. 118-119

(कोठारी), जाकुम, खारी, वाकल तथा सोम। उपरोक्त सभी नदियाँ बनास, माही तथा साबरमती की सहायक नदियाँ है।[1]

खारी नदी मेवाड़ की नदियों में सबसे उत्तर में बहने वाली नदी है। दीवेर की पहाड़ियों से यह निकलती है और देवगढ़ के निकट बहती हुई अजमेर की सीमा पर देवली से थोड़ी दूर पर बनास में मिल जाती है। कोटेसरी नदी इसे कोठारी भी कहते हैं। यह अरावली की पर्वतश्रेणी से निकलकर दीवेर से दक्षिण में 90 मील बहने के पश्चात् नंदराय के समीप बनास में जा मिलती है।[2] बनास के दक्षिण में बेड़च बहती है, जो उदयपुर के पश्चिम की पहाड़ियों से निकलती है, लेकिन उदयसागर तालाब में गिरने से पहले 'आहाड़' की नदी कहते हैं। इसके आगे चन्द मील तक उदयसागर का नाला कहलाती है फिर आगे जाने पर बेड़च नाम धारण कर चित्तौड़ के पास बहती हुई मांडलगढ़ के निकट बनास से जा मिलती है।

माही के प्रमुख सहायक नदी सोम का उद्‌गम बीचाबेरा (बीछीमेड़ा) की पहाड़ियों से है, जो डूंगरपुर में बहती हुई माही नदी में मिल जाती है। सोम की प्रमुख सहायक नदी जाकुम है, जो छोटी सादड़ी की पहाड़ियों से निकलती है। यह धरियावाद के पास सोम में मिल जाती है। वाकल नदी गोगुन्दा के पश्चिम की पहाड़ियों से निकलती है तथा आगे बहती हुई ईडर राज्य में साबरमती में मिल जाती है।[3]

झीलें

मेवाड़ में कई विश्व-प्रसिद्ध झीलें हैं, जिनका प्रयोग जलापूर्ति एवं सिंचाई हेतु किया जाता रहा है। विस्तार एवं प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से प्रदेश की चार झीलें उल्लेखनीय है उदयसागर, पिछोला, राजसमंद और जयसमंद। उदयसागर झील का निर्माण महाराणा उदयसिंह के समय हुआ था वहीं पिछोला झील का निर्माण महाराणा लाखा के समय किसी बंजारे ने किया था। झील का नाम

---

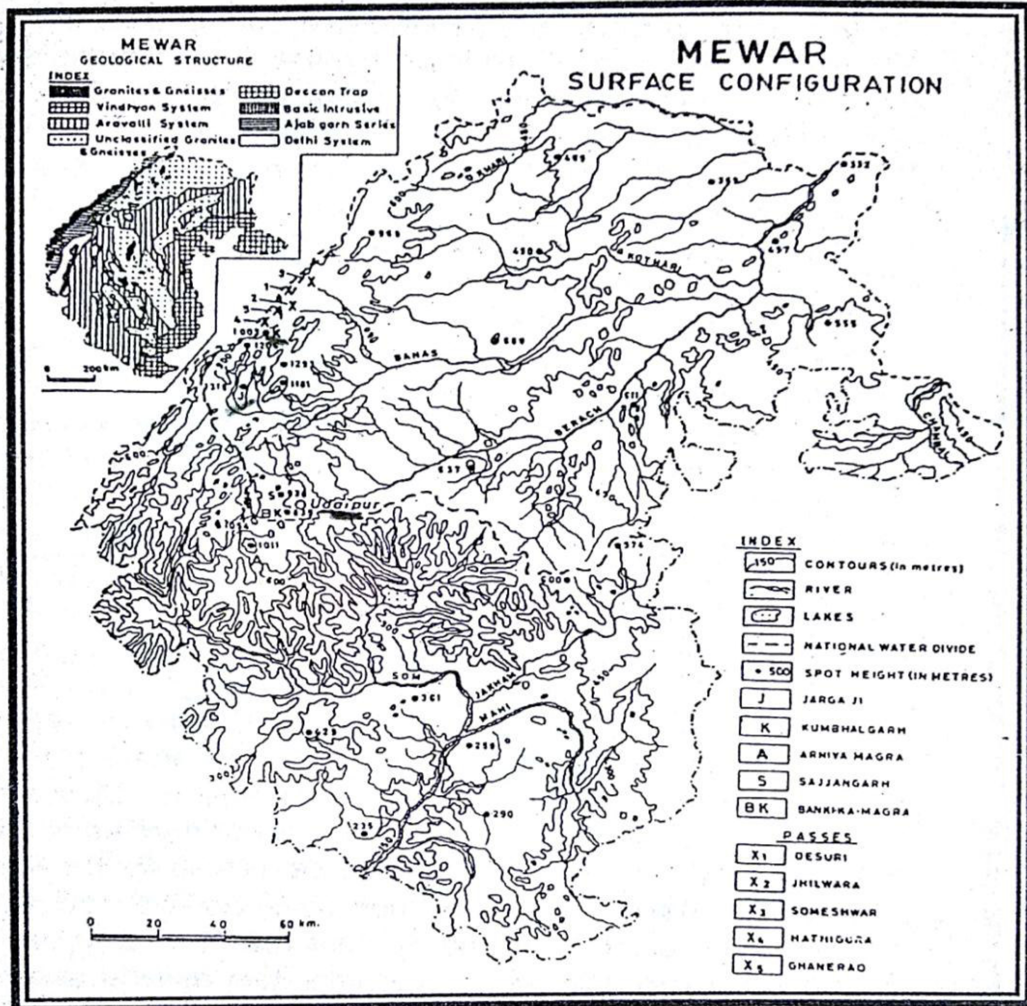
1 Human Geography of Mewar, P. No. 13

2 Ibid. P.No. 14

3 Rajputana Gazetteers, P. No. 154 ; Human Geography of Mewar, P. No. 14

पिछोला इसके निकट स्थित पिछोली गांव पर पड़ा है। ई. 1795 में पिछोला झील का बांध टूट गया था, जिससे आधा शहर डूब गया था। सुदृढ़ बांध का निर्माण महाराणा भीमसिंह ने करवाया था। जयसमुद्र इसको ढेबर भी कहते हैं।[1] इसका निर्माण महाराणा जयसिंह ने करवाया था (1687 से 1691 ई.)। कप्तान येट् साहिब इसे तालाब को संसार में मनुष्य का बनाया हुआ सबसे बड़ा जलाशय बताते हैं। राजसमुद्र तालाब का निर्माण राजसिंह ने करवाया था। यह झील 4 मील लंबी तथा 1.3/4 मील चौड़ी हैं। इसकी पाल पर रणछोड़ भट्ट द्वारा रचित 'राजप्रशस्ति' 25 शिलाओं पर उत्कीर्ण है।[2]

मानचित्र संख्या 1.2 : मेवाड़ की भौगोलिक स्थिति



1 वीर विनोद, भाग-1, पृ. 111

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 22

कीमती पत्थर एवं खानें

मेवाड़ में अनेक प्रकार के कीमती पत्थर एवं धातुएँ पाई जाती है, जिसका कारण है यहाँ पाई जाने वाली प्रचीनतम वलीत पर्वत श्रृंखला अरावली है। मेवाड़ में पाए जाने वाले प्रमुख कीमती पत्थरों में ग्रेनाइट, विभिन्न प्रकार के क्वाटर्ज (विशेष प्रकार का चमकीला पत्थर), साइनाइट की चट्टाने, हार्न स्टोन (शीघ्र टुटने वाला एक विशेष प्रकार का चमकीला पत्थर) पौरफिरी (विशेष प्रकार का कठोर पत्थर), अभ्रक और कोक्राइट स्लेट (ऐसा स्लेट जिसमें कोक्रिन का अंश पाया जाता है) खेरवाड़ा और जावर के आस-पास नीले और लाल मार्ल (मिट्टी व रेत युक्त पाषाण) प्राप्त होते हैं। यहाँ मकान बनाने में डॉलेराइट व बॉसाल्ट पत्थरों का उपयोग किया जाता है जो उदयपुर के निकट बड़ी मात्रा में उपलब्घ है। यहाँ मटाट् एवं बांसदरा पहाड़ (सज्जनगढ़) की खान से पत्थर की पट्टियाँ निकाली जाती है, जिनसें राजधानी की कई इमारतों का निर्माण हुआ है। राजनगर का संगमरमर प्रसिद्ध हैं। राजसमुद्र के पाल का निर्माण में इसी पत्थर का प्रयोग किया गया है। चित्तौड़ में संग-मूसा (काला चमकीला पत्थर) उपलब्ध है। देव-प्रतिमाओं एवं प्यालों आदि के निर्माण के लिए उपयुक्त मिट्टी का स्लेट-पत्थर ऋषभदेव व खेरवाड़ा के बीच पर्याप्त मात्रा में मिलता हैं।[1]

अरावली की पहाड़ियाँ धातु एवं खनिजों की दृष्टि से समृद्ध है। प्राचीनकाल से 16वीं सदी तक उदयपुर के दक्षिणी ओर वाली श्रृंखलाओं में बोड़ज, अंजेनी, केवड़ा की नाल, उत्तर में देलवाड़ा तथा रेवाड़ (गंगापुर के पास) तांबे की खानो से तांबा निकाला जा रहा। लोहे की खानों में सादड़ी, हमीरगढ़, अमरगढ़, उदयपुर के दक्षिण में स्थित बेदावल की पाल तथा अंजेनी की खान मुगल-आक्रमण काल में बेढ़ हो गई थी किंतु मांडलगढ़ के पास वाली वीगोद, गुंहली जहाजपुर के पास मनोहरपुरा और बड़ी सादड़ी केपास पारसोला नामक स्थानों पर 1836-90 ई. तक लोहा निकाला जाता रहा था।[2]

---

1 Rajputana Gazetteers, P. No. 108, Human Geography of Mewar, P. No. 3

2 मेवाड़ का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, पृ. 16-17

मेवाड़ को इनसे अच्छी आय भी प्राप्त होती थी। टॉड के अनुसार जावर व दरीबा की खानों से तीन लाख से अधिक आमदनी होती थी। मेवाड़ में कई प्रसिद्ध खानें है जिनमें प्रमुख जावर की खान जो सीसे व चांदी की खान है। मांडलगढ़ के निकट गुहली गांव, जहाजपुर के निकट मनोहरपुर में व बड़ी सादड़ी के निकट पारसोला नामक स्थान पर लोहे की खानें है। तामड़ा नामक कीमती पत्थर मांडलपुर और भीलवाड़ा में पाया जाता है।[1]

जलवायु

सामान्यत: मेवाड़ का जलवायु स्वास्थ्यप्रद समझा जाता है, परंतु पहाड़ी भागों के जल मे खनिज पदार्थ और वनस्पति का अंश मिला हुआ होने से वह भारी होता है और वहां के रहने वाले प्राय: बारिश के अंत में मलेरिया ज्वर से पीड़ित रहते हैं तथा तिल्ली की भी शिकायत उनमें अधिक रहती है। भूमि की ऊँचाई के कारण यहां सर्दी न तो अधिक और उष्णकाल में न अधिक गर्मी होती है।[2]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मेवाड़ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मेवाड़ के इतिहास का प्रारंभ पाषाण काल से होता है। यहाँ हुए उत्खनन में प्रागैतिहासिक उपकरण मिले है। प्रस्तर युग की बाद की सभ्यताओं में बनास नदी के किनारे पनपी आहाड़ प्रमुख ताम्रपाषाण कालीन सभ्यता थी। इस समृद्ध सभ्यता की परंपरा मेवाड़ में परवर्ती वर्षों में भी जारी रही। माध्यमिका मौर्यात्तर कालीन प्रमुख स्थल था जिसका उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य में भी मिलता है। गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में मेवाड़ प्रदेश विभिन्न क्षेत्रीय राजवंशों के अधीन रहा किंतु मेवाड़ प्रदेश को ख्याति एवं प्रतिष्ठा मध्यकाल में स्थापित गुहिल राजवंश से मिली।[3]

---

1 वीर विनोद, भाग 1, पृ. 103-105

2 Human Geography of Mewar, P. No. 20

3 गोपीनाथ शर्मा, जस्थान का इतिहास, शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा, पृ. 14-17

मेवाड़ राजवंश सूर्यवंशी है जो स्वयं को रामचंद्र के ज्येष्ठ पुत्र कुश के वंशज मानता हैं। मेवाड़ राजवंश का प्रारंभ 'गुहिल' से होता है जिसके नाम से उसका वंश 'गुहिल वंश या गुहिलोत' कहलाया। गुहिल राजवंश संसार के प्राचीनतम राजवंशों में से एक है जो अपनी स्थापना ई. सं. 568 के आसपास से लगाकर आज तक समय के अनेक हेर-फेर सहते हुए उसी प्रदेश पर राज्य करता चला आ रहा है। मेवाड़ का राजवंश बहुत प्रचीन होने से उसकी शाखाएँ भी राजपूताना, मालवा, गुजरात, मध्यप्रदेश आदि राज्यों में फैली थी। मुहणोत नैणसी की ख्यात में गुहिल वंश की 24 शाखाओं का उल्लेख मिलता है तथा रावल समरसिंह की चित्तौड़ प्रशस्ति (ई.सं. 1274) में भी गुहिल वंश की अनेक शाखाओं का उल्लेख हैं। इन शाखाओं में गुहिल व सिसोदिया शाखा प्रमुख थी।[1] गुहिल के बाद इस वंश में कई राजा हुआ किंतु उनमें रावल बापा प्रमुख थे। इनका जन्म गुहिल या गुहादित्य की सातवीं पीढ़ी में हुआ था। बापा रावल शिव के परम भक्त थे अत: शिव की कृपा एवं हारीत राशि के आशीर्वाद से मौर्य कुल के राजा मान को परास्त कर मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। यहाँ राजत्व में देवत्व का भी निरूपण किया गया है जिसमें बापा को नंदी का अवतार एवं मुनि हारीत राशि को शंभु का चंड नामक गण का अवतार बताया है।[2]

वहाँ 'बापा' नाम को लेकर विवाद है। कविराज श्यामलदास बापा को किसी राजा का नाम न मानकर खिताब मानते हैं वह खिताब अपराजित के पुत्र महेन्द्र का खिताब बापा माना हैं।[3] वहीं गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने कालभोज का खिताब बापा माना है,[4] वर्तमान में मेवाड़ वंशक्रम में इसे ही स्वीकार किया गया है।

कालभोज (बापा) के बाद उसका पुत्र खुम्माण प्रथम मेवाड़ का शासक हुआ। मेवाड़ के इतिहास में खुम्माण नाम सभी शासकों के साथ प्रशंसात्मक रूप से लगाया जाता था। प्रवृति से प्रभावित होकर कर्नल टॉड ने उसके समय में

1 नैणसी की ख्यात, भाग-1, पृ. 98

2 श्रीमद् एकलिंग पुराण, पृ. 66

3 वीर विनोद, भाग 1, पृ. 254

4 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 110

बगदाद केखलीफा अलमायुँ के द्वारा चित्तौड़ आक्रमण का वर्णन किया है और बताया है कि उसने आक्रमणकारियों को परास्त किया।[1] डॉ. ओझा ने आक्रमण को खुम्माण प्रथम के बजाय खुम्मण द्वितीय के समय माना है।[2] खुम्माण के बाद हुए शासकों में मत्तट, भर्तृपट्ट, सिंह, खुम्माण II, खुम्माण III भर्तृभट्ट II व अल्लट आदि थे।

उपर्युक्त शासकों में अल्लट प्रमुख था जिसे मेवाड़ के ख्यातों में आलु (आलु रावल) कहते हैं। इसके शासनकाल में आहाड़ प्रमुख व्यापारिक नगर था जहाँ दूर-दूर से यहाँ व्यापारी व्यापार करने आते थे। अल्लट ने यहाँ वराह मंदिर की भी स्थापना की थी। 953 ई. के वराह मंदिर लेख से अल्लट के समय की शासकीय व्यवस्था का भी बोध होता है जिसमें मुख्यमंत्री, संधिविग्रहक, अक्षपटलिक, बंदिपति (मुख्य भाट) तथा भिषगाधिराज (मुख्य वैद्य) के नाम अंकित है।[3] नरवाहन, अल्लट की मृत्यु के बाद मेवाड़ का शासक बना। नरवाहन के पश्चात् मेवाड़ की शक्ति का ह्रास प्रारंभ होता है। शालिवाहन के समय में कई गुहिलवंशीय सोलंकियों की सेवा में जाकर रहे जो मेवाड़ के गुहिलों की शक्ति-क्षीणता का प्रमाण है। इस दौर्बल्य का परिणाम यह हुआ कि शक्तिकुमार के समय में, जैसा कि हस्तिकुण्ड के शिलालेख (995 ई.) से स्पष्ट है कि मुंज ने आघाट को तोड़ा और प्रसिद्ध चित्तौड़ दुर्ग और उसके आस-पास के प्रदेश पर भी अधिकार स्थापित करने में सफल रहा। मुंज के उत्तराधिकारी और छोटे भई सिंधुराज के पुत्र भोज ने चित्तौड़ में रहते हुए त्रिभुवन नारायण के मंदिर का निर्माण कराया जो मोकलजी के नाम से प्रसिद्ध है। ग्याहरवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध तक मेवाड़ का भाग जिसमें चित्तौड़ भी सम्मिलित था, परमारों के अधीन बना रहा। परमारों के बाद चालुक्य सिद्धराज ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया जो उसके पीछे उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के अधीन रहा।[4]

---

1 Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. 1. P. No. 202

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 124

3 वही, पृ. 126

4 वही, पृ. 132-140

शक्तिकुमार के बाद अम्बा प्रसाद भी निर्बल शासक था जो चौहान राजा वाक्रपतिराज के द्वारा परास्त किया गया और युद्ध में मारा गया। इसके बाद लगभग 10 शासक ऐसे हुए जो इतने प्रतिभा सम्पन्न नहीं थो जो खोई हुई मेवाड़ की शक्ति को पुन: स्थापित कर सकें। उत्तरवर्ती शासकों में हंसपाल का पुत्र वेरिसिंह जो एक प्रतापी शासक था जिसने अपने शत्रुओं को पराजित किया तथा आहाड़ नगर का नया शहरपनाह (कोट) बनवाया एवं चारों दिशाओं में चार दरवाजे बनवाया । वैरिसिंह का उत्तराधिकारी विजयसिंह हुआ जिसने कुट्नीति एवं साहस से अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया। परमार वंश की राजकुमारी श्यामल देवी से विवाह किया तथा उससे उत्पन्न पुत्री अल्हण देवी का विवाह चंदी देश के कलचुरी (हैहय) वंशी राजा गयकर्ण देव से कर अपने संबंधो का मजबूत बनाया।[1]

विजयसिंह के पश्चात् अरिसिंह, चोड़सिंह और विक्रमसिंह शासक हुए जिनके पर्याप्त जानकारी का अभाव है। विक्रमसिंह का उत्तराधिकारी रणसिंह मेवाड़ का राजा हुआ जिसको कर्णसिंह या कर्ण भी कहते हैं। इसी के समय मेवाड़ में दो शाखाएँ निकली- एक रावल नाम की और दूसरी 'राणा' नाम की। राणा शाखा में माहप, राहप, हरसू, बबरू हुए वहीं रावल शाखा में जितसिंह (जैत्रसिंह), तेजसिंह और समरसिंह आदि हुए। रावल शाखा के वंशक्रम का चित्तौड़ पर शासन अलाउद्दीन के आक्रमण तक रहा तत्पश्चात् राहप शाखा जो सिसोदा ग्राम में रहने के कारण सिसोदिया कहलाएँ, का शासन स्थापित होता है।[2] रणसिंह ने आहोर (जालौर) पर्वत पर किला भी बनवाया था।

रणसिंह के बाद क्षेमसिंह व क्षेमसिंह के पश्चात् सामंत सिंह मेवाड़ का शासक बना। सामंतसिंह ने 1174 ई. के लगभग गुजरात के शासक अजयपाल से युद्ध किया तथा उसे परास्त कर मेवाड़ का बहुत-सा भाग अपने अधिकर में कर लिया, परंतु सामंतसिंह अपने पैतृक राज्य को अधिकार समय तक अपने अधिकार में नहीं रख सका। चौहानों की सोनगरा शाखा का मूल पुरूष कीतू (कीर्तिपाल) सामंतसिंह को मेवाड़ से निकाल दिया, तब उसने 1178 ई. के लगभग वागड़ में

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 140

2 अमरकाव्यम्, पृ. 112 ; राजप्रशस्ति महाकाव्य, पृ. 36

जाकर अपना नया राज्य स्थापित किया। वट्पद्रक (बड़ौदा) उसके राज्य की राजधानी थी। सामंतसिंह का विवाह अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज द्वितीय की बहन पृथाबाई से माना जाता है किंतु यह ऐतिहासिक रूप से सत्य नहीं है।[1]

सामंतसिंह के छोटे भाई कुमारसिंह ने गुजरात के राजा की सहायत से चौहान कीतू को मेवाड़ से निकाल कर पुन: चित्तौड़ पर अपना शासन स्थापित किया। गुहिलों ने 13वीं सदी के प्रारम्भिक काल तक, मेवाड़ में कई उथल-पुथल होने पर भी, अपने कुल परम्परागत राज्य को बनाए रखा। कभी उनके हाथ से चित्तौड़, कभी आहाड़ और कभी नागदा भी निकलते रहे, परन्तु फिर भी उन्होंने हिम्मत न हारी और धीरे-धीरे एक-एक भाग को वे अपने अधीन करते रहे। इसका एक कारण सोलंकियों, परमारों और चौहानों की निर्बलता भी एक बहुत बड़ा कारण थी। केवल चित्तौड़ इनके अधिकार में पूरी तौर से न आ सका जिसको विजय करने का श्रेय पद्मसिंह के पुत्र जैत्रसिंह को है।[2]

जैत्रसिंह के शासनकाल तक दिल्ली सल्तनत के गुलाम वंश ने भी स्थिरता प्राप्त कर थी अत: पड़ौसी राज्यों के साथ-साथ अब दिल्ली के मुस्लिम शासक की मेवाड़ को प्रबल चुनौती देने हेतु उपस्थित थे। जैत्रसिंह वीर एवं प्रतापी शासक था जिसने अपने पड़ौसी राजाओं तथा मुसलमान सुल्तानों से कई लड़ाइयां लड़ी थी। चीरवा के लेख में जैत्रसिंह को शत्रु राजाओं के लिए प्रलयमारूत के सदृश बताया है। जैत्रसिंह व इल्तुतमिश मध्य भूताला की लड़ाई होती है (यह युद्ध 1222 से 1229 के मध्य सम्भावित है) जिसमें तुर्की सेना को मेवाड़ से खदेड़ दिया जाता है।[3]

चित्तौड़ पर दिल्ली सल्तनत का दूसरा भयंकर आक्रमण 1303 ई. में अलाउद्दीन खिलजी का हुआ जिसमें रावल रत्तनसिंह ने वीरगति प्राप्त की वहीं रानी पद्मनी सहित हजारों स्त्रियों ने जौहर किया। अलाउद्दीन ने किले को अपने

---

1 राजप्रशस्ति के तृतीय सर्ग में पृथ्वीराज की बहन पृथाबाई का विवाह समरसिंह से होना बताया गया है। समरसिंह का गौरी से युद्ध के दौरान वीरगति प्राप्त की।

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 161

3 वही, पृ. 150

बेटे ख़िज खाँ को सौंप दिया और किले का नाम ख़िजराबाद रखा। बाद में मुहम्म्द तुगलक ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की तथा किला मालदेव सोनगरा को सौंप दिया। अलाउद्दीन के आक्रमण के साथ ही चित्तौड़ की रावल शाखा का अंत हो गया था अत: शत्रुओं से अपने राज्य को पुन: हस्तगत करने का कार्य अब सीसोदा ग्राम के राणा शाखा ने किया था। राणा शाखा में अरिसिंह का पुत्र हम्मीर हुआ जो बड़ा ही वीर, साहसी एवं दानप्रिय था, जिसे 'विषमघाटी पंचानन' भी कहा गया है। हम्मीर ने सर्वप्रथम अपने आस-पास के प्रदेश झीलवाड़ा, पालनपुर तथा ईडर को विजयी किया तत्पश्चात् चित्तौड़ पर अधिकार किया था।[1]

इसी के साथ राणा शाखा का प्रारंभ हुआ। हम्मीर के बाद उनका ज्येष्ठ पुत्र क्षेत्रसिंह जो लोगों में 'खेता' (खेतल या खेतसी) के नाम से प्रसिद्ध हुआ, मेवाड़ का स्वामी बना (1464 ई. में)। यह भी वीर शासक था जिसने हाड़ौती, ईडर, मांडलगढ़ तथा मालवा को विजयी किया। ई. 1382 में क्षेत्रसिंह के पुत्र लक्षसिंह (लाखा) चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठा। इनके समय ही जावर में चांदी व सीसे की खान निकली एवं एक बंजारे द्वारा पिछोला झील का निर्माण करवाया था। लक्षसिंह का विवाह मारवाड़ के रणमल की बहन हंसाबाई से हुआ जिससे मोकल हुआ। मोकल ने 1421 से 1433 ई. तक शासन किया तथा ये कुंभा के पिता था। मोकल ने समिद्धेश्वर मंदिर का निर्माण करवाया, एकलिंग जी मंदिर का परकोटा बनवाया तथा अपने अनुज बाघसिंह के नाम पर बाघेला तालाब का निर्माण करवाया।[2]

मेवाड़ के इतिहास में कुंभा एक उज्जवल चरित्र का नाम है। जिसके शासनकाल में राजस्थान ने विशेष स्थान प्राप्त किया। महाराणा कुंभा ने राजस्थान में तो मेवाड़ की प्रभुसत्ता को श्रेष्ठता दी, वहीं राजस्थान से बाहर गुजरात और मालवा के सुल्तानों की भी युद्ध में पराजित किया। उनकी सम्मिलित सेना भी मेवाड़ के कुंभा को पराजित नहीं कर सकीं। महाराणा कुंभा बहुआयामी प्रतिभा से संपन्न थे जितनी सफलता और कीर्ति युद्ध क्षेत्रों में प्राप्त की, उतनी ही

1 मेवाड़ रावल राणाजी री बात, पृ. 19 ; वीर विनोद, भाग-1, पृ. 284

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 24

शासन, निर्माण, साहित्य, संगीत और चरित्र के क्षेत्रों में भी की। कुंभा के काल में कुंभलगढ़, आबू, चित्तौड़ एवं कीर्तिस्तंभ जैसे बेजोड़ दुर्ग एवं इमारतों का निर्माण हुआ। कला, कलम एवं कटार के धनी कुंभा विद्वानों के आश्रयदाता होने के साथ ही स्वयं भी विद्वान थे। कुंभा का नाम साहित्यकार, संगीतकार एवं नाट्ककार के रूप में सर्वोच्च है, कुंभा ने निम्न ग्रथों की रचना की:- संगीतराज, संगीत रत्नाकर, सूड प्रबन्ध, चण्डी-शतक, रसिक प्रिया, एकलिंगमहात्म्य आदि ग्रंथों की रचना की। कुंभा ने गुजरात निवासी सुत्रधार मण्डन को भी संरक्षण दिया जिसनें कई स्थापत्य पर कई पुस्तकों की रचना की तथा कुंभलगढ़ दुर्ग का मुख्य वास्तुकार भी था। कुंभा स्थापत्य कला के प्रेमी थे जिन्होंने कुल 32 दुर्गो का निर्माण किया था।[1] कुंभा की हत्या उसी के पुत्र उदा (उदयसिंह/उदयकरण) ने कर सिंहासन पर बैठ गया । उदा के इस कुकृत्य ने सभी सरदारों के मन में रंज पैदा कर दिया अत: चूंडा के पुत्र कांधल के नेतृत्व में सरदारों ने रायमल को राणा स्वीकार किया। उदयसिंह को रायमल ने दाड़िमपुर व पानगढ़ की लड़ाइयों में परास्त कर मेवाड़ से निर्वासित कर दिया। उदयसिंह मांडू के सुल्तान की शरण में चला गया। रायमल ईसवी सन् 1473 से 1509 ई. तक शासन किया तत्पश्चात् संग्रामसिंह (सांगा) गद्दी पर बैठा।[2]

महाराणा संग्रामसिंह, जो राणा सांगा के नाम से प्रसिद्ध है। मेवाड़ के प्रतापी महाराणाओं में से एक थे। मेवाड़ ने उनके ही शासन काल में शक्ति और समृद्धि की चरमसीमा प्राप्त की। वे पश्चिमी भारत के हिन्दू राजा और सरदारों के सर्वमान्य नेता थे। उन्हें हिन्दूपति अर्थात् हिंदुओं का स्वामी कहते हैं। सांगा के समय मेवाड़ का महत्व इतना बढ़ गया था कि उसकी समानता 12वीं शताब्दी में अजमेर के चौहानों के पतन के पश्चात् कोई राज्य नहीं कर सकता था। बाबरनामा में बाबर ने भी लिखा है कि हिंदुस्तान में सांगा सबसे अधिक बलवान सम्राट थे। सांगा का राज्य दिल्ली, मालवा और गुजरात के मुसलमान राज्यों से घिरा हुआ था। सांगा को इन तीनों से युद्ध करना पड़ा और अपनी सैनिक चातुरी के कारण

1 Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. I. P. No. 231

2 वीर विनोद, भाग-1, पृ. 336 ; उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 287-288

दिल्ली के इब्राहिम लोदी को खातोली व बाड़ी के युद्ध में, मालवा के महमूद खिलजी को गागरोन के युद्ध में और गुजरात के मुजफ्फरशाह को युद्ध में पराजित किया। सांगा ने अपने वीर कार्यो से भारत में इतना उच्चासन प्राप्त किया कि एर्सकिन के कथानुसार समस्त देशवासियों के ह्रदयों में ये तरंगे उठने लगी कि अब राज्य परिवर्तन होने वाला है और वे प्रसन्नता से भारत में स्वदेशी राज्य की स्थापना का स्वागत करने को उद्धत हुए। परन्तु 16 मार्च 1527 ई. को खानवा के युद्ध में हुई छोटी सी दुर्घटना ने दिल्ली में हिन्दू राज्य की स्थापना को धूमिल कर दिया। 30 जनवरी 1528 को कालपी नामक स्थान पर सांगा का स्वर्गवास हो गया।[1]

सांगा की मृत्यु से लेकर उदयसिंह के राज्याभिषेक तक का काल मेवाड़ के लिए बेहद कठिनाई भरा था। बेहद कम समय में तीन शासक मेवाड़ की गद्दी पर बैठै- रत्तनसिंह द्वितीय, विक्रमादित्य व उदयसिंह। इस दौरान मेवाड़ को दो बेहद विनाशक हमलों का सामना करना पड़ा जिसमें पहला शाका 1534 ई. में गुजरात के बहादूर शाह का आक्रमण इस हमलें के दौरान मेवाड़ में दूसरा शाका हुआ रानी कर्मावती के नेतृत्व में महिलाओं ने जौहर किया। दूसरा हमला किया दासी पुत्र बनवीर ने जिसने विक्रमादित्य की तो हत्या कर दी किंतु पन्नाधाय के द्वारा अपने पुत्र चंदन की बलि देकर मेवाड़ के कुलदीप उदयसिंह की प्राणरक्षा कर सुरक्षित कुंभलगढ़ पहुँचा दिया।[2] 1540 ई. में उदयसिंह ने माहेली के युद्ध में बनवीर को हरा कर चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठे। मेवाड़ जो सांगा की मृत्यु के बाद अपने आंतरिक एवं ब्राह्य हमलों एवं षड़यंत्रों की वजह से अध:पतन की ओर अग्रसर था, उदयसिंह ने न केवल मेवाड़ को इस स्थिती से उबारा अपितु शेरशाह एवं अकबर के आक्रमण का सामना भी बड़ी समझदारी व सुझबुझ के साथ कर मेवाड़ को पतन से बचाया। उदयसिंह ने उदयसागर तालाब एवं उदयपुर नगर बसाया जो भविष्य मे मेवाड़ की राजधानी बनी।[3]

---

1 शारदा, हरविलास, हिन्दूपति महाराणा सांगा, पृ. 102

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 337-348

3 राजप्रशस्ति महाकाव्य् पृ. 41 ; Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. I. P. No. 255

प्रताप का प्रारंभिक जीवन

महाराणा प्रताप का जन्म वि.सं. 1597, ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया (9 मई 1540 ई.) को हुआ। प्रताप महाराणा उदयसिंह के ज्येष्ठ पुत्र थे, उनकी माता जैवन्ताबाई थी जो पाली के सोनगरा चौहान राव अखैराज की पुत्री थी। प्रताप का जन्म कुंभलगढ़ में ही हुआ था।

प्रताप का बचपन कुम्भलमेर में ही बीता था।[1] रावत कृष्णदास द्वारा प्रताप को शस्त्र-शिक्षा प्रदान कराई गई। इसके अलावा अश्वपरीक्षा, घुड़सवारी, आखेट आदि का ज्ञान भी दिया गया था। अच्छे-बुरे घोड़े की पहचान तथा अस्त्र-शस्त्रों की परख भी तब प्रशिक्षण का अनिवार्य विषय था। आखेट के साथ ही यदा-कदा चौगान खेलकर भी वह अपना मनोरंजन कर लेता था। सैन्य-संचालन, सैन्य-विन्यास तथा व्यूह-रचना आदि में भी उसने पूर्ण दक्षता प्राप्त कर ली थी।[2] यहीं कारण था कि अपने जीवन के प्रारंभिक काल में प्रताप ने सैनिक अभियानों का सफल संचालन कर अपनी रण-कुशलता एवं सैन्य-प्रतिभा का परिचय दिया था।

प्रताप महाराणा उदयसिंह के सभी पुत्रों में ज्येष्ठ था और उसका अपने छोटे भाईयों के प्रति असीम स्नेह भी था। किंतु उसके भाई में अग्रज के प्रति अधिक आदरभाव विद्यमान नहीं था। वह उसके स्नेह का लाभ उठाने में भी संकोच नहीं करते थे। प्रताप गेहुंआ वर्ण वाला अच्छी कद-काठी का व्यक्ति रहा था। सैन्य दृष्टि से उसका यह कद उसे एक अच्छे सैनिक के रूप में स्थापित करने में सहायक रहा।[3]

महाराणा उदयसिंह पर जैसलमेर के रावल लूणकरण भाटी की पुत्री धीरबाई से विशेष प्रेम था। प्रेमपाश में बंधे उदयसिंह ने गुणग्राही प्रताप की प्रतिभा को नजरअंदाज कर भटयाणी धीरबाई के पुत्र जगमाल को अपना उत्तराधिकारी बना

---

1 पालीवाल, देवीलाल, महाराणा प्रताप महान्, नवभारत प्रकाशन,जोधपुर, 2012, पृ. 1-2

2 गोपाल वल्लभ व्यास, राजस्थान के इतिहास में सर्वेक्षण, पृ. 161

3 वही, पृ. 168

दिया।[1] प्रताप के साथ सौतेला व्यवहार लम्बे समय से चला आ रहा था बस ये तो उसकी पराकाष्ठा थी। अमरकाव्य ग्रंथ में उल्लेख मिलता है कि सगर आदि पुत्रों की माता रानी भटियानी के वशीभूत होकर राणा उदयसिंह ने ज्येष्ठ पुत्र प्रताप के रहने की व्यवस्था चित्तौड़ के पास किसी गांव में की थी। प्रताप के खाने के लिए दरबार से 'पुटक' (पेटिया) भेजा जाता था। प्रताप उसी पुटक की रसोई बनाकर अपने राजपूत साथियों के साथ पंक्ति में बैठकर भोजन करता था। बाद में यह रीति बन गई जो प्रताप के राज्य प्राप्ती के बाद भी जारी रही।[2] निश्चय ही इस परंपरा ने प्रताप के सामंती संबंधों को मजबूत किया।

प्रताप के प्रारंभिक जीवन का बड़ा समय मेवाड़ के पर्वतीय भाग के निवासी भील समुदाय के मध्य बीता था अत: इसी कारण कुंवर प्रताप को 'कीका' नाम से मेवाड़ में संबोधित किया जाता था। मेवाड़ की पहाड़ी भीली भाषा अथवा बागड़ी भाषा में 'कीका' शब्द लाड़-प्यार में लड़के के लिए प्रयुक्त होता है। मेवाड़ी भाषा में उसको 'कूका' बोला जाता है। प्रताप का भीली नाम बहुत अधिक प्रचलित हुआ अत: गद्दी पर बैठने के बाद भी उसको प्राय: राणा कीका नाम से बोला जाता रहा।[3] अबुल फजल कृत अकबरनामा, निजामुद्दीन अहमद रचित 'तबकात-ए-अकबरी' बदायूंनी रचित "मुंतखब-उत-तवारीख" तथा मुतमिद खां लिखित "इकबालनामा" आदि फारसी ग्रंथों में भी प्रताप को राणा कीका लिखा गया है। प्रताप ने कुंवर काल में भील समुदाय के मध्य जो समय बिताया एवं स्नेह संबंध बनाए उसी का फल था कि आगे जाकर प्रताप के मुगल आधिपत्य विरोधी संघर्ष में भी भील लोग प्रमुख सहायक बनें।[4]

प्रताप एक कुशल सेनापति थे इसका परिचय प्रताप द्वारा कुंवर काल में किए गए तीन सफल सैन्य अभियानों से भी होता है। महाराणा बनने से पूर्व प्रताप की तीन विजय थी- वागड़ प्रदेश, सलुंबर तथा गोड़वाड़ प्रदेश। प्रताप ने

1 मेवाड़ रावल राणाजी री बात, पृ. 65

2 अमरकाव्यम्, पृ. 239

3 Muntakhab-ut-Tawarikh, Vol. II. P. No. 233 ; अमरकाव्यम्, पृ. 216

4 महाराणा प्रताप महान्, पृ. 27

अपने कुंवरपदे काल में 'राणा' उपाधि धारी सांवलदास और उसके भाई करमसी चौहान को युद्ध मे मारकर वागड़ प्रदेश को विजयी किया।[1] मेवाड़-वागड़ संघर्ष का उल्लेख नैणसी की ख्यात[2] एवं डूंगरपुर के वनेश्वर के विष्णु मंदिर प्रशस्ति में भी मिलता है। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर पता चलता है कि प्रताप के अधीन डूंगरपुर के रावल आसकरण के विरूद्ध दो बार अभियान हुए थे। प्रथम अभियान प्रताप के कुंवर काल में तथा द्वितीय अभियान हल्दीघाटी युद्ध के बाद में। दोनों ही अभियान सफल रहे थे। अमरकाव्यम् ग्रंथ में प्रताप के राजकुमार रहते तीन सैन्य अभियानों का वर्णन मिलता है, जिसमें दूसरा महत्वपूर्ण अभियान प्रताप द्वारा सलुम्बर के राठौड़ों को परास्त करके छप्पन प्रदेश जीतना था। सलुम्बर और छप्पन को जीतने का कार्य निश्चय ही वागड़ प्रदेश की जीतने से पहिले सम्पन् हुआ होगा क्योंकि डूंगरपुर जाने का मार्ग सलुम्बर होकर जाता है। यह युद्ध प्रताप के नुत्त्व में हुआ था। इस युद्ध में चूंडावत सहिंदास के पौत्र किशनदास ने बड़ी वीरता का प्रदर्शन किया था। राठौड़ सिंहा युद्ध मे मारा गया और सलूम्बर पर मेवाड़ का अधिकार हो गया। महाराणा उदयसिंह ने सलूम्बर की जागीर किशनदास को प्रदान की। तब से सलूम्बर की जांगीर उसके वंशजों के पास है, वे किशनावत (कृष्णावत) कहलाए।[3]

कुंवरपदे काल में प्रताप की तीसरी उपलब्धि गोड़वाड़ प्रदेश की पुनर्विजय थी। गोड़वाड़ अरावली पर्वतमाल के पश्चिमी भाग की तलहटी में स्थित और मारवाड़ के रेतीले भू-भाग से सटा हुआ अत्यंत उपजाऊ प्रदेश है, जिस पर प्राचीन काल से मेवाड़ और मारवाड़ राज्यों की सीमाएँ निश्चित की गई तों गोड़वाड़ प्रदेश मेवाड़ के अधीन रखा गया। राणा उदयसिंह के राज्यकाल के प्रारंम्भिक वर्षो में मेवाड़-मारवाड़ कलह के फलस्वरूप जोधपुर के शासक राव मालदेव ने गोड़वाड़ पर अधिकार कर लिया था, जिसको राणा उदयसिंह तुरन्त वापस नहीं ले सका। 1557 ई. में अजमेर के निकट हरमाड़ा के युद्ध में हाजी खाँ और मालदेव की संयुक्त सेनाओं ने राणा उदयसिंह को पराजित किया था। 1562 ई. में बाद राणा

1 अमरकाव्यम्, पृ. 238

2 नैणसी की ख्यात, भाग-1, पृ. 108

3 मेवाड़ के महाराणा और शंहशाह अकबर, पृ. 144

उदयसिंह ने अवसर का लाभ उठाकर सेना भेजकर गोड़वाड़ पर पुन: अपना अधिकार जमाया। इस सैनिक कार्यवाही का नेतृत्व कुंवर प्रताप ने किया।[1]

उदयसिंह को जब अकबर के मेवाड़ के ओर कूच करने के समाचार मिले तो युद्ध की रणनीति बनाने हेतु समस्त सरदारों तथा राजकुमारों को बुलाया गया, जिसमें प्रताप व शक्तिसिंह भी मौजूद थे। पिछले गुजरात आक्रमण से हुए नुकसान का सबक लेते हुए सरदारों ने यहीं सलाह दी थी कि राणा अपने परिवार सहित मेवाड़ के दक्षिणी पहाड़ों मे चले जायें। इस पर प्रताप ने किले में ही रूककर शत्रु का सामना करने एवं राणा का पहाड़ों मे जाने का अनुरोध किया, जिसे सरदारों ने अस्वीकार कर दिया। अंतिम सहमति इस पर बनी की महाराणा 8000 हजार अच्छे बहादूर राजपूतों को चित्तौड़ के किले में तैनात कर अपने बहुत से सरदार व परिवार सहित मेवाड़ के दक्षिणी पहाड़ों में चले गये। महाराणा उदयसिंह रेवा कंठा के गुहिल राजपूतों की राजधानी राजपीपंला के राजा भैरवसिंह के यहां शरण ली तथा 4 महिने रूकने के बाद उदयपुर आ गया तथा यहाँ जो महल अधुरे रह गए थें उन्हें पूरा किया। बाजबहादुर को उदयसिंह द्वारा शरण देने पर अकबरी की सेना द्वारा उदयपुर पर आक्रमण होने लगे थे अत: 1570 ई. में उदयसिंह कुंभलगढ़ चले जाते हैं। उदयसिंह अपनी सेना इकट्ठी कर कुंभलगढ़ से गोगुंदा आएँ वहीं दशहरा उत्सत्व मनाया। फाल्गुल माह में महाराणा बीमार पड़ और वहीं 28 फरवरी 1572 को देहांत हो गया।

महाराणा उदयसिंह ने राणी भटियाणी के प्रभाव में अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रताप के स्थान पर जगमाल को अपना उत्तराधिकारी निश्चित किया। सभी सरदारगण इस तथ्य से अनभिज्ञ थें उन्हें इसकी जानकारी उदयसिंह की उत्तरक्रिया के दौरान सगर से हुई। इसका विरोध सोनगरा अखैराज द्वारा किया गया एवं चूंडा के वंशधर रावत् कृष्णदास एवं रावत् सांगा को समर्थन में लेकर जगमाल को हटाकर प्रतापसिंह का उसी दिन राज्याभिषेक किया। गोगुंदा से कुंभलगढ़ पहुंचकर फिर राज्याभिषेक का उत्सव हुआ।[2]

---

1 महाराणा प्रताप महान्, पृ. 31

2 वीर विनोद, भाग 2, पृ. 146

मेवाड़ की राजधानियां नागदा, आहाड़, चित्तौड़

उदयपुर का राजवंश सूर्यवंशी है जो स्वयं का संबंध रामचंद्र के ज्येष्ठ पुत्र कुश के साथ स्थापित करते हैं। उदयपुर राजवंश 'गुहिलवंश या गुहिलोत वंश' के नाम से जाना जाता। ई.सं. 568 के आसपास मेवाड़ में गुहिल नाम का प्रतापी राजा हुआ, जिसके नाम से ही उसका वंश 'गुहिल वंश' कहलाया। शिलालेखों में मेवाड़ के राजाओं की वंशावली गुहिल से ही प्रारंभ होती है। गुहिल से पूर्व की प्रमाणिक जानकारी का अभाव है किंतु इसके संदर्भ में एक कथानक मिलता है कि राजा शीलादित्य की राजधानी वल्लभी पर विदेशियों का आक्रमण होता है जिसमें शीलादित्य की मृत्यु हो जाती है। राणी अंबाजी की यात्रा पर नागदा गाँव पहुँचती है जहाँ उसे राजा के मरने का समाचार मिलता हैं। सगर्भा रानी पुष्पावती एक पुत्र को जन्म देती है जिसे ब्राहमण विजयादित्य को सौंप कर स्वंय सती हो जाती है। पुष्पावती के इस पुत्र का नाम गुहिल (गुहदत्त) था जिसने मेवाड़ में गुहिल वंश की नींव रखीं।[1]

मेवाड़ राज्य की राजधानी समय-समय पर बदलती रही है किंतु मेवाड़ के गुहिलों की पहली राजधानी नागदा थी। 'नागदा' नगर एकलिंग जी मंदिर के समीप ही स्थित है। नागादित्य ने नागदा नगर बसाया था। जिसको संस्कृत शिलालेखों में 'नागह्रद' या 'गागद्रह' लिखा है। एकलिंग महात्म्यम् में नागदा को पवित्र प्राचीन नगरी के रूप में वर्णित किया है जिसके अधिष्ठाता देव शिव है। नागदा के महत्व को बढ़ातें हुए कथानक में बताया गया है कि कृत युग में इन्द्र ने, त्रेतायुग में कामधेनु नंदिनी ने, द्वापर युग में तक्षक नाग ने तथा कलियुग में हारीत मुनि ने प्रभु एकलिंग की आराधना की। तक्षक नाग द्वारा तक्षक कुण्ड का निर्माण के कारण भी नगर का नाम नागह्रद माना जाता है।[2] नागदा नगर पहाड़ों के बीच बसा हुआ है।

नागदा एक समृद्ध एवं बड़ा नगर था जो छठी से तेरहवीं शताब्दी तक मेवाड़ की राजधानी रहा यद्यपि इस दौरान कुछ समय तक आहाड़ एवं चित्तौड़

---

1 राजप्रशस्ति महाकाव्य, पृ. 30 ; उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 106

2 श्रीमद् एकलिंग पुराण, पृ. 106

भी मेवाड़ की राजधानी रहे थे।[1] गुहिलवंश के प्रारंभिक शासक महेन्द्र व नाग इत्यादि का शासन नागदा तक ही सीमित था तथा भीलों से वे संघर्षरत थे किंतु नाग के उत्तराधिकारी शिलादित्य ने नागदा के आस-पास की भूमि शीघ्र ही भीलों से छीन ली। शिलादित्य की विजय तथा प्रतिभा को उल्लेख सामोली अभिलेख में मिलता है। शिलादित्य द्वारा स्थापित सुव्यवस्था के कारण कई वणिक समुदाय यहाँ आकर बसे। आज भी ब्राहमण एवं वणिक समुदाय जो नागदा से निकले है अपने नाम के पीछे नागदा लगाते हैं नागदा जैसे समृद्धशील नगर का पतन जैत्रसिंह के समय दिल्ली के सुल्तान इल्तुतमिश के आक्रमण के फलस्वरूप होता है। जैत्रसिंह व इल्तुतमिश के मध्य नागदा नगर के समीप स्थित भूताला नामक स्थान पर लड़ाई होती है यद्यपि जैत्रसिंह इल्तुतमिश को मेवाड़ से निकालने में सफल रहता है किंतु नागदा नगर इस युद्ध में नष्ट हो जाता है।[2]

नागदा नगर मेवाड़ की प्राचीन राजधानी होने के साथ ही मेवाड़ महाराणाओं के आराध्य प्रभु एवं राज्य के स्वामी एकलिंग नाथजी का स्थान होने के कारण भी यहाँ कई निर्माण कार्य हुए जिनके ध्वंसावशेष आज भी मौजुद है। एकलिंग महात्म्य में भी नागदा नगर के महात्म्य का वर्णन मिलता है जिसमें नागदा को एक पवित्र नारी के रूप में वर्णित किया है। यहीं कारण था कि बापा रावल ने भी चित्तौड़ के स्वामी होने के बाद नागदा में ही समाधि ली थी, जो आज भी मौजूद है। महाराणा मोकल ने नागदा के निकट अपने भाई बाघसिंह के नाम से बाघेला तालाब बनवाया, जिससे भी इस नगर का कुछ अंश जल में डूब गया। यहाँ बहुत से मंदिरों के अवशेष मिले है जिनमें "सास बहु का मंदिर" प्रसिद्ध है। यहाँ दो मंदिर बने हुए है, जिसमें दक्षिण में स्थित छोटा मंदिर बहु का है वहीं समीप में ही स्थित बड़ा मंदिर सास का है। यह 11वीं सदी के बताये जाते हैं तथा स्थित तोरण द्वार बेहद सुन्दर है। अमर-काव्यम् में वर्णन मिलता है कि इस सास-बहु के शिव मंदिर जिसे "श्वश्रुवधु" मंदिर भी कहते हैं, का निर्माण कुंभा की माँ व पत्नी ने किया था। यहाँ बहुत से प्राचीन जैन मंदिर भी मिले है जिनमें

1 Sharma, G.N. Glories of Mewar. P. No. 31

2 गोपीनाथ शर्मा, चीरवे का शिलालेख, राजस्थान का इतिहास के स्त्रोत, पृ. 111

अद्भुतजी एवं खुम्माण रावल का देवरा प्रमुख है। अद्भुतजी का मंदिर (अदबदजी) में जिन शांतिनाथ की बैठी प्रतिमा स्थापित है। नागदा के लेख से ज्ञात होता है कि महाराणा कुंभा के समय में (ई.स. 1437) ओसवाल सारंग ने मूर्ति की स्थापना करवाई थी तथा मूर्ति का निर्माण सूत्रधार धरणा ने किया था। इसी के समीप पार्श्वनाथ जी का देवालय जो जीर्ण-शीर्ण दशा में है। इसे ही "खुमाण-रावल का देवरा" के नाम से जाना जाता है इसका निर्माण पोरवाल समुदाय द्वारा करवाया गया था। यह प्राचीन नगरी कई समृद्ध पुरावशेष परपराओं की साक्षी है।[1]

आहाड़

आहाड़ मेवाड़ राज्य की दूसरी महत्वपूर्ण राजधानी रही है। आहाड़ एक अति प्राचीन नगर है जिसका संबंध ताम्रपाषाण कालीन सभ्यता से रहा है। आहाड़ का नाम जैन ग्रथों तथा प्राचीन शिलालेखों में आघाटपुट अथवा आटपुर भी मिलता है।[2]

भर्तृभट्ट का पुत्र अल्लट, जिसे ख्यातों में आलुराव कहते हैं। इसकी गणना आघाट के संस्थापकों में की जाती है। आहाड़ 2000 ई.पू. के समय से ही समृद्ध कस्बा था, परंतु अल्लट ने इसके महत्व को अपने राज्यकाल की समपन्नता से अधिक बढ़ा दिया था इसलिए इसकी गणना संस्थापकों में की जाती थी। अल्लट के समय प्राप्त शिलालेख में आहाड़ के बराह मंदिर की स्थापना तथा उसकें प्रबंध के लिए गोष्ठि का निर्माण तथा मंदिर की व्यवस्था के लिए स्थानीय करों का उल्लेख मिलता हैं। उसके समय में आहाड़ एक अच्छा व्यापारिक केन्द्र भी बन गया था, जहाँ कर्नाटक, मध्यप्रदेश, लाट, टक्कदेश (पंजाब का एक भाग) आदि से व्यापारी आया-जाया करते थे। अल्लट के बाद भी मेवाड़ का महत्व बना रहा था अत: अल्लट के वंशक्रम में आगे शक्ति कुमार के समय प्राप्त शिलालेख में राजधानी आहाड़ का महत्व सैनिक छावनी के रूप में था।[3]

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास , भाग-1, पृ. 154; अमरकाव्यम, पृ. 102; राजप्रशस्ति महाकाव्य, पृ. 31

2 Sharma, G.N. Glories of Mewar. P. No. 33

3 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 132

शक्तिकुमार के समय परमार शासक मुंज ने मेवाड़ पर आक्रमण कर चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया वहीं आहाड़ को नष्ट कर दिया तथा भोज को चित्तौड़ पर नियुक्त किया। कुछ समय तक परमारों का मेवाड़ पर अधिकार कायम रहा। गुहिल वंश के शासक वैरिसिंह ने परमारों से आहाड़ लेकर उसके चारों ओर शहरपनाह और दरवाजे बनाकर अपनी शक्ति को सुदृढ़ किया। वैरिसिंह के उत्तराधिकारी विजयसिंह के पालड़ी और कदमाल के भूमिदान से प्रतीत होता है कि गुहिलों का आहाड़ के आस-पास के भागों पर पुन: अधिकार हो गया था।[1] इस समय तक गुहिल शक्तिशाली भी हो गए थे।

इस प्रकार गुहिलों ने 13वीं सदी के प्रारम्भिक काल तक, मेवाड़ में कई उथल-पुथल होने पर भी, अपने कुल परम्परागत राज्य को बनाए रखा। कभी उनके हाथ से चित्तौड़, कभी आहाड़ और कभी नागदा भी निकलते रहे, परन्तु फिर भी उन्होंने हिम्मत न हारी और धीरे-धीरे एक-एक भाग को वे अपने अधीन करते रहे। ऐसी स्थिति बननें मे सोलंकियों, परमारों और चौहानों की निर्बलता भी एक बहुत बड़ा कारण था। केवल चित्तौड़ इनके अधिकार में पूरी तौर से न आ सका जिसको विजय करने का श्रेय पद्मसिंह के पुत्र जैत्रसिंह को है चूंकि इस समय इल्तुतमिश के आक्रमण से नागदा नगर नष्ट हो चुका था अत: चित्तौड़ ही गुहिलों की मुख्य राजधानी बन गई थी।[2]

आहाड़ एक प्राचीन सभ्यता का केन्द्र, मेवाड़ राज्य की राजधानी होने के साथ ही एक पवित्र तीर्थ स्थल भी है। यहाँ गंगोद्भेद नामक एक पुरातन तीर्थरूप चतुरस्त कुंड है। जिसका उल्लेख भर्तृभट्ट के शिलालेख में भी मिलता है। कुंड के निकट ही महाराणाओं का दाहस्थान है, जिसको यहां 'महासती' कहते हैं। महाराणा प्रताप के बाद राणाओं का अंत्येष्टि संस्कार बहुधा यहीं होता रहा। आहाड़ सांस्कृतिक दृष्टि से भी समृद्ध रहा था जैस-तेजसिंह के समय में ही 'श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र चूर्णि' नामक चित्र का निर्माण भी आहाड़ में ही हुआ था।[3]

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 139

2 Rajasthan Through the Ages, Vol. I. P. No. 240

3 राजस्थान की चित्रांकन परंपरा, पृ. 10

चित्तौड़

वीरता और शौर्य की क्रीड़ास्थली एवं त्याग व बलिदान का पावन तीर्थ एवं राजस्थान का गौरव चित्तौड़ उदयपुर से पूर्व तक मेवाड़ के गुहिल वंश की प्रमुख राजधानी रही है। चित्तौड़दुर्ग का निर्माण मौर्य राजा चित्रांगद ने करवाया था तथा अपने नाम पर इसका नाम चित्रकोट रखा था, उसी का अपभ्रंश चित्तौड़ है।[1]

नागदा निवासी बापा ने विक्रम संवत् की आठवीं शताब्दी के अंत में मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा बापा ने राजा मान मौर्य को परास्त कर चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। इस समय से लेकर प्राय: आठ सौ वर्षो के लंबे समय तक यह मेवाड़ की राजधानी रहा यद्यपि बीच में थोडे समय के लिए दूसरों का अधिकार भी इस किले पर रहा। मालवा के परमार राजा मुंज ने तथा बाद में गुजरात के सोलंकी राज जयसिंह सिद्धराज का अधिकार चित्तौड़ पर रहा था। इसी प्रकार चित्तौड़ को मुस्लिम आक्रमणों का भी सामना करना पड़ा था। मुस्लिम आक्रमण में पहला भयंकर आक्रमण अलाउद्दीन खिलजी का हुआ जिसने गुहिलों की रावल शाखा का अंत ही कर दिया था। दूसरा व तीसरा मुस्लिम आक्रमण क्रमश: 1534 ई. में गुजरात के सुल्तान बहादूरशाह एवं 1567 ई. में अकबर का आक्रमण हुआ। प्रथम दो मुस्लिम आक्रमण के बाद पुन: चित्तौड़ गुहिलों की राजधानी बन गई थी। किंतु अकबर के आक्रमण के बाद अब गुहिलों की राजधानी का केन्द्र चित्तौड़ से हटकर उदयपुर बन गया था।[2]

राणा कुंभा के शासनकाल (1433-1468 ई.) में चित्तौड़ अपनी समृद्धि और कीर्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचा। कुंभा ने चित्तौड़ के प्राचीन किले का जीर्णोद्धार करवाया तथा उसकी सुदृढ़ प्राचीर, उन्नत बुर्जो व विशाल प्रवेश द्वारों का निर्माण करवाकर एक अभेद्य दुर्ग का स्वरूप प्रदान किया। विविध उपायों द्वारा उन्होंने चित्रकुट दुर्ग को विचित्रकुट अर्थात् रहस्मय और दुर्भेद्य किला बना दिया।[3]

---

1 वीर विनोद, भाग-1, पृ. 161

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 165

3 राघवेन्द्र मनोहर : राजस्थान के प्रमुख दुर्ग, पृ. 28

चित्तौड़ दुर्ग बेहद मजबूत और दुर्भेद्य किला था जिसे जीतना शत्रु के लिए काफी मुश्किल था। चित्तौड़ दुर्भेद्य तभी तक बना रह सका जब तक कि युद्ध प्रणाली में तोपों का प्रयोग शुरू नहीं हो गया था। 1534 के गुजरात व 1567 के अकबर के आक्रमण ने चित्तौड़ की अभेद्यता पर प्रश्न-चिह्न लगा दिए थे। राजपूत वीरों ने भी बदली युग तकनीक के अनुरूप सुरक्षा के उपायों में भी परिवर्तन किया। महाराणा उदयसिंह द्वारा उदयपुर को राजधानी स्थल के रूप में चुनना उपर्युक्त कारणों का ही परिणाम था।

दुर्ग

दुर्ग निर्माण की कहानी मानव के विकास की कहानी से जुड़ी हुई है। प्रागेतिहासिक काल में मानव गुफाओं और वृक्षों पर रहकर हिंसक पशुओं और जंगल के अन्य लोगों से अपना बचाव करता था। प्रकृति के प्रकोप से बचने के ये स्थान ही साधन थे। सुरक्षा की इस भावना ने ही दुर्ग-निर्माण की धारणा को जन्म दिया। साम्राज्यवाद के युग में तों दुर्ग-निर्माण एक महत्वपूर्ण अपरिहार्य आवश्यकता बन गई। फलस्वरूप कई दुर्गों का निर्माण हुआ जिन्हें हम वर्तमान में देख सकते हैं। दुर्ग निर्माण की परंपरा का प्रारंभ हड़प्पा एवं मौर्य युग से ही हो गया था किंतु समय एंव परिस्थितियों के अनुसार इसके निर्माण में परिवर्तन आता है। तेरहवीं सदी से तो किले बनाने की परंपरा एक नया मोड़ लेती है। इस काल में ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ जो ऊपर से चौड़ी हों और जिनमें खेती तथा सिंचाई के साधन हो, किलें बनाने के उपयोग में लायी जाने लगीं या जहाँ प्राचीनकाल के जो किले बने हुए थे उन्हें फिर से ढंग से बना दिया गया। चित्तौड़, आबू, कुंभलगढ़, माण्डलगढ़ आदि स्थानों के किले पुराने काल के थे, उनको फिर से मध्ययुगीन युद्ध शैली को ध्यान में रखकर बना दिया गया।[1]

दुर्ग निर्माण की परंपरा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है जिसका प्रमाण हमारे धर्म एवं नीतिशास्त्र के ग्रथ है जिनमें वास्तुशास्त्र के अंतगर्त दुर्ग के रचना शिल्प तथा उनके विविध भेदों का भी विवेचन किया गया है। मनु

1 राजस्थान का इतिहास, पृ. 439

स्मृतिकार मनु ने सर्वप्रथम दुर्गो का वर्गीकरण किया। शुक्रनीति में भी दुर्ग के महत्व को स्वीकार करते हुए उसे राज्य के सात अंगों में से एक माना है साथ हजी दुर्ग को शरीर के प्रमुख अंग 'हाथ' की संज्ञा दी है। शुक्रनीतिकार ने दुर्ग के नौ भेद बताएं है,[1] वहीं आचार्य कौटिल्य चार प्रकार के दुर्गो का उल्लेख करते हैं जो निम्न है:- औदक (जल दुर्ग), पार्वत (गिरि दुर्ग), धान्वन (मरू दुर्ग) और वनदुर्ग। कौटिल्य कहते हैं कि प्रथम दो प्रकार के दुर्ग आपत्तिकाल में जनपद की रक्षा के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं वहीं अंतिम दो प्रकार के दुर्ग वनपालों की रक्षा तथा राजा भी यहाँ शरण लेकर अपनी रक्षा कर सकता है।[2] उपर्युक्त दुर्गो के अतिरिक्त भी अन्य कई प्रकार के दुर्गो का उल्लेख मिलता है जिसमें से प्रमुख है- एरण दुर्ग:- जिसका मार्ग खाई, काँटो तथा पत्थरों से दुर्गम हों। पारिख दुर्ग वह है जिसके चारों तरफ बहुत बड़ी खाई हों। जिसके चारों तरफ ईट, पत्थर तथा मिट्टी से बनी बड़ी-बड़ी दीवारों का परकोटा हो उसे 'पारिध दुर्ग' कहते हैं।[3] राजस्थान में उपर्युक्त वर्णित लगभग सभी कोटी के दुर्ग पाए जाते हैं किंतु अधिकांश प्रमुख दुर्ग गिरि दुर्ग ही है जैसे:- चित्तौड़, मेहरानगढ़ और आमेर प्रमुख है।

राजस्थान दुर्गो की भूमि है। इस प्रदेश का प्राय: समस्त भू-भाग दुर्गो से भरा पड़ा है। अनेक राजकुलों ने प्रदेश के विभिन्न भागों में अपना आधिपत्य स्थापित किया और अपनी सुरक्षा के लिए दुर्ग बनवाये। राजस्थान के बड़े दुर्ग-निर्माताओं में महाराजा कुम्भा का नाम सर्वप्रथम आता है। वे स्थापत्य कला के ज्ञाता थे। मेवाड़ के 84 दुर्गो में से 32 दुर्गों का निर्माण कुंभा ने ही करवाया था।[4] कुंभा ने स्थापत्य कला के साथ स्थापत्यकारों को भी संरक्षण प्रदान किया था जिनमें सूत्रधार मण्डन प्रमुख है। मण्डन कुंभलगढ़ दुर्ग का मुख्य वास्तुकार था साथ ही स्थापत्य पर उसने बहुत सी पुस्तकों की भी रचना की थी जैसे-रूपमण्डन, राजवल्लभ, प्रसादमण्डन एवं देवतामूर्ति-प्रकरण। मेवाड़ की भौगोलिक एवं सामरिक स्थिति भी दुर्ग निर्माण परंपरा के अनुकूल रही है। मेवाड़ का भू-भाग

1 रतनलाल मिश्र : भारत में दुर्ग, शोध पत्रिका, भाग-31, पृ. 1

2 गैरोला वाचस्पति, कौटिल्य अर्थशास्त्रम्, पृ. 85

3 राजस्थान की सांस्कृतिक परंपरा, पृ. 39

4 Annals and Antiquities of Rajasthan. Vol. I. P. No. 231

पहाड़ियों से भरा है, और उनमें से जहां आवागमन के मार्ग सुलभ हो सकते थे, उनकी विशेष सुरक्षा के लिए समुचित दुर्गों का निर्माण कुंभा की सामरिक प्रवीणता को प्रकट करता है। कुंभा के बनाए अधिकांश दुर्ग पार्वत दुर्ग और नगर दुर्ग के श्रेष्ठ सम्मिलित उदाहरण है उनसे उन्नत सैनिक निर्माण शैली भी विकसित हुई।[1]

वीर भूमि मेवाड़ में छोटे-बडे कई दुर्ग स्थित है, मुख्यत: यहाँ गिरिदुर्ग, वनदुर्ग एवं जलदुर्ग पाए जाते हैं। चित्तौड़गढ गिरि दुर्ग का, कुम्भलगढ़ गिरि व वनदुर्ग का तथा भैसरोड़गढ़ जलदुर्ग के श्रेष्ठ उदाहरण है। मेवाड़ के इतिहास में चित्तौड़, कुम्भलगढ़ एवं मांडलगढ़ का अत्यधिक महत्व रहा है। राजस्थान के गौरव के नाम से जाना, जाने वाले चित्तौड़ दुर्ग का निर्माण चित्रांगद मौर्य ने करवाया था। चित्तौड़ को गुहिलवंशी बापा ने मान मोरी से छिन लिया था तब से यह गुहिलवंश के अधिकार में था। चित्तौड़ के किले को विचित्रकूट (भिन्न-भिन्न प्रकार के शिखरों अर्थात् बुर्जों वाला) कुंभा ने बनवाया। स्थापत्य का बेजोड़ नमूना कीर्तिस्तंभ भी कुंभा की ही देन है। चित्तौड़ दुर्ग रिहायशी दुर्ग होने की वजह से यहाँ पर मंदिर, तालाब एवं सामंतो की हवेलियों का निर्माण किया गया जैसे कुंभसागर तालाब, चत्रंग तालाब, समिद्धेश्वर मंदिर, कालिका माता का मंदिर, जयमल की हवेली आदि।[2]

गिरि व वन दुर्ग का सम्मिश्रण कुंभलगढ़ दुर्ग का निर्माण महाराणा कुंभा ने ई.स. 1458 में किया था। यहाँ कुंभा ने अपने निवास हेतु कटारगढ़ का निर्माण करवाया था। कई हिंदु एवं जैन मंदिर दृष्टिगत होते हैं जिनमें नीलकंठ महादेव, मामादेव, गणेश, पार्श्वनाथ एवं पीतलशाह जैन मंदिर प्रमुख है। कुंभा ने एक दुमंजिला 'यज्ञवेदी' का निर्माण करवाया है, जो पूर्णत: शास्त्रोक्त रीति से बना है। इस समय राजपूताना के प्राचीन काल के यज्ञ-स्थानों का यहीं एक स्मारक देखने को रह गया है।[3]

---

1 राजेंद्र शंकर भट्ट, महाराणा कुंभा, पृ. 137

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 65-71 ; वीर विनोद, भाग-1, पृ. 161-163

3 गौरीशंकर असावा, कुंभलगढ़, पृ. 13.18

मेवाड़ के प्रमुख गिरि दुर्गों में मांडलगढ़ भी है। मांडलगढ़ दुर्ग के निर्माता के संबंध में निश्चित जानकारी का अभाव है। बनास, बेड़च और मेनाल नदियों के त्रिवेणी संगम पर स्थिति यह दुर्ग कौटिल्य द्वारा बताए गए दुर्ग विधान के आदर्श को पूरा करता है जिसके अनुसार दुर्ग नदियों के संगम के बीच अवस्थित होने चाहिए। प्रारंभ में यह दुर्ग चौहानों के अधीन था बाद में बंवावदे के हाड़ाओं में इस पर अधिकार कर लिया। यह मेवाड़ के अधीन क्षेत्रसिंह के समय आया तभी से इस पर मुख्यरूप से मेवाड़ के शासकों का प्रभाव रहा।[1]

दुर्ग निर्माण का मुख्य ध्येय सुरक्षा रहा है। यही कारण है कि प्राचीन एवं मध्य काल के विभिन्न ग्रंथों में राजा से अपेक्षा की गई है कि अन्य सभी वास्तु की अपेक्षा दुर्ग को सुदृढ, चारदीवारी से युक्त, उन्नत बनाना चाहिये अन्यथा जन, धन आदि की हानि निश्चित है।[2]

कौटिल्य दुर्ग

वास्तु का विवरण देते हुए कहता है कि सर्वप्रथम परिखा (खाई) का निर्माण किया जाये तथा उसी मिट्टी से वप्र निर्मित करें। प्राकार को वप्र के ऊपर बनाया जाएं। प्राकार के चारों दिशाओं में अट्टालिका बनाई जाएँ। कौटिल्य दो अट्टालिका के मध्य प्रतोली निर्माण करने का निर्देश देता है जिसे वह गौण द्वार भी कहता है। अट्टालिका एंव प्रतोली के मध्य इन्द्रकोष नामक विशिष्ट स्थान बनाया जाए जिसमें इतना स्थान हों कि वहां तीन सैनिक बैठ सकें जो शत्रुओं को अपना निशाना बना सकें। प्राकार के साथ ही देवपथ (सुरंग) का निर्माण किया जाना चाहिये जो अट्टालिका, प्रतोली एवं इन्द्रकोष के मध्य हों। प्राकार के ऊपर ही सैनिकों द्वारा शत्रु पर निशाना मारने के लिए छिद्र (निष्कुहद्वार) हो साथ ही बाहर से छोड़े गये बाण आदि से सुरक्षित रहने के लिए छिपने योग्य आड़ (प्रधावितिका) हो। कौटिल्य कहता है कि गोपुर (दुर्ग द्वार) इतना बड़ा होना चाहिये कि चार हाथी प्रवेश कर सकें।[3]

---

1 राघवेन्द्र मनोहर, राजस्थान के प्रमुख दुर्ग, पृ. 125-128

2 श्रीकृष्ण 'जुगनू' वास्तुमण्डलम्, पृ. 118

3 कौटिल्य अर्थशास्त्रम्, पृ. 84-87

कौटिल्य के दुर्ग-वास्तु के लगभग सभी महत्वपूर्ण तत्व प्राय: मेवाड़ के सभी किलों में दृष्टिगत होते हैं जिन्हें मण्डन ने भी अपने ग्रंथों में स्थान भी दिया है। सुदृढ़ प्राचीर, विशाल परकोटा, अभेद्य बुर्ज, किले के चारों तरफ गहरी नहर या परिखा, गुप्त प्रवेश द्वार, राजप्रसाद और सैनिकों के आवास गृह आदि यहाँ के प्राय: सभी किलों में विद्यमान है।[1] उपर्युक्त सुरक्षा प्रबंधो के अतिरिक्त दुर्ग की घेराबंदी का दीर्घकाल तक सामना करने हेतु चार प्रकार के संचय महत्वपूर्ण माने गए है- अर्थ संचय, जल संचय, अन्न संचय एवं शस्त्र संचय।[2] चित्तौड़, कुंभलगढ़ एवं माण्डलगढ़ में उपर्युक्त चारों प्रकार के संचय की पर्याप्त व्यवस्था थी इसी वजह से ये तीनों दुर्ग शत्रुओं की चलने वाली लंबी घेराबंदी को सहन कर सकें। मण्डन अपने ग्रंथ वास्तुमण्डन में भी दुर्गों की रक्षा के लिए चौरासी प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख करता है, जिनमें नौ-नौ प्रकार के वायु व जल यंत्र, छ: प्रकार के अग्नियंत्र एवं साठ प्रकार के संग्राम यंत्र बताता है। इन यंत्रों में भैरव यंत्र, गजभीम मर्रकरी, गोफण तथा गौरी यंत्र प्रमुख थे।[3]

मेवाड़ का सबसे दुर्गम एवं अभेद्य दुर्ग कुंभलगढ है। राजशेखर व्यास ने कुंभलगढ़ में गिरि दुर्ग, वनदुर्ग और कृत्रिम दुर्ग तीनों लक्षणों के आधार पर इसे मिश्र-महादुर्ग की कोटी का अद्वितीय दुर्ग माना है।[4] प्रकृति देवी ने कुंभलगढ़ को जो नैसर्गिक सुरक्षा कवच प्रदान किया है वह अन्यंत्र दुर्लभ है। अपने स्थापत्य की इसी अनुठी विशेषता के कारण समुद्रतल से साढ़े तीन हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित होते हुए भी यह किला हरी भरी वादियों के कारण दूर से नजर नहीं आता। "अरावली पर्वतमाला की विशाल पहाड़ियों और दुर्गम घाटियों से परिवेष्टित" "तथा सघन और बीहड़ वन से आवृत्त कुंभलगढ़ दुर्ग की मजबुत सुरक्षा व्यवस्था को भेदना लोहे के चने चबाना था। चित्तौड़ व मांडलगढ़ दुर्ग बहुत सी बार शत्रु पक्ष

---

1 राघवेन्द्र मनोहर, राजस्थान के प्रमुख दुर्ग, पृ. 12

2 भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता, पूर्व मध्यकालीन साहित्य में दुर्ग और स्कंधवार , शोध पत्रिका भाग-20, अंक-3, 1963, पृ. 5

3 वास्तु मण्डलम्, पृ. 134-136

4 राजशेखर व्यास, भारतीय दुर्ग स्थापित की विलक्षण रचना कुम्भलगढ़ का महामिश्र दुर्ग , शोध पत्रिका भाग-39, अंक-2, पृ. 41

के अधिकार में चले एक जबकि कुंभलगढ दुर्ग पर आक्रमण तो बहुत हुए किंतु आक्रांता को जीतने का अवसर एक ही बार मिला और वह भाग्यशाली था। मुगल सेनापति शाहबाज खां।"[1]

चित्तौड़ दुर्ग जो एक पहाड़ी पर स्थित है जिसके समीप कोई अन्य पहाड़ी नहीं है जिस वजह से आक्रांता द्वारा आसानी से घेराबंदी करके रसद रोकी जा सकती है। बहादुरशाह एवं अकबर दोनों की ही फौजे अपने तोपों व बारूद के दम पर चित्तौड़ की सुरक्षा प्राचीरों को भेदने में सफल रही थी।[2] मांडलगढ़ के पतन का भी यहीं कारण था। मांडलगढ़ के उत्तर में नकट्या चौड़ अथवा बीजासण का पहाड़ है जो दुर्ग पर तोपों के गोले बरसाने हेतु आक्रांता के लिए वरदान स्वरूप था।[3]

चित्तौड़ व मांडलगढ़ की अपेक्षा कुंभलगढ़ को भौगोलिक लाभ इस संदर्भ में है कि दुर्ग का निर्माण किसी एक पहाड़ी अथवा किसी ऊपर उठे हुए भू-भाग पर न किया जाकर छोटी-छोटी कई पहाड़ियों के समूह को परिधि में लेकर किया गया है तथा दुर्ग से अलग बाहर का भू-भागभी गिरिश्रृंगों से आवेष्ठित है। इसी कारण कुम्भलगढ़ अत्यधिक जटिल और कठिनाई से पहुंचा जा सकने वाला दुर्ग बन गया।[4]

मेवाड़ में बहुत से दुर्गो का निर्माण सुरक्षा पंक्ति के रूप में भी हुआ था ताकि शत्रुओं को रोका जा सकें। कुंभा के समय 32 किलों का निर्माण भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं क्योंकि कुंभा का अधिकतम समय संघर्ष में बीता था। गुजरात के शासकों को आक्रमण रोकने के लिये महाराणा कुंभा ने एक सुरक्षा पंक्ति का निर्माण करवाया। इस पंक्ति में तीन दुर्ग बनवाये गये। प्रथम कुंभलगढ़, द्वितीय अचलगढ़ एवं तृतीय बसंतगढ़ बनवाया। मेरों के बढ़ते हुए प्रभाव को

---

1 Akbarnama, Vol. III. P. No. 339-40

2 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 74

3 राघवेन्द्र मनोहर, राजस्थान के प्रमुख दुर्ग, पृ. 125

4 राजशेखर व्यास, भारतीय दुर्ग स्थापित की विलक्षण रचना कुम्भलगढ़ का महामिश्र दुर्ग , शोध पत्रिका भाग-39, अंक-2, पृ. 42

रोकने के लिए मचान और झाड़ोल के और भीलों से सुरक्षा के लिए पनोरा के किले भी कुंभा बनवाए थे।[1] इस प्रकार छोटे-बड़े कई दुर्ग मेवाड़ में स्थित है।

मंदिर

भक्ति एवं आस्था के केन्द्र मंदिरों का निर्माण प्राचीन काल काल से होता आ रहा है। भारतीय साहित्य एवं वास्तुग्रंथों में मंदिर स्थापत्य कि अनेक प्रतीकों का समन्वय हैं। मनुष्य सबसे विकसित प्राणी है और मंदिर उसी का प्रतिरूप है, इसीलिए मंदिर को पुरूष कहा जाता है। मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगों के नाम, पाद से लेकर शिखा तक, के अनुरूप ही मंदिर के अंगो का नामकरण किया जाता है। चरण, पाद, जंघा, ग्रीवा और मस्तक इत्यादि शब्द जो कि मानव शरीर के अंग हैं व जैविक कार्य करते हैं, मंदिर के स्थापत्य के विभिन्न अंगों को इंगित करने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं।[2]

एक मंदिर का निर्माण विभिन्न अंगों से मिलकर होता है, इसमें सबसे महत्वपूर्ण हैं गर्भगृह। गर्भगृह एक वर्गाकार पवित्र कक्ष है। जिसमें मंदिर की मुख्य देवमूर्ति की प्रतिष्ठा एवं पूजा-अर्चना की जाती है। गर्भगृह का प्रवेश द्वार पूर्व दिशा की ओर होता। स्थापत्य परंपरा में दिशा को अत्यधिक महत्व दिया गया हैं यहीं कारण है कि प्राचीन वास्तुग्रंथों एवं मण्डन ने भी पूर्व दिशा को श्रेष्ठ माना। उनका मानना है कि जहाँ प्रथम भाग में सूर्य की किरणों का आगमन न हो तथा हवा का संचार नहीं हो तो ऐसा आवास अशुभ होता हैं।[3] गर्भगृह से आयताकार कक्ष में आते हैं उसे अतंराल कहा जाता है। यह भाग गर्भगृह एवं मण्डप के मध्य में होता है। गर्भगृह के चारों और प्रदक्षिणा-पक्ष होता है। मंडप में सभी भक्तगण पूजा हेतु एकत्र होते हैं। जब बरामदे से मण्डप के प्रवेश करते हैं तो वह भाग अर्द्धमंडप कहलाता है। सातवीं सदी के प्रारंभ में गर्भगृह की छत ने एक लंबे, वक्र शिखर का स्वरूप ले लिया जो कि उत्तर भारत के मंदिरों की महत्वूर्ण पहचान है। शिखर तीन रथों, लंबवत् प्रलंबो (Projections) जिसकी संख्या बाद में पांच तक

1 राजेन्द्र शंकर भट्ट, महाराणा कुंभा, पृ. 137

2 Krishandev. Northern Temple of India. P. No. 1

3 राजवल्लभ वास्तुशास्त्रम्, पृ. 233

और कभी-कभी सात तक बढ़ गयी। इस प्रकार के सभी प्रलंब ढालुओं चैत्य गवाक्षों द्वारा ढके होते थे और कोनों में विभिन्न शिखरों के तलों के छोटे आमलकों को श्रृंखला द्वारा विभाजित करते हैं। शिखर ग्रीवा द्वारा विभक्त होता था, जिसे अमलसारक कहा जाता है और जिसके ऊपर घड़े के आकार का कलश होता था।[1]

भारतीय वास्तुकला में मंदिर स्थापत्य के बेजोड़ नमूने देखने को मिलते हैं तथा मेवाड़ में भी गंभीर निर्माण की समृद्ध परंपरा रही है। सम्भवत: मेवाड़ क्षेत्र में एक हजार से भी ज्यादा मंदिर है। इन मंदिरों का निर्माण प्राचीन वास्तु परंपरा एवं हिन्दू धार्मिक ग्रंथो के अनुसार ही हुआ है।

नागदा

गुहिल वंश की प्रारंभिक राजधानी एवं बापा रावल की कर्म-स्थली नागदा ही था अत: स्वाभाविक रूप से यहाँ मंदिरों के प्रारंभिक पुरावशेष प्राप्त होते हैं। यहाँ प्राचीन काल में अनेक शिव, विष्णु एवं जैन आदि के मंदिर बने हुए थे, जिनमें से कई अभी तक विद्यमान है। नागदा के मंदिरों में सर्वाधिक प्रसिद्ध सास-बहु का मंदिर है। अमरकाव्यम् में इसके निर्माता कृंभा की माँ एवं पत्नी को बताया है किंतु पुरात्वेत्ता इसका समय 11वीं शती बताते हैं। सास-बहु मंदिर पंचायतन श्रेणी के विष्णु मंदिर है। दोंनो ही मंदिरो के शिखर ईंटो के बने थे। दोनों मंदिरो के गर्भ गृह में बहुत कम प्रतिमाएँ जड़ी है। मंदिर में राम, बलराम शिव, विष्णु एवं ब्रह्या का पर्याप्त चित्रांकन किया गया है। यहाँ से मिली तीन प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण है- आसनस्थ हरिहर, आसनस्थ, त्रिमुखी विष्णु (नृसिंह-वराह-विष्णु) आसनस्थ अर्थ नारीश्वर प्रमुख हैं। इसकी एक अन्य महत्वपूर्ण कृति इसका हिण्डोला तोरण द्वार है।[2]

नागदा परिसीमा में झीण्डोली, क्रिसन्यावल, बड़वासन, ईसवाल, कुण्डा, राया, नागदा और कैलाशपुरी वह क्षेत्र है जहां स्थापत्य विकास क्रम के प्रामाणिक

1 Temples of India. P. No. 7-8 ; Northern Temple of India. P. No. 3

2 Glories of Mewar, P. No. 32 ; आर.सी. अग्रवाल : नागदा के सास बहु मंदिर की महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ, शोध पत्रिका, भाग-14, अंक-4, पृ. 246

अवशेष देखे जा सकते हैं। नागदा परिक्षेत्र में सांस्कृतिक व राजनीतिक गतिविधियों की सक्रियता के प्रमाण ई. सन् प्रथम, द्‌वितीय शती से ही प्राप्त होते हैं। क्रिसन्यावल स्थित की विष्णु मंदिर का निर्माण गुहिल अपराजित के सेनापति वैरिसिंह की पत्नी यशोमति द्‌वारा सवंत् 718 में करवाया गया। कुण्डा से प्राप्त अभिलेख में वर्णित "पोताराय भवन मकरोत्कैट भरियो" सन्दर्भ इसी देवालय की ओर संकेत करता है क्योंकि दूर से इसका भव्य रूपाकार समुद्र में तैरते हुए जहाज जैसा प्रतीत होता है। पंचायतन शैली के इस मंदिर में संगमरमर प्रयोग किया गया है। मुख्य मंदिर के गर्भगृह की द्‌वार शाखा पर उत्कीर्ण यक्ष की नाभि से पुष्पित अलंकरण मेवाड़ की मूर्ति-कला का अद्‌वितीय उदाहरण है।

नागदा परिक्षेत्र में मंदिर निर्माण की समृद्ध परंपरा दृष्टिगत होती हैं। यहाँ ई. सन् 6 शती से 10-11 शती तक देवालयों के निर्माण में स्थानीय पाषण के प्रयोग के साक्ष लघु आकार के अलंकरण रहित मंदिरों का निर्माण किया गया तथा मंदिर निर्माण में श्वेत पाषाण का प्रयोग होने लगा था।[1]

बाड़ोली के मंदिर

मेवाड़ में ही नहीं, किंतु भारतवर्ष में भी कारीगरी के विचार से बाड़ोली के मंदिरो (चितौड़गढ़) की समता करने वाला आबू के प्रसिद्ध जैन मंदिरों तथा नागदा के सास-बहू के मंदिरो को छोड़कर और कोई नही है। इनमें मुख्य घटेश्वर का शिवालय है।[2] घटेश्वर मंदिर के गर्भगृह के ऊपर संतुलित पंचरथ शिखर है, एक सीढ़ीयुक्त व गोल छत से युक्त अंतराल और मंडप कोण स्तूपाकार छत से युक्त है। मंडप में मकर तोरण द्‌वार से प्रवेश किया जाता है।

अप्सरा-आकृतियों की डिजाइन, मकर तोरण स्तंभों की व्यवस्था, आंतरिक छत व शिखर से युक्त यह मंदिर खजुराहों के लक्ष्मण मंदिर के समान है। यह मंदिर नवीं सदी के अंतिम चरण में निर्मित प्रतीत होता है। शिल्प कला विद् फर्ग्यूसन ने यहां के मंदिरो की कारीगरी की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए इनको

---

1 विष्णुप्रकाश माली, नागदा परिक्षेत्र में स्थापत्य का विकास एवं स्वरूप , शोध-पत्रिका, भाग-14, अंक-4, पृ. 172-178

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 79

उस समय के देवालयों में अद्‌वितीय माना है, और शेषशायी नारायण की मूर्ति के संबंध में तो यहां तक लिखा है कि 'मेरी देखी हुई हिंदू मूर्तियों में यह सर्वोत्कृष्ट है।'[1]

अंबिका-माता का मंदिर जगत

जगत का अंबिका माता मंदिर उदयपुर में अरावली की पहाड़ियों के मध्य स्थित है। अंबिका माता मंदिर डिजाइन में उत्कृष्ट एवं वर्णित मंदिरो के अलंकरणों से युक्त व उनसे थोड़ा परवर्ती है। यह थोड़ा विकसित भी है। प्रदक्षिणा विहीन सत्रह गवाक्षों वाले पंचरथ व शिखर से युक्त गर्भगृह, सीढ़ियों व गोल छत वाला अतंराल, मंडप जिसमें जालीदार पार्श्व गवाक्ष और जंगलों से घिरा हुआ अर्धमंडप, मंडप मंदिर के विभिन्न अंग है। चारों दिशाओं और कोणों पर क्रमश: स्त्री-आकृतियों और शासकों की मूर्तियां मिलती हैं, जो वेदिकाओं से आच्छन्न हैं जैसे कि खजुराहों में पाई गयी है। इस मंदिर का निर्माण 925 ई. के आसपास हुआ है। कुछ लोग इसे 'शाक्त' के स्थान पर "तंत्र" से जोड़ते हैं किंतु जब इसके स्थापत्य को देखते हैं तो इसमें हिंदू स्थापत्य के पांचो मूलभूत तत्व दिखाई देते हैं जो इस शाक्त की बताते हैं।[2]

एकलिंगनाथ जी का मंदिर

उदयपुर से 13 मील उत्तर से एकलिंग जी का प्रसिद्ध मंदिर है, जो दो पहाड़ियों के बीच में बना हुआ है। जिस गांव में यह मंदिर है इसको कैलाशपुरी कहते हैं। एकलिंग जी मेवाड़ राजवंश के इष्टदेव है एवं मेवाड़ राजवंश के स्वामी भी है जबकि मेवाड़ के महाराणा एकलिंग जी के दीवान के रूप में शासन करते हैं।[3] एकलिंग जी मंदिर का निर्माण मंदिर नगर (Temple Town) शैली पर विकसित हुआ है। मंदिर के अहाते में ही छोटे-बड़े सब लगभग 108 मंदिर हैं, मुख्य मंदिरों में विष्णु मंदिर, लक्ष्मीनारायण मंदिर, सीताराम तथा गणपति का मंदिर मुख्य है। मंदिर के पीछे परकोटे के बाहर हारीत राशि की गुफा, हारीत राशि

---

1 Temple of India. P. No. 25-26

2 Temple of Northern India. P.No. 26; Architechtural Glories of Mewar. P. 82

3 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 132

की मूर्ति एवं विन्ध्यवासिनी देवी की प्राचीन मूर्तियां एवं मंदिर बने हुए है। एकलिंगजी के मंदिर के दक्षिण में लकुलीश का मंदिर हैं जिसका निर्माण 971 ई. में पाशुपत सम्प्रदाय के साधुओं द्वारा की करवाया गया है।[1]

जनश्रृति है कि सर्वप्रथम बापा ने ही अपने अधिष्ठाता देव एकलिंगजी के मंदिर निर्माण करवाया था। एकलिंग महात्म्य के विवरण से पता चलता है कि यह अपनी प्रारंभिक अवस्था में एक सामान्य मंदिर रहा होगा किंतु समय-समय पर शत्रु पक्ष ने आक्रमण कर नुकसान पहुँचाया है। मंदिर के जीर्णोद्धार के कारण इसका रूप परिवर्तित होता रहा है। महाराणा मोकल ने एकलिंगजी मंदिर की सुरक्षा हेतु किलेनुमा परकोटा बनाया तथा तीन द्वार बनवाये।[2] कुंभा ने एकलिंग मंदिर जो खण्डित हो गया था उसे मण्डप, तोरण, ध्वजादण्ड और कलशों से अंलकृत किया तथा एकलिंग मंदिर के पूर्व में कुभं-श्याम (विष्णु मंदिर) के मंदिर का निर्माण किया।[3] वर्तमान में मंदिर का जो स्वरूप प्राप्त होता है। बहुत हद तक उसका निर्माण महाराणा रायमल के समय हुआ था। एकलिंगजी के पाषाण निर्मित प्रासाद एवं प्राचीन पूजा विधान की जीवित समृद्ध पंरपरा की वजह से आज भी आमजन को मेवाड़ के गौरवशाली अतीत से परिचित होने का अवसर मिल पाता है।

कुंभा कालीन मंदिर

मेवाड़ में मंदिर निर्माण की समृद्ध परंपरा रही है। यहाँ विभिन्न शासकों के काल में विभिन्न धर्मो व विभिन्न देवताओं के मंदिरों का निर्माण हुआ है। यहाँ शैव वैष्णव मंदिर के साथ ही सूर्य मंदिर एवं जैन मंदिरों का निर्माण भी बहुतायत में हुआ है। कुंभा का काल मंदिर स्थापत्य की दृष्टि से भी अद्भूत था। इनके राज्य काल में कई प्रमुख हिंदू व जैन मंदिर बने।

मेवाड़ के सबसे प्रबुद्ध, प्रतापी एवं प्रतिभावान शासकों में से एक कुंभा जिनका वैभव आज भी उनके स्थापत्य में दृष्टिगत होता हैं। कुंभा ने कई मंदिरो

1 राघवानंद, भगवान एकलिंग और हारित, पृ. 12-13

2 वही, पृ. 16-17

3 कीर्ति स्तम्भ प्रशस्ति, राजस्थान के इतिहास के स्रोत, पृ. 146

का निर्माण करवाया था। उनमें सबसे प्रमुख उनके आराध्य देव विष्णु के मंदिर प्रमुख है। विष्णु के मंदिर कुंभश्याम मंदिर के नाम से जाने जाते हैं। कुंभा ने चितौडगढ़[1], कुंभलगढ़[2] एवं अचलगढ़[3] तीनों दुर्गों में कुंभ श्याम मंदिर का निर्माण किया। कुंभा द्वारा कीर्ति स्तंभ को उपेन्द्र नाथ डे ने तो विष्णुस्तंभ ही कहाँ क्योंकि इसके प्रवेश द्वार पर विष्णु की प्रतिमा स्थापित है।[4] कुंभा द्वारा कुंभलगढ़ में निर्मित धार्मिक इमारतों में यज्ञवेदी भी महत्वपूर्ण है। कुंभा ने इसका निर्माण 1457 ई. में किले के निर्माण पूरा होने के पश्चात् यज्ञ सम्पन्न करवाने हेतु करवाया था। ऊंचे चबूतरे पर स्थित यह मंदिर पश्चिमाभिमुख है जो ऊंची दीवार से घिरा है। मंदिर परिवेश के सामने के भाग में तीन मंजीला स्तंभयुक्त सर्वतोभद्र वेदी निर्मित है।[5]

कुंभा के काल में जैनों को खूब सरंक्षण मिला यहीं वजह है कि इस समय कई जैन मंदिरों का निर्माण भी हुआ। कुंभाकालीन जैन मंदिरों में सर्वप्रथम रणकपुर का जैन मंदिर है। रणकपुर के जैन मंदिर का निर्माण श्रेष्ठि धरणकशाह ने किया था जिसे कुंभा ने भूमि के साथ पर्याप्त आर्थिक सहायता भी प्रदान की थी। जेम्स टॉड ने लिखा है "इस समय दर्शनयी निर्माणों में जो बहुविशाल है, उन में से यह एक है, इस पर दस लाख स्टरलिंग (ब्रिटिश सिक्का, पौंड) व्यय हुए थे, जिसमें से कुंभा ने अस्सी हजार पौंड अपनी ओर से प्रदान किए थे।"[6] रणकपुर के जैन मंदिर में कुल पांच मंदिर है जिनमें से 4 मंदिर है : आदिनाथ, पार्श्वनाथ, शांतिनाथ व सूर्य मंदिर था। रणकपुर के इस चौमुखा मंदिर का निर्माण हिंदू मंदिर वास्तु शैली 'नलिनी गुल्मा प्रसाद' शैली के आधार पर हुआ हैं। रणकपुर के सूर्य मंदिर का निर्माण कुंभा की इच्छा पर करवाया गया था। यह मंदिर सामान्य हिंदू मंदिर स्थापत्य कुछ भिन्न है। यह मंदिर स्थापत्य की 'वरूण व्रत्तयात मणिक'

---

1 गौरी शंकर असावा, पंद्रहवीं शताब्दी का मेवाड़, पृ. 159

2 वही, पृ. 163

3 वही, पृ. 164

4 Upendra Nath Day, Mewar Under Maharana Kumbha, P. No. 114

5 सी. डोरजे और डी. एन. डिमरी, कुम्भलगढ़, पृ. 13

6 Annals and Antiquities of Rajasthan. Vol. I. P. No. 232

शैली का प्रतिनिधित्व करता हैं। यहाँ सूर्य की 60 प्रतिमाएँ हैं।[1] मेवाड़ में चितौड़ व कुंभलगढ़ दुर्ग में भी सूर्य मंदिर हैं। चित्तौड़ में स्थित कालिका माता मंदिर प्राचीन सूर्य मंदिर था जिस परिवर्तित कर कालिका माता मंदिर बना दिया गया।[2] कुंभलगढ़ का सूर्य मंदिर कुंभा कालिन है जो रणकपुर के सूर्य मंदिर का समकालीन हैं।

कुम्भलगढ़ जैन मंदिरों में पार्श्वनाथ मंदिर, बावन जैन मंदिर, गोलेरा जैन मंदिर एवं पीतलशाह जैन मंदिर प्रमुख हैं। कहा जाता है कि कुंभा के काल में यहां 700 जैन मंदिर था।[3] चितौड दुर्ग में स्थित जैन मंदिरों में सात मंजिल वाला जैन कीर्तिस्तम्भ प्रमुख है। बघेरवाल महाजन जीजा ने बनवाया था। श्रृंगार चंवरी नामक शांतिनाथ जैन मंदिर का निर्माण कुंभा के समय उनके खजान्ची शाह कोल्स के पुत्र वेलका (वेला) ने करवाया था। इनके अतिरिक्त जैन देवालय सतबीस देवरी एवं महावीर जैन मंदिर आदि प्रमुख हैं।[4]

स्थापत्य कला प्रभाव न केवल नगर-निर्माण, भवन तथा दुर्ग निर्माण तक ही सीमित रहा वरन् कला की गति और कला की शक्ति के अनुरूप उसका प्रवेश मंदिरों के निर्माण द्वारा भी अभिव्यक्त हुआ। भारतीय मानसिक तथा राजीनतिक परिवर्तन के साथ कला भी प्रगति के पक्ष पर अग्रसर रही जिससे युग का रूप स्थापत्य के ढाँचे में ढलता चला गया। अत: स्थापत्य भी समाज का दर्पण है। जब 7वीं से लेकर 13वीं शताब्दी के स्थापत्य का पर्यवेक्षण करते हैं तो पाते हैं कि इस समय राजस्थान एक नये राजनीतिक जीवन में प्रवेश कर रहा होता हैं। इस काल में चौहान, गुहिल, राठौंड़ परमार एवं कच्छ्रपघट आदि राजवंशीय राजाओं का प्राबल्य बढ़ा जिन्होनें परम्परागत स्थापत्य को एक नया मोड़ दिया। जो शक्ति, विकास और जातीय संगठन की भावना राज्य संस्थापन में आवश्यक थी। वह भावना स्थापत्य में भी प्रस्फुटित हुई। इस काल मे बनने वाले मंदिरों में चाहे वे विष्णु के हो अथवा शिव के, शक्ति के हो या सूर्य के, बल और शौर्य का

1 Architectural Glories of Mewar, P. No. 85-86

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 67

3 कुंभलगढ़ अजय दुर्ग, पृ. 17-20

4 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 71

उन्मीलन प्रगाढ़ रूप से दिखायी देता है। जब 14वीं से 16वीं शताब्दी तक दृष्टिगत करते हैं तो ज्ञात होता है कि इस युग के स्थापत्य का महत्व सुरक्षा से संबंधित था। इस युग में बनने वाले मंदिरों को भी किले के रूप में बनाया जाता था। वही कुंभा के बाद के स्थापत्य के सामंजस्य से इमारतों का निर्माण होता हैं। लेकिन मुस्लिम दक्षिण-पश्चिम राज्यों पर कम था उसका कारण यहां मुस्लिम प्रभाव कम था।[1]

चित्रकला

कलाओं में चित्रशिल्प का अपना विशिष्ट स्थान हैं। चित्रकला का इतिहास पाषाणयुगीन मानव द्‌वारा प्राकृतिक शिलाश्रयों में निर्मित रैखिक चित्रों से प्रारंभ होता हैं। प्रागैतिहासिक चित्र मुख्यत: आखेट कर्त्ता, आखेट के लक्ष्य पशु तथा आखेत के लिए प्रयुक्त आयुधों के रेखांकन तक सीमित थे।[2] चित्रकारी की यह परंपरा विकसित होते हुए कालांतर में मिट्टी के बर्तन, ताड़ पत्रों, कागज एवं वस्त्रों तक विस्तृत हुई।

राजस्थानी चित्रकला के नामकरण पर विद्‌वानों के विभिन्न मत हैं। अनेक तर्क-वितर्कों के उपरांत भी कोई इसे राजपूत चित्रकला और कोई राजस्थानी चित्रकला कहते हैं। राजस्थानी चित्रकला का सबसे पहला वैज्ञानिक विभाजन स्वार्गीय आनंद कुमार स्वामी ने राजपूत पेंटिंग नामक पुस्तक में सन् 1916 सें किया। उनके अनुसार राजपूत चित्रकला का विषय राजपूताना और पंजाब, हिमाचल की पहाड़ी रियासतों से सम्बन्धित हैं।

अजन्ता की चित्रण परंपरा को वहन करने का श्रेय गुहिल वंशीय मेवाड़ के राजाओं को हैं। दक्षिण राजस्थान में मेदपाट (मेवाड़) वह स्थान है जो प्राचीन काल से ही सूर्यवंशी राजाओं के हाथ में रहा है और गुप्त साम्राज्य के विघटन के उपरान्त भी भारतीय संस्कृति की मशाल अपने हाथों में लिये रहा।[3] अत: राजस्थानी चित्रकला की जन्मभूमि राजस्थान ही है और जिनका प्रमुख केन्द्र

1 राजस्थान का इतिहास, पृ. 445-447

2 महेश चंद्र जोशी, युग-युगीन कला, पृ. 263

3 राजस्थान की सांस्कृतिक परंपरा, पृ. 2

मेदपाट रहा। 9वीं, 10वीं शती में चित्रकला में जो अवनति होती आ रही थी, उसके स्थान पर 15वीं शती में उन्नति का काल चल पड़ा। यह पुनरूत्थान गुजरात और दक्षिण राजस्थान मेवाड़ में हुआ। मेवाड़ का नाम राजस्थानी चित्रकला के जन्म और विकास के संबंध में अन्य विद्वानों द्वारा भी लिया जाता रहा हैं। डॉ. हरमन गेट्स का विचार भी इस बारे में मेवाड़ पर अधिक केन्द्रित रहा है।[1]

मेवाड़ के गौरवपूर्ण इतिहास मे यहां की चित्रांकन परम्परा का महत्वपूर्ण स्थान है। यहां की चित्रकला का इतिहास भी पाषाणकाल से शुरू होता है। चितौड़ के पास बेड़च व गंभीरी नदी तट की चट्टानों में एक लाख हुई वर्ष पूर्व उत्कीर्ण किये चित्रावशेष देखने को मिलते हैं। ताम्रपाषाण काल के चित्र आहाड़ से प्राप्त बर्तनों पर भी देखे जा सकते हैं। कालांतर में मेवाड़ की प्राचीनतम चित्रण परम्परा भित्ति चित्रों, पटचित्रों, फलक चित्रों एवं ग्रंथ चित्रों से होती हुई लघु चित्रों में व्याप्त हो गई। इस चित्रण परंपरा का हर युग में विस्तार होता रहा, किंतु हर समय विदेशी आक्रान्ताओं के हमलों से चित्रण के आधार जैसी कोमल वस्तुओं का स्थिर रहना असम्भव ही रहा। खेद है कि ईसा की पहली शताब्दी से लेकर 11वीं शती तक कोई ऐसे ठोस नमूने नहीं मिलते जो मेवाड़ के चित्र इतिहास को धारावाहिक रूप दे सकें। तीसरी सदी से ही पश्चिम विद्यापीठ केन्द्र की कला परंपरा का विकसित स्वरूप रही जहां के आचार्य चित्रकार श्रृंगधर का उल्लेख तिब्बतियन इतिहासकार लामा तारानाथ ने भी किया व पर्सी ब्राउन ने इन्हें राजा शील के राज्याश्रय में बताया हैं। पर्सी ब्राउन ने शील को मेवाड़ राजवंश के संस्थापक गृहादित्य (गुहिल) के पिता शीलादित्य को कहाँ है। तारानाथ ने यक्ष, देव व नाग की उस काल की प्रचलित शैलियाँ बताई जिसमें यक्ष शैली पश्चिम भारत की प्रचलित शैली थी, जो बौद्ध शैली में प्रचलित रही है। यह पश्चिमी विद्यापीठ मेवाड़ की पश्चिमी सीमा भामेट में (भिनमाल) सम्भवत: बसन्तगढ़ के निकट के खण्डहरों में शारदा पीठ नामक विद्या का केन्द्र था, जहां वशिष्ठ गोत्री शिल्पी ब्राहमण इस भव्य नगरी के निर्माता थे। इन खण्डहरों की मूर्तिकला में

1 राजस्थान की सांस्कृतिक परंपरा, पृ. 2

यक्ष शैली के तत्वों से पश्चिमी विद्यापीठ होने की पुष्टि होती है। जो तत् समय में मेवाड़ की सीमा में स्थित महत्वपूर्ण नगर था, जहां से शिलादित्य का सामोली का शिलालेख मिला है।[1] तदनन्तर आठवीं शताब्दी में "समराइच्चकहा" और "धूर्ताख्यान" के साहित्यिक सन्दर्भों से यहां हुई चित्रों के बनाये जाने की परम्परा मिलती है।[2]

राजस्थानी में चित्रित ताडपत्रीय प्रथम उपलब्ध ग्रंथ "श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णि" है, जो अघाट दुर्ग (आहाड़) में ताड़पत्र पर लिखी गई थी। जो कि वर्तमान में 'म्युजियम ऑफ फाइन ऑर्ट्स बोस्टन' में स्थित है। इसमें कुल छः चित्र है। जिनमें से एक सरस्वती का है। दूसरों में दो जैन साधु बैठे हुए दिखाये गये है।[3] वह पुस्तक तेजसिंह के समय 1261 ई. में लिखी।[4] इस ग्रंथ की साजसज्जा नागदा और चितौड़ के मोकल के मंदिर की तक्षण कला की समता में है। मेवाड़ चित्र शैली का दूसरा प्रमुख उदाहरण देलवाड़ा में महाराणा मोकल के राज्यकाल में मुनि हीरानन्द द्वारा चित्रित ग्रंथ "सुपार्श्वनाह्चरियं" है। इस चित्र सम्पुट में 37 चित्र हैं। जो ज्ञान भण्डार पाटण संग्राहालय में सुरक्षित हैं। इन चित्रों की वेश-भूषा नागदा के मंदिरों और चितौड़ के समिद्वेश्वर मंदिर की तक्षण-कला के समरूप है।[5]

15वीं शताब्दी तक जो चित्रशैली राजस्थान में प्रचलित रही वह बड़ी व्यापक शैली थी। इस काल में बहुत से चित्रों का चित्रण जैन तथा जैनेतर ग्रंथों को आधार बनाकर किया गया इस वजह से इसे "जैन शैली", "गुजरात शैली" "पश्चिमी भारतीय शैली" या "अपभ्रंश शैली" भी कहते हैं। 7वीं से 15वीं शताब्दी तक राजस्थानी चित्रकला, मूर्तिकला तथा शिल्पकला की प्रगति अंजता, एलोरा की पंरपरा से प्रभावित रहा। इस दृष्टि से राजस्थान और गुजरात में कोई भेद नही

---

1 राधा कृष्ण वशिष्ठ, मेवाड़ क्षेत्र के प्राचीनतम चित्रावशेष, शोध पत्रिका, भाग-20, 1969, पृ. 56-58

2 राधा कृष्ण वशिष्ठ, राजस्थान चित्रकला में मेवाड़ शैली की प्रमुख उपशैलियाँ , शोध पत्रिका, भाग-27, अंक-3, पृ. 47

3 अगरचंद नाहटा, मेवाड़ के आधार दुर्ग में सं. 1317 में चित्रित ताड़पत्रीय जैन प्रति , शोध पत्रिका, भाग-5, अंक-3, 1954, पृ. 56-57

4 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 161

5 राधा कृष्ण वशिष्ठ, राजस्थान चित्रकला में मेवाड़ शैली की प्रमुख उपशैलियाँ , शोध पत्रिका, भाग-27, अंक-3, पृ. 50-51

रहा। 'बागड़' तथा "छप्पन" के भाग में गुजरात से अनेक कलाकार यहां बसे जो आज भी सोमपुरा कहलाते हैं। महाराणा कुंभा के समय प्रसिद्ध शिल्पी मंडन वहीं से आकर बसा।[1]

कला के मर्मज्ञ और संरक्षक कुंभा और उनके प्रमुख सूत्रधार मंडन दोनों का योगदान महत्वपूर्ण रहा। महाराणा कुंभा ने संगीतराज में कहा है: "नाट्यशाला की भित्तियों ओर छत पर कुंभा द्वारा लिखित संगीतराज और गीतगोविद के रूपकों के चित्रों द्वारा सजावट चित्रकर्म में दक्ष चित्रकारों द्वारा कराई जाए।" मंडन भी राजवल्लभ में लिखता हैं कि "राजमहलों में सुंदर दृश्य ही चित्रित कराएं भय को उत्पन्न करने वाले दृश्य कभी भी चित्रित नहीं कराएं जाएं। "कुंभा कालीन इमारतों में चित्रों का अभाव मिलता है किंतु कुछ अस्पष्ट रेखाएं मिलती हैं जिनसे ऐसा आभास होता हैं कि कुंभा के समय महलों को सुंदर भित्तियों द्वारा अलंकृत किया गया था। कुंभा ने 'गीत गोविंद' पर 'रसिकप्रिया' नामक टीका लिखकर चित्रकारों के लिए राधाकृष्ण के रासलीला के चित्रण हेतु विषय भी प्रदान किया। कुंभा के निर्देश से भीखमशाह द्वारा 'रसिकाष्टक' का चित्रांकन वि. सं. 1492 में कराया गया था। इसके छः पृष्ठ बीकानेर में श्री अगरचंद्र नाहटा के संग्रह में हैं। इसमें छः ऋतुओं का अलग-अलग चित्रण हैं। 'त्रिशष्टि श्लाका का पुरुष चरित्र' का चित्रांकन कुंभा के समय हुआ था। इसमें अनेक व्यक्ति तथा दृश्य दर्शाए गए हैं। इसे दरड़ा परिवार ने तैयार कराया गया था इसी परिवार ने 'कल्पसूत्र' की पांडूलिपि पर भी चित्र बनवाए है।[2]

कुंभा के समय बने उपर्युक्त चित्रों से ज्ञात होता हैं कि कुंभा के काल में कई दक्ष चित्रकार थे। यद्यपि कुंभा के शासन काल में बहुत अधिक संख्या में चित्र न मिले हो किंतु जो भी मिले हैं वे उच्च कोटी के हैं इसी के आधार पर प्रताप अमरसिंह एवं जगतसिंह के राज्य में बेहतरीन चित्रों की रचनाएँ हैं।

***

1 जयसिंह नीरज, राजस्थानी चित्रकला, शोध पत्रिका, भाग-20, अंक-3, 1954, पृ. 56-57

2 राजेंद्र शंकर भट्ट, महाराणा कुंभा, पृ. 201-204

अध्याय द्वितीय

महाराणा प्रताप कालीन कूटनीति

द्वितीय अध्याय

महाराणा प्रताप कालीन कूटनीति

कूटनीति का अर्थ एवं परिभाषा

डिप्लोमेसी (diplomacy) यूनानी भाषा के शब्द 'डिप्लाउन' (diploun) से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ, मोड़ना अथवा 'दोहरा' करना है। रोमन साम्राज्य के काल में राज्य सभी विधियों, कानूनों, सरकारी कागज पत्रों और पारपत्रों को धातु पत्रों पर लिखकर, मोड़ कर तथा एक विशेष ढंग से सिलवा कर रखते थे। इन धातु पत्रों को 'डिप्लोमा' कहा जाता था। कालान्तर में इन्हीं धातु पत्रों को जिनसे विशेषाधिकार दिये जाते थे, 'डिप्लोमा' कहा जाने लगा। प्रारम्भिक काल में डिप्लोमा का अर्थ "प्रत्यय पत्र" भी था इन मुड़े हुए धातु पत्रों को सम्भाल कर रखने लगे और यहीं से अभिलेखागार व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। डूमान्ट की पुस्तक में 'डिप्लोमेटिस्ट' शब्द का फ्रांसीसी में अर्थ "राज्य का मूल दस्तावेज" था। इस प्रकार फ्रांसीसी मे राजनय का अर्थ "डिप्लोमा का विज्ञान" था, अर्थात् "ऐतिहासिक स्त्रोतों वर्गीकरण।" रोम निवासी "डिप्लोमा" का अर्थ पारपत्रों के रूप में लेते थे अर्थात् सीनेट के नाम दिया गया वह अधिकार पत्र जिससे एक व्यक्ति निसंकोच व निडर होकर घूम सकता था। आज "डिप्लोमेटिस्ट" का अर्थ उस लोक के सेवाधिकारी से है जिसकी विदेशों में राज्य के प्रतिनिधि के रूप में नियुक्ति की जाती है। इटली के पुनरजागरण काल में विद्वान् भी इस अर्थ में 'डिप्लोमा' शब्द का प्रयोग करते थे। धातु पत्रों का सम्भाल कर रखने वाले अधिकारियों का यह कार्य राजनयिक कार्य कहलाया, और धीरे-धीरे इस कार्य के लिये "डिप्लोमेसी" शब्द काम में लाया जाने लगा। इस प्रकार जैसे-जैसे शक्ति व्यवस्थित होती गई वैसे-वैसे राजनय अपनी रूढ़ियाँ स्थापित करने में सफल होता गया।[1]

राजनय का व्यवसाय के रूप में प्रारंभ तथा स्थायी राजदूतों की नियुक्ति का व्यवस्थित स्वरूप पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में दिखाई देता है। इसके पूर्व

---

1 एम. पी. राय, राजनय सिद्धांत एवं व्यवहार, पृ. 8

राजदूतों को विशेष कार्यों के लिये अस्थायी रूप से ही भेजा जाता था। दूत (अम्बेसेडर) शब्द का प्रथम प्रयोग वेनिस के गणतन्त्र राज्य द्वारा भेजे गये प्रतिनिधियों के लिये किया जाता था। इस शब्द का उल्लेख 1268 ई. के कूटनीतिक पत्रों में मिलता है। इंग्लैण्ड में इसका सर्वप्रथम प्रयोग 1787 ई. के वार्षिक रजिस्टर में मिलता है। 1796 ई. में एडमन्ड बर्क ने भी राजनय के अर्थ में "राजनय" (diplomacy) व "राजनयिक" (diplomat) शब्दों का प्रयोग किया।[1]

राज्य का निर्माण एवं राजनयिक सम्बन्ध

प्राचीन काल में जब से मानव एक स्थान पर स्थायी रूप से समुदाय में रहने लगा तब से छोटे-छोटे कई राज्यों का निर्माण हुआ। ये राज्य ऋग्वेदिक काल में कबीलाई गणतंत्र के रूप में थे। एक राज्य में सामान्य तौर पर एक ही जन के लोग निवास करते थे। राजा युद्धों में स्वयं जन का नेतृत्व करता था।[2] उत्तरवैदिक काल में राज्यों की स्थिति में परिवर्तन आया अब क्षेत्र आधारित विशाल राज्यों का निर्माण होने लगा, जिससे राजा के अधिकारों में भी वृद्धि हुई।[3] ऐतेरेय ब्राह्मण में राजा की बड़ी-बड़ी उपाधियों का वर्णन मिलता है तथा समुद्रपर्यंत पृथ्वी का शासक एकराट् कहलाता था। जब इन राजाओं में साम्राज्य विस्तार की भावना ने जन्म लिया तो युद्ध जैसी गंभीर विभीषिका ने अपने पैर फैलाए। साम्राज्य विस्तार जैसी महत्वकांक्षा के समक्ष युद्ध समाज के लिए एक अनिवार्य बुराई के रूप में उपस्थित हुआ। युद्ध मानवता के लिए एक अभिशाप के समान है जो सदैव अपार जन एवं धन हानि का कारण बनता है शांति के बहुतर प्रयास के बावजूद भी आदि से वर्तमान तक इसका अस्तित्व बना हुआ है। कलिंग युद्ध में हुई भंयकर जन हानि जिसमें एक लाख लोगों की मृत्यु हुई एवं एक लाख पचास हजार लोगों को बंदी बनाया गया युद्ध की ऐसी भयावहता को देखकर ही सम्राट अशोक का हृदय परिवर्तित हुआ था।[4] इसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध में हुई अपार जन एवं धन हानि से घबराकर ही विश्व के नेताओं ने शांति स्थापना के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की।

---

1 राजनय सिद्धांत एवं व्यवहार, पृ. 18

2 प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ. 86

3 वही, पृ. 96

4 सम्राट अशोक, पृ. 21

युद्ध एक अनिवार्य दोष होने के कारण आदि से वर्तमान तक युद्ध हमेशा से होते आए है। यह सत्य है कि विभिन्न युद्धों के स्तर में विभिन्नता रही है। प्रत्येक वर्ग, जाति, समाज, समुदाय, राज्य या राष्ट्र अपने अस्तित्व तथा सुरक्षा को बनाये रखने के लिए संघर्ष करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, जिसमें चिन्तन-मनन-अभिभाषण की शक्ति है अत: अपेक्षाकृत सुन्दर जीवन जीना चाहता है। इसके लिए वह वर्ग, समाज, क्षेत्र, राज्य या राष्ट्र का निर्माण कर प्रगति के लिए प्रयत्नशील है। जहाँ प्रगति के दो स्तर परस्पर एक-दूसरे से आगे बढ़ने की कोशिश करते हैं वहाँ घर्षण या होड़ शुरु हो जाती है और जब इनमें ईर्ष्या-द्वेष-कटुता के भाव पैदा हो जाते हैं तब संघर्ष या युद्ध का जन्म हो जाता है। युद्ध की विभीषिका को दूर करने के लिए विश्वबंधुत्व की भावना का विकास अत्यावश्यक है। हमारे ऋषि-मुनियों, मनीषियों एवं विचारकों ने युद्ध में दोनों पक्षों के लिए आचार से संबंधित एक नियमावली का निर्माण किया था, जो विश्व की प्राचीनतम रचना (ऋग्वैदिक संहिता) "ऋग्वेद" में प्राप्त होती है।[1] इसी प्रकार बैरियों में मित्रता स्थापित करने का उदाहरण शांति के उपदेशक गौतम बुद्ध के जीवन में मिलता है। एक कथा में स्वयं बुद्ध का शाक्यों तथा उनके पड़ोसी कोलियों के कबीलों के युद्ध में हस्तक्षेप करते हुए तथा विपक्षियों को मैत्री-सम्बन्ध करने के लिए समझाते हुए उल्लेख किया गया है। धम्मपद जो कि बौद्ध काव्य का प्राचीन संग्रह है, उल्लेख मिलता है कि -

जयं वेरं पसवति दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति हित्त्वां जय पराजयं ।।

अर्थात्- विजय वैर को उत्पन्न करती है, पराजित व्यक्ति दु:ख में होता है, शान्त व्यक्ति जय और पराजय को छोड़कर सुख में होता है।[2]

युद्धों के दोषों एवं हानियों से हर व्यक्ति परिचित है अत: भारतीय विचारकों ने भी यथासंभव युद्ध को टालने के प्रयास की अनुशंसा की है। कौटिल्य राजा को जहाँ तक संभव हो सकें युद्ध टालने एवं शांति का मार्ग अपनाने का

---

1 पुराण वांग्मय में युद्ध एवं सैन्य विज्ञान, पृ. 57

2 अद्भुत भारत, पृ. 86

परामर्श देता है। कौटिल्य राजा को परामर्श देता है कि "जब शांति और युद्ध से समान लाभ की आशा हो तो शांति की नीति अधिक लाभप्रद होगी, क्योंकि युद्ध में सदैव ही शक्ति एवं धन का अपव्यय होता है। इसी प्रकार जब तटस्थता और युद्ध से समान लाभ हो, तटस्थ नीति ही अधिक लाभप्रद व संतोषप्रद होगी।" कौटिल्य का यह मानना था कि राजा को युद्ध के विकल्प पर तभी विचार करना चाहिए जब शांतिपूर्ण उपायों से विवाद समाधान के कोई आसार न दिखते हो। के.एम. पणिक्कर का भी मानना है कि "वास्तव में जब सभी प्रयत्न असफल हो गये हों, तथा सभी परिस्थितियाँ शस्त्रों के प्रयोग के लिए अनुकूल हों, तभी युद्ध को नीति के रूप में जारी रखना विचारणीय है।"[1] अन्तर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करने, तथा युद्ध टालने में किसी पदाधिकारी की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती हैं तो वह हैं, राजनय या दूत की। यही वजह है कि प्राचीन ग्रंथों में भी उनके लिए अपेक्षित योग्यता का होना आवश्यक माना है। ऋग्वेद में दूत को संवेदनशील एवं अग्नि के गुणों से युक्त कहा गया है। वास्वत में इस ग्रन्थ में अग्नि को सर्वश्रेष्ठे दूत माना गया है, और उसे "देवानां दूत:" कहकर सम्बोधित किया गया है।[2]

राजनयिक का महत्व

प्राचीन युग में भारतवर्ष प्राय: छोट-छोटे राज्यों में विभक्त रहा है। यह सभी राज्य साम्राज्य लिप्सा से अनुप्रेरित थे, अत: उनमें युद्ध होना अवश्यम्भावी था। शत्रु से आत्मरक्षार्थ, अथवा उसको पराभूत करने के अभिप्राय से, यह राज्य परस्पर मैत्री सम्बन्ध भी स्थापित किया करते थे। इस स्थिति ने हमारे राजनीति-चिन्तकों को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की विवेचना करने के लिये अनुप्रेरित किया। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय नीति के तीन मूल स्तम्भ निर्धारित किये हैं - मण्डल सिद्धान्त, षाडगुण्य एवं उपाय।[3] प्राचीन भारतीय राजनीतिक विश्लेषकों के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों या यूँ कहें पड़ोसी राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्धों को राष्ट्रीय हितों के अनुरूप बनाए रखने के लिए एवं उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को

---

1 Pannikar K.M. The Principle and Practice of Diplomacy, P. No. 27

2 प्रेम कुमारी दीक्षित, प्राचीन भारत में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 113

3 प्राचीन भारत में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 1

व्यवहार में लाने का समुचित उत्तरदायित्व राजनय या दूत पर रहता है। राजनय का प्राथमिक एवं मुख्य कार्य दूसरे राष्ट्र में स्वयं के राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा करना है।[1] चूंकि राजनय या राजदूत अन्य राष्ट्र में जाकर राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित रखते है इसलिए प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक राष्ट्रीय राजनीति में राजदूत का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ऋग्वेद, रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, मनुस्मृति एवं अन्य परवर्ती ग्रंथों में राजदूत को प्रतिष्ठित स्थान दिया गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजदूत के महत्व को बताते हुए उसे राजा के मुख की संज्ञा प्रदान की क्योंकि राजदूत के माध्यम से ही राजा लोग आपस में वार्ता-विनिमय करते थे। राजदूत के महत्व का पता इस बात से भी चलता है कि कौटिल्य राजदूत को अवध्य बताता है। वह कहता है कि अगर राजदूत कोई चाण्डाल भी है तो राजधर्म के अनुसार वह भी अवध्य है, उसी स्थान पर यदि ब्राह्मण हो तो उसके वध के सम्बन्ध में तो सोचा भी नहीं जा सकता है

दूतमुखा वै राजानस्त्वं चान्ये च। तस्मादुद्यतेश्वपि शस्त्रेषु यथोक्तं वक्तारः तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्याः, किमङ्ग पुनर्ब्रह्माणाः। [2]

कामंदक का कहना है कि राजा अपने दूत-मुख द्वारा बात किया करते हैं और चर-चक्षु द्वारा देखा करते हैं। राजा के सो जाने पर भी ये दोनों इन्द्रियाँ निरंतर कार्य किया करती हैं। कामंदक तो यहाँ तक कहते है कि दूतों से रहित राजा अंधे मनुष्य के समान होता है। अग्निपुराण में दूतों को प्रकाशचर कहा गया है। संगमकालीन ग्रंथों में भी दूतों को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस काल में दूत संस्था को राजा की महत्वपूर्ण पाँच संस्थाओं में से एक माना जाता था।[3]

दूत प्रथा के बीज हमें वैदिक ग्रंथों तथा महाकाव्यों में भी दिखाई देते है। ऋग्वेद में जहाँ राजदूत की उपयोगिता को बताते हुए उसे यशस्वी कहकर सम्मानित किया गया है। ऋग्वेद के एक प्रसंग में उसे सूर्य का राजदूत अग्नि को बताया गया है। अन्य वैदिक साहित्य में अग्नि को दूत की उपाधि प्रदान की गई

---

1 Pannikar K.M. The Principle and Practice of Diplomacy, P. No. 21

2 वाचस्पति गैरोला : कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, पृ. 51

3 रामसिंह, प्राचीन भारत में युद्ध व्यवस्था, पृ. 161

है। चूंकि राजदूत प्रकट रूप से कार्य करते थे इसलिए उन्हें 'प्रकाशचर' कहा जाता था। राजदूत की इस संज्ञा का प्रयोग अग्निपुराण में भी हुआ है।[1] रामायण में हनुमान जी को राम के दूत के रूप में बताया है। हनुमान जी को जब रावण के समक्ष बंदी बनाकर लाया जाता है तब रावण उनसे पूछता है कि "रे वानर तू कौन है ?" तब हनुमान जी स्वयं का परिचय रघुपति के दूत के रूप में देते है।

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।

तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि ।।

अर्थात् जिनके लेशमात्र बल से तुमने चराचर जगत् को जीत लिया और जिनकी प्रिय पत्नी को तुम हर लाये हों, मैं उन्हीं का दूत हूँ।[2]

जैसे-जैसे राज व्यवस्था विकसित होती गई वैसे-वैसे राजदूत के पद का महत्व बढ़ता चला गया। पाणिनि भी राज व्यवस्था में राजदूत पद के महत्व को स्वीकार करते हुए बताता है कि जिस देश या जनपद में दूत नियुक्त होता था उसी के नाम से उसकी संज्ञा प्रसिद्ध होती थी। उदाहरणार्थ, कोशल जनपद का जो दूत मथुरा में नियुक्त होता था उसे 'माथुर' कहा जाता था। इसी प्रकार का उल्लेख पतंजलि ने महाभाष्य में किया है। उनके अनुसार स्त्रुघ्न देश का दूत 'स्त्रोघ्न' कहलाता था। राजदूत हो या गुप्तचर दोनों का महत्वपूर्ण कार्य राजा का शत्रु देश की महत्वपूर्ण सूचना प्रदान करना था। सूचना जितनी गोपनीय होगी राजा शत्रु देश से उतनी ही लाभकर स्थिति में होगा। समस्त कूटनीति महत्वपूर्ण सूचनाओं पर निर्भर करती है। अत: राजदूत से अपेक्षा की जाती है कि वह राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित रखते हुए कम से कम जानकारी देकर अधिकतम जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करें। इसी प्रकार पाणिनि समाचार लेकर जाने वाले धावन को 'जंघाकर' कहा है, जिन्हें कौटिल्य ने जंघारिक कहा है। एक योजन, दो योजन, पाँच योजन एवं दस योजन इत्यादि भिन्न-भिन्न दूरियों तक संदेश ले जाने वाले धावन को 'यौजनिक' कहा है। कात्यायन ने सौ योजन जाने वाले धावन को 'योजनशतिक' कहा है। अर्थशास्त्र में भी एक योजन से सौ योजन दूरी तक संदेश ले जाने वाले

1 लल्लन सिंह जी, रामायणकालीन युद्ध-पद्धति, पृ. 239

2 रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, दोह 21.1, पृ. 718

धावनों का उल्लेख मिलता है और यह बताया गया है कि उन्हें दस योजन की दूरी तक प्रति योजन पर एक पण वेतन दिया जाता था। उसके बाद प्रति दस योजन की दूरी के लिए वेतन क्रमश: दुगुना होता जाता था। राज-शासन में धावन संस्था के संगठन का प्रचलन अन्य देशों में भी था। पाणिनि के समकालीन प्राचीन ईरान के हखामनी साम्राज्य में क्षयार्ष नामक राजा ने भी इसी प्रकार की संस्था की व्यवस्था की थी।[1]

मौर्य काल तथा उसके बाद हमें दूत प्रथा विकसित रूप में दिखाई देती हैं। छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व में सोलह महाजनपदों का विकास दिखाई देता है इसी के साथ भारतवर्ष में भी साम्राज्य प्रसारवादी शक्तियाँ सक्रिय हो जाती है। इन शक्तियों का नेतृत्व भारत का प्रथम साम्राज्य मगध कर रहा होता है। मौर्य काल तक मगध की सीमाएँ विदेशी राज्यों को छूने लगीं थी यहीं वजह हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में हमें विदेशी राजदूत मेगस्थनिज, सेल्युकस निकेटर के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित दिखाई देता है। एरियन के अनुसार वह पोरस के दरबार में भी गया था।[2] चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के दरबार में सीरिया के शासक एंटियोकस का राजदूत डैमेकस एवं मिस्त्र के शासक टॉलमी फिलाडेल्फस का राजदूत डायोनिसियस मौजूद थे। बिन्दुसार राजदूत के माध्यम से एंटियोकस से मीठि मदिरा, सूखी अंजीर एवं एक सोफिस्ट भेजने का अनुरोध करता है।[3] विदेशी राजदूतों के भारत आगमन का उल्लेख गुप्त काल में भी मिलता है। लंका के नरेश मेघवर्ण द्वारा समुद्रगुप्त के दरबार में उपहारों सहित दूत-मण्डल भिजवाने का उल्लेख मिलता है तथा गुप्त शासक की आज्ञा से लंका नरेश मेघवर्ण ने बोध गया में लंका के बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक भव्य विहार बनवाया था।[4] दो राज्यों के कूटनीतिक सम्बन्धों की मुख्य धुरी होने के कारण राजदूत अनादि काल से अति महत्व के अधिकारी के रूप में पहचाना जाता रहा है आज भी किसी भी देश में रहने वाले राजदूत को विशेष उन्मुक्तियाँ प्राप्त होती है। राजदूत का महत्व इस

1 प्राचीन भारतीय युद्ध व्यवस्था, पृ. 162

2 उपिन्दर सिंह, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ. 345

3 वही, पृ. 345

4 प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ. 389

बात से भी पता चलता है कि जहाँ प्राचीन काल में राजदूत अन्य राज्य में केवल विशेष कार्य होने की अवस्था में ही राजा के दरबार में उपस्थित होते थे वहीं आज प्रत्येक राष्ट्र का राजदूत स्थायी रूप से करीब-करीब सभी राष्ट्र में उपस्थित रहता है।

राजदूत के प्रकार

प्राचीन धर्मग्रंन्थों एवं स्मृतिग्रंथों में दूत की योग्यता एवं अधिकार को आधार बनाकर उन्हें विभिन्न श्रेणियों में विभाजित किया गया है। रामायण में तीन प्रकार के दूतों का उल्लेख किया गया है- उत्तम, मध्यम और अधम। जो दूत अपने मालिक द्वारा किसी काम को करने के लिए नियुक्त किये जाने पर, उस काम को जी लगाकर पूरा करता है, वह उत्तम दूत कहलाता है। स्वयं सब बातों को समझकर विवेकपूर्ण अवसरानुकूल वाणी बोलने को कम्बन् ने 'नीति-वित्तहन्' नीतिज्ञ अथवा उत्तम दूत कहा है। हनुमान जी की गणना इसी श्रेणी के दूतों में की जाती है। कम्बन् ने बताया है कि किस प्रकार सभा में रावण को सामने देखकर क्रुद्ध हुये हनुमान ने बड़ी नीतिमत्ता एवं चिन्तनशीलता का परिचय देते हुए अपने रोष का संवरण किया, जिससे कि वे अपने स्वामी का अधिकतम हित साधन कर सकें। इसलिए वे हनुमान को 'नीतिज्ञ' कहते हैं।[1] सच्चे सेवक का लक्षण बताते हुए तुलसीदाजी कहते हैं-

"करई स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देह किन कोई"

अर्थात् सेवक वही है जो दूसरों के भला-बुरा कहने की चिन्ता न करता हुआ स्वामी के हित को ही सर्वोपरि मानकर आचरण करता है। इसी कारण तुलसीदासजी ने हनुमानजी के लिए ज्ञानधन, ज्ञानिनामग्रण्य, सकलगुण-निधान आदि विशेषणों का प्रयोग करते हुए उन्हें 'रघुपतिवर दूत' की उपाधि से विभूषित किया है।[2] युद्धकाण्ड में राम द्वारा रावण के समक्ष दूसरी बार दूत भेजने का उल्लेख मिलता है। इस बार हनुमानजी के स्थान पर बाली पुत्र अंगद को रघुपति

---

1 कंबन रामायण, भाग 2, संपा. अवधनन्दन, पृ. 150

2 रामायण कालीन युद्ध पद्धति, पृ. 241

का दूत बनाकर भेजा गया। अंगद ने भी हनुमानजी के समान एक उत्तम दूत की तरह अपने कार्य का निर्वाह किया। अगंद, दूत के इस अतिमहत्वपूर्ण गुण पर खरे उतरे कि शत्रु द्वारा दिखाये गये प्रलोभन एवं भेद से विचलित न होकर के स्वामी के प्रति निष्ठा को बनाए रखा। जब रावण कूटनीति के चलते हुए राम के दूत अंगद को ही राम के विरूद्ध भड़काने लगा तब भी अगंद अपने कर्तव्य से विचलित नहीं हुआ।

राम बिरोध कुसल जसि होई। सो सब तोहि सुनाइहि सोई।।
सुनु सठ भेद होइ मन ताकें। श्री रघुबीर हृदय नहिं जाकें।।5।।

अर्थात् श्रीरामजी से विरोध करने पर जैसी कुशल होती है, वह सब तुमको वे सुनाएँगे। हे मूर्ख ! सुन, भेद उसी के मन में पड़ सकता है या भेद नीति उसी पर अपना प्रभाव डाल सकती है जिसके हृदय में श्री रघुवीर न हों।[1]

रामायण में मध्यम श्रेणी के दूत की विशेषता को बताते हुए कहा है कि "जो सेवक किसी कार्य हेतु एक बार नियत हो जाने के बाद अपने राजा के हितकर अन्य कार्यों के उपस्थित होने पर अपनी सामश्र्यानुसार उन्हें पूरा नहीं करता है उनकी गणना मध्यम श्रेणी के दूतों में होती है।" कम्बन के अनुसार बिना अपनी ओर से कुछ मिलाए यथोचित रीति से कह देने वाले को मध्यम दूत कहा जाता है।[2] कौटिल्य अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र के दूतप्रणिधि अध्याय में दूत को उनकी योग्यता एवं अधिकारों की दृष्टि से तीन श्रेणियों में विभक्त किया है : (1.) निसृष्टार्थ, (2.) परिमितार्थ, एवं (3.) शासनहार।[3]

(1) निसृष्टार्थ

कौटिल्य लिखता है कि अमात्यसम्पदोपेता निसृष्टार्थ: अर्थात् वह दूत जिसमें आमात्य पद के लिए निर्धारित योग्यता हो, उसे निसृष्टार्थ दूत कहा गया है।[4] राजा विद्या, बुद्धि, साहस, गुण, दोष, देश, काल और पात्र का विचार करके

---

1 कंबन रामायण, युद्धकाण्ड, पृ. 265; रामचरितमानस, पृ. 775

2 रामायण कालीन युद्ध पद्धति, पृ. 242

3 अर्थशास्त्र, पृ. 49

4 वही, पृ. 49

ही आमात्यों की नियुक्ति करें।[1] इस श्रेणी के दूत को विशेष अधिकार प्राप्त थे। इस श्रेणी के दूत राजा का संदेश दूसरे राजाओं के समुख और उन राजाओं का संदेश अपने राजा के समक्ष प्रस्तुत करते थे। साथ ही उन्हें कतिपय अन्य अधिकार भी प्राप्त थे। उदाहरणार्थ, इन दूतों को अपनी स्वतंत्र बुद्धि से अपने राजा की कार्यसिद्धि के लिए आवश्यक बातचीत चलाने का भी अधिकार प्राप्त था।[2] निसृष्टार्थ दूत की तुलना हम आधुनिक युग के अम्बेसेडर से कर सकते है। इसे अपने राज्य के प्रतिनिधित्व के पूर्ण अधिकार प्राप्त थे, जबकि अन्य दो प्रकार के दूतों के अधिकार सीमित थे।[3]

(2) परिमितार्थ

कौटिल्य द्‌वितीय प्रकार के दूत की योग्यता बताते हुए कहता है- पादगुणहीन: परिमितार्थ: अर्थात् कौटिल्य के अनुसार आमात्य पद के लिए निर्धारित योग्यताओं में तीन-चौथाई योग्यताएँ इस पद के लिए वांछनीय मानी गयी हैं।[4] परिमितार्थ दूत राजा द्‌वारा निर्धारित अधिकार-सीमा के भीतर ही दूसरे राजा से बात कर सकता है। निसृष्टार्थ दूत की अपेक्षा परिमितार्थ दूत के अधिकार सीमित थे। इन्हें निर्देश प्राप्त होते है कि इतना ही कार्य करना है या इतना ही बोलना है या इतनी ही जानकारी प्राप्त कर लौट आना है। ऐसे दूतों को आवश्यकतानुसार कार्य में लगाया जाता है। इनका भी कुशाग्र बुद्धि का होना आवश्यक है।[5] परिमितार्थ दूत की तुलना हम वर्तमान युग के एन्वाय से कर सकते है जो किसी विशेष कार्य के सम्पादनार्थ ही पर-राष्ट्र में भेजा जाता है।[6]

(3) शासनहार

कौटिल्य तीसरे प्रकार के दूत की योग्यता बताते हुए कहता है- अर्धगुणहीन: शासनहार: अर्थात् कौटिल्य मानता है कि आमात्य बनने की जो

---

1 अर्थशास्त्र, पृ. 22

2 प्राचीन भारत में युद्ध व्यवस्था, पृ. 164

3 प्राचीन भारत में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 112

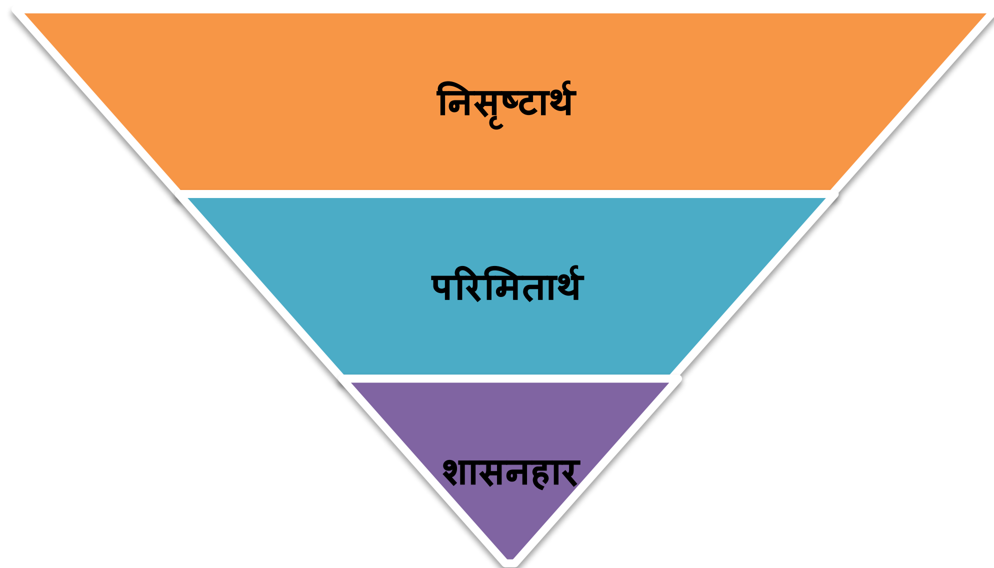
4 अर्थशास्त्र, पृ. 49

5 पुराणवाङ्मय में युद्ध एवं सैन्य विज्ञान, पृ. 224

6 प्राचीन भारत में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ.112

आधी योग्यता रखता है वह शासनहार बनने के योग्य है।[1] वे दूत जो मात्र संदेशवाहक का कार्य करते थे अर्थात् जितना शासक कहता है उतना ही संदेश एक स्थान से दूसरे स्थान तक या एक राजा से दूसरे राजा तक पहुँचाते हैं।[2]

कौटिल्य द्वारा किए गए उपर्युक्त वर्गीकरण ही हमें याज्ञवल्क्य स्मृति, कामंदकनीतिसार एवं अग्निपुराण में भी मिलते है। केवल कामंदकनीतिसार में परिमितार्थ के स्थान पर मितार्थ नाम का उल्लेख है।[3] महाभारत में हमें दो प्रकार के दूतों का उल्लेख मिलता है- वार्त्तावह और निसृष्टार्थ। एक तो वह जो प्रेषक की बात ज्यों की त्यों कह देना ही अपना कर्तव्य समझता है। दूसरा वह जो दोनों पक्षों के हावभाव अच्छी तरह समझकर प्रेषक के हितार्थ जो उचित हो, वही कहे। दोनों में दूसरी श्रेणी का दूत ही उत्तम होता है। उद्योगपर्व में वर्णित दूतों में श्रीकृष्ण, पांचाल पुरोहित व संजय द्वितीय श्रेणी के दूत थे अर्थात् उनकी गणना उत्तम श्रेणी या निसृष्टार्थ दूतों में की जाती है। दुर्योधन प्रेषित उलूक केवल वार्त्तावह था।[4]



प्राचीन भारत में राजदूतों के प्रकार एवं उनके अधिकार घटते क्रम में

---

1 अर्थशास्त्र,पृ.49

2 पुराणवाङ्मय में युद्ध एवं सैन्य विज्ञान, पृ. 224

3 प्राचीन भारतीय युद्ध व्यवस्था, पृ.165

4 सुखमय भट्टाचार्य : महाभारतकालीन समाज, पृ. 408

राजदूतों के गुण

राजदूत परराष्ट्र में राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है। परराष्ट्र में उसके द्वारा कही गई बात राजा एवं उसके राष्ट्र का अधिकारिक वक्तव्य माना जाता है। राजदूत के कथन मित्र को शत्रु एवं शत्रु को मित्र बना सकते हैं। अत: राजदूत का पद बेहद योग्य व्यक्ति को ही सौंपा जाना चाहिए क्योंकि ये बेहद संवेदनशील सम्बन्धों को निर्धारित करता है। अत: प्राचीन धर्मशास्त्रकारों एवं विद्वानों ने राजदूत पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति के गुणों को बताया है। ऋग्वेद में दूत को संवेदनशील एवं अग्नि के गुणों से युक्त कहा गया है। वास्तव में इस ग्रन्थ में अग्नि को सर्वश्रेष्ठक्दूत माना गया है, और उसे 'देवानां दूत:' कहकर सम्बोधित किया गया है। रामायण में दूत के लिये स्वदेशवासी, विद्वान, कुशल, प्रतिभावान् तथा यथोक्तवादी होना आवश्यक माना गया है। रामायण में दूत के लिए मधुर वाणी एवं विवेक पर अत्यधिक बल दिया गया है।[1] महाभारत के शांति पर्व में राजदूत की नियुक्ति का उल्लेख करते हुए कहा है कि व्यक्ति की योग्यता आमात्य से कम नहीं होनी चाहिए। दूत निर्वाचन-प्रसंग में राजदूत के सात गुण बताते हुए कहाँ है-

कुलीन कुलसम्पन्नो वाग्मी दक्ष प्रियवद:।
यथोक्तवादी स्मृतिवान् दूत स्यात् सप्तभिर्गुणै:।।शांति पर्व।।

अर्थात् वह व्यक्ति जिसने उच्च्कुल में जन्म लिया हो, जो कुलोचित कर्म में निपुण हो, वाग्मी, दक्ष, प्रियवादी, यथोक्तभाषी तथा स्मृतिमान हो, उसी को दौत्यकर्म के लिये नियुक्त करना चाहिये। उद्योग पर्व में दूत की अन्य विशेषता का वर्णन करते हुए कहा गया है- अनहकारी, शक्तिशाली, क्षिप्रकारी, सदय, प्रियदर्शी, अन्यकर्तुक, अभेद्य, स्वास्थ्यवान, उदारवाक् व्यक्ति को दूत बनाना चाहिये।[2]

ऋग्वेद और महाकाव्यों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी दूतों के गुणों को इंगित किया है। कौटिल्य दूतों में आमात्य के समकक्ष ही योग्यता का निर्धारण करता है। आमात्य के गुणों के तीन-चौथाई और आधी योग्यता वाले दूतों

---

1 प्राचीन भारत में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ.112

2 महाभारतकालीन समाज, सुखमय भट्टाचार्य,पृ. 408

को वह द्वितय व तृतीय श्रेणी के दूतों में गिनता है।[1] दूत के महत्व को देखते हुए उसके गुणों का बेहद सुन्दर विवेचना मनु ने कि है, वह कहते है-

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इंगिताकारचेष्टज्ञं षुचिं दक्षं कुलाद्गतम्।।63।।

अनुरक्रः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकावत्।
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते।।63।।

अमात्ये दण्ड आयत्तों दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोषराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ।।65।।

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्सेव च संहतान्।
दूतस्तत्कुरूते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः।।66।।

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेगिंतचेष्टितैः।
आकारमिगिंतं चेष्टां भृत्येशु च चिकीर्षितम्।।67।।

वुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजकिर्षितम्।
तथा प्रयतनमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत्।।68।।

अर्थात् दूत उसको रखे जो बहुश्रुत हों और हृदय के भाव, आकार, चेष्टाओं को जानने वाला, अन्तःकरण का शुद्ध, चतुर और कुलीन हो। शत्रु का भी प्रेमपात्र, आचारपवित्र, कार्यकुशल, पूर्व बातों का स्मरण रखनेवाला, देश-काल का ज्ञाता, सुन्दर, निर्भय और वाचाल राजा का दूत प्रशंसा के लायक होता है। मन्त्री के अधीन दण्ड और दण्ड के अधीन शिक्षा है। राजा के अधीन देश और खजान है और दूत के अधीन मेल या बिगाड़ रहता है। दूत ही आपस के शत्रुओं को मिलाता है और मिले हुए को अलगाता है। दूत वह काम करता है जिससे मनुष्य लड़कर जुदा हो जाते हैं। दूत शत्रु के आकार, मनोभाव और चेष्टाओं से उस के छिपे अभिप्राय को जाने। दूत द्वारा शत्रु की सब चालों को ठीक-ठीक जानकर, राजा ऐसा उपाय करे, जिससे वह शत्रु राजा को कोई पीड़ा न दे सकें।[2] पुराणों में भी दूत के आवश्यक गुणों की चर्चा मिलती है। अग्निपुराण के अनुसार सभा में निर्भीक बोलने वाले, अच्छी स्मरण शक्ति वाले, प्रवचन कुशल, शस्त्र एवं शास्त्र

---

1 अर्थशास्त्र, पृ. 49

2 मनुस्मृति, गिरिजाप्रसाद द्विवेदी,पृ. 219

दोनों में परिनिष्ठित तथा दूतोचित अन्य गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को दूत बनाने की अनुशंसा की है।[1] दक्षिण भारत में भी राजनय एवं दूत के बारे में वर्णन मिलता है। दक्षिण भारत के प्रमुख ग्रंथ 'कुरल' में दूत की श्रेणियों एवं कार्य के सम्बन्ध में पृथक से एक पूरा अध्याय है। उपर्युक्त ग्रंथ में एक अच्छे दूत के गुणों को बताते हुए कहाँ कि अच्छा दूत वो है जो प्रभुत्वशाली व्यक्तित्व का धनी हो, मनोहर स्वभाव हो, अच्छे कुल से हो, विश्वासप्रिय हो, विधि एवं राजनीतिक शास्त्र में दक्ष हो तथा प्रभावशाली वक्ता हो। जिसका व्यक्तित्व दोष एवं लोभ से रहित हो। शिलप्पादिकारम् ग्रंथ में भी शेनगुट्टवन के दरबार में दूतों की स्थिति के बारे में विस्तार से जानकारी मिलती है। उसके दरबार के प्रमुख दूत संजय एवं नील का भी उल्लेख मिलता है।[2]

राजदूत के कार्य

दूत का कार्य प्रधानत: कूटनीतिक और राजनयिक था, परन्तु कभी-कभी उसे चर का कार्य करना पड़ता था। संभवत: यहीं वजह है कि कामन्दक नीतिसार में दूत को प्रकाश-चर कहता है। राजनीतिक ग्रंथों में दूत के कार्यों की विस्तृत विवेचना की गयी है और उसकी पुष्टि साहित्यिक ग्रन्थों तथा ऐतिहासिक अभिलेखों से होती है।

दूत का प्रधान कार्य सन्धि-विग्रह से सम्बन्धित होता था। सन्धिसंपादनार्थ तथा युद्धपरिहार्यार्थ दूत भेजे जाते थे। रामायण में अंगद, रावण के दरबार में सन्धि का प्रस्ताव लेकर गये थे, और महाभारत में स्वयं भगवान कृष्ण इसी हेतु कौरव सभा में गये थे। दूत युद्ध की चुनौति देने के लिये भी शत्रु राज्य में भेजे जाते थे। रामायण, महाभारत आदि में इसकी पुष्टि होती है। श्रीराम ने अंगद द्वारा रावण को चुनौती दी थी- "या तो सीता को लेकर मेरी शरण ग्रहण करो या युद्ध के लिए तैयार हो"[3]

युध्यस्व मा घृति कृत्वा शौर्यमालम्ब्य राक्षस।
अराक्षसमिमं लोकं कर्तास्मि निशतै: शरै:।
न चेच्छरणमभ्येषि तामादाय तु मैथिलीम्।।

---

1 पुराणवाङ्मय में युद्ध एवं सैन्य विज्ञान, पृ. 223

2 A War in Ancient India, P.No. 350

3 प्राचीन भारत में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ.115

दूत के द्वारा युद्ध की घोषणा के संदेश प्रदाता के रूप में उल्लेख विष्णुरपुराणमें भी मिलता है। यहाँ पुण्ड्र के राजा वासुदेव द्वारा स्वयं को दैवीय अवतार घोषित करने तथा द्वारका के राजा कृष्ण को उन्हें दैवीय अवतार स्वीकार कर लेने हेतु दूत भेजता है। इसी प्रकार के कार्य हेतु दूत के उपयोग का उल्लेख मार्कण्डेय पुराण, अग्निपुराण में भी मिलता है।[1] दूत के कार्यों का अभिलेखीय साक्ष्य चोल शासक वीरराजेंद्र के अभिलेख में मिलता है। इसमें उल्लेख मिलता है, कि चोल शासक वीरराजेंद्र चालुक्य शासक के पास युद्ध की अंतिम चेतावनी के लिए दूत भेजता है।[2]

दूत के कार्यों की विस्तृत विवेचना कौटिल्य अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र के दूतप्रणिधि अध्याय में करता है। पालकी आदि सवारी, घोड़े आदि वाहन, नौकर-चाकर और सोने बिछोने आदि साम्रगी की भली-भांति व्यवस्था करके दूत को शत्रुदेश की ओर प्रस्थान करना चाहिए। राजदूत को चाहिए की वह शत्रुदेश के वनरक्षक, सीमारक्षक, नगरवासियों तथा जनपदवासियों से मित्रतापूर्ण संबंध बनाए। साथ ही उभयपक्ष की सेनाओं के ठहरने योग्य युद्ध-भूमि और संयोग आने पर अपनी सेना के बचकर निकलने हेतु गुप्त रास्ते, उसके राज्य की सीमाएँ, आमदनी, उपज, आजीविका के साधन, राष्ट्ररक्षा के तरीके, वहाँ की बुराइयों का पता लगाना भी दूत का ही कर्तव्य है। किसी शत्रु राजा के राज्य में प्रवेश करने से पूर्व दूत, उस राजा की आज्ञा प्राप्त कर ले। प्राणान्तक परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर भी वह अपने स्वामी का संदेश अविकल रूप से कहें। यदि शत्रु राजा की वाणी में, मुखमुद्रा में, दृष्टि में प्रसन्नता झलती हो;[3] वह दूत की बातों का आदरपूर्वक सुन रहा हों; दूत के स्वामी राजा का कुशल-क्षेम तथा उसके गुणों के प्रति शत्रु राजा की उत्सुकता हो; दूत को वह आदरपूर्वक समीप ही बैठाये; राजकीय उत्सवों परदूत को भी स्मरण करे और दूत के प्रत्येक कार्य पर शत्रु राजा का विश्वास हो; तो दूत को समझना चाहिए कि वह मुझ पर प्रसन्न है। यदि इसके विपरीत आचरण देखें, तो समझ ले कि शत्रु राजा उस पर रूष्ट है। दूत के गुप्तचर की भूमिका को इंगित करते हुए कहता है कि यदि गुप्तचर अपना कार्य

---

1 A War in ancient India. P. No. 346

2 Ibid. P. No. 350

3 अर्थशास्त्र, पृ. 49

करने में सफल नहीं हो रहा है तो, भिक्षुक, मत्त, उन्मत्त तथा सोते में प्रलाप करने वाले व्यक्तियों के माध्यम से शत्रु के कार्यों का पता लगाता रहे।[1] तीर्थस्थानों, देवालयों, गृहचित्रों तथा लिपि संकेतों द्वारा भी वह वहाँ की जानकारियों को प्राप्त करें। ठीक-ठीक समाचार अवगत हो जाने पर वह तदनुसार भेदरूप उपायों का प्रयोग करे। दूत को चाहिए कि शत्रु के पूछे जाने पर भी वह अपने मन्त्रिपरिशद् का ठीक-ठीक परिचय न दे। 'आप तो सर्वज्ञ है' इतना कहकर बात को टाल दे। यदि इतना बताने पर भी शत्रुराजा को संतोष न हो तो उतना मात्र परिचय देना चाहिये, जितने से अपने कार्य की सिद्धि हो जाय।[2]

कौटिल्य दूत के कार्यों की विवेचना करते हुए अर्थशास्त्र में कहता है।

प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसङ्गहः ।
उपजापः सुहृद्वेदो दण्डगूढातिसराणम्।।
बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्म योगस्य चाश्रयः।।1.11.15.1।।

अर्थात् शत्रुदेश मे अपने स्वामी का संदेश लेकर जाना; शत्रुराजा का संदेश लाने के लिए जाना, सन्धिभाव को बनाये रखना, समय आने पर अपने पराक्रम को दिखाना, अधिक से अधिक मित्र बनाना, शत्रु के कृत्यपक्ष के पुरुषों को फोड़ देना, शत्रु के मित्रों को विमुख कर देना, तीक्ष्ण, रसद आदि गुप्तचरों एवं अपनी सेना को भगा देना, शत्रु के बांधवों एवं रत्नों का अपहरण कर लेना, शत्रु के देश में रहकर गुप्तचरों के कार्यों का निरीक्षण करना, समय आने पर पराक्रम दिखाना, सन्धि की चिरस्थिति के निमित्त जमानत-रूप में रखे हुए राजकुमार को मुक्त करना और मारण, मोहन, उच्चाटन आदि का प्रयोग करना, ये सभी दूत के कार्य है।[3] रामायण में भी दूत के इन्हीं प्रकार के कार्यों के सम्पादन करने का वर्णन मिलता है। मनु और कामन्दक ने भी उक्त कर्तव्यों का ही समर्थन किया है।[4]

राजदूत का पद युद्ध घोषणा के साथ ही शांति-स्थापना हेतु उतना ही महत्वपूर्ण है। आधुनिक विश्व में दो विश्व युद्ध की विभीषिका झेलने के बाद भी

---

1 अर्थशास्त्र, पृ. 50

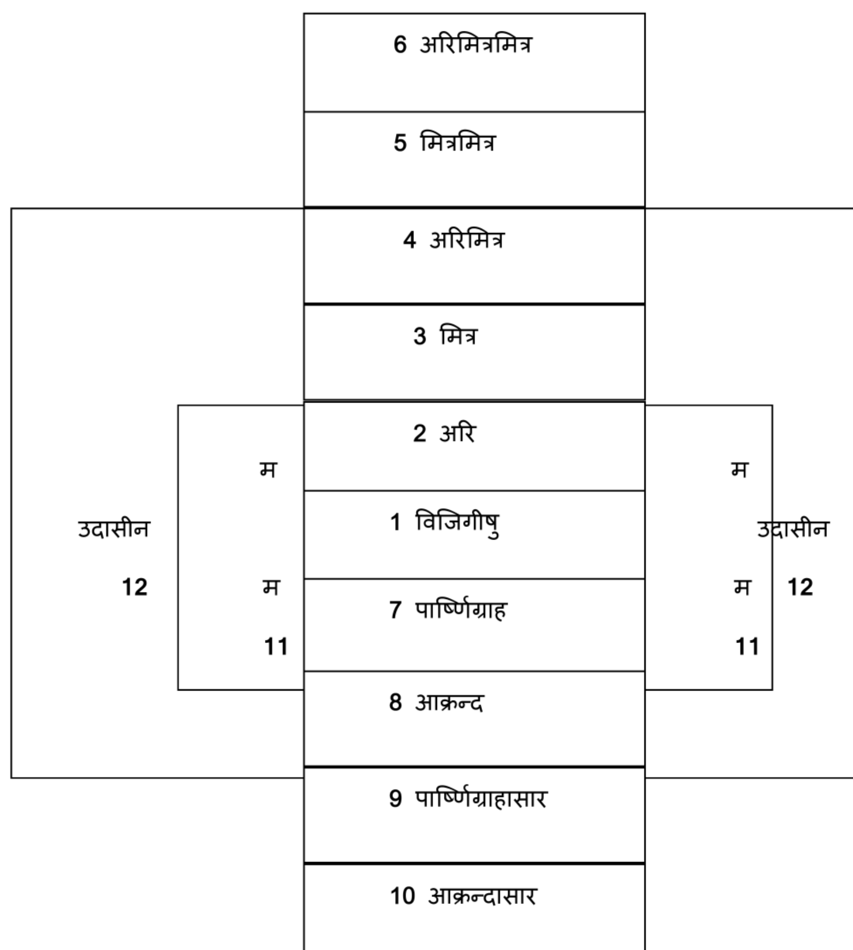
2 वही, पृ. 51

3 वही, पृ. 52

4 रामायण कालीन युद्ध पद्धति, पृ. 243

परमाणु एवं हाइड्रोजन बम जैसे विश्व विध्वंसक हथियारों की उपस्थिति में शांति अब मानव के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य बन गई है। यही वजह है कि हंस मॉर्गेन्थो ने शांति स्थापना में राजनय की भूमिका को बताते हुए कहा है कि- "राजनय शांति को आज से भी अधिक सुरक्षित बना सकता है और विश्व राज्य शांति को सम्भाव्य कल्पना से अधिक सुरक्षित बना सकता है, बशर्ते कि राज्य राजनय के नियमों का पालन करे। जिस प्रकार एक विश्व राज्य के बिना स्थायी शांति नहीं हो सकती उसी प्रकार शांति को बनाए रखने वाली और समुदाय-निर्माण राजनयिक प्रक्रियाओं के अभाव में विश्व राज्य भी नहीं बन सकता। चूंकि विश्व राज्य अभी तक एक अस्पष्ट कल्पना है, राजनय की समझौतापरक प्रक्रियाओं को पुनर्जीवित किया जाना चाहिए।"[1]

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के सिद्धांत



प्राचीन भारत में अंतरराज्यीय सम्बन्ध का द्वादश राज्यमण्डल सिद्धांत

1 हरिश्चंद्र शर्मा एवं शशि जैन, राजनय के सिद्धांत, पृ. 318

वैदिक कालीन छोटे-छोटे कबीलों से लेकर छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व में महाजनपदों के निर्माण एवं उसके बाद पनपी साम्राज्यीय विस्तार की धारणा ने अंतरराज्यीय संबंधों को महत्वपूर्ण बना दिया था। प्राचीन भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे, बाद में बड़े राज्य व साम्राज्य भी स्थापित हुए। उनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध थे- शांति काल तथा युद्ध काल दोनों में। वे जानते थे कि कोई भी राज्य दूसरों से अलग रहकर अपना अस्तित्व स्थिर नहीं रख सकता था। बड़े-बडे यज्ञों यथा अश्वमेध, राजसूय और वाजपेय आदि ने इनके बीच सम्बन्धों को विकसित करने में बहुत योग दिया।[1] प्राचीन काल से आधुनिक काल तक विभिन्न राज्यों के बीच होने वाले संघर्ष का उल्लेख मिलता है जैसे- ऋग्वेद में दस राजाओं के बीच होने वाले दशराज्ञ युद्ध का तो मौर्य काल में चन्द्रगुप्त व सेल्युकस के मध्य तो अशोक एवं कलिंग के मध्य संघर्ष का उल्लेख आम है। इसी प्रकार से पूर्वमध्यकाल में भी उन राज्यों में संघर्ष दिखाई देता है जो राज्य स्वयं को महत्वपूर्ण शक्ति मानते थे उनके बीच मूल्यवान प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए स्पर्धा चलती रहती थी। इसका उदाहरण 'कन्नौज के लिए त्रिपक्षीय संघर्ष' है।[2] इन आपसी राज्यों के संबंधों को निश्चित करने के लिए प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों ने जिनमें मनु, शुक्र, कौटिल्य, कामन्दक आदि महत्वपूर्ण है उन्होंने कई व्यहारिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है जिसमें मण्डल सिद्धांत प्रमुख है। पुराणों में भी अग्नि पुराण में द्वादश राज्यमण्डल का कूटनीति के प्रमुख सिद्धांत के रूप में प्रतिपादन किया गया है।

अग्नि पुराण में द्वादश राज्यमण्डल

अग्नि पुराण के दो सौ तैंतीसवें अध्याय में द्वादश राज्यमण्डल पर विचार करते हुए संवाद रूप में पुष्कर परशुरामजी को बताते हुए कहते है कि राजा, मंत्री, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र और जनपद - ये राज्य के सात अंग है। इनका वर्णन थोड़े से भिन्न रूप में सभी राजनीतिक विचारक करते है। जो व्यक्ति या राष्ट्र इन सात अंगों में विघ्न डालता है राजा को उसे उचित दण्ड देना चाहिए।

---

1 कौटिल्य का युद्ध दर्शन, लल्लन सिंह, पृ. 93

2 पूर्वकालीन भारत, रोलिमा थापर, अनु. आदित्य नारायण सिंह, पृ. 484

मण्डल सिद्धांत का उपर्युक्त नाम द्वादश राज्यमण्डल से ही विदित होता है क्योंकि इस मण्डल में राज्य कुल बारह मण्डल बनाते है। पुष्करजी कहते है कि राजा उचित ही अपने सभी मण्डलों में वृद्धि करें तथा इन बारह मण्डलों में उसका मण्डल पहला होगा। पहले मण्डल के अतिरिक्त जो भी मण्डल है वे उसके तथा उसके आस-पास के ग्यारह राज्यों से उसके संबंधों को निरूपित करते है। पहला मण्डल या उक्त राज्य विजिगीषु राज्य कहलाता है। विजिगीषु राजा के सामने का सीमावर्ती शासक उसका शत्रु है। उस शत्रु राज्य से जिसकी सीमा लगी है, वह उक्त शत्रु का शत्रु होने से विजिगीषु का मित्र है।[1] इस प्रकार द्वादश राज्यमण्डल में विजिगीषु राज्य के सामने की तरफ पाँच तथा पीछे की तरफ चार राज्य होंगे। विजिगीषु राज्य के सामने की तरफ 1. अरि, 2. मित्र, 3. अरिमित्र, तत्पश्चात् 4. मित्रमित्र तथा 5. अरिमित्रमित्र होंगे। विजिगीषु के पीछे क्रमश: चार राजा होते हैं- 1.पार्ष्णिग्राह, उसके बाद 2. आक्रन्द, तदनन्तर इन दोनों के आसार अर्थात् 3. पार्ष्णिग्राहासार एवं 4. आक्रान्दासार। अरि और विजिगीषु दोनों राज्यों से जिसकी सीमा मिलती है, वह राजा 'मध्यम' कहा गया है।[2]

यद्यपि विजिगीषु राजा उत्तर दिशा से अपनी यात्रा-प्रारम्भ करता है तो सामान्यत: पड़ोसी को द्वेष की भावना रहती है। अत: इस समय मण्डल दो एवं सात अर्थात् अरि एवं पार्ष्णिग्राह शत्रुराष्ट्र माने जाते हैं। इनसे सदैव भय रहता है। अत: विजिगीषु राजा को सदैव तीन एवं आठ नंबर के मण्डल राज्य अर्थात् मित्र एवं आक्रान्द से मित्रवत् सम्बन्ध रखना चाहिए। सम्भव है, इसी नीति पर दूसरे भी राष्ट्र हों। पाँच एवं नौ नंबर के मण्डल राज्य मित्र नहीं भी हो सकते हैं। वे शत्रुराष्ट्र के मित्र हो सकते हैं। अत: विजिगीषु राजा को छ: एवं दस नंबर के मण्डल राज्यों से मधुर संबंध रखने चाहिए। मध्यम राष्ट्र दोनों का मित्र हो सकता है, अत: उससे अच्छा सम्बन्ध रखना ही विजिगीषु के लिए आवश्यक है।[3] विजिगीषु तथा शत्रु दोनों के असंगठित रहने पर उनका निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ तटस्थ राजा 'मध्यस्थ' कहलाता है। जो बलवान् नरेश इन तीनों के

1 अग्नि पुरण, पृ. 442

2 वही, पृ. 458

3 पुराणवाङ्मय में युद्ध एवं सैन्य विज्ञान, पृ. 174

निग्रह और अनुग्रह में समर्थ हो, उसे 'उदासीन' कहते हैं।[1] विजिगीषु राजा आगे के साथ-साथ पीछे से भी आक्रमण का सामना करने हेतु को तैयार रहना चाहिए। इसमें पार्ष्णिग्राह अरि होता है। आक्रन्द मित्र होता है, पुनः आसार और आक्रन्दासार क्रमशः शत्रु और मित्र होते हैं।[2]

सीमान्त राजा को ही विजिगीषु राजा का शत्रु माना जाता था। सामने का या निकटवर्ती सामन्त (सीमा निवासी होने के कारण आगे चलकर शत्रु हो जाता है) आन्तरिक रूप से उसका शत्रु ही होता था। उस शत्रु राज्य की सीमा से जिसकी सीमा लगती है वह शत्रु का शत्रु अर्थात् विजिगीषु का मित्र होता है। इस तरह शत्रु, मित्र, अरि-मित्र, मित्र-मित्र एवं अरि-मित्र-मित्र ये पाँच मण्डल विजय यात्रा की दिशा में रहने वाला है।[3] राजा के मित्र भले ही हो लेकिन जब तक राजा स्वयं शत्रु का दमन करने में समर्थ हो तो वह स्वयं ही शत्रु का दमन करें; मित्र की सहायता न ले क्योंकि मित्र का प्रताप बढ़ जाने पर उससे भी भय होता है और प्रतापहीन शत्रु से भी भय नहीं होता। विजिगीषु राजा को धर्मविजयी होना चाहिये तथा वह लोगों को इस प्रकार अपने वष में करे, जिससे किसी को उद्वेग न हो और सबका उस पर विश्वास बना रहे।[4]

पुष्करजी परशुरामजी को अग्नि पुराण में कूटनीति के सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत द्वादश राज्यमण्डल के विचार को बताने के बाद राजनीति के सबसे व्यवहारिक सिद्धांत को बताते हुए कहते है कि "जन्म से कोई किसी का मित्र और शत्रु नहीं होता अपितु कारण या परिस्थितियाँ ही मित्र और शत्रु बनाती है।"[5]

कौटिल्य प्रतिपादित मण्डल सिद्धांत

राज्य - प्राचीन काल में कई छोटे-छोटे राज्य अस्तित्व में थे। इन राज्यों में परस्पर युद्ध का होना एवं मैत्री सम्बन्ध का स्थापित होना स्वाभाविक था क्योंकि युद्ध सदैव अन्तर राज्य सम्बन्धों के ही परिणाम स्वरूप होते हैं। ये

---

1 अग्निपुराण, पृ. 442

2 पुराणवाङ्मय में युद्ध एवं सैन्य विज्ञान, पृ.176

3 वही, पृ. 177

4 अग्नि पुराण, पृ. 442

5 वही, पृ. 442

राजनीति के साधन हैं। कौटिल्य तत्समय के तीन प्रकार के राज्यों का उल्लेख करता है- सम, हीन और बलवान। कुछ राज्य पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न होते थे, ऐसे राज्यों को बलवान राज्य कहा जा सकता है हीन राज्य वे कहे जा सकते हैं जो आंशिक प्रभुसत्ता का प्रयोग करते थे। सामन्त और करद राजा इस श्रेणी में आते थे। राष्ट्रमण्डल अथवा राजाओं की श्रेणी में उनका स्थान नीचा होता था। चूँकि वे सम्राट या अधिपति को भेंट, उपहार आदि देते थे, इसी करण उनके राज्य करद (Tributary States) कहलाते थे। शक्तिशाली राजा सदैव रक्षा किया करते थे अत: आधुनिक भाषा में इन्हें रक्षित राज्य भी कह सकते हैं। सम राज्य वे कहे जा सकते हैं जो स्वतंत्र थे तथा जिन्हें पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त थी[1]।

राज्य का सप्तांग सिद्धांत

प्राचीन राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य के स्वरूप या प्रकृति के विशय में मुख्यत: सप्तांग सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। हिन्दू समाज और हिन्दू राज्य के पीछे यह संकल्पना रही है कि ये दोनों सावयव हैं, इनके द्वारा राज्य की धारणा में कम से कम आंगिक एकता पर तो बल दिया ही गया है। कौटिल्य ने राज्य को 'प्रत्यंगभूत' कहा है, जिससे राज्य शरीर के अंगों का बोध होता है। राज्य के सात अंगों को मनु, बृहस्पति, भीष्म, शुक्र और आचार्य कौटिल्य आदि सभी आचार्यों ने माना है।[2] कौटिल्य राज्य के सात अंगों को बताता है-

स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोषदण्डमित्राणि प्रकृतय:।

अर्थात् स्वामी, आमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड यानि की सेना और मित्र ये सात प्रकृतियाँ है। कौटिल्य इन सात प्रकृतियों को राजसम्पत्ति बताता है।[3] कौटिल्य ने इन सात प्रकृतियों में राजा के महत्व को इंगित करते हुए कहा है कि एक आत्मसंपन्न राजा किस प्रकार गुणहीन प्रकृतियों को भी गुणी बना लेता है और आत्मसम्पन्नहीन राजा गुण, समृद्ध तथा अनुरक्त प्रकृतियों को भी नष्ट कर देता है। इस कारण समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का अधिपति शासक भी अगर

1 लल्लन सिंह, कौटिल्य का युद्ध दर्शन, पृ. 94

2 कौटिल्य का युद्ध दर्शन, पृ. 96

3 अर्थशास्त्र, पृ. 441

आत्मसम्पन्नहीन है तो वह अपनी ही प्रकृतियों द्वारा नष्ट हो जायेगा या शत्रु के कब्जे में चला जाएगा। वहीं आत्मसम्पन्न नीतिज्ञ राजा थोड़ी भूमि का स्वामी होते हुए भी आत्मप्रकृति के द्वारा सारी भूमि का आधिपत्य प्राप्त कर लेता है और कभी भी क्षीण नहीं होता है।[1]

अन्तर्राज्य सम्बन्धों के क्षेत्र में मूल अवधारणा

प्राचीन भारत में अन्तर्राज्य सम्बन्ध निम्न दो अवधारणाओं पर आधारित होते थे- (1) दिग्विजिय की विचारधारा, (2) राज्य-मण्डल की विचारधारा

(1) दिग्विजिय की विचारधारा

सर्वप्रथम वैदिक ग्रंथों में ऐतरेय ब्राह्मण में राजा के कर्त्तव्य, उपाधियां एवं राजतंत्र के वर्गीकरण का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में राज्यों के मुख्य रूप से चार भेद मिलते है- 1. राज्य, 2. महाराज्य, 3. आधिपत्य, और 4. सार्वभौम। महाराज्य की कोई परिभाषा नहीं दी गई है। पर उसमें जो विशेषण "महा" लगा हुआ है, उससे आपेक्षिक संबंध सिद्ध होता है; और यह जान पड़ता है कि एक ही प्रकार के एकराज राज्यों में जो अधिक बड़ा और श्रेष्ठा होता था, वह महाराज्य कहलाता था। आधिपत्य शब्द से यह प्रतित होता है कि उसका राजा कई रक्षित राज्यों का अधिपति हुआ करता था। ऐतरेय ब्राह्मण में आधिपत्य का उल्लेख करने के उपरांत कहा गया है- "मैं अपने आस-पास के राज्यों का राजा होऊँ।" अत: आधिपत्य ऐसी साम्राज्य-प्रणाली थी, जिसमें मुख्य राजा को अपनी सीमा के बाहरी और आस-पास के राज्यों पर विशेष संरक्षण या प्रधानता प्राप्त होती थी। खारवेल का महाराज्याभिषेक हुआ था; पर उसने बहुत से देशों पर विजय प्राप्त की थी और राजसूय यज्ञ किया था और कदाचित् इसी लिये वह अधिपति और चक्रवर्ती कहा गया था। ऐतरेय ब्राह्मण में एकराट् की परिभाषा देते हुए कहाँ है कि -

सार्वभाम: सार्वायुश आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यनताया एकराट्।

---

1 अर्थशास्त्र, पृ. 444

अर्थात् देश की प्राकृतिक सीमाओं और समुद्र तक का देश अपने अधीन हो जाय और सब मनुष्यों पर अपना शासन हो। यह बड़े एकराज्य का ही भेद है, जिसका आधार जातीय या राष्ट्रीय अर्थात् शतपथ ब्राह्मण का जनराज्य नहीं होता था, बल्कि जो सीमा के आधार पर होता था। सार्वभौम होने के लिए आवश्यक था कि प्राकृतिक सीमाओं के अंदर जीतनी भूमि हो, उस सब भूमि (सर्वभूमि) का स्वामित्व प्राप्त हो अर्थात् प्राकृतिक सीमाओं से युक्त पूरे देश पर राज्य हो। कौटिल्य ने यह प्राकृतिक सीमाओं वाला भाव उसे "चातुरंत" राज्य कहकर प्रकट किया है, अर्थात् ऐसा साम्राज्य जो चारों सीमाओं तक विस्तृत हो। इसकी व्याख्या करते हुए कहा है- "यह ऐसा साम्राज्य-क्षेत्र है, जो कन्याकुमारी से लेकर हिमालय पर्वत तक विस्तृत है, अर्थात् समस्त भारत।"[1]

इसी प्रकार हिंदू धर्म में चक्रवर्ती प्रणाली भी प्रचलित थी। इसके संबंध में कहा गया है कि यह एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें साम्राज्य-चक्र अबाधित रूप से चल सकता है। इस विचार का मूल आधार भी वही सीमाजन्य है। जो राज्य कन्याकुमारी से काष्मीर तक हो, वह चक्रवर्ती राज्य है। कौटिल्य भी अर्थशास्त्र में चक्रवर्ती को परिभाषित करते हुए कहता है कि-

"देश: पृथिवी। तस्यां हिमवत्वमुद्रीचीनं योजसहस्त्रपरिमाणातिर्यक् चक्रवर्तिक्षंत्रम्।"

अर्थात् - सारी भूमि या भारत देश है। उसमें हिमालय से समुद्र तक सीधे उत्तर-दक्षिण एक हजार योजन में चक्रवर्ती क्षेत्र है। चक्रवर्ती का विचार इससे पूर्व भी लोगों में प्रचलित था। बुद्ध ने जो अपने धार्मिक साम्राज्य का नामकरण "धर्मचक्र" किया था, वह राजनीतिक परिभाषा के अनुसार ही किया था। महात्मा बुद्ध उस समय अपने आपको चक्रवर्ती सम्राट कहते थे; और जैन-धर्म के प्रवर्त्तक महावीर अपने आप को अपने समय का जिन या विजेता कहते थे। जिस प्रकार मुगल काल में धार्मिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्र में "बादशाही" कायम करने की धुन थी, उसी प्रकार उससे दो हजार वर्ष पहले भी लोग धार्मिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में विजय प्राप्त कर समस्त भारत में एकता स्थापित करने की चिंता करते थे।"[2]

---

1 काशीप्रसाद जायसवाल, हिंदू राज्य तंत्र, भाग 2, पृ. 387

2 हिंदू राज्य तंत्र, भाग-2, पृ.363

भारतीय राजनीति विचारक भले ही सार्वभौम विजय या चक्रवर्ती विजय की अवधारणा का प्रतिपादन करते हो, परन्तु वे युद्ध में भी नैतिकता के समर्थक रहे। प्राचीन राजनीति ग्रंथों एवं अशोक के शिलालेखों पर हमें धर्म विजय का उल्लेख मिलता है जो स्वयं में अनूठा है। धर्म विजय से तात्पर्य है कि यहाँ विजेता शासक विजित राजा को पदच्युत नहीं कर केवल राज्य पर स्वयं के अधिकार की पुष्टि करके संतुष्ट हो जाता था। धर्म विजय का मुख्य उद्देश्य जहाँ तक सम्भव हो सके युद्ध को टालना एवं शांतिपूर्ण व कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करना था।[1] इस सिद्धांत का अनुसरण प्राचीन काल से मध्यकाल तक हो रहा था। मुस्लिम यात्री सुलेमान भी इस बात का उल्लेख करता है। वह कहता है- "वे लोग जो अपने पड़ोसी राजाओं के साथ युद्ध करते हैं, वह प्राय: उनके राज्यों पर अधिकार कर लेने के विचार से नहीं करते।...... जब कोई राजा किसी दूसरे राज्य पर अधिकार कर लेते, तब वह वहीं के राजवंश के किसी व्यक्ति को वहाँ का राज्य और शासन सौंप देता है।" इसी प्रकार एरियन की इंडिका से हिंदूओं की नैतिकता आधारित पर-राष्ट्र नीति का ज्ञान होता है। वह लिखता है कि -

"वे (हिंदू) कहते हैं कि न्यायशीलता किसी हिंदू राजा को भारत की सीमाओं से बाहर जाकर विजय प्राप्त करने से रोकती है।"[2]

मण्डल सिद्धान्त

अन्तर्राज्य सम्बन्धों का एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक आधार मण्डल-सिद्धान्त था। राज्य-मण्डल की विचारधारा के अनुसार कोई भी दिया हुआ राज्य समूह एक काल्पनिक राज्यवृत अथवा राज्य-मण्डल को निर्धारित करता था, जिसके केन्द्र में विजेता (विजिगीषु) का राज्य होता था। अन्य राजाओं से उसके सम्बन्ध किस प्रकार के होने चाहियें यह इस वृत में उसकी स्थिति तथा तुलनात्मक शक्ति के आधार पर निश्चित किया जाता था। मण्डल सिद्धांत के अनुसार सामान्यत: एक राज्य अपने पड़ोसी का शत्रु व उसके पड़ोसी का मित्र होता था। कौटिल्य ने एक प्रकार के शक्ति संतुलन को प्राप्त करने के लिये ही मण्डल सिद्धान्त का

---

1 Diskshitar. A War in ancient India. P. No. 83

2 हिंदू राज्य तंत्र, भाग-2, पृ. 382

अर्थशास्त्र में प्रतिपादन किया है।[1] कौटिल्य के अनुसार राज्य चार प्रकार के होते है- मित्र, शत्रु, मध्यम तथा उदासीन। इस सिद्धान्त का मूल आधार यह है कि दो निकटवर्ती राज्य, जिनकी सीमा परस्पर मिलती है, एक दूसरे के सहज शत्रु होते हैं, और शत्रु राज्य के अनन्तर स्थित राज्य स्वभावत: मित्र होते हैं। मध्यम राज्य उसे कहा जाता है जिसकी सीमायें शत्रु और मित्र दोनों ही राज्यों की सीमओं से मिलती हैं। उदासीन राज्य का राज्य इन तीनों से कुछ दूर पर स्थित होता है।[2] इन चारों प्रकार के राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना कौटिल्य अर्थशास्त्र के छठे अधिकरण मण्डलयोनि में करता है।

कौटिल्य मण्डलयोनि अधिकरण में मण्डल सिद्धांत का निरूपण करते राज्य की प्रकृति को बताता है। कौटिल्य कहता है -

राजा आत्मद्रव्यप्रकृतिसम्पन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषु:।
तस्य समन्तो मण्डलीभूता भूम्यनन्तरा अरिप्रकृत:।
तथैव भूम्येकान्तरा मित्रप्रकृति:।।

अर्थात् जो राजा आत्मसंपन्न, अमात्य आदि द्रव्यप्रकृतिसंपन्न और नीति का आश्रय लेने वाला हो उसको विजिगीषु कहते हैं। विजिगीषु राजा के चारों ओर के राजा अरिप्रकृति कहलाते हैं। अरिप्रकृति राजाओं की सीमाओं से लगे हुए राजा मित्रप्रकृति कहलाते हैं। मण्डल सिद्धांत कतिपय अधिकांश में अग्नि पुराण में वर्णित द्वादश राज्यमण्डल के सदृश्य ही है। जब विजिगीषु राजा विजय-यात्रा पर निकलता है तो उसके समक्ष क्रमश: मित्र, अरिमित्र, मित्र-मित्र, तथा अरिमित्र-मित्र राज्य आते है। इसी प्रकार विजिगीषु के पृष्ठ भाग में क्रमश: शत्रु तथा मित्र राजाओं की परम्परा होती है। परन्तु अग्र भाग के राजाओं से भिन्नता व्यक्त करने के लिये उनका नामकरण अन्य प्रकार से किया जाता है। विजिगीषु के पृष्ठ भाग में स्थित राज्य को 'पार्ष्णिग्राह' कहा जाता है। वास्तव में पृष्ठ भाग में स्थित शत्रु ही है। तदन्तर क्रमश: 'आक्रन्द', 'पार्ष्णिग्राहासार', तथा 'आक्रन्दासार' होते हैं। आक्रन्द पार्ष्णिग्राह का शत्रु और विजिगीषु का मित्र होता है।

1 अर्थशास्त्र, पृ. 98

2 प्राचीन भारत में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 1

पार्ष्णिग्राहासार और आक्रान्दासार क्रमश: पार्ष्णिग्राह और आक्रन्द के समर्थक होते हैं। इनका साम्य हम अग्र भाग के अरि-मित्र और मित्र-मित्र से कर सकते हैं। इस प्रकार विजिगीषु तथा उसके अग्रभाग के पाँच और पृष्ठ भाग के चार राजा मण्डल के अंग माने जाते हैं।[1] इनके अतिरिक्त मध्यम और उदासीन राजा भी होते हैं। मध्यम राज्य अरि और विजिगीषु राजाओं की संधि में संधि का समर्थक और विग्रह में विग्रह का समर्थक होता है। विजिगीषु और मध्यम की प्रकृतियों के अतिरिक्त, शक्तिशाली मध्यम राजा से भी बलवान्, अरि, विजिगीषु और मध्यम की संधि में संधि का समर्थक और उनके विग्रह में विग्रह का समर्थक राजा उदासीन कहलाता है। इस प्रकार कौटिल्य बारह राजप्रकृतियों का निरूपण करता है। इसी वजह से इसे द्वादश राज्यमण्डल कहा जाता है। परन्तु कौटिल्य मण्डल के 18 अवयवों का उल्लेख करते हैं। यह अवयव हैं- तीन मूल प्रकृति विजिगीषु, उसका मित्र तथा मित्र-मित्र और उनमें से प्रत्येक की पांच-पांच द्रव्य प्रकृतियाँ अर्थात् अमात्य, दुर्ग, बल और राष्ट्र। इसे विजिगीषु मण्डल कहते हैं। इस प्रकार वह चार राजमण्डलों का उल्लेख करता हैं। बारह राजप्रकृतियाँ और साठ आमात्य आदि द्रव्य प्रकृतियाँ मिलकर बहत्तर प्रकृतियाँ कही जाती हैं।[2]

कामन्दक का मण्डल सिद्धांत

कामंदक समृद्ध कोश, सशक्त सेना एवं विद्वान आमात्य एवं अधिकारी वाले राजा को जो विभिन्न राज्यों के केन्द्र में स्थित है उसे राज्य को सुदृढ़ करने का सुझाव देता है। कामंदक कहता है कि "ऐसा राजा जो अपनी समृद्धि के चरम पर पहुँच चुका है और वह अब विद्वेष कारक राज्यों से घिर चुका है अत: उस अवस्था में उसे मण्डल सिद्धांत को अपना लेना चाहिये"। राजा को मण्डल में अपनी नीति को इस प्रकार संचालित करनी चाहिये कि उसका प्रभाव बढ़े तथा मण्डल में उसके प्रति क्षोभ उत्पन्न न हो।[3] कामन्दक भी अपने पूर्ववर्ती राजनीतिज्ञों के समान द्वादश राज्यमण्डल का सिद्धांत ही प्रतिपादित करता है।

---

1 अर्थशास्त्र, पृ. 446

2 प्राचीन भारत में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 3; अर्थशास्त्र, पृ. 447

3 Kamandakiya Nitisara. P. No. 84

जो निम्न है- इस प्रकार द्‌वादश राज्यमण्डल में विजिगीषु राज्य के सामने की तरफ पाँच तथा पीछे की तरफ चार राज्य होंगे। विजिगीषु राज्य के सामने की तरफ 1. अरि, 2. मित्र, 3. अरिमित्र, तत्पश्चात् 4. मित्रमित्र तथा 5. अरिमित्रमित्र होंगे। विजिगीषु के पीछे क्रमशः चार राजा होते हैं- 1.पार्ष्णिग्राह, उसके बाद 2. आक्रन्द, तदनन्तर इन दोनों के आसार अर्थात् 3. पार्ष्णिग्राहासार एवं 4. आक्रान्दासार। अरि और विजिगीषु दोनों राज्यों से जिसकी सीमा मिलती है, वह राजा 'मध्यम' कहा गया है।[1]

कामंदक ने राजनीति में उससे पूर्व के विद्‌वानों द्‌वारा मंडल से संबंधित जो भी सिद्धांत दिया था उसका उल्लेख अपनी पुस्तक नीतिसार में किया है, जो निम्न है-

चतुष्क मण्डल- मय द्‌वारा प्रतिपादित यह सिद्धांत जिसमें विजिगीषु, अरि, मध्यम तथा उदासिन मिलकर चतुष्क मण्डल का निर्माण करते है।

षट्क मण्डल- पुलेमा तथा इन्द्र कहते है कि विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह, मध्यम तथा उदासीन ये छः राज्य मिलकर षट्क मण्डल का निर्माण करते है।[2]

द्‌वादश राजमण्डल- उश्ना द्‌वारा प्रतिपादित मण्डल के द्‌वादश राजा जो पूववर्ती सिद्धांत के समरूप है।[3]

अष्टादशक मण्डल- गुरु बृहस्पति द्‌वारा प्रतिपादित जिसमें मण्डल के 12 मूल राजा एवं विजिगीषु, उसके अरि और मित्र में से प्रत्येक के मित्र और अरि।[4]

चतुष्पंचाशत्क मण्डल- विशालाक्ष द्‌वारा प्रतिपादित जिसमें 18 राजा तथा प्रत्येक के शत्रु और मित्र मिलकर 54 राजाओं का मण्डल बनाते है, जिसे चतुष्पंचाशत्क मण्डल कहा गया है।[5]

---

1 Kamandakiya Nitisara. P. No. 86-87

2 Ibid. P.No. 88

3 Ibid, P.No. 89

4 Ibid, P.No. 90

5 Ibid, P.No. 90

इस प्रकार कामंदक नीतिसार में एक प्रकृतिक , द्वैप्रकृतिक, तथा त्रिक, चतृश्क, पंचक, षट्क, अष्टक, दशक, द्वादशक, चतुर्दशक, अष्टादशक, एकविंशतिक, चतुर्विषतिक, त्रिंशत्क, षट्त्रिंशत्क, जगत्यक्षरक (अष्टचत्वारिंशक), चतुष्पंचाशत्क, शष्टिसंख्यक, सप्ततिद्वर्यधिक, अश्टोत्तरशतक एवं सचतुर्विंशतीदंत्रिशक प्रकृतिमण्डलों का उल्लेख किया गया हैं।

मनु का मण्डल सिद्धांत

मनु भी द्वादश राज्यमण्डल सिद्धांत का समर्थन करते हुए कहता है।

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीशोष्च चेष्टितम्।
उदासिनप्रचारं च शत्रोष्चैव प्रयतन्त:।।
एता: प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासत:।
अष्टौ चान्या: समाख्यातादवादैशवतुता: स्मृता:।।
अमात्य राष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्या: पञ्च चापरा:।
प्रत्येकं कथिता हयेता: संक्षेवा द्विसप्तति:।।

अर्थात् वह शत्रु, मित्र, उदासीन तथा मध्यम इन चारों को राज्यमण्डल का मूल मानता है। ये चार मूल प्रकृतियाँ आठ के साथ मिलकर द्वादश राजमण्डल का गठन करते है। मनु इन आठ प्रकृतियों को परिभाषित नहीं करता है। मनु पाँच प्रकृतियों को बताता है- मंत्री, देश, किला, धनभण्डार, और दण्ड। ये बारहों की अलग-अलग होती हैं, यों सब मिलाकर संक्षेप में बहत्तर प्रकृतियाँ होती है। बारह प्रकृतियाँ वो ही है जो पूर्ववर्ती राजनीतिज्ञों द्वारा परिभाषित है- विजिगीषु, अरि, अरिसेवित, अरिमित्र, पार्ष्णिग्राह, पार्ष्णिग्राहसार, मित्र, मित्र का मित्र, आक्रन्द, आक्रन्दासार, मध्यम और उदासिन।[1] मनु कहता है कि अपनी सीमा के पास रहने वाले और शत्रु से मेल रखने वाले राजा हो शत्रु समझना चाहिए। शत्रु की सीमावाले राजा को मित्र और मित्र राजा की सीमावाले को उदासीन जाने। इन सब को समादि उपायों से या एक ही से या सब उपायों से अथवा पुरुषार्थ से, या राजनीति से ही वश में करे।[2]

1 गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, मनु स्मृति, पृ. 233

2 मनुस्मृति, पृ. 234

सोमदेव का मण्डल सिद्धांत

आचार्य सोमदेव ने द्वादश राजमण्डल के स्थान पर नौ राजाओं का ही मण्डल बताया है। जिन नौ राजाओं का उल्लेख किया वे निम्न है- विजिगीषु, अरि, मित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहसार, आक्रन्दासार, मध्यम तथा उदासिन। आचार्य सोमदेव ने सामने के पाँच राजाओं के स्थान पर केवल दो ही राजाओं का उल्लेख किया है अरि और मित्र जबकि अरिमत्र, मित्रमित्र और अरिमत्रमित्र इन तीन श्रेणियों का उल्लेख नहीं किया है।[1]

मण्डल-राज्यों कि प्रति नीति

निष्कर्षत मण्डल सिद्धांत के बारे में कहे तो बी. के. सरकार के शब्दों में शक्ति-संतुलन की हिंदू धारणा का आधार मण्डल-सिद्धान्त ही था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विशय में दिये गये सभी विचारों में शक्ति-संतुलन का विचार ही मिलता है। कौटिल्य का अभिमत है कि प्रत्येक राजा की यह महत्वकांक्षा होती है कि वह अपनी जनता के लिये 'शक्ति और सुख' अर्जित करें। प्राचीन भारतीय विचारक अन्तर्राष्ट्रीय कानून से भली भाँति परिचित थे और शासक उसके नियमों का व्यवहार में पालन भी करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शासक अपने कार्यों में सत्य व नैतिकता के विचारों की अपेक्षा राज्य के कारण से अधिक मार्ग-दर्शन पाते थे जैसाकि आज दिखाई देता है, यह शक्ति का नियम था। शक्तिशाली व्यक्तियों के शब्द ही कानून थे, चाहे वे उस समय के न्याय व औचित्य की धारणाओं के विरूद्ध रहे हों।[2] आधुनिक विचारक शक्ति संतुलन को अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का आधारभूत नियम मानते हैं। इसको राजनीति के यथासंभव मूलभूत नियम की संज्ञा भी प्रदान की गई है। शक्ति संतुलन का सिद्धांत यह विचार प्रस्तुत करता है कि विश्व के शक्तिशाली राष्ट्र सदैव अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन बनाने, बनाए रखने और उसकी रक्षा करने में प्रयत्नशील रहते हैं। आधुनिक युग में इसको अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति तथा सुरक्षा स्थापित करने के लिए उपयोगी समझा

---

1 प्राचीन भारत में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 4

2 कौटिल्य का युद्ध दर्शन, पृ. 101

गया है। मार्गेंथो ने शक्ति संतुलन को परिभाषित करते हुए कहाँ है कि प्रत्येक राष्ट्र याथास्थिति को बनाए रखने अथवा परिवर्तित करने के लिए दूसरे राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है। इसके परिणामस्वरूप जिस ढांचे की आवश्यकता होती है वह शक्ति संतुलन कहलाता है, और जिन नीतियों की आवश्यकता होती है उनका लक्ष्य शक्ति संतुलन को बनाए रखना होता है।[1]

मण्डलनीति का मुख्य उद्देश्य था शक्ति-संतुलन- कोई राष्ट्र इतना प्रबल न हो सके कि वह दूसरों की स्वतंत्रता नष्ट कर सके। राजनीति विचारक सोमदेव भी यहीं कहते हैं कि -

न मां परो हन्तुं नाहं परं हन्तुं च शक्त:

अर्थात् न तो मुझे कोई दूसरा मारने में और न मैं किसी दूसरे को मारने में समर्थ हूँ। इसी तथ्य को मनु दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हैं- प्रत्येक शासक का यह प्रयत्न होना चाहिये कि अन्य शासक, चाहे वह मित्र हो अथवा शत्रु या उदासीन, उसकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली न हो सके और न उसकी प्रगति ही अवरूद्ध कर सके।

प्रत्येक राज्य अपने अग्र तथा पृष्ठ एवं पार्श्व भाग में 'अरि' तथा 'मित्र' राज्यों से घिरा होता है। उदाहरणार्थ, विजिगीषु के अग्र भाग में अरि तथा उसके पृष्ठ भाग में पार्ष्णिग्राह के राज्य होते हैं। यह दोनों उसके सहज शत्रु हैं। उनके अनन्तर क्रमश: मित्र और आक्रन्द राज्य होते हैं, जो विजिगीषु के तो मित्र होते हैं परन्तु अरि और पार्ष्णिग्राह के शत्रु। ऐसी ही स्थिति मित्र-मित्र तथा आक्रन्दासार एवं अरिमित्र, अरिमित्र-मित्र तथा पार्ष्णिग्राहसार की होती है। यह राजा उस समय अधिक सक्रिय हो उठते हैं जब विजिगीषु अरि पर या अरि विजिगीषु पर आक्रमण करता है।

कौटिल्य और उनका कमोबेश अनुकरण करते हुए कामन्दक ने विजिगीषु को मण्डल के अन्य राज्यों के प्रति क्या नीति अपनाना चाहिये इसकी समुचित

1 के.के. मिश्रा, सुभाष शुक्ला, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत, पृ.106

विवेचना की है। इस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विजिगीषु किसी विशिष्ट राजा की संज्ञा नहीं है। सर्वप्रथम, हम अरि के प्रति विजिगीषु की नीति का विश्लेषण करते हैं। जैसा हम पहले कह चुके हैं, विजिगीषु यह नहीं चाहता कि अरि और उसके मित्र उसके पक्ष से अधिक शक्तिशाली हो जाये, अथवा उसके मार्ग में बाधा उपस्थित करें। इतना ही नहीं, हमारे आचार्यों ने तो विजिगीषु का यह कर्तव्य माना है कि वह येनकेन प्रकारेण अरि और उसके समर्थकों को समूल नष्ट कर दे। विजिगीषु तथा उसके मित्रों द्वारा दोनों ओर से आच्छादित होने के कारण 'अरि' सहज ही उसके प्रति शत्रुता नहीं प्रदर्शित कर सकता। परन्तु यदि वह विकृत हो जाय, तो विजिगीषु और उसके मित्र 'अरि' राज्य पर दोनों ओर से आक्रमण करके उसको सहज ही पराजित कर सकते हैं। साथ ही, विजिगीषु के मित्र अरि के अग्र और पृष्ठ भाग के मित्रों को अरि की सहायता देने से रोक सकते हैं, और विजिगीषु पर पृष्ठ भाग से किये गये आक्रमण को विफल कर सकते हैं। ऐसी स्थिति के कारण कोई भी राजा बिना भलीभाँति सोचे विचारे किसी राष्ट्र पर आक्रमण नहीं कर सकता है।

शत्रु के अतिरिक्त इन आचार्यों ने विजिगीषु और उसके मित्रों के सम्बन्ध की भी विवेचना की है। मित्र का प्रधान कर्तव्य था विजिगीषु के शत्रु की गति अवरूद्ध करना। साथ ही, विजिगीषु का भी कर्तव्य था कि यदि मित्र पर शत्रु आक्रमण करे तो वह आवश्यक सहायता प्रदान करे जिससे वह शत्रु को पराजित कर सके। कौटिल्य विजिगीषु को यही आदेश देते हैं कि उसे अपने मित्र के साथ सदैव ऐसा व्यवहार करना चाहिये जिससे वह उसके समर्थन में दृढ़ रहे। परन्तु यदि मित्र विजिगीषु से विमुख हो रहा हो, अथवा समर्थ होते हुए भी विजिगीषु की सहायता नहीं करता और शत्रु की ओर आकर्षित हो रहा है, तब विजिगीषु को उसका दमन ही करना चाहिये। कौटिल्य ने ऐसे उपायों का भी उल्लेख किया है जो विजिगीषु को ऐसी स्थिति में अपनाना चाहिये। ऐसे मित्र के सामन्त, भूभ्येकान्तर मित्र, बन्धु-बान्धव तथा अमात्य आदि प्रकृतियों को उसका विरोधी बना दे। यदि मित्र अधिक विकृत हो जाय और शत्रु का पक्षपाति बन जाय तब उसका उच्छेदन कर देना ही उचित है, जिससे वह शत्रु से न मिल सके। कौटिल्य

का यह भी आदेश है कि विजिगीषु अपने मित्र को न सर्वथा उच्छिन्न ही करें न उसे अधिक बलशाली ही बनने दे। मित्र नीति का सारांष यह है कि मित्र विजिगीषु का ही पक्षपाति बना रहे, उससे विमुख न हो सके।

राजनीति विचारक विजिगीषु को यथा-साध्य मध्यम तथा उदासीन के साथ भी अच्छे सम्बन्ध बनाये रखेने का आदेश देते हैं, क्योंकि उनकी और 'अरि' की मित्रता उसके लिए हानिकारक हो सकती है। परन्तु ऐसी परिस्थिति भी उत्पन्न हो सकती है जब मध्यम और उदासीन दोनों विजिगीषु के नहीं वरन् अरि के ही पक्षपाती हों। ऐसी स्थिति में उसे मध्यम और उदासीन से मित्रता बनाये रखने का प्रयास करना चाहिये। इसके विपरित अवस्था में उसे 'अरि' से मित्रता कर लेनी चाहिये। जब मध्यम राजा विजिगीषु के मित्र-भावी मित्र की मित्रता प्राप्त करने की चेष्टा करे तब उसे अपने मित्रों में भेद उत्पन्न कराके मण्डल के अन्य राजाओं को उसके विरूद्ध कर देना चाहिय। यदि विजिगीषु को मण्डलस्थ राजाओं का समर्थन प्राप्त न हो सके तब उसे मध्यम को ही निग्रहीत करने का प्रयास करना चाहिये। उन्होंने एक अन्य उपाय का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार विजिगीषु को मध्यम के अरि से अथवा जिस राजा का मध्यम से वैमनस्य चल रहा हो उसके साथ मित्रता स्थापित करके अपनी शक्ति बढ़ाना चाहिये, जिससे वह मध्यम को सरलता से वशीभूत कर सके। मध्यम को शक्तिहीन करने का एक अन्य उपाय था उसके राज्य में भेद उत्पन्न कराना। यदि मध्यम विजिगीषु को नहीं वरन् उसके मित्रों को निग्रहीत करना चाहता है तब विजिगीषु का महान कर्तव्य हो जाता है कि वह हर सम्भव उपाय से जैसे धन, सेना, भूमि देकर अपने मित्रों का समर्थन करे। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो उसका मित्र उससे विमुख हो जायगा। मित्र के विमुख होने पर उसकी स्थिति सुदृढ़ नहीं रह सकती।

यदि विजिगीषु का मित्र मध्यम की सहयता के लिये प्रस्तुत हो जाय तब तो विजिगीषु के अन्य शक्तिशाली राजा से मैत्री स्थापित करके मध्यम तथा अपने दृश्य मित्र को निग्रहीत करना चाहिये। इसके विपरीत यदि मध्यम के कुछ मित्र मध्यम के विरोधी हो जाय तब विजिगीषु को उनसे मित्रता कर लेना चाहिये। इस प्रकार वह अपना स्वार्थ पूरा कर सकेगा। कौटिल्य ने इस बात पर बहुत बल

दिया है कि विजिगीषु अपने मित्रों को मध्यम के पक्ष में न जाने दे, अन्यथा उसकी शक्ति क्षीण हो जायेगी। दूसरी नीति यह है कि यदि मध्यम विजिगीषु के शत्रु के साथ ही विग्रह करना चाहता है तब विजिगीषु को अपने अरि की सहायता करनी चाहिये जिससे मध्यम की शक्ति अधिक न बढ़ने पाये। अन्यथा 'अरि' को पराजित करके वह विजिगीषु पर आक्रमण करेगा। इसके अतिरिक्त यदि मध्यम राजा उदासीन राजा की मित्रता प्राप्त करना चाहता है तब विजिगीषु को उन दोनों में भेद उत्पन्न कराने का प्रयास करना चाहिये।

कौटिल्य ने जो उपाय मध्यम राजा की शक्ति सीमित रखने के बताये हैं वही उपाय उदासीन के प्रति भी बरतने का आदेश देते हैं। इसी प्रकार कामन्दक का कथन है कि यदि शक्तिशाली मध्यम विजय की इच्छा करता है, तब विजिगीषु या तो अरि के साथ मित्रता कर ले अथवा अशक्त होने पर मध्यम के ही साथ सन्धि कर ले। यदि उदासीन राजा विजय की इच्छा करे तब विजिगीषु को अरि तथा मध्यम का संघ बनाकर उसका सामना करना चाहिये। यदि यह भी सम्भव न हो सके तब उसे उदासीन के साथ मैत्री स्थापित कर लेना चाहिये।

मनु राजनय का सार इन शब्दों में व्यक्त करता है : विजिगीषु को इस प्रकार कार्य करना चाहिये कि शत्रु, मित्र तथा उदासीन राजा न उसको हानि पहुंचा सकें और न उसके मार्ग में बाधा उपस्थित कर सकें। सोमदेव भी कहते हैं कि विजिगीषु को अपने मित्रों की यथा साध्य सहायता करना चाहिये और शत्रु तथा उसके मित्रों का निग्रह करना चाहिये।[1]

प्रताप पूर्व महत्वपूर्ण कूटनीतिक प्रयास

कुंभा से पूर्व मेवाड़ के पड़ोसी राज्यों से संबध को देखने पर ज्ञात होता है कि इस समय मेवाड़ का संघर्ष मुख्य रूप से अपने आस-पास के पड़ोसी राज्यों के साथ चल रहा था। जब भी क्षेत्रीय शक्तियों को अवसर प्राप्त होता तो वे या तो स्वयं को स्वतंत्र करने का प्रयास करते या साम्राज्य विस्तार की नीति के चलते मेवाड़ के साथ उनका संघर्ष होता था। मेवाड़ के वे बड़े पड़ोसी राज्य जिनसे

1 प्राचीन भारत में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ.30-32

मेवाड़ का संघर्ष होता रहता था उनमें मालवा, गुजरात तथा दिल्ली मुख्य थे। जिनसे कभी भी मेवाड़ के स्थायी मैत्रीपूर्ण संबंध नहीं रहे थे तथा इन पर गौरी के आगमन के बाद मुस्लिमों का शासन रहा था। यहाँ आलोच्य काल से पूर्व तक मेवाड़ के पड़ोसी राज्यों के साथ संबंधों को तीन भागों में विभाजित करके देख सकते है पहला अलाउद्दीन से पूर्व के मेवाड़ के शासकों का पड़ोसी राज्यों से संबंध, दूसरा हम्मीर से लेकर मोकल तक के शासकों का अपने पड़ोसी राज्यों से संबंध, तीसरा कुंभा से लेकर उदयसिंह तक के शासकों का पड़ोसी राज्यों से संबंध। इस प्रकार मेवाड़ के शासक एवं पड़ोसी राज्यों से संबंधों की काल एवं परिस्थिति के संदर्भ में तर्कसंगत विवेचना कर सकते है। जिससे मेवाड़ के शासकों के कूटनीतिक एवं उनकी विदेश नीति का ज्ञान होता है।

मेवाड़ राज्य की प्रारंभिक स्थिति

मेवाड़ के प्रारंभिक शासकों के बारे में ऐतिहासिक जानकारी के अभाव में उनके संबंध में विस्तृत विवेचन संभव नहीं है। फिर भी शिलालेख एवं पुरातात्विक जानकारी के द्वारा देश, काल में उनकी स्थिति की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है। शिलादित्य के सामोली लेख से पता चलता है कि मेवाड़ शासकों का शासन सिरोही क्षेत्र तक विस्तृत था तथा इस क्षेत्र को लेख में खनिज संसाधनों की दृष्टि से समृद्ध प्रदेश बताया है, जहाॅ व्यापारी व्यापार करने आते थे।[1] इस समय मेवाड़ के अधीन चित्तौड़ नहीं था तथा मेवाड़ वंश कि मुख्य भूमि नागदा एवं आहाड़ के आस-पास की ही भूमि थी। यह तथ्य निम्न जानकारी से पृष्ठ होता है कि नागादित्य ने नागदा नगर बसाया[2] एवं शीलादित्य के बाद हुए शासक अपराजित के सेनापति वराहसिंह की स्त्री द्वारा नागदा के निकट कैटभरिपु के मंदिर का निर्माण किया गया जिसकी जानकारी कुंडेश्वर के मंदिर से प्राप्त शिलालेख से मिलती है।[3] खुमाण ने खमनोर की तथा देवादित्य ने देलवाड़ा की स्थापना की।[4] अल्लट के समय राजधानी एवं मुख्य व्यापारिक नगर आहाड़ था,[5]

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 107

2 अमरकाव्यम्, पृ. 80

3 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ.108

4 अमरकाव्य, पृ. 81

5 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ.107

जो बाद में जैत्रसिंह तक एक प्रमुख नगर बना रहा। अत: प्रारंभिक दौर में मेवाड़ वंश के शासकों का केन्द्रीयकरण नागदा एवं उसके आस-पास का प्रदेश भले ही रहा हो किंतु निश्चय ही इनका प्रभाव क्षेत्र व्यापक रहा होगा इसका प्रमाण सिक्के की धातु एवं उस दौर की उन्नत कला देती है। बापा के द्वारा मोरियों से चित्तौड़ का किला लेकर अपने राज्य में मिलाना और उसकी सुवर्ण मुद्रा तथा आगरा के समीप मिले मुद्रा भंडार से प्रकट होता है कि वह स्वतंत्र, प्रतापी और एक विशाल राज्य का स्वामी था[1] तथा वराह मंदिर[2] कैटभरिपु मंदिर एवं वहाँ उत्कीर्ण लेख को देखकर लगता है कि उस समय मेवाड़ की कला समृद्ध थी तथा यहाँ अच्छे विद्वान एवं कारीगर थे, जो कि इसकी समृद्धता को बताता है।

मेवाड़ राज्य निर्माण का प्रथम चरण

मेवाड़ वंश के प्रारंभिक काल पर दृष्टिपात करते है। जब भी कोई राज्य निर्माण के प्रारंभिक अवस्था में होता है तो उसका अपने पड़ोसी राज्यों से संघर्ष अवश्यमभावी होता है और उन्हीं की कीमत पर अपने राज्य का निर्माण कर सकता है। इस अवस्था में अपरिहार्य रूप से चाणक्य का सिद्धांत की पड़ोसी राज्य सदैव शत्रु होता है, पूर्णतया सही प्रतीत होता है। छठी शताब्दी ई. पू. जब उत्तर भारत में सोलह महाजनपद थे इनमें भी मगध ने अपने सम्राज्य का निर्माण करना चाहा तो सर्वप्रथम मगध ने अपने पड़ोसियों को ही अपना शिकार बनाया। मगध के शासक बिंबिसार ने अंग एवं काशी प्रदेश को विजित कर अपने राज्य में मिला लिया। मेवाड़ के इतिहास में भी कुछ ऐसा ही दिखाई देता है। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि मेवाड़ के शासक पहले गुजरात के चालुक्यों के सामन्त थे।[3] 5वीं एवं 6 शताब्दी में गुर्जर-प्रतिहार, चौहान एवं गुजरात शक्तिशाली राज्य थे जिनका विस्तार एवं प्रभाव वृहद् क्षेत्र पर था। मेवाड़ का केन्द्रीय क्षेत्र जब नागदा एवं आहाड़ प्रदेश था तब बापा रावल ने राज्य विस्तार की नीति का अनुसरण कर अपने निकट के प्रदेश को जीतने की नीति बनाई तो इसी के तहत मानमोरी को पराजित कर चित्तौड़ को विजय किया।

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ.121

2 वही, पृ.125

3 जयचंद्र विद्यालंकार, इतिहास प्रवेश, पृ. 194

मेवाड़ के इतिहास में प्रारंभ से लेकर अगर आलोच्यकाल तक के इतिहास पर नजर डाले तो मेवाड़ के चीर-प्रतिद्वंद्वि राज्य गुजरात, मालवा एवं सल्तनत काल से दिल्ली भी रहा है। किंतु प्रारंभिक काल में गुर्जर-प्रतिहार, एवं चौहान शासकों के शक्तिशाली होने के कारण वहाँ से भी इन्हें चुनौति मिलती रही है। मालवा पर जब शक्तिशाली परमार शासकों का शासन था तब वहाँ के परमार शासक मुंज (वाक्पतिराज, अमोघवर्ष) ने शक्तिकुमार के समय मेवाड़ पर आक्रमण किया। मुंज के इस हमले में आहाड़ को नष्ट कर दिया तथा चित्तौड़ पर अपना अधिकार स्थापित किया। चित्तौड़ दुर्ग पर मुंज के उत्तराधिकारी और छोटे भाई सिंधुराज के पुत्र भोज को नियुक्त किया। जब गुजरात के चालुक्य शासक जयसिंह सिद्धराज ने मालवा के शासक यशोवर्मा को पराजित किया तब संभवत: चित्तौड़ मालवा के हाथों से निकलकर गुजरात के शासकों के अधीन चला गया।[1] मेवाड़ के शासक सामंतसिंह के समय में गुजरात एवं मेवाड़ के बीच युद्ध हुआ था इस संघर्ष का उल्लेख तेजपाल द्वारा बनाए गए लूणवसही नेमिनाथ जैन मंदिर से मिलता है। इस युद्ध का कारण तो स्पष्टत: तो नहीं मिलता है फिर भी अनुमानत: सामंतसिंह द्वारा अपने पूर्वजो का बरसों से दूसरों के अधिकार में गया हुआ चित्तौड़ का किला कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल से लेने के लिए लड़ाई कि हो ऐसा संभव है।[2] अत: मालवा एवं गुजरात से मेवाड़ का संघर्ष मुस्लिमों के आगमन से पूर्व भी हो रहा था, यह साम्राज्य एवं प्रभाव विस्तार का प्रयास था। मालवा एवं गुजरात ही नहीं अपितु मेवाड़ के आस-पास के प्रदेश के शासकों अर्थात् तत्कालीन भारत के एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरते चौहान शासकों ने भी मेवाड़ पर आक्रमण किया। संभवत: शक्तिकुमार के समय हुए मेवाड़ के पतन एवं गुहिलों कि शक्ति को क्षीण देखकर चौहान शासक वाक्पतिराज द्वितीय ने शक्तिकुमार के पुत्र अंबाप्रसाद के समय मेवाड़ पर आक्रमण किया। इस युद्ध में अंबाप्रसाद मारा गया, इस बात की जानकारी जयानक के पृथ्वीराज विजय महाकाव्य से मिलती है।[3] 12वीं शताब्दी का काल चौहान वंश के चरम उत्कर्ष का

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 133

2 वही, पृ. 144

3 अम्बाप्रसादमाघाटपतिं यस्सेनयान्वितम्।
व्यसृजद्यषस: पश्चात्पार्श्वं दक्षिणादिक्पते:।।5.59।। पृथ्वीराजविजय महाकाव्यम्

काल था। इस समय राजस्थान में अजमेर के अतिरिक्त नाडोल तथा जालोर में भी चौहान वंश का शासन था। जालोर के चौहान वंश का संस्थापक कीर्तिपाल (कीतू) था। चूंकि उसने अभी-अभी एक नवीन वंश की स्थापना कि थी अत: उसमें राज्य विस्तार का उत्साह अधिक था। इसी राज्य विस्तार एवं स्वतंत्र शासक बनने की चाह में उसने मेवाड़ पर भी आक्रमण किया। कीर्तिपाल के समकालीन मेवाड़ का शक्तिशाली शासक सामंतसिंह था। यद्‌यपि सामंतसिंह ने गुजरात के शासक अजयपाल को पराजित किया था किंतु इससे उसके संसाधन भी क्षीण हुए साथ ही अपने सामंतों के प्रति किए गए बुरे बर्ताव के कारण उनकी सहायता न मिलने से वह कीर्तिपाल से पराजित हुआ।[1] मेवाड़ राज्य खो देने के बाद सामंतसिंह ने वागड़ के राज्य की स्थापना कि।[2] बाद में सामंतसिंह के भाई कुमारसिंह ने गुजरात के राजा की सहायता से कीर्तिपाल को परास्त कर मेवाड़ से निकाल पुन: गुहिल वंश को स्थापित किया।[3]

वैवाहिक कूटनीतिक संबंधों ने राजतंत्र के युग में बेहद महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वैवाहिक कूटनीति जहाँ युद्ध से पूर्व एक मजबूत गठबंधन निर्माण का कार्य करता है वहीं युद्ध के बाद पराजित पक्ष की विश्वासभक्ति, स्वामिभक्ति एवं सहयोग की प्राप्ति का आश्वासन होता हैं। जब गुजरात के चालुक्य एवं जालौर के सोनगरा शासकों की शक्ति अपने उत्कर्ष पर थी तब गुहिल शासक कमजोर थे अत: इन विकट परिस्थितियों का सामना करने के लिए वैरीसिंह के पुत्र विजयसिंह ने कई राजवंशीय विवाह किए थे लेकिन वह मेवाड़ को उनके कोप से नहीं बचा सका।[4] किंतु सदैव ऐसा नहीं था मेवाड़ कि विकट परिस्थतियों में ये वैवाहिक संबंध मजबूत सहयोगी भी बने। खुमांण तृतीय के पुत्र भर्तृपट्ट द्‌वितीय के समय जब परमार शासक मुंज ने आक्रमण कर आहाड़ को तोड़ा था उस समय भर्तृपट्ट की राठोड़ पत्नि महालक्ष्मी के भाई एवं पिता धवल एवं मंमट ने सहायता कि थी। हूण राजकुमारी हरियादेवी से अल्लट ने विवाह

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 145

2 डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ. 146

3 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 150

4 भार्गव, मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास, पृ. 86

किया था। वैरिसिंह का पुत्र विजयसिंह का विवाह मालवा के परमार शासक उदयादित्य की पुत्री से हुआ था तथा उससे उत्पन्न पुत्री अल्हणदेवी का विवाह चेदि देश के कलचुरि (हैहय) वंशी राजा गयकर्ण देव से हुआ था। अल्हणदेवी से नरसिंहदेव और जयसिंहदेव नामक दो पुत्र हुए जिन्होंने बाद में चेदि पर राज्य किया था।[1]

संभव है कि प्रारंभ में मेवाड़ गुजरात के चालुक्यों के अधीन रहा हो या चित्तौड़ के मौर्य शासकों के अधीन हो[2] किंतु जब मेवाड़ के शासकों ने अपनी शक्ति में पर्याप्त वृद्धि कर ली हो अर्थात् बापा के समय उन्होंने चितौड़ को जीत कर एक स्वतंत्र राज्य का निर्माण कर लिया होगा। जब तक मेवाड़ अपनी एक पृथक् पहचान स्थापित करने का प्रयास कर रहा था तब तक उससे तत्कालीन पड़ोसी शक्तिशाली राज्यों के हमलों का सामना करना पड़ा। मेवाड़ की रणनीति एवं कूटनीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन जैत्रसिंह के समय से आता है। जैत्रसिंह मेवाड़ के शासकों में एक पराक्रमी शासक था। जिसकी युद्ध नीति रक्षात्मक के बजाय आक्रमात्मक प्रतित होती है। इसकी जानकारी चीरवे के शिलालेख में मिलती है। इसमें जैत्रसिंह को रणरसिक बताया गया है। चीरवे के लेख में लिखा गया है कि - "जैत्रसिंह शत्रु राजाओं के लिए प्रलयमारूत के सदृश था, उसको देखते ही किसका चित्त न कांपता ? मालवा वाले, गुजरात वाले, मारवाड़ और जांगलदेश वाले तथा म्लेच्छों का अधिपति भी उसका मानमर्दन न कर सकें। जैत्रसिंह के अपने पड़ोसी राज्यों के संदर्भ में उनकी नीति पर दृष्टिपात करते है तो पता चलता है कि जैत्रसिंह ने साम्राज्य विस्तार की नीति पर चलते हुए सर्वप्रथम अपने पड़ोसी राज्यों को विजय करने की नीति अपनाई और इसी के तहत नाडौल के चौहान एवं अथूर्णा के परमारों को पराजित किया। चूंकि वागड़ राज्य पर गुहिल वंश की शाखा ही स्थापित थी अत: संभव है कि उससे अच्छे संबंध हो। नाडौल एवं अथूर्णा को पराजित करने के बाद भी उनसे अच्छे संबंध रखे। जैत्रसिंह ने नाडौल से अपने संबंधों को मजबूत करने के लिए, इस समय नाडौल एवं जालौर के शासक एक ही

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ.140

2 हिंदू राज्य का उत्कर्ष, पृ. 146

थे कीर्तिपाल या कितू का पौत्र उदयसिंह था, जैत्रसिंह ने अपने पुत्र तेजसिंह का विवाह उदयसिंह के पुत्र चाचिगदेव की पुत्री रूपादेवी से करवाया था। इस विवाह के द्वारा मेवाड़ एवं नाडौल का प्राचीन वैर समाप्त हुआ। जैत्रसिंह की आक्रमात्मक नीति तथा मेवाड़ एवं गुजरात दोनों राज्यों की साम्राज्यवादी नीति के कारण गुजरात से जैत्रसिंह के संबंध अच्छे नहीं थे। जैत्रसिंह ने गुजरात के शासक त्रिभुवनपाल को पराजित किया था। अत: यहीं वजह थी कि जयसिंह सूरि के 'हम्मीरमदमर्दन' नाटक में इल्तुतमिश एवं जैत्रसिंह के मध्य हुए युद्ध में जीत का श्रेय गुजरात शासक वीरधवल को दिया गया है। जैत्रसिंह के बाद उसका पुत्र तेजसिंह शासक बना जिसके और गुजरात के वीसलदेव के बीच चित्तौड़ की तलहटी में युद्ध हुआ था। अब मेवाड़ इतना सक्षम हो गया था कि तेजसिंह के पुत्र समरसिंह के समय संभवत: बलबन के सेनापति ने गुजरात पर आक्रमण किया था तब समरसिंह ने गुजरात की रक्षा कि थी ऐसा उल्लेख आबू के लेख में मिलता है।[1]

मेवाड़ राज्य निर्माण का दूसरा चरण

मेवाड़ के कूटनीतिक संबंधों का दूसरा चरण बेहद महत्वपूर्ण है। इस समय भारतीय राजनीतिक का परिदृष्य बिल्कुल बदल गया था। मुहम्मद गौरी के आक्रमण के समय राजस्थान के राजनीतिक स्थिति कुछ इस तरह कि थी - मरू प्रदेश पर भाटी वंश का, मेदपाट पर गुहिल, चंद्रावती और आबू पर परमार वंश शासन कर रहे थे। इन सब में सर्वाधिक शक्तिशाली सपादलक्ष एवं जांगलदेश के चौहान थे।[2] तराईन के द्वितीय युद्ध के बाद राजस्थान का शक्ति-संतुलन बदल चुका था, अब सबसे शक्तिशाली चौहान तुलनात्मक रूप से कमजोर पड़ चुके थे। इस परिवर्तन का प्रभाव यह था कि अब नए वंशों का उदय हो रहा था तो पुराने कमजोर राज्य अब राजस्थान को नेतृत्व देने के लिए आगे आ रहे थे। इसी समय मेवाड़ में जैत्रसिंह जैसा शासक हुआ जिसने मेवाड़ के प्रभाव को न केवल समस्त राजपूताना में अपितु उसके बाहर भी फैलाया। अत: वी.एस. भार्गव ने लिखा है कि

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ.162

2 विराट व्यक्तित्व पृथ्वीराज चौहान, पृ. 207

जैत्रसिंह के राज्याभिषेक के साथ ही मेवाड़ के अंधकार का युग भी समाप्त होता है।[1] सी.वी. वैद्य के अनुसार जहॉ बापा चित्तौड़ के राजा के सामंत थे इसी वजह से वे रावल की उपाधि धारण करते थे[2] या अन्य इतिहासकार के अनुसार गुहिल गुजरात के चालुक्यों के सामंत थे।[3] जैत्रसिंह के उत्कर्ष के बाद तो गुहिल अब एक महत्वपूर्ण एवं स्वतंत्र शक्ति बन चुके थे। अत: जैत्रसिंह का पुत्र तेजसिंह ने महाराज, परमभट्टारक, उमापति-वार-लब्ध-प्रौढ़प्रताप जैसी उपाधियां धारण कि थी। रावल रत्नसिंह के समय तक दिल्ली-सल्तनत भी अपने को पूर्ण रूप स्थापित कर चुकी थी। इल्तुतमिश[4] एवं बलबन[5] दोनों ने दिल्ली-सल्तनत को स्थायित्व देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गुलाम वंश के अंत एवं खिलजी वंश की स्थापना के साथ ही जिसे खिलजी क्रांति कहते है, इसके साथ ही दिल्ली-सल्तनत के इतिहास में साम्राज्यवादी युग की शुरुआत होती है।[6]

रावल जैत्रसिंह के बाद मेवाड़ उन्नति करता है किंतु इसी समय दिल्ली सल्तनत पर एक साम्राज्यवादी एवं विश्व-विजेता बनने की महत्वकांक्षा रखने वाला अलाउद्दीन खिलजी सुल्तान बनता है। अलाउद्दीन 1298 ई. गुजरात के राय कर्णदेव[7] तथा 1301 ई. में रणथंभोर के हम्मीरदेव चौहान को पराजित करता है।[8] है।[8] अलाउद्दीन के इन अभियान के बाद चित्तौड़ विजय रणनीतिक एवं सामरिक दृष्टि से अनिवार्य हो गई थी। एक तो अलाउद्दीन की दक्षिण विजय सम्पूर्ण उत्तर भारत को जितने के बाद ही संभव थी तो दूसरा चित्तौड़ दिल्ली-गुजरात मार्ग पर स्थित था।[9] अलाउद्दीन की चित्तौड़ विजय एवं रणथंभौर, जालौर एवं नाडोल

---

1 वी. एस. भागर्व, मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास, पृ. 66

2 हिंदू राज्य का उत्कर्ष, भा. 2, पृ. 108

3 इतिहास प्रवेश, पृ.194

4 इल्तुतमिश ने नवगठित साम्राज्य के समक्ष उपस्थित आंतरिक एवं बाह्य दोनों चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना कर उसे स्थायित्व प्रदान किया एवं इक्तादारी व्यवस्था को लागू करे उसे मजबूती प्रदान की

5 सुल्तान पद को प्रतिश्ठा एवं दिल्ली-सल्तनत को सुदृढ़ता प्रदान करने कार्य बलबन ने किया था

6 हरिश्चंद्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, भाग 1, पृ. 164

7 इमत्याज अहमद, मध्यकालीन भारत, पृ. 76

8 Early Chuhan Dynasty, P.No. 114

9 Ashok Srivastav, Khilaji Sultan in Rajasthan, P. No. 86

विजय के बाद राजस्थान का शक्ति-संतुलन पूर्णतया बिगड़ चुका था। रावल रत्नसिंह की पराजय के बाद गुहिल वंश का जो उत्कर्ष हुआ था अब फिर उसका भविष्य अंधकार में लग रहा था। गुहिल वंश की रावल शाखा का अंत भले ही हो गया हो किंतु अब उसका स्थान लेने वाली सीसोदा शाखा के हाथों उसका उद्धार होना था। चित्तौड़ पर कुछ समय तक अलाउद्दीन के पुत्र खिज्र खां का शासन था। संभवत: राजपूत राजाओं के निरंतर हमलों से परेशान होकर अलाउद्दीन ने चित्तौड़ दुर्ग मालदेव सोनगरा को दे दिया। हम्मीर सीसोदे की एक छोटे जागीर का स्वामी होने पर भी बड़ा वीर, साहसी, निर्भीक था। हम्मीर के पास कुछ भी नहीं था किंतु उसने धीरे-धीरे शक्ति का संचय करना प्रारंभ किया, दिल्ली में केंद्रीय शासन कमजोर हुआ उसने मौका पाकर मालदेव सोनगरा के पुत्र से चित्तौड़ छीन लिया।[1] लिया।[1] चित्तौड़ पर फिर गुहिल वंश को स्थापित किया। जैत्रसिंह के समय जो प्रभाव मेवाड़ ने स्थापित किया था वहीं प्रभाव हम्मीर के समय पुन: स्थापित हो गया। हम्मीर ने अपने आस-पास के प्रदेशों को विजित कर मेवाड़ को पुन: सुदृढ़ता प्रदान कि। हम्मीर ने जीलवाड़ा, पालनपुर, ईडर को जीत कर मेवाड़ के पड़ोसी राज्यों को अपने प्रभाव में लाया। हम्मीर का एक दूरदर्शितापूर्ण एवं कूटनीतिक कार्य अपने एक जागीरदार देवीसिंह हाड़ा की बूंदी राज्य को जीतने में सहायता करना था।[2] हम्मीर का यह कार्य दूरदर्शितापूर्ण था। उसकी महत्ता यह थी कि मालवा एवं मेवाड़ के बीच एक बूंदी राज्य की स्थापना से मालवा से होने वाले संघर्ष में एक अवरोध की स्थापना हो चुकी थी तो दूसरा द्रूत संचार एवं परिवहन के अभाव में मेवाड़ के इतने विस्तृत क्षेत्र संचालन भी संभव नहीं था अत: अपने सहयोगी को यहाँ स्थापित करके अपने मित्रों की संख्या भी बढ़ाई। हम्मीर के इस कार्य ने एक लंबे समय तक बूंदी के हाड़ाओं को मेवाड़ के शासकों के प्रभाव में ला दिया था। हम्मीर ने अपनी शक्ति को इतना बढ़ा दिया था कि उसने मुहम्मद तुगलक की सेना को भी पराजित किया था। इस संदर्भ में महाराणा कुंभा के समय के चित्तौड़ स्थित महावीर मंदिर के शिलालेख से जानकारी मिलती है।[3]

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 213; वीर विनोद, भा. 2, पृ. 295,

2 जगदीश सिंह गहलोत, बूंदी राज्य का इतिहास, पृ.41, नैणसी की ख्यात, भाग 1, पृ. 105

3 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 214

हम्मीर के प्रभाव को टॉड ने व्यक्त करते हुए कहाँ है कि हम्मीर ने लगातार उन्नति की और थोड़े ही समय में वह भारतवर्ष का एक पराक्रमी राजा बन गया और इसका प्रभाव संपूर्ण राजस्थान में छा गया।[1] हम्मीर मेवाड़ के शासकों में एक शक्तिशाली राजा था तभी कुंभा द्वारा रचित 'रसिक प्रिया' तथा कीर्तिस्तंभ प्रशस्ति में हम्मीर को 'विशम-घाटी पंचानन' (विकट आक्रमणों में सिंह के सदृश) कहा है, जो उसके वीर कार्यों का सूचक है।

हम्मीर के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र क्षेत्रसिंह जो लोगों में खेता, खेतल या खेतसी के नाम से शासक बना। यह भी एक शक्तिशाली राजा था जिसने कई लड़ाईयां लड़ी तथा मेवाड़ राज्य की सीमाओं में विस्तार किया।[2] हम्मीर के अधीन शुरु हुई पड़ोसी राज्यों पर प्रभुत्व की स्थापना की नीति को क्षेत्रसिंह ने जारी रखा। क्षेत्रसिंह ने बागड़ पर अपना कब्जा कर लिया तथा ईडर के राजा रणमल्ल को कैद किया संभव (कीर्ति स्तंभ प्रशस्ति) है कि हम्मीर से पराजित होने के बाद जैत्रसिंह का बेटा रणमल्ल ने विद्रोह कर दिया होगा जिसे क्षेत्रसिंह ने दबाया।[3] कुंभलगढ़ एवं एकलिंगजी के दक्षिण द्वार प्रशस्ति से जानकारी मिलती है कि क्षेत्रसिंह ने हाड़ा शासकों से मांडलगढ़ छिन लिया था तथा उन्हें अपना मताहत बना लिया। जयपुर के टोडे के राजा सातल को भी क्षेत्रसिंह ने युद्ध में पराजित किया था।[4] दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद से साथ ही मालवा पर भी मुस्लिम शासन स्थापित हो गया था। निश्चय ही मालवा का मुस्लिम शासन अपने साम्राज्य विस्तार कि नीति को अपनाया होगा जिससे निकटवर्ती राज्य मेवाड़ से संघर्ष होना अवश्यंभावी था। श्रृंगीऋषि के लेख तथा एकलिंग महात्म्य से जानकारी मिलती है कि क्षेत्रसिंह ने मालवा के शासक अमीशाह को भी पराजित किया था[5] जो कि मांडू का पहला सुल्तान दिलावर खां गोरी था। इसी के साथ मेवाड़-मालवा संघर्ष का प्रारंभ होता है जो कि मुगल वंश की स्थापना तक चलता

---

1 Annals and Antiquities of Rajasthan. Vol. 1. P.No. 216

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 220, वीर विनोद, भाग 1, पृ. 301

3 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 229, वीर विनोद, भाग 1, पृ. 304

4 राजपूताने का इतिहास, पृ. 203

5 एकलिंग महात्म्य

है। हाड़ा हरराज की पुत्री बालकुंवर का विवाह महाराणा क्षेत्रसिंह से हुआ था।[1] क्षेत्रसिंह के बाद 1382 ई. में लक्षसिंह मेवाड़ के महाराणा बने जो महाराणा लाखा के नाम से भी जाने जाते है। इनके समय में भी मेवाड़ ने अपने प्रभाव में विस्तार किया। बूंदी के हाड़ा शासक तो इनके प्रभाव में थे ही पर इनके समय एक मारवाड़ के राठौड़ो के साथ नए राजनीतिक संबंधों की शुरुआत हुई। महाराणा लाखा ने पड़ोसी राज्यों के अतिरिक्त अपने राज्य उपद्रवों को शांत कर आंतरिक शासन को भी मजबूत बनाया। इनके समय में मेरों ने विद्रोह कर दिया था जिसे इन्होंने दबाकर बदनौर को आबाद किया।[2] इन्हीं के समय गुजरात के डोडिया सरदार को मेवाड़ में जागीर दि गई।[3] महाराणा लाखा के समय मेवाड़ के पक्ष में महत्वपूर्ण बात यह रही कि मेवाड़ जो अब अपने पड़ोसी राज्यों के बीच एक मजबूत एवं शक्तिशाली राज्य के रूप में उभर रहा था वहाँ जावर की खान से चांदी मिलने से उसकी आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ हो गई थी।

लाखा के बाद मोकल मेवाड़ के महाराणा बने इस समय मेवाड़ राजपूताना की एक सर्वप्रमुख शक्ति बन गई थी। महाराणा मोकल की सहायता से रणमल मंडोर पर अधिकार करने में सफल रहा। मोकल ने जहाजपुर, सांभर, जालौर, सपादलक्ष को विजय किया एवं नागौर के शासक फिरोज खां[4] तथा गुजरात के शासक अहमदशाह को पराजित किया।[5] इस प्रकार मेवाड़ अपने प्रभाव को अपने आस-पास के राज्यों पर स्थापित करने में सफल रहा। इस चरण की मुख्य विशेषता मेवाड़ का अपने पड़ोसी राज्यों की तुलना में एक प्रभुत्वशाली राज्य के रूप में उभर रहा था। दिल्ली सल्तनत की स्थापना एवं उसकी शक्ति विस्तार की नीति ने भारत में पूर्व स्थापित शक्ति-संतुलन के सिद्धांत को परिवर्तित कर दिया था। दिल्ली जहॉ नवीन वंश की स्थापना की वजह से स्वंय को स्थायित्व प्रदान करने में उलझी हुई थी वहीं दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों के विस्तारवादी नीति के

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 225

2 राजरत्नाकरमहाकाव्य, पृ.213

3 दीपंग कुल प्रकाश, पृ. 158

4 श्रृंगि ऋषि लेख, एकलिंगजी दक्षिण द्वार प्रशस्ति,ओझा 244

5 वीर विनोद, भाग 1, पृ. 315

चलते मालवा, गुजरात एवं राजपूताने के पूर्व में स्थापित शक्तिशाली वर्षों का स्थान अन्य वर्षों ने ले लिया। जहाँ मालवा एवं गुजरात में मुस्लिम वंश की स्थापना हुई वहीं राजपूताना में चौहान जैसे शक्तिशाली वंश का अवसान हो गया। मालवा एवं गुजरात में नवस्थापित वंश अपनी आंतरिक समस्याओं में उलझे रहने की वजह से अपने पड़ोसी राज्यों के प्रति आक्रमक नीति का प्रयोग नहीं कर सके। यह स्थिति मेवाड़ के सिसोदिया वंश के लिए लाभदायक रही जिसकी वजह से वे पड़ोसी राज्यों को जीत कर अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर सकें। इस चरण में मेवाड़ के शासक मेवाड़ की मुख्य भूमि पर अपनी स्थिति को दृढ़ बनाते है तभी इस समय जीलवाड़ा, मांडलगढ़, जहाजपुर एवं बदनोर की विजय देखने को मिलती है। इसके बाद राजपूताना के अंतगर्त आने वाले पड़ोसी राज्यों के बीच के संबंध। मेवाड़ राज्य निर्माण के अवस्था से उपर उठकर अब विजिगीषु राज्य के रूप में दिखाई देता है। मेवाड़ जालौर, सांभर, नागौर और जयपुर के समीप स्थित टोडा आदि राज्यों पर मेवाड़ ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त महाराणा लाखा द्वारा पुष्कर स्थित वराह मंदिर में तुलादान किया एवं अजमेर जिलें में स्थित बांधनवाड़ा गांव को एकलिंगजी के भोग के लिये भेंट किया जो यह बताता है कि अजमेर पर भी मेवाड़ के शासकों का प्रभाव था।[1]

दूसरे चरण में मेवाड़ इतना सक्षम हो गया था कि अब वह राज्य निर्माता कि भूमिका में आ गया था। इस समय राजपूताना में दो नए राज्यों का निर्माण होता है जो भविष्य में राजपूताना कि मुख्य रियासतें बनती है - मारवाड़ एवं हाड़ौती। हाड़ौती के संस्थापक देवीसिंह हाड़ा महाराणा हम्मीर के अधीन थे तथा उनकी सहायता से ही हाड़ौती में नए राज्य की स्थापना करते है। दूसरा मारवाड़ यद्यपि ये पहले से स्वतंत्र रूप से स्थापित हो गया था किंतु रणमल से पूर्व तक ये स्थानीय संघर्ष में ही उलझे हुए थे। रणमल के शासन काल में ही मारवाड़ एक मजबूत राज्य के रूप में अपनी पहचान बनाता है। रणमल नाडौल, जैतारण तथा सोजत पर अधिकार कर लेता है। रणमल का पुत्र जोधा ही जोधपुर बसाता है। ये दोनों राज्य लंबे समय तक मेवाड़ के अधीन रहते है तथा उसको संकट काल में

1 ओझा, 247, एकलिंग महात्म्य

यथोचित सहायता भी प्रदान करते है। इस समय वैवाहिक कूटनीति भी बेहद महत्वपूर्ण रहती है। मेवाड़ के शासक हाडा शासकों से वैवाहिक संबंध स्थापित करते है। इसमें हम्मीर एवं क्षेत्रसिंह का विवाह हाड़ा वंश में होता है। राठौडों के साथ स्थापित वैवाहिक संबंध यहाँ सबसे महत्वपूर्ण संबंध होकर उभरते है। जिस प्रकार मेवाड़ शासक राठौड़ शासकों के विकट काल में महत्वपूर्ण सहायक बनते है उसी प्रकार राठौड़ शासक मेवाड़ वंश के संकट काल में अपनी महत्वपूर्ण सेवाएं प्रदान करते है। मोकल कि नागौर, जहाजपुर, गुजरात, सांभर विजय में रणमल महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।[1]

मेवाड़ राज्य निर्माण का तीसरा चरण

मेवाड़ राज्य अपने विकास की तीसरी अवस्था में प्रवेश करता है। इस समय मेवाड़ अपनी बुलंदियो पर पहुँच जाता है। विकास की इस अवस्था में महाराणा कुंभा, महाराणा रायमल, युवराज पृथ्वीराज एवं महाराणा सांगा जैसे वीर एवं पराक्रमी शासक होते है। जिनके समय में मेवाड के पड़ोसी एवं चिर-प्रतिद्वंद्वि राज्यों के संबंध नए आयाम स्थापित करते है। इस समय जब मेवाड़ नित नई बुलंदियों को छू रहा था तो साथ ही उसे तीन अलग-अलग स्तर पर भिन्न-भिन्न चुनौतियों का भी सामना करना पड़ रहा था। बाह्य शत्रु के रूप में मालवा, गुजरात एवं नागौर का राज्य था। राजपूताना अर्थात् राजस्थान में मेवाड़ के आसपास के राज्यों से संघर्ष मोकल के अंतिम दिनों में मेवाड़ की कमजोर स्थिति को देखकर आसपास के राज्यों ने मेवाड़ के कई भागों पर कब्जा कर लिया था। इस चरण का सबसे कठिन दौर यहाँ पर होने वाला आंतरिक संघर्ष का था और मेवाड़ वंश की सबसे बड़ी उपलब्धि घरेलु कलह से सफलतापूर्वक उबरने में थी। अगर इस समय मेवाड़ में अगर कोई भी अयोग्य शासक उत्पन्न हो जाता तो यह दौर मेवाड़ के उत्कर्ष का अंतिम दौर सिद्ध होता। मेवाड़ राजघराने में 15वीं शताब्दी के चौथे दशक से छल एवं षड्यंत्र का जो दौर प्रारंभ हुआ वह 1433 से 1536 तक चला अर्थात् पूरे 103 वर्ष। इस काल में कुल छः महाराणा शासक

1 विश्वेश्वर नाथ रेउ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 83

बनते है जिसमें से पाँच महाराणा की हत्या कर दी जाती है। 1433 ई. में महाराणा मोकल अपने पितामह के पासवानियों के पुत्रों चाचा व मेरा द्वारा मारा गया[1] तो 1468 ई. में महाराणा कुंभा अपने पुत्र उदा के अंधसत्ता मोह का शिकार हुआ, तो 1527 ई. में महाराणा सांगा की विष देकर हत्या कर दि गई। रानी कर्मावती के द्वारा रणथंभौर की मांग के बाद हाड़ा एवं महाराणा रत्नसिंह के बीच जो वैमनस्य उत्पन्न हुआ इसकी चरम परिणिति 1531 ई. में सुरजमल हाड़ा एवं महाराणा रत्नसिंह के बीच हुए संघर्ष में रत्नसिंह की मृत्यु के साथ हुई। यह गृह कलह यही पर समाप्त नहीं हुआ बल्कि उस दौर में चला गया जहाँ सिसोदिया कुल का नाश ही होने वाला था। पृथ्वीराज के पासवानिये पुत्र बणवीर ने सत्ता पर अपना अधिकार जमाने की चाह में सिसोदिया कुल का नाश करने का प्रयत्न किया 1536 ई. महाराणा विक्रमादित्य कि हत्या[2] कर दी तथा राजकुमार उदयसिंह की हत्या का भी प्रयत्न किया किंतु स्वामीभक्त पन्नाधाय की वजह से सफल न हो सका। छल एवं षड्यंत्र के काल में मेवाड़ के योग्य उत्तराधिकारी व सामंतों ने अपने प्राणों को संकट में डाल कर भी मेवाड़ कुल का नाश नहीं होने दिया उसे बनाए रखा ये मेवाड़ को अन्य राज्यों से पृथक करता है।

महाराणा मोकल की हत्या के बाद कुम्भा मेवाड़ के महाराणा बने। कुम्भा के शासक बनने के बाद उनके समक्ष कई आंतरिक एवं बाह्य समस्याएँ थी जिनका उन्हें सामना करना था। उन्हें चाचा व मेरा द्वारा उत्पन्न किए गए गृह कलह से निपटना था तो दूसरी ओर मोकल के अंतिम दिनों में राज्य की कमजोरी का फायदा उठाकर आसपास के राज्यों ने मेवाड़ की भूमि पर कब्जा कर लिया था, उसे पुन: पाना था। सिरोही के राव और बून्दी के राजा दोनों मेवाड़ विरोधी हो गये थे। सिरोही वालों ने गोड़वाड का इलाका दबाना शुरु कर दिया था और बून्दी वालों ने मांडलगढ़ तक का इलाका छीन लिया था। फिरोज ने भी अजमेर तक का भाग ले लिया था।[3] बाह्य शत्रु के रूप में मालवा, गुजरात एवं नागौर के मुस्लिम

1 नैणसी की ख्यात, भाग 1, पृ. 58

2 राजरत्नाकर महाकाव्य, पृ. 265

3 राम वल्लभ सोमानी, महाराणा कुम्भा, पृ. 30

राज्य मौजुद थे। कुंभा ने सबसे पहले आंतरिक समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और गृह कलह से जो मेवाड़ में अस्थिरता उत्पन्न हो रही थी उसे दूर करने का प्रयास किया, क्योंकि बिना आंतरिक समस्या के समाधान के बाहरी शत्रुओं का सामना करना संभव नहीं था। इस समय मालवा का शासक स्वंय अपनी आंतरिक समस्याओं में व्यस्त था। शासन के प्रारंभिक वर्षों में आंतरिक विद्रोह का सामना करना पड़ रहा था तथा गुजरात के शासक अहमदशाह के आक्रमण का भी डर था[1] जिस वजह से भी वह मेवाड़ के अस्थिरता के दौर में हमला कर राजनीतिक लाभ प्राप्त नहीं कर सका।

कुंभा ने सर्वप्रथम मारवाड़ के रणमल की सहायता से अपने पिता के हत्यारे चाचा व मेरा का दमन किया तथा रणमल की सहायता से मेवाड़ के शासन प्रबन्ध का दुरूस्त किया।[2] प्रथम समस्या का समाधान हुआ ही था कि दूसरी समस्या स्वयं रणमल बन गया उसके द्वारा मेवाड़ पर अपना आधिपत्य जामाने का प्रयास किया जा रहा था। रणमल ने मौका पाकर अपने महत्वपूर्ण शत्रु एवं योग्य सिसोदिया राघवदेव की हत्या कर विवाद को बढ़ा दिया इस समय कुंभा ने चूंडा को मेवाड़ बुलाकर रणमल की हत्या कर राठौड़ों के बढ़ते प्रभाव हो समाप्त कर दिया।[3]

चाचा, मेरा व रणमल के बाद कुंभा का भाई खेमा या क्षेमकर्ण या खींवा एक नई समस्या के रूप में उभरा। खेमा स्वयं राणा बनना चाहता था इसके लिए वह मालवा सुल्तान की शरण में भी जाता है।[4] खेमा सादड़ी पर अधिकार कर लेता है किंतु कुंभा उसे सादड़ी से निकाल देते है तब वह मालवा सुल्तान की सहायता से मेवाड़ पर अधिकार करने का प्रयास करता है।[5] गृह कलह को सुलझाने के बाद कुंभा सर्वप्रथम उन क्षेत्रों पर अपना अधिकार पुन: स्थापित करते है जो मोकल के काल में मेवाड़ से निकल गए थे। इस संदर्भ में कुंभा का पहला

1 Day, Upendra Nath. Medieval Malwa. P. No. 169

2 नैणसी की ख्यात, भाग 1, पृ. 28; मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 84,

3 मेवाड़ रावल राणाजी री बात, पृ. 30, वीर विनोद, भाग 1 पृ. 323

4 राजेंद्र शंकर भट्ट, महाराणा कुंभा, पृ. 19

5 Medieval Malwa, P. No. 172

अभियान उत्तर दिशा की ओर किया यद्यपि उसे दिल्ली सल्तनत से उतना भय नहीं था जितना कि मालवा और गुजरात से। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए उसने योजना बनाई। सबसे पहले दिल्ली की शक्ति की तुलना में अपने राज्य की उत्तरी सीमा को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया इसके तहत पहला अभियान मांडलगढ़ के विरूद्ध हुआ। हाड़ाओं को पराजित कर मांडलगढ़ को अपने अधीन कर लिया। मांडलगढ़ की विजय के बाद कुंभा ने जहाजपुर, बिजोलिया, अमरगढ़ और बमबावदा मेवाड़ में फिर से शामिल कर लिया। मेवाड़ का यह पूर्वी पठार इसके बाद स्थाई रूप से मेवाड़ का हिस्सा बन गया। मादडेचा के स्वामी मुनीर को मार कर मेरों को काबू में किया।[1] वहाँ टोडा के राव सुल्तान को वहाँ नियुक्त कर सुरक्षा व्यवस्था को पुष्ट करने के लिए बदनोर के परकोटे का निर्माण करवाया।[2] कुंभा अपनी आंतरिक समस्या को सुलझाने के बाद मोकल के समय में जो राज्य स्वतंत्र हो गये थे उन्हें पुन: जीतने की नीति अपनाते है। कुंभा कि रणनीति को देखते है तो प्रतित होता है कि अब कुंभा की नीति स्वंय को मेवाड़ तक सीमित रखने की नहीं थी अपितु मेवाड़ से आगे बढ़ संपूर्ण राजस्थान को अपने अधीन करने जैसी महत्वकांक्षापूर्ण नीति थी। उपेन्द्रनाथ डे राणा कुंभा की नीति को परिभाषित करते हुए कहते है कि "राणा कुंभा के साथ ही चित्तौड़ की नीति में बदलाव आता है। राणा कुंभा मेवाड़ और मालवा की सीमा पर स्थित राजपूत राज्यों तथा हाड़ौती एवं दसौर जैसे राज्य जिन्होंने होशगंशाह की अधीनता स्वीकार कर ली थी ऐसे राज्यों पर अपनी संप्रभुता स्थापित करने पर जोर देते है।"[3]

तत्कालीन मेवाड़ के आसपास कि स्थिति पर नजर डाले तो पता चलता है कि उस समय सिरोही व बूंदी के राजा मोकल के अंतिम दिनों में मालवे के सुल्तान के अधीनस्थ हो गये थे और गागरोण के युद्ध में उसे सहायता दी थी। डूंगरपुर के महारावल गइपा या गोपीनाथ ने मेवाड़ के दक्षिणी भाग को जिसमें जावर सम्मिलित है मेवाड़ से छीन लिया। पूर्वी राजस्थान में मुसलमानों की

---

1 अमरकाव्यम्, पृ. 160

2 वही, पृ. 162

3 Medieval Malwa, P. No. 169

शक्ति बढ़ती जा रही थी। महुवा, हिंडौन, रणथंभौर, बयाना, टोड, नरेना, चाटसू, आमेर आदि को अपने अधीन करने का प्रयास कर रहे थे।[1] सर्वप्रथम अपने पड़ोसी राज्यों को जीतने की नीति का अनुसरण करते हुए कुंभा सिरोही, डूंगरपुर एवं बूंदी को विजय करते है। कुंभा को मेवाड़ के अस्तित्व को बनाए रखने हेतु यह अतिआवश्यक था कि वह जल्द से जल्द अपनी शक्ति में वृद्धि करने के साथ ही अपनी सीमाओं को सुरक्षित करे क्योंकि मालवा एवं गुजरात जैसे शक्तिशाली एवं साम्राज्यवादी राष्ट्र उसके पास ही स्थित थे। मालवा का शासक मुहम्मद खिलजी एक महत्वकांक्षी सुल्तान था जो अपने साम्राज्य का विस्तार हेतु प्रयत्नशील था। वाकेआते मुश्ताकी एवं तारिखे फरिश्ता में उल्लेख मिलता है कि मुहम्मद खिलजी ने अपने साम्राज्य के विस्तार हेतु दिल्ली पर आक्रमण किया[2] किंतु वहाँ उसे कोई खास सफलता नहीं मिली। मुहम्मद खिलजी ने पूर्व की ओर भी साम्राज्य विस्तार का प्रयास किया शर्की राज्य[3] एवं दक्कन में आदिलशाही[4] राज्य पर भी हमला किया किंतु यहाँ विशेष सफलता न मिलने से अब उसके राज्य की सीमाओं के विस्तार की संभावनाएं मेवाड़ की तरफ थी। इसी प्रकार मालवा एवं गुजरात जैसे विस्तारवादी राज्यों के बीच स्थित मेवाड़ की स्थिति का वर्णन करते हुए डॉ. दशरथ शर्मा कहते है कि "मेवाड़ कुम्भा के राज्यारोहण के समय दो भीमकाय राक्षसी जबड़ों के बीच पड़े किसी जन्तु का सा था। उस पर किसी भी समय एक साथ दोनों ओर से आक्रमण हो सकता था और वह भी इस ढंग से कि कोई हिन्दू राजा सहायता नहीं कर सके।" कुंभा अपनी आंतरिक समस्याओं को निपटाकर अपने पड़ोसी राज्यों पर ध्यान देता है। गुजरात से होने वाले आक्रमण के प्रतिरोध तथा गोडवाड जो पहले से मेवाड़ के अधीन था उसकी सुरक्षा हेतु बसंतगढ़ एवं आबू का मेवाड़ में शामिल होना आवश्यक था।[5] सिरोही के शासक ने मेवाड़ के आंतरिक अशांति का लाभ उठाते हुए मेवाड़ के कोटड़ा परगने पर अधिकार कर

---

1 राम वल्लभ सोमानी, महाराणा कुम्भा, पृ. 59

2 मुहम्मद कासीम फरिश्ता, पृ. 493, तैमुर कालीन भारत, सैय्यद अहतर अब्बास रिजवी, पृ. 93

3 तारिखे फरिश्ता, पृ. 499

4 वही, पृ. 508

5 राम वल्लभ सोमानी, महाराणा कुम्भा, पृ. 81

लिया था अत: कुंभा सुरक्षा के पहलू तथा पड़ोसी राज्य को अपने प्रभाव में रखने हेतु उसकी उद्‌ण्डता का दण्ड देना भी आवश्यक था। कुंभा डोडिया नरसिंह के नेतृत्व में सेना भेज कर आबू पर अधिकार कर लेता है।[1] यहाँ सिरोही का महत्व केवल गुजरात आक्रमण के समय अवरोधक के रूप में ही नहीं था बल्कि कुंभा की भविष्य की योजना जो नागौर और मारवाड़ विजय की थी उसमें भी आबू का प्रान्त सैनिक संरक्षण का करता।[2]

सिरोही के समान डूंगरपुर ने भी अशांति का लाभ उठाते हुए जावर के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। कुंभा के लिए डूंगरपूर को अपने प्रभाव में लाना आवश्यक था क्योंकि ये गुजरात एवं मेवाड़ के मध्य में होने से शत्रु के आक्रमण के समय एक अवरोधक का कार्य करता था। अत: रावल गोपीनाथ (गैपाल) के समय कुंभा ने डूंगरपुर पर चढ़ाई कि थी जिसकी जानकारी कुंभलगढ़ प्रशस्ति से भी मिलती है। डूंगरपुर पर कुंभा द्वारा चढ़ाई करने के संदर्भ में गौरीशंकर हीराचंद ओझा का भी मानना है कि डूंगरपुर पर गुजरात के बढ़ते प्रभाव को देखकर कुंभा ने चढ़ाई कि।[3] पश्चिमी सीमाओं को सुरक्षित कर कुंभा ने पूर्वी सीमा पर ध्यान दिया। पूर्वी सीमा पर बूंदी राज्य स्थित था। कुंभा के समकालीन बूंदी राज्य के शासक वैरीशाल एवं भाण थे।[4] जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि कुंभा आंतरिक विजय के क्रम में बूंदी के हाड़ाओं से मांडलगढ़ व जहाजपुर छिन लेते है। इसके बाद मालवा शासकों के प्रभाव में जो हाड़ा शासक होते है उनके प्रभाव से मुक्त कर अपना करद राज्य बनाने हेतु कुंभा चढ़ाई करता है। बूंदी को जीत कर उसे अपना करद राज्य बना कर कुंभा पुन: चित्तौड़ आ जाता है।[5]

मेवाड़ का राज्य कुंभा के समय तीन ओर से मुस्लिम राज्यों से घिरा था जो कि तीनों ही अपने साम्राज्य की सीमाओं में विस्तार करने को उत्सुक थे। अत: ऐसे राज्यों से मेवाड़ का संघर्ष अवश्यंभावी था। उत्तर में नागौर पर फिरोज

---

1 सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 195

2 गोपीनाथ, राजस्थान का इतिहास, पृ. 181

3 ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ. 66

4 बूंदी राज्य का इतिहास, पृ. 51

5 वीर विनोद, भाग 1, पृ. 330, अमरकाव्यम्, पृ. 162

खां का शासन था तो गुजरात पर कुतुबुद्दीन का और मालवा पर मुहमद खिलजी का एवं दिल्ली में सैय्यद वंश का। तैमुर के आक्रमण के बाद दिल्ली सल्तनत की कमजोरी का फायदा उठाकर क्षेत्रीय क्षत्रपों ने स्वंय की स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर दी। अत: मेवाड़ के समीप स्थापित राज्यों में मालवा एवं गुजरात प्रमुख थे। प्रारंभ में गुजरात एवं मालवा के संबंध साम्राज्यवादी नीतियों के कारण मधुर नहीं थे। गुजरात नागौर पर अपना प्रभाव जमाएं हुए था। मालवा के शासक होशगंशाह ने गुजरात पर कई बार चढ़ाई कि थी अत: नागौर को लेकर एवं साम्राज्य विस्तार को लेकर इनमें संघर्ष होता रहता था। मालवा का शासक मुहमद खिलजी भी एक महत्वकांक्षी शासक था जिसने दिल्ली पर भी आक्रमण किया था। अत: नागौर, गुजरात एवं मालवा के त्रिकोण में मेवाड़ फंसा हुआ था।

महाराणा कुंभा प्रारंभ के सात वर्ष तक किसी भी विवाद में फंसने से बचता है तथा घरेलु व आंतरिक समस्याओं का समाधान कर स्वंय की स्थिति को मजबूत करता है। मालवा का शासक महमूद खिलजी एवं गुजरात के शासक को मेवाड़ पर आक्रमण करने हेतु कुंभा का भाई खेमकर्ण उकसाता है और वे मेवाड़ को जीतने का प्रयास करते है। कुंभा मालवा के शासक एवं गुजरात के शासक को पराजित करने में सफल रहता है। ये कुंभा की महत्वपूर्ण उपलब्धि साबित होती है। जब मालवा का शासक कुंभा को पराजित करने में सफल नहीं हो पाता है तो वह अपनी नीति में परिवर्तन करता है। कुंभा को पराजित करने हेतु मेवाड़ के घेरेबंदी की नीति को अपनाता है। मुहमद खिलजी मंदसौर, रणथंभौर, गागरोण को जीतने का प्रयास करता है। हरविलास शारदा का मानना है कि कुंभा का ध्यान भटकाने तथा कुंभा कि शक्ति को बांट कर कमजोर करने हेतु मुहमद खिलजी एक ओर तो मंदसौर तो दूसरी ओर अजमेर पर आक्रमण करता है[1] अर्थात् निश्चय ही ये दोनों प्रदेश मेवाड़ की सीमा पर स्थित होने से कुंभा इनकी सुरक्षा के समुचित प्रबंध के लिए अवश्य चिंतित होगा। एक ओर तो मांडलगढ जो अजमेर के पास स्थित है तो दूसरी ओर मंदसौर जो चित्तौड़ के समीप स्थित है। इसी प्रकार गुजरात का नागौर पर प्रभाव था अत: मेवाड़ उत्तर, पूर्व एवं दक्षिण

1 Medieval History of Malwa. P. No. 185

सभी तरफ से घिरा हुआ था। मालवा मेवाड़ को घेरने के अतिरिक्त गुजरात एवं मालवा के संयुक्त गठबंधन का भी निर्माण करते है। दोनों मिलकर कुंभा पर आक्रमण करना निश्चित करते है। समझौते के अनुरूप सुल्तान कुतुबुद्दीन पश्चिम से तथा सुल्तान मुहमद खिलजी दक्षिण से मेवाड़ पर आक्रमण करते है। किंतु कुंभा इन समस्त कुटनीतिज्ञ प्रयासों का जवाब कुटनीति तरीके से ही देता है।[1] कुंभा ने जहाँ गुजरात की सेना को पहाड़ों में फंसाकर उसके हौसले पस्त कर दिये थे तथा वहीं शेष उत्साह कुंभलगढ़ जैसे अभेद्य दुर्ग को फतह करने में क्षीण हो गया।[2]

ई. 1456 व 1457 का वर्ष कुंभा के लिए बेहद कठिन समय था इस समय सब कुछ कुंभा के विरूद्ध जा रहा था पर सबसे महत्वपूर्ण बात कुंभा का इस कठिन समय से उबरना था। गुजरात के आक्रमण के समय आबू का शासक उसके साथ था।[3] दूसरा मुहमद खिलजी के आक्रमण के समय बूंदी खिलजी के प्रभाव में आ गया था तथा कुंभा ने मांडलगढ़ हाड़ा शासकों से लिया था अत: हाड़ा शासकों की कोई सहानुभूति कुंभा के साथ नहीं थी। इस समय चल रहे मेवाड़ एवं मारवाड़ संघर्ष ने भी कुंभा की शक्ति को क्षीण किया।[4] अत: संभव है कि इस समय मुहमद खिलजी मांडलगढ़ को विजय कर लिया हो।[5] पर यह सब कुंभा की कुटनीति का ही हिस्सा था। यहाँ कुंभा कुछ खोकर बहुत कुछ बचाने की कूटनीति पर कार्य कर रहे थे। इस समय परिस्थितियाॅ सभी तरफ से पूर्णतया प्रतिकूल थी ऐसे समय में कुंभा ने मांडलगढ़ को शत्रुपक्ष के पास जाने देकर कुंभलगढ़ एवं चित्तौड़ को बचाया था। मांडलगढ़ विजय करने के बाद महमूद खिजली द्वारा चित्तौड़ एवं कुंभलगढ़ पर आक्रमण न करना यह भी बताता है कि शत्रु इतना सक्षम नहीं था कि वह मेवाड़ की मुख्य भूमि को जीते। संभवत: यहीं

1 वीर विनोद, भाग 1, पृ. 329

2 राजेन्द्र शंकर भट्ट, महाराणा कुंभा, पृ. 91

3 J.W. Watson. history of Gujrat. P. No. 33; सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 197

4 पं. विश्वेश्वर नाथ रेउ लिखते है कि नारलोई गोडवाड़ प्रांत में कुंभा एवं जोधा के मध्य संघर्ष 1456 ई. में हुआ तथा इसके बाद ही इनमें आवंल बावल की संधि हुई। मारवाड़ का इतिहास पृ. 96

5 तारिखे फरिश्ता, पृ. 506

विश्वास कुंभा को भी होगा तभी उन्होंने मांडलगढ़ की सहायता हेतु न सेना भेजी न स्वंय गए।[1]

जब मालवा, गुजरात एवं नागौर से संघर्ष हो रहा था तो सर्वप्रथम कुंभा ने अपने पड़ोसी राज्यों को अपने प्रभाव में रखने के साथ ही उन्हें शत्रु आक्रमण के दौरान सैनिक सहायता उपलब्ध करवाई। मालवा के गागरोण हमले के दौरान कुंभा ने वहाँ सैनिक सहायता भेजी थी। कुंभा ने नागौर व मालवा के उत्तराधिकारी मामले में हस्तक्षेप का प्रयास किया यहाँ कुंभा का सक्रिय रहना बेहद आवश्यक था। कुंभा अगर मालवा एवं नागौर के उत्तराधिकारी बनने का दावा पेश करने वालों को अगर शासक बनाने में सफल हो जाता तो यहाँ से आक्रमण की संभावना समाप्त हो जाती एवं आर्थिक लाभ भी होता। नागौर के मामले में यह इसलीए भी आवश्यक था क्योंकि मेवाड़ नागौर एवं गुजरात के मध्य फंसा हुआ था, नागौर के शासक गुजरात के शासक के अधीन थे।[2] किंतु शम्स खां द्वारा की गई वादा खिलाफी[3] करने के कारण कुंभा की नागौर के संदर्भ में रणनीति असफल रहती है।

कर्नल टॉड लिखता है कि कुंभा ने मेवाड़ के 84 दुर्गों में से 32 दुर्गों का निर्माण करवाया था।[4] ये तत्कालीन समय में मेवाड़ के आसपास शक्तिशाली शत्रुओं की उपस्थिति तथा मेवाड़ की सुरक्षा व्यवस्था को इंगित करता है। कुंभा की रणनीतिक कुशलता को बताता है। कुंभा की विजयों पर रणकपुर एवं कुंभलगढ़ प्रशस्ति प्रकाश डालती है, इनके तहत कुंभा ने बूंदी, डूंगरपुर, चाकसू, मालपुरा, नागौर, रणथंभौर, सिरोही, आबू, मांडलगढ़, अजमेर, टोडा को विजित किया तथा अमरकाव्यम् से जानकारी मिलती है कि डीडवाणा की नमक खान से कर लिया, सपादलक्ष (सांभर), जैसलमेर, बाड़मेर, सिद्धपुर पाटन को जीता।[5] इन विजय के संदर्भ में गोपीनाथ शर्मा का कथन उपयुक्त प्रतित होता है कि "हो सकता है कि

1 Medieval History of Malwa. P.No. 190

2 J.W. Watson. history of Gujrat. P. No. 27

3 वीर विनोद, भाग 1, पृ. 326, तारिखे फरिश्ता, पृ. 354

4 Annals and Antiquitites of Rajasthan. Vol 1. P.No. 231

5 अमरकाव्यम्, पृ. 162

प्रशस्तिकार ने इन विजयों में कुछ वे विजयें सम्मिलित कर ली हों जो उसकी विजय की योजना के अन्तर्गत थीं या जिन पर उसने केवल मात्र राजनीतिक प्रभाव ही स्थापित किया था। परन्तु इन विजयों में अधिकांश वे विजयें सम्मिलित हैं जिनको उसने अपने राज्य का भाग बना लिया था। इन विजयों से उसे धन और जन की प्राप्ति हुई और उसकी शक्ति में परिवर्धन हुआ।[1] कुंभा ने बूंदी, चाकसू, मालपुरा, आमेर, नरवर, नरायना, डूंगरपुर और सारंगपुर को जीतकर पुन: उसके शासकों को लौटा दिया।[2] इस प्रकार कुंभा ने धर्म विजय की नीति का अनुसरण कर तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार एक व्यवाहरिक नीति का परिचय दिया। इस समय कुंभा को विस्तृत राज्य के अपेक्षा मैत्री राज्यों एक संगठन तथा शत्रु राज्यों के बीच एक अवरोधक की ज्यादा जरूरत थी। कुंभा की नीति इसी के अनुकूल थी।

महाराणा रायमल के समय आंतरिक संघर्ष एवं गृह युद्ध जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी। एक ओर महाराणा कुंभा कि हत्या ज्येष्ठ पुत्र उदा करता है, जिससे मेवाड़ में आंतरिक संघर्ष उत्पन्न होता है। दूसरा महाराणा रायमल के ही पुत्रों के मध्य पिता के जीवित रहते हुए मेवाड़ का राज सिंहासन पाने के लिए संघर्ष प्रारंभ हो जाता है। उपर्युक्त गतिविधियां मेवाड़ कि स्थिति को कमजोर करती है। पितृहंता उदा द्वारा कि गई कुंभा कि हत्या एक अक्षम्य अपराध था जिसका औचित्य भी सिद्ध नहीं किया जा सकता था। कुंभा की हत्या से मेवाड़ के सामंत उदा के विरोधी बन गए अत: अपने इस घृणात्मक कृत्य को लोभ एवं लालच से छिपाने का प्रयास करता है। इसके तहत वह आसपास के पड़ोसी राज्यों को अपनी ओर मिलाने का प्रयास करता है, सिरोही के देवड़ा शासकों को स्वतंत्र कर आबू सौंप देता है[3] तथा राव जोधा को उत्पात मचाने से रोकने के लिए तारागढ़ का सुप्रसिद्ध दुर्ग एवं सांभर का क्षेत्र प्रदान किया।[4] इसके सब के बावजूद

---

1 राजस्थान का इतिहास, गोपिनाथ शर्मा, पृ.181

2 राजेन्द्र शंकर भट्ट, महाराणा कुंभा, पृ. 48

3 वीर विनोद, भाग 1, पृ. 336, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 286

4 मारवाड़ का इतिहास, पृ. 103, Har Bilas Sarda. Maharana Kumbha. P.No. 17

वह सहायता एवं सम्मान पाने में असफल रहता है। चूंडा के पुत्र कांधल के नेतृत्व में सामंतों की सहायता से रायमल उदा को पराजित कर महाराणा बनने में सफल रहते है। पराजित होकर उदा मालवा के सुल्तान की शरण में जाता है तथा मालवा को मेवाड़ आक्रमण के लिए उकसाता है। मालवा सुल्तान गयासशाह उदा के पुत्रों को लेकर मेवाड़ पर हमला करता है इसका उल्लेख एकलिंगजी कि दक्षिण द्वार प्रशस्ति में भी मिलता है।[1] गयासशाह का पुत्र नासिरशाह फिर मेवाड़ पर चढ़ाई करता है किंतु विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर पाता है।[2]

इस समय गुजरात अपने स्वंय के आंतरिक संघर्ष में उलझा हुआ था। सुल्तान कुतुबुद्दीन की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार की समस्या आती है। पहले सुल्तान कुतुबुद्दीन के चाचा दाउद शाह फिर मुहम्मदशाह बेगड़ा शासक बनते है।[3] शासक बनने के बाद मुहम्मदशाह बेगड़ा सर्वप्रथम गुजरात में ही मुस्लिम राज्य की सत्ता के विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण पर जोर देता है। पुर्तगालियों से भी उसका संघर्ष चल रहा होता है।[4] संभवत: यहीं वजह होती है कि वह इस समय मेवाड़ पर अपना ध्यान नहीं दे पाता है। मुहम्मद बेगड़ा राजस्थान की ओर ध्यान केवल उसी समय देता है जब आबू के शासक द्वारा गुजरात सामान ला रहे व्यापारियों का माल लूट लिया जाता है। यह मामला भी उसी समय समाप्त हो जाता है जब आबू के शासक जगमाल वह माल पुन: लौटा देते है।[5] रायमल के अपने पड़ोसी राज्यों के साथ संबंध अच्छे थे। इसका उदाहरण हमें उदा से हुए संघर्ष के दौरान मिलता है। श्यामलदास के अनुसार उदा से संघर्ष के समय रायमल की सहयतार्थ बागड़, छप्पन, मारवाड़, खैराड़ और बूंदी के शासक आए थे।[6] बूंदी के शासक नारायणदास ने न केवल उदा के विरूद्ध अपितु मालवा के शासक विरूद्ध भी मेवाड़

1 Medieval History of Malwa. P.No. 224; उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ., 289, वीर विनोद, भाग 1, पृ. 342

2 अमरकाव्यम्, पृ. 179

3 तारिखे-फरिश्ता, पृ. 358, History of Gujarat. P.No. 83

4 फरिश्ता 382

5 सिरोही, ओझा 201

6 वीर विनोद, 337

की सहायता कि थी।[1] मेवाड़ में इस समय कुंवर पृथ्वीराज जैसे आक्रमक योद्धा होने की वजह से मेवाड़ के वे क्षेत्र जो अस्थिरता के काल में हड़प लिये गए थे उन्हें पुन: प्राप्त कर लिया गया। पृथ्वीराज गोडवाड[2] व अजमेर[3] पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते है। सिरोही के शासक को भी अपनी बहन को परेशान करने के कारण दंडित किया किंतु उसी के द्वारा जहर देने से पृथ्वीराज के मृत्यु हो गई।[4] रायमल के पुत्र जयमल एवं पृथ्वीराज की मृत्यु के बाद संग्रामसिंह महाराणा बनते है। रायमल के समय फैली अव्यवस्था के कारण मेवाड़ कि स्थिति कुछ कमजोर होती है। परन्तु यह मेवाड़ की बाह्य प्रतिष्ठा को समाप्त न कर सकी। इस समय भारतीय राजनीति में कोई भी सुदृढ़ केन्द्रीय शक्ति नहीं थी जो विकेन्द्रित शक्तियों को एकत्रित कर एक सुदृढ़ केन्द्रीय राज्य स्थापित कर सकें।[5] भारत कि राजनीतिक परिस्थितियां मेवाड़ के अनुकूल थी तथा राजकुमार पृथ्वीराज जैसे अद्भुत वीर एवं पराक्रमी योद्धा के नेत्तृव में मेवाड़ पुन: एक शक्तिशाली राज्य के रूप में उभरता है। मेवाड़ के इसी उत्कर्ष के दौर में सांगा महाराणा बनते है। महाराणा सांगा के समय मेवाड़ राज्य की सीमाएं सर्वाधिक विस्तृत होती है। महाराणा सांगा के समय गुजरात का शासक मुजफ्फरशाह[6] एवं मालवा का शासक शासक नासीरूद्दीन मुहम्मद खिलजी द्वितीय[7] था। दिल्ली का शासक सांगा के राज्याभिषेक के समय सिकंदर लोदी था बाद में इब्राहिम लोदी बना जिससे सांगा का संघर्ष हुआ। अजमेर के चौहानों के पतन के बाद मेवाड़ राजपूताने के एक शक्तिशाली राज्य के रूप में उभरता है। हम्मीर के समय से मेवाड़ की शक्ति में वृद्धि होती है तथा राज्य विस्तार की जो प्रक्रिया प्रारंभ होती है। जो बाद में कुंभा के समय तक राजपूताना का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य बनकर उभरता है। इस

1 बूंदी राज्य 52
2 रावल राणा जी री वात 42
3 रावल, 44
4 टॉड 155
5 जगदीशसिंह गहलोत : मेवाड़ राज्य व केन्द्रीय शक्तियों, पृ. 7
6 तारिखे फरिश्ता, 387, बाबरनामा 316
7 Medieval History of Malwa. पृ. 267 ; बाबरनामा 316

समय हाड़ा मेवाड़ के अधीन थे और कछवाहों की राजनैतिक विषयों में किंचिन्तात्र भी पूछ नहीं थी। राठोड़ों का प्रसार अभी मंडोर के चारों ओर होना आरम्भ ही हुआ था।[1] सांगा के समय मेवाड़ राज्य विस्तार की यह प्रक्रिया अपने शिखर पर पहुँच जाती है।

मेवाड़ के महाराणाओं में सबसे प्रतापी योद्धा सांगा ही माने जाते है। इनकी सेना में एक लाख योद्धा और पाँच सौ हाथी थे।[2] सात बड़े-बड़े राजा, नौ राव और 104 रावत उनके अधीन थे। ग्वालियर, अजमेर, सीकरी, रायसेन, कालपी, चन्देरी, बूंदी, गागरौन, रामपुर और आबू के राजा उनके सामन्त थे। मारवाड़ एवं आमेर के राजा सहायक थे।[3] उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि समकालीन बाबर की पुस्तक बाबरनामा से भी होती है जिसमें बाबार पाँच मुस्लिम राज्य एवं केवल दो काफिर अर्थात् हिंदू राज्यों का वर्णन देता है। इसमें एक तो दक्षिण भारत का विजयनगर साम्राज्य था तो दूसरा राणा सांगा का।[4] निश्चय ही यह उत्तर भारत का सबसे शक्तिशाली राज्य होगा तभी बाबर ने सांगा का उल्लेख किया। जहाँ सांगा के पूर्व के शासक मालवा व गुजरात के संघर्ष में मेवाड़ के आस-पास के शासकों को अवरोधक के रूप में प्रयोग करने की नीति अपना रहे थे वहीं सांगा के समय इस नीति में परिवर्तन आता है। सांगा के समय आबू, अजमेर, बूंदी एवं गागरोण के शासक सामंत के रूप में मौजूद थे। सांगा के द्वारा अजमेर के कर्मचंद पंवार को अजमेर की जागीर प्रदान कि गई थी। इसके अतिरिक्त डूंगरपुर, मारवाड़ एवं जयपुर के शासक मेवाड़ के सहायक बने रहे। ईडर, गुजरात एवं मालवा संघर्ष में इन्होंने सहायता कि थी। राजपूताना के शासक मेवाड़ के सहायक थे जो मेवाड़ के ध्वज के नीचे लड़ते थे। दूसरा मेवाड़ की नीति अब सुरक्षात्मक न होकर के आक्रमणात्मक हो चुकी थी।

---

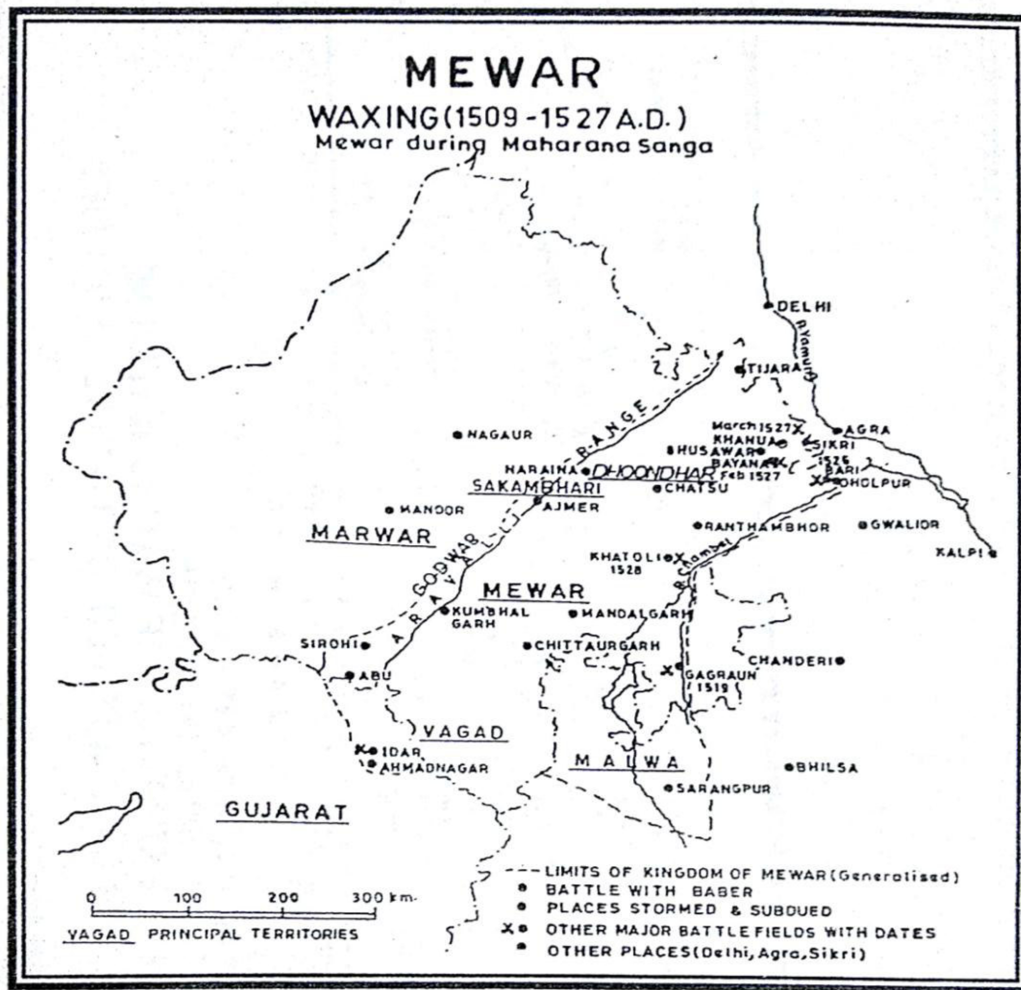
1 शारदा, सांगा, पृ. 42

2 असी सहस अरू एक लखु, सांगा संग सवारू।
एकनि यह परमिति कही, एकनि कहै अपारू।।225।।राणा रासो

3 Annals and Antiquities of Rajasthan. Vol.1. P.No. 240

4 बाबरनामा, पृ. 317

मानचित्र संख्या 2.1 : सांगा कालीन मेवाड़ की स्थिति



महाराणा सांगा अब कूटनीतिक रूप से सक्रिय थे अत: अपने प्रभाव में स्थित किसी भी पड़ोसी राज्य को शत्रु पक्ष में जाने नहीं दे सकते थे। सांगा की यह नीति ईडर राज्य में हो रहे संघर्ष के दौरान दिखाई देती है। ईडर के शासक भाण की मृत्यु के बाद वहाॅ उत्तराधिकारी संघर्ष प्रारंभ होता है। भाण का पुत्र भारमल सुल्तान मुजफ्फरशाह की शरण में चला जाता हैं तब सांगा अपने दामाद रायमल के पुत्र सूरजमल की सहायतार्थ ईडर के मामले में हस्तक्षेप करते है। इसके लिए गुजरात की सेना के साथ संघर्ष करते है।[1] अब सांगा का ध्यान केवल अपनी सीमाओं की सुरक्षा करना नहीं था जैसा कि महाराणा कुंभा ने किया था। हरविलास शारदा ने कुंभा की विदेश नीति की व्याख्या करते हुए कहा है कि

1 तारिखे फरिश्ता, पृ. 390

"कुंभा ने उतनी ही सैनिक कार्रवाई की जितनी उनके देश की सुरक्षा के लिए और अनुचित आचरण के वास्ते दंड के कर्तव्य के रूप में आवश्यक थी।" जबकि सांगा की नीति बदलाव आ चुका था। सांगा ने राजपूताना से बाहर भी मेवाड़ की सीमाओं का विस्तार किया। इसके संदर्भ में बाबरनामा में बाबर लिखता है कि मालवा को पराजित कर सांगा ने रणथंभौर, सारंगपुर, भीलसा और चंदेरी को मेवाड़ में शामिल कर लिया था।[1]

सांगा ने अपने पड़ोस के राज्य मालवा एवं गुजरात के शासकों को भी पराजित किया। जब दोनों पृथक-पृथक मेवाड़ को पराजित नहीं कर सकें तो गठबंधन बना कर हराने का निरर्थक प्रयास किया। अभी तक दिल्ली जिसका मेवाड़ से सामना हुए एक लंबा दौर गुजर चुका था। इब्राहिम लोदी दिल्ली के तख्त पर आसीन होते ही सांगा को खिलाफ सेना लेकर निकल पड़ा किंतु उसे भी खातोली एवं बाड़ी के युद्ध में हार का सामना करना पड़ा। दिल्ली के शासक को हराने के बाद मेवाड़ की सीमाएं अपने सर्वाधिक विस्तार पर थी। डॉ. गोपीनाथ शर्मा अनुसार दिल्ली एवं मालवा के साथ मेवाड़ का 18 बार संघर्ष होता है जिसमें मेवाड सफल रहता है।[2] राणा की सीमाएं उत्तर में आगरा के समीप पीलखाना तक उसकी सीमाएं थी।[3] मालवा के सुल्तान को दो बार कैद किया[4] तथा गुजरात के सुल्तान को पराजित किया[5] इस प्रकार सांगा ने एक विशाल साम्राज्य की नींव डाली। यहाँ सांगा की एक कूटनीतिक विजय तथा एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी वे अंतिम हिंदू राजा थे जिनके सेनापतित्व में सब राजपूत राजा बाबर के विरूद्ध लड़ने के एकत्रित हुए।[6] खानवा के युद्ध में सांगा का साथ देने के लिए विभिन्न रियासतों से शासक आएं मारवाड़ का राव गाँगाजी व मेड़ता के वीरमदेव,[7] चंदेरी

---

1 बाबरनामा, पृ. 317

2 Mewar Mughal Emperor, P.No. 16

3 गत्वात्र पीलियाखालतर्यं पर्यकल्पयत् स्वदेषसीमानमयं।। चतुर्थः सर्गः, राजप्रशस्तिः महाकाव्य, नैणसी की ख्यात, भाग 1, पृ. 46

4 नैणसी की ख्यात, भाग 1, पृ.46

5 History of Gujrat, P.No.37

6 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 336

7 मारवाड़ का इतिहास, पृ. 115

का मेदनीराय, डूँगरपुर का रावल उदयसिंह,[1] बूंदी का नरवद हाड़ा, गागरोण का शत्रुदेव खिंची, जयपुर का पृथ्वीराज, ईडर का भारमल, देवलिया का रावत बाघसिंह, बीकानेर का राव कल्याणमल।[2]

सांगा की दूसरी महत्वपूर्ण कूटनीतिक उपलब्धि अफगान-राजपूत संघ का निर्माण था। सांगा ने अलवर के हसन खां मेवाती एवं इब्राहिम लोदी के भाई महमूद लोदी को भी अपने संघ में शामिल कर लिया था।[3] इस प्रकार सांगा ने बाबर के विरूद्ध एक संयुक्त मोर्चे का निर्माण कर लिया था। इतना होते हुए भी सांगा कूटनीतिक रूप से आलोचना कि जाती है। फरिश्ता लिखता है कि मांडू के सुल्तान को पराजित करने के बाद उसे गिरफ्तार कर लिया तथा बाद में उसे छोड़ दिया।[4] कर्नल टॉड सांगा के इस कार्य कि आलोचना करते है तथा कूटनीतिज्ञ के रूप में उसकी योग्यता पर प्रश्न-चिह्न आरोपित करते है। उपेन्द्र नाथ डे एवं गोपिनाथ शर्मा सांगा के इस निर्णय को समय की आवश्यकता बताते हुए सही ठहराते है। इनका मानना है कि राणा सांगा का माण्डू को लौटाने का निर्णय एक सही निर्णय था। जब सांगा दूरस्थ माण्डू पर अपना अधिकार नहीं रख सकते थे तो वह उदारता एवं कूटनीति से शत्रु को जीतने की नीति अपनाते है। सांगा की यह कूटनीति मालवा का सुल्तान जो गुजरात के मुजफ्फरशाह के प्रभाव में था अत: गुजरात के प्रभाव को कम कर सांगा का प्रभाव स्थापित करने कि थी। गोपिनाथ शर्मा इसे कुंभा की नीति का अनुसरण बताते है। इस मैत्री संबंध से गुजरात-मालवा के गुट की संभावना कम हो गयी। मेदिनीराय को अपना आश्रित बनाकर उसने एक सशक्त संरक्षण मेवाड़ की सीमा पर स्थापित कर दिया था।[5] सांगा के इसी कार्य की प्रशंसा अकबर का दरबारी अबुल फजल व निजामुद्दीन करता है। बाबर जिसने पानीपत के युद्ध में तो दिल्ली के सुल्तान को पराजित कर लिया था फिर भी वह भारत का सम्राट नहीं बन पाया था। इसका कारण था कि

---

1 डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ. 83

2 वीर विनोद, भाग 1, पृ. 368, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 324,

3 Mewar Mughal Emperor, P. No. 26

4 तारिखे फरिश्ता, पृ. 394

5 राजस्थान का इतिहास, पृ. 213, History of Medieval Malwa, P.No. 301

इब्राहिम लोदी का प्रभाव क्षेत्र सिमटकर दिल्ली एवं आगरा के आस-पास तक ही रह गया था। इसकी जानकारी निजामुद्दीन अहमद के तबकाते अकबरी से होती है कि इब्राहिम लोदी के बहुत से सरदार उसकी अवज्ञा करते थे तथा आगरा से 20 कोस दूर महावन नामक कस्बा जो कि इब्राहिम लोदी के दास के अधिकार में था और वह भी इब्राहिम लोदी के प्रभाव में नहीं था।[1] इस वजह से दिल्ली पर अधिकार करने के बावजूद भी भारत विजय का अभियान अभी शेष था। आगरा के दक्षिण एवं पूर्व का क्षेत्र नए सम्राट को चुनौती दे रहा था। आगरा के आसपास के सभी क्षेत्र जिसमें बयाना, धौलपुर, मेवात, ग्वालियर, राबेरी, एटवा, कालपी बाबर कि वैधानिकता को चुनौति दे रहे थे।[2] अत: बाबर को अपने साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान करने हेतु बहुत-सी चुनौतियों का सामना करना शेष था। बाबर दिल्ली तथा आगरा के आसपास के क्षेत्रों की विजय की नीति अपनाता है ताकि उसकी स्थिति सुदृढ़ हो सके तत्पश्चात् उत्तर भारत की सुदृढ़ शक्ति सांगा से लड़ने की तैयारी करता है। यहॉ प्रश्न उठता है कि सांगा ने इब्राहिम लोदी को दो बार पराजित करने के बाद भी दिल्ली पर अधिकार क्यों स्थापित नहीं किया। प्रथमत: भले ही दिल्ली पर इब्राहिम लोदी का शासन हो किंतु दिल्ली एवं उसके आस-पास के क्षेत्र पर उसका अधिकार नहीं रहा उसके अधिकारी ही उसकी अवज्ञा करते थे। दूसरा सांगा ने एकदम दिल्ली की तरफ हाथ नहीं बढ़ाया क्योंकि वह जानता था कि दिल्ली भारत में मुसलतान सत्ता का राजनीतिक मक्का था जिसको बगैर सब हिंदूओं को एक सूत्र में बांधे बिना हस्तगत करना राजनीतिक अदूरदर्शिता होगी।[3]

सांगा की मृत्यु के साथ ही मेवाड़ की आंतरिक कलह से मेवाड़ की स्थिति कमजोर हो जाती है। सांगा के जीवित रहते ही उनके बड़े पुत्र भोजराज की मृत्यु हो जाति है अत: सांगा के बाद रतनसिंह मेवाड़ का शासक बनता है। मेवाड़ में षड्यंत्र एवं कुचक्रों का प्रारंभ सांगा के काल से ही हो गया था। सर्वप्रथम इसकी

---

1 मुगलकालीन भारत 'बाबर', पृ. 428

2 Stanely Lane-poole, BABAR. S. chand & co. Delhi. 1971. P. 169

3 आर्य रामचंद्र तिवारी, महाराणा उदयसिंह की राष्ट्रीय नीति, शोध पत्रिका, भाग-5, अंक 3, मार्च 1954

शुरूआत सांगा के शासनकाल में ही होती है जब हाड़ी रानी कर्मावती द्वारा विभाजनकारी नीतियों को नींव रखती है। रानी कर्मावती अपने पुत्रों के लिए रणथंभौर की मांग करती है। जिसे सांगा अपने पुत्र मोह में पड़कर इसे अपना समर्थन देते है। बाद में यहीं रणथंभौर एक विवाद को जंम देता है जो मेवाड़ के महाराणा रतनंसिंह की हत्या का कारण बनता है।[1] रतनसिंह के बाद मेवाड़ का महाराणा विक्रमादित्य बनता है किंतु वह अयोग्य शासक ही सिद्ध होता है। विक्रमादित्य शासक बनते हि विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने लगता है। उसका जीवन शराब व नृत्य में ही व्यतीत होता है। विक्रमादित्य द्वारा रखे गए सात सौ पहलवानों पर अतिविश्वास कर वह स्वभाव से भी उद्ंड हो जाता है। सत्ता के अभिमान विक्रमादित्य द्वारा अपने सामंतो एवं परिवारजन से किए गए दुर्व्यवहार का परिणाम यह निकलता है कि सभी सामंत विक्रमादित्य का साथ छोड़कर अपने-अपने ठिकानों मे चले जाते है।[2]

मेवाड़ की कमजोर स्थिति को देखकर ही गुजरात का महत्वकांक्षी शासक बहादुरशाह 1534 ई. में मेवाड़ पर आक्रमण करता है। इस समय विक्रमादित्य के संरक्षक के रूप में कर्मावती शासन का कार्य भार देख रही होती है। कर्मावती जो एक महत्वकांक्षी रानी थी तभी वह सांगा के जीवित रहते ही अपने पुत्रों के लिए अपने पैतृक हाड़ाओं के राज्य बूंदी के समीप का रणथंभौर मांग लेती है तथा भारत की उभरती शक्ति मुगलों से भी रणथंभौर पर अपने स्थायी अधिकार की स्वीकृति हेतु बाबर से भी कूटनीति वार्त्ता करने का प्रयास करती है।[3] रूष्ट सामंतों तथा गुजरात के संकट को देखकर इससे उबरने के लिए कर्मावती एक परिपक्व राजनीतिज्ञ के समान कूटनीति का सहारा लेती है। गुजरात के शासक से शक्तिशाली शासक मुगल बादशाह हूमायुं से मदद मांगती है। कर्मावती द्वारा मदद मांगने का तरीका बिल्कुल पृथक् था। उन्होंने मुगल बादशाह हुमायूं के साथ

---

1 नैणसी की ख्यात, भाग 1, पृ. 48, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 340, वीर विनोद भा. 2, पृ. 28

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 343, वीर विनोद भा. 2, पृ. 26, मेवाड़ के केंद्रीय शक्तियों से संबंध, पृ. 11

3 बाबारनामा, पृ. 405

कोई संधि या शर्त के तहत लेन-देन का समझौता नहीं किया अपितु अपने राजदूत पदमशाह[1] के साथ राखी भेज हूमायुं को अपना धर्म भाई बना दिया।[2] इस प्रकार कर्मावती ने अपनी रक्षा का दायित्व का नैतिक बंधन एक प्रकार से हूंमायु पर आरोपित कर दिया था। यह एक बेहतरीन कूटनीतिक कदम था किंतु बहादुरशाह इस कूटनीतिक कार्य का प्रति कूटनीतिक जवाब धर्म का आधार बनाकर देता है। बहादूरशाह चित्तौड़ पर चढ़ाई को धर्म युद्ध की संज्ञा देकर तथा हूंमायु को काफिर का सहयोगी बनने का डर बताकर हूंमायु को रोकने में सफल रहता है। कर्मावती रक्षा का कोई उपाय न देखकर अंतीम उपाय के रूप में बहादूर शाह के साथ संधि कर लेती है।[3]

बहादूरशाह जब दूसरी बार पुन: 1534 ई. में सेना लेकर आ जाता है तब चित्तौड़ की स्वतंत्रता को खतरे में देखकर कर्मावती इस बार रूष्ट सामंतों को पुन: चित्तौड़ रक्षार्थ एकत्रित करने हेतु एक पत्र लिख सरदारों को भिजवाती है। इन पत्रों कि मुख्य विशेषता यह थी कि कर्मावती द्वारा सहायता की कोई याचना नहीं कि जाती अपितु सामंतों को यह स्मरण कराया जाता है कि चित्तौड़ की रश्रा उनका कर्तव्य एवं दायित्व है। वह चित्तौड़ को शत्रु के हाथ में जाने देते है तो ऐसा होने पर इतिहास में उनकी बदनामी होगी। कर्मावती के कूटनीति प्रयत्न सफल होते है और मेवाड़ के सामंत पत्र पढ़ कर मेवाड़ की सहायतार्थ एकत्रित हो जाते है[4] अब तक तो चित्तौड़ राजपूतों के हाथ में रहा, पर अब उनके हाथ से निकलने का समय आ गया है। मैं किला तुम्हें सौंपती हूं, चाहे तुम रखो चाहे शत्रु को दे दो। मान लो तुम्हारा स्वामी अयोग्य ही है, तो भी जो राज्य वंश परंपरा से तुम्हारा है, वह शत्रु के हाथ में चले जाने से तुम्हारी बड़ी अपकीर्ति होगी। अलाउद्दीन के आक्रमण के समय प्रयोग में लाई नीति को फिर गुजरात के बहादुरशाह के समय दोहराया जाता है। चित्तौड़ का पतन निश्चित जानकर उदयसिंह एवं विक्रमादित्य को उनके ननिहाल बूंदी भेज दिया जाता है। इस प्रकार

1 मेवाड़ राज्य व केन्द्रीय शक्तियाँ, 12

2 रावल राणा री बात, पृ. 51

3 वीर विनोद, भा. 2, पृ. 29

4 वीर विनोद, भा. 2, पृ. 29, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 344

युद्ध में मेवाड़ वंश को सुरक्षित रखने की नीति जारी रहती है।[1] हूंमायु एवं बहादूरशाह की लड़ाई तथा बहादूरशाह के पूर्तगालियों से विवाद के बाद जहाज से गिरकर मृत्यु हो के बाद मेवाड़ के सामंत एक बार फिर चित्तौड़ पर अधिकार स्थापित कर लेते है।

सांगा के जीवन के अंतिम दौर से मेवाड़ में नैतिक मूल्यों का हस दिखायी देता है जिससे मेवाड़ में स्वार्थलोलुपता एवं षड्यंत्र बढ़ते है। इसी वजह से घर के ही लोग राज्य पर आक्रमण करने हेतु शत्रु को आमंत्रित करते है। बहादूरशाह को सांगा का भतीजा नरसिंहदेव और चंदेरी का राजा मेदिनीराय ही आमंत्रित करते है। बाबर भी अपनी पुस्तक बाबरनामा में लिखता है कि कर्मावती ने अपना दूत बाबर के पास भेजा तथा रणथंभौर के बदले बयाना की मांग की[2] यद्यपि श्यामलदास के अनुसार कर्मावती ने यह षड्यंत्र केवल रत्नसिंह को डराने के लिए किया था।[3] वजह चाहे जो कोई भी रही हो इस काल में मेवाड़ जो सांगा के समय अपने शिखर पर था अब पतन की ओर अग्रसर हो गया था। विक्रमादित्य जिसने दो बार मेवाड़ का विध्वंस देख चुका था फिर भी सामंतों के प्रति अपनी नीति में परिवर्तन नहीं किया। अत: टॉड ने विक्रमादित्य के शासन के बारे में ठीक ही 'पोपाबाई के राज' की संज्ञा दी। सामंतों के असंतोष एवं अस्थिरता का लाभ उठाकर बणवीर महाराणा विक्रमादित्य की हत्या कर स्वंय शासक बन जाता है।[4]

उदयसिंह कालीन मेवाड़

सामंतों के सहयोग से उदयसिंह बणवीर को हटा कर मेवाड़ के महाराणा बनता है। उदयसिंह 1540 में मेवाड़ के सिंहासन पर बैठा। यह वर्ष न केवल मेवाड़ के इतिहास से अपितु भारत के इतिहास में अत्यधिक महत्व का है। इसी

1 वीर विनोद, भा. 2, पृ. 30, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 345

2 बाबरनामा, पृ. 405

3 वीर विनोद, भाग 2, पृ. 7

4 नैणसी की ख्यात, भाग 1, पृ. 54; बांकिदास सी ख्यात, पृ. 90
मिलित्वा बनरीरोऽस्य कण्ठं छरिकयाछिनत्।
तत: स विक्रमादित्य: अपुत्रस्त्रिदिवं गत:।।13।। अमरकाव्यम्, 197

वर्ष शेरशाह मुगल बादशाह हूंमायु को कन्नौज के युद्ध में पराजित कर भारत से निष्कासित कर देते है। अब दिल्ली पर मुगलों के स्थान पर अफगानों का शासन स्थापित हो जाता है। दिल्ली के कमजोर होने का लाभ मारवाड़ के शासक मालदेव उठाते है तथा चाटसू, लालसोट, टोड़ा- भीम और भलारना को जीत लेते है।[1] इस समय राजस्थान के राज्यों में मारवाड़ एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरता है जो आसपास के अन्य राज्यों पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास करता है। यहीं मारवाड़ के उत्कर्ष का काल मेवाड़ के अपकर्ष का काल था। सांगा के बाद फैली अव्यवस्था एवं विघटनकारी परिस्थितियों का लाभ मालदेव उठाता है तथा बणवीर के समय बदनोर, कोसीथल, बीसलपुर, मदारिया, नाड़ोल व जाजपुर पर अधिकार कर लेता है। उदयसिंह को विरासत में कांटों भरा ताज मिला था। अशांति एवं अराजकता के दौर में मेवाड़ के कई हिस्से पर पड़ोसी राज्यों ने अधिकार कर लिया था। अत: उदयसिंह के समक्ष सर्वप्रथम महत्वपूर्ण चुनौती मेवाड़ राज्य को पुर्नसंगठित करना तथा मेवाड़ को पुन: मजबूत राज्य के रूप में स्थापित करना था। यहीं वजह है कि उदयसिंह के समय कूटनीति में दो महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलते है। पहला राजपूत नीति में लचीलापन तथा दूसरा मित्रों की संख्या में वृद्धि।[2] उदयसिंह ने प्राचीन परम्पराओं से स्वंय को मुक्त कर अपनी विचारशीलता और प्रगतिशीलता का परिचय दिया।[3]

उदयसिंह अपने समक्ष दो बार मेवाड़ के विध्वंस को देख चुके थे तथा अपनी माता द्वारा शत्रु को पराजित करने हेतु किए गए कूटनीतिज्ञ कार्य से भी भली-भांति परिचित थे। अत: उदयसिंह द्वारा युद्ध के स्थान पर संधि के विकल्प पर भी सोचने की नीति का आरंभ किया। अब युद्ध में खेत रहने के सिद्धांत के स्थान पर यथार्थता पर जोर दिया एवं विजय हेतु संघर्ष को जारी रखने की नीति अपनाई। शेरशाह मालदेव को पराजित कर राजपूताने पर अपना अधिकार स्थापित करने हेतु जब चित्तौड पर अधिकार करने हेतु बढ़ता है। उदयसिंह अपनी ओर बढ़ते संकट का समाधान करने हेतु संधि जैसे प्रस्ताव पर सोचता है एवं

---

1 मेवाड़ के महाराणा एवं शहंशाह अकबर, पृ. 57

2 रामचंद्र तिवारी, उदयसिहं की राष्ट्रीय नीति, शोध पत्रिका, भाग-5, अंक-3. मार्च 1954

3 मेवाड़ के महाराणा एवं शंहशाह अकबर, पृ. 61

कूटनीतिक रूप से काम करता है। उदयसिंह इस तथ्य से भली-भांति परिचित था कि मेवाड़ जिस पर शासन प्रारंभ किए चार वर्ष हि हुए थे कि नवोदित राज्य का शेरशाह जैसे शत्रु से पार पाना असंभव है। अत: उदयसिंह ने इल्तुत मिश के समान जो यह जानता था कि ख्वारिज्म के शाह की सहायता कि तो यह नवोदित दिल्ली सल्तनत मंगोलों जैसे शक्तिशाली शत्रु की बाढ़ में बह जाएगी अत: कूटनीति की यहीं मांग है कि मंगोलों को न छेड़ा जाए। उदयसिंह ने भी उसी प्रकार शेरशाह से भिड़ने के स्थान पर संधि कि विकल्प पर विचार कर राज्य की होने वाली जन-धन हानि को बचा लिया।[1] दूसरा उदयसिंह ने मेवाड़ के विध्वंस को देख चुका था अत: उसकी सुरक्षा हेतु आंतरिक एवं बाह्य दोनों रूप से उसे सुदृढ़ करने के लिए प्रयास करता है। बाह्य रूप से मजबूत करने के लिए अपने मित्रों की संख्या बढ़ाने पर यथोचित ध्यान देता है। बूंदी के राव सुर्जन हाड़ा,[2] सिरोही के शासक मानसिंह[3] आदि से मैत्रीपूर्ण संबंध बनाता है। वहीं अकबर के विरोधियों को भी शरण देता है जिनमें मालवा के शासक बाजबहादूर तथा मेड़ता के जयमल प्रमुख थे।[4] इनमें से जयमल ने मेवाड़ को अतिप्रशंसनीय सेवाएं प्रदान की। इसी तरह बिहार के कुछ मुसलमान बंदूकची और तोपखाना विशेषज्ञ भी मेवाड़ आए जिन्हें उदयसिंह ने यहाँ संरक्षण प्रदान किया। बाद में 1567 के अकबर के चित्तौड़ अभियान में इन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।[5] रामचंद्र तिवारी उदयसिंह की इस नीति की प्रशंसा करते हुए कहते है कि उदयसिंह इस प्रकार अकबर से विद्रोह करके भागे हुए विद्रोहियों को शरण देकर उनकी शत्रुता को मेवाड़ की रणनीतिक स्थिति को दृढ़ता प्रदान करने में प्रयोग कर रहे थे।[6]

उदयसिंह की पड़ोसी राज्यों से अच्छे संबंध स्थापित करने कि नीति को मारवाड़ की तरफ से झटका लगता है। मारवाड़ के साथ मेवाड़ के संबंध सामान्यत: अच्छे ही रहे थे। सांगा के समय मारवाड़ के राव गांगा से संबंध मधुर

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 351

2 बूंदी राज्य का इतिहास, पृ.45

3 सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 214

4 मेवाड़ मुगल संबंध, पृ. 47

5 Akbarnama. Vol 2, P.No. 467

6 मेवाड़ के महाराणा एवं शंहशाह अकबर, पृ. 46

थे क्योंकि राव गांगा सांगा की सहायता से अपना राज्य विस्तार कर सका था अत: उसने भी ईडर व खानवा के युद्ध में सांगा को सहायता दी थी। किंतु यह शक्ति संबंध उदयसिंह के समय बिगड़ जाते है। वैसे प्रारंभ में मालदेव उदयसिंह को सहायता प्रदान करता है पर मालदेव कि सहायता का प्रयोजन परोपकार की भावना से नहीं कि गई थीं। बल्कि वह इस अवसर का प्रयोग सारे राजपूताना के राज्यों को राठौड़ो के झंडे के नीचे लाना चाहता था।[1] इसी वजह से मालदेव एवं उदयसिंह के संबंधों में कटुता आ जाती है जो राजपूताना के लिए हानिकर सिद्ध होती है। उदयसिंह मेवाड़ की बाह्य स्थिति के साथ ही आंतरिक स्थिति पर भी ध्यान देता है।

उदयसिंह तोपों के प्रयोग के बाद बहादूरशाह एवं शेरशाह के समय चित्तौड़ दुर्ग की अप्रासंगिकता से पूर्ण रूप से परिचित हो चुके था। मुगलों के बढ़ते प्रभाव एवं साम्राज्यवादी नीति को पूर्व दृष्टि में रखते हुए सुरक्षित राजधानी की खोज प्रारम्भ कर दी थी। इसी दृष्टि से पश्चिमी तथा दक्षिणी-पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश को आबाद करना प्रारम्भ कर दिया था। जहॉ पर शत्रु सेना का लड़ना कष्टसाध्य था वहॉ बारूदी शस्त्र ले जाना कुछ कठिन था। अत: उदयसिंह का इस संदर्भ में सबसे बड़ा दूरदर्शिता पूर्ण कार्य नवीन राजधानी के रूप में उदयपुर का चयन था। गिरवा की पहाड़ियों से गिरा उदयपुर शहर अपनी दुर्गम स्थिति के कारण शत्रु की आसान पहुॅच से दूर था।[2] साथ ही उदयसिंह ने 1563 ई. के लगभग भोमट के राठोड़ों को दबाया तथा जूड़ा, ओगना तथा पानरवा के सरदारों पर अपने प्रभुत्व की स्थापना की। उदयसिंह के इन्हीं प्रयत्नों से राज्य की शासन व्यवस्था भी अपने पहले के स्वरूप को प्राप्त कर सकी। इस नीति के अन्तगर्त उन व्यक्तियों को अनुदानों द्वारा तथा रियायतों से संतुष्ट किया गया जो राणा के राज्य व्यवस्था कार्य में सहयोगी थे(भट 46)। कर्नल टॉड उदयसिंह की आलेचना करते हुए कहते है कि "यदि उदयसिंह न होता अथवा संग्रामसिंह और उनके बीच में कोई सिसोदिया कुल में उत्पन्न न होता तो कोई भी तुर्क राजस्थान पर अपना नियम लागू कर पाता"[3] इस संदर्भ में गोपीनाथ शर्मा कहते है कि

1 मेवाड़ के महाराणा एवं शंहशाह अकबर, पृ. 57

2 नारायण लाल शर्मा, महाराणा उदयसिंह, पृ. 68, उदयपुर-चित्तौड़ पाटनामा, भाग 1, पृ.238

3 Annals and Antiquities of Rajasthan. Vol. 1. P.No. 255

श्यामल दास, ओझा, एस. आर. शर्मा आदि इतिहासकार उदयसिंह की आलोचना करते है और उसको कायर, शौर्यहीन तथा देशद्रोही ठहराते है। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि कोई भी समसामयिक मुस्लिम इतिहासकार उदयसिंह के सम्बन्ध में इस प्रकार का दोषारोपण नहीं कर रहा है। उदयसिंह का दुर्भाग्य यह था कि वह दो महान् हस्तियों के बीच पैदा हुआ था जिससे उनके शूरवीर पूर्ण कृत्यों ने उदयसिंह के व्यक्तित्व को नगण्य बना दिया था।[1]

15वीं और 16वीं सदी का विश्व, भारत एवं राजस्थान

15वीं एवं 16वीं सदी का काल संपूर्ण संसार के इतिहास में बेहद महत्वपूर्ण है। इस कालावधि में वो आधारभूत परिवर्तन हुए जिसने भविष्य के विश्व को एक नई दिशा प्रदान की। विश्व इतिहास में आधुनिक काल का प्रारंभ होता है। इसी समय आर्थिक-सामाजिक क्षेत्रों में भौगोलिक खोजों के कारण वाणिज्य-व्यवसाय और अंततः पूंजीवादी व्यवस्था का उदय हुआ, राजनीतिक क्षेत्र के सामंतवाद का पतन और राष्ट्रीय राज्य का उदय हुआ, ज्ञान और कला के क्षेत्र में पुनर्जागरण या लौकिकता का पुनरोदय हुआ प्रोटेस्टैंट और रोमन कैथोलिक धर्मसुधार आंदोलन ने पश्चिमी ईसाईवाद की एकता को समाप्त कर दिया। ये चार विकासक्रम 15वीं और 16वीं शताब्दी में घटित हुए थे।[2]

विश्व के इतिहास में पुनर्जागरण को एक भू-चिह्न के रूप में माना जाता है, जिसने आगामी परिवर्तन को प्रोत्साहित किया। फ्रांस के प्रसिद्ध इतिहासकार जूल्स मिशिलेट ने पुनर्जागरण की व्याख्या करते हुए दो व्यापक आयामों की ओर संकेत करते है, जिनमें पुनर्जागरण के सुधारवादी समग्र प्रयत्न आ जाते हैं। ये दो आयाम हैं- 'दुनिया की खोज' और 'मनुष्य की खोज' दुनिया की खोज से तात्पर्य पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी की उन भौगोलिक उपलब्धियों से है, जिन्होंने अटलांटिक, प्रशान्त एवं हिन्द महासागरों को व्यापार के लिए खोला और पुरानी दुनियां के लोगों को अमेरिका की नई दुनिया, दक्षिणी अफ्रिका और ऑस्ट्रेलिया का परिचय दिया। 'मनुष्य की खोज' के अन्तगर्त मानव शक्ति के उस पद्धति को

1 मेवाड़-मुगल संबंध, पृ. 49

2 विश्व इतिहास का सर्वेक्षण, पृ. 1

लिया गया, जिसके द्वारा उसने मध्यकालीन पोपशाही को अस्वीकार कर दिया तथा विकसित एवं स्वतंत्र दृष्टि का अवलम्बन किया।[1] उपर्युक्त परिवर्तन वैचारिक परिवर्तन थे जिन्होंने वैष्विक बदलाव की नींव रखी। अत: 15वीं शताब्दी संक्रमण का युग था और 16वीं शताब्दी आधुनिक काल की पहली शताब्दी थी।

पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आंदोलन और आर्थिक उथल-पुथल यूरोप में नक्शे बदल रहे थे। स्पेन का शासक चाल्र्स पंचम, उस्मानी साम्राज्य का प्रमुख सुलेमान उस समय के सबसे शक्तिशाली शासक थे। वेनिस और स्वीट्जरलैंड गणराज्य थे, जर्मनी कई रियासतों में विभाजित था। इंग्लैंड और फ्रांस बहुत हद तक वैसे ही थे जैसे आज है।[2] इसी समय धर्म सुधार आंदोलन की वजह से संपूर्ण यूरोप संघर्षमय था।[3] जवाहर लाल नेहरू 16वीं और 17वीं सदी के यूरोप एवं भारत की तुलना करते हुए कहते है कि ‘‘इस समय का यूरोप एक बड़ा अजीब और झमेलों से भरा देश था। वहॉ पर लगातार हो रही लड़ाइयाँ, धार्मिक कट्टरपन और प्रजा पर ऐसा अत्याचार हो रहा था जिसकी मिसाल इतिहास में दूसरी जगह मिलनी मुश्किल है। चीन इससे सदियों आगे बढ़ा हुआ मालूम होता था- वह एक सुसंस्कृत, उदार और शांतिप्रिय देश था। फूट और गिरावट होते हुए भी भारत बहुत-सी बातों में चीन की बराबरी का दावा कर सकता था।’’ जवाहर लाल नेहरू कहते है कि लेकिन इंग्लैंड का एक दूसरा चेहरा भी था एक प्रगतिशील राष्ट्र का। वहॉ हो रही आधुनिक विज्ञान की शुरूआत और आजादी की भावना वहॉ की जनता में भी दिख रही थी। वहॉ के मजबूत होते मध्यम वर्ग ने शासन में भी सुधार की नींव डाली जो आगे जाकर प्रजातांत्रिक पद्धति में दिखाई देती है।’’ इस तरह ताजगी और क्रियाशक्ति के उन गुणों से भरा हुआ यूरोप, जिनकी पूर्वी दुनिया की पुरानी सभ्यताओं में कमी दिखाई देती थी, धीरे-धीरे इनसे आगे बढ़ता जा रहा था।[4]

---

1 विश्व इतिहास का सर्वेक्षण, पृ. 2

2 विश्व इतिहास की झलक, पृ. 364

3 वही, पृ. 371

4 वही, पृ. 384

16वीं सदी का भारत

16वीं सदी का भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। इस समय भारतीय राजनीतिक परिदृष्य में महत्वपूर्ण परिवर्तन होता जो कि भविष्य के भारत कि रूपरेखा का निर्धारण करता है। 1526 ई. में बाबर एवं लोदि वंश के अंतिम शासक इब्राहिम लोदि के मध्य युद्ध होता है जिसमें लोदि वंश का अंत होता है। दिल्ली पर मुगल वंश कि स्थापना होती है। यहीं मुगल वंश दो सदि से अधिक समय तक भारत पर राज करता है।

आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव लिखते है कि "सोलहवीं शताब्दी के प्रथम ढाई दशकों में भारत की राजनीतिक अवस्था ग्याहरवीं शताब्दी के समान थीं। जब भारत एक राजनीतिक सूत्र में न बंधे होने की वजह से छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। ये राज्य आपस में लड़ रहे थे। इन दो कालों की स्थिति में प्रमुख अंतर यह था कि ग्याहरवीं शताब्दी में तो देश में स्वदेशी शासकों का शासन रहा किंतु सोलहवीं शताब्दी में देश में बहुत से विदेशी शासकों का शासन हो गया। चूंकि दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद बहुत से मुस्लिम वर्षों की स्थापना हो गयी थी। दिल्ली सल्तनत जिस का ह्रास मुहम्मद बिन तुगलक के राज्यकाल से प्रारंभ हो चुका था, अब सारे देश पर प्रभुत्व व प्रभाव बनाये रखने के योग्य नहीं रही थी।"[1] भारत में बाबर के आगमन के समय कई छोटी-बड़ी रियासतें मौजुद थी। बाबर इनमें से प्रमुख सात रियासतों का वर्णन देता है, जिनमें से पाँच पर मुस्लिम व दो पर हिंदू राजाओं का शासन था। बाबर जिन पाँच मुस्लिम रियासतों का वर्णन करता है उनमें निम्न थी - जौनपुर, गुजरात, मालवा, बंगाल एवं बहमनी। वहीं विजयनगर एवं चित्तौड़ पर हिंदू राजाओं का शासन था। बाबर कहता है कि इस समय छोटे-बड़े कई शासक थे पर प्रभाव इन्हीं सात का था।[2]

20 अप्रैल 1526 को पानीपत के युद्ध[3] के साथ भारत में मुगल वंश की स्थापना होती है। मुगल वंश के अधीन एक बार फिर भारत कैंद्रीकृत इकाई के

---

1 आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, मुगलकालीन भारत, पृ. 1

2 बाबरनामा, पृ. 317

3 मुगलकालीन भारत, बाबर, अहमद यादगार, तारीखे सलातीन अफगाना, पृ. 452

रूप में स्थापित करने का प्रयास करता है। पानीपत के युद्ध के चार वर्षों के भीतर ही बाबर की मृत्यु हो जाती है। बाबर की मृत्यु के बाद हुमायूं शासक बनता है जिसके समक्ष कई गंभीर समस्याएं थी। सर्वप्रमुख समस्या राज्य को सुदृढ़ करना था। बाबर भारत में नई शासन व्यवस्था स्थापित नहीं कर पाया क्योंकि वह युद्धों में ही उलझा रहा था। अत: बाबर की मृत्यु के बाद ये समस्याएं गंभीर चुनौती के रूप में सामने आई। एक बड़ी समस्या प्रशासन की अनिश्चित स्थिति और अपना वर्चस्व स्थापित करने को आतुर बेगों की महत्वकांक्षा थी। अफगान कमजोर भले ही हो गए थे किंतु अफगान राज्य की स्थापना हेतु अभी प्रयासरत थे। यहॉ तक की हुमायूं के छोटे भाई और तैमूरी शहजादे भी स्वयं का स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे। इन सबके अतिरिक्त गुजरात का शासक भी गंभीर चुनौति पेश कर रहा था।[1]

हुमायूं के सामने सबसे बड़ी चुनौती शेरशाह था। शेरशाह से कन्नौज का युद्ध पराजित होने के साथ ही हुमायूं भारत से निर्वासित हो गया।[2] शेरशाह द्वारा स्थापित अफगान राज्य भी उसकी मृत्यु के साथ ही अयोग्य उत्तराधिकारी के कारण कमजोर हो गया। इस अस्थिरता का लाभ उठाते हुए हुमायूं 1556 ई. में पुन: दिल्ली का शासक बन गया। हुमायूं अधिक समय तक शासन नहीं कर पाया 1556 ई. में उसकी मृत्यु के बाद अकबर बादशाह बना।[3] अकबर के साथ ही भारत में साम्राज्यवादी शासन का युग प्रारंभ हुआ।

16वीं सदी का राजस्थान

16वीं सदी का विश्व नवीन एवं प्रगतिशील विचारों से प्रेरित था। जहाँ इन नवीन विचारों ने आने वाले समय में विश्व को नई एक नई दिशा प्रदान कि जिसने विश्व को आधुनिकता से परिचित करवाया। इसी प्रकार 16वीं सदी का भारत भी अपने आप में विशेष था। इस समय दिल्ली में होने वाले वंश परिवर्तन जिसमें दिल्ली सल्तनत का अंत हुआ तथा उसका स्थान मुगल बादशाहों ने ले

---

1 सतीश चंद्र, मध्यकालीन भारत, पृ. 38

2 हुॅमायूंनामा, पृ. 184

3 Akbarnama. Vol. 1. P.No. 658

लिया। इस वंश परिवर्तन का प्रभाव न केवल सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र पर पड़ा अपितु राजपूताना की रियासतों के आपसी संबंधों को भी प्रभावित किया।

16वीं सदी के राजपूताना पर दृष्टि डाले तो इस समय की दो प्रमुख रियासतें मेवाड़ एवं मारवाड़ थी जो राजपूताना की अन्य रियासतों पर अपना प्रभाव रखती थी। इन दो के अतिरिक्त आमेर, बीकानेर, बूंदी, सिरोही एवं जैसलमेर भी प्रमुख रियासतें थी। ए. सी. चंद्र बनर्जी ने सांगा के काल के मेवाड़ के इतिहास को तत्कालीन भारत का सामान्य इतिहास बताया है। इस समय सांगा के अधीन मेवाड़ की शक्ति अपने चरम उत्कर्ष पर थी। राजपूताना में भी सांगा को चुनौति देने वाला कोई भी नहीं था।[1] खानवा के युद्ध में सांगा की पराजय के साथ ही दिल्ली पर हिंदू शासन की स्थापना के स्वप्न टूट गया। सांगा के बाद मेवाड़ को कई विपत्तियों का सामना करना पड़ा जिससे मेवाड़ की शक्ति क्षीण हुई। इस दौरान राजपूताने में जिस शक्ति का उत्कर्ष हुआ वह मारवाड़ था। मारवाड़ में राव गांगा की मृत्यु के बाद राव मालदेव शासक बना।[2] मालदेव के समय जोधपुर अर्थात् मारवाड़ एक शक्तिशाली राज्य के रूप में उभर रहा था। मालदेव की शक्ति का उल्लेख जहाँगीर नामा में भी मिलता है जहॉ जहाँगीर लिखता है कि "मालदेव हिंदुस्तान के बडे जमींदारों में से था। राणा की बराबरी करने वाला जमींदार वही था।"[3] मालदेव के प्रभाव एवं शक्ति में इतनी वृद्धि देखकर ही हुमायूं मालदेव के पास शरण लेने आया था। मालदेव एक महत्वकांक्षी एवं साम्राज्यवादी शासक था। मालदेव ने साम्राज्य विस्तार की नीति का अनुसरण करते हुए बीकानेर एवं मेड़ता से अपने संबंध बिगाड़ दिए थे। इसी वजह से बीकानेर का कल्याणमल एवं मेड़ता का वीरमदेव शेरशाह की शरण में चले गये।[4] इससे शेरशाह का राजस्थान में प्रवेष का मार्ग प्रषस्त हो गया। यह आगे जाकर राजस्थान के शासकों की पराधीनता का कारण भी बनता है। शेरशाह के सहयोग से वीरदेव को मेड़ता तथा कल्याणमल को बीकानेर मिलता है।

---

1 Somani, Ram Vallabh, History of Mewar, P. No. 156

2 जोधपुर की ख्यात, पृ. 76

3 मारवाड़ का इतिहास, भाग 1, पृ. 145

4 Hooja, Rima. A History of Rajasthan. P.No. 522

आमेर के कछवाहा जो पहले मेवाड़ के प्रभाव में थे तथा आमेर के पृथ्वीराज खानवा के युद्ध में सांगा की तरफ से लड़े भी थे।[1] पृथ्वीराज अपने राज्य को अपने बारह पुत्रों में विभाजित कर देते है। यह व्यवस्था बारह कोटड़ी कहलाती है। पृथ्वीराज की मृत्यु के कृछ ही वर्षों में आमेर की गद्दी पर कई शासक बैठे थे जो निम्न थे- पूरनमल, भीम, रातहसिंह, आसकरण एवं बिहारीमल। आमेर में हो रहे षड्यंत्रों ने आमेर को कमजोर कर दिया था।[2]

16वीं सदी के ढाई दशक बाद स्थापित मुगल साम्राज्य एवं सूर साम्राज्य के उत्थान-पतन के बीच मेवाड़ उदयसिंह के नेतृत्व में मजबूत राज्य के रूप में उभरता है जिसका प्रभाव उसके आस-पास के राज्यों पर भी था। मेवाड़ महाराणा उदयसिंह जिनका ननिहाल बूंदी था। उदयसिंह बूंदी को अपने प्रभाव में रखता है। मेवाड़ की सहायता से ही सूरजमल हाड़ा बूंदी का शासक बनता है तथा रणथंभौर जैसा शक्तिशाली दुर्ग जो कि शेरशाह के अधिकार में था पुन: मेवाड़ के अधीन लाता है। उदयसिंह ने सिरोही राज्य पर भी अपने नियंत्रण को बनाए रखा था। सिरोही महाराव के उदयंसिंह से वैवाहिक संबंध थे। महाराव मानसिंह शासक बनने से पूर्व उदयसिंह की शरण में था तो शासक बनने के बाद भी महाराणा उदयसिंह का आभार मानता था।[3] इस प्रकार सिरोही एवं बूंदी राज्य स्वतंत्र तो थे किंतु मेवाड़ के प्रभाव में थे।

अकबर की राजपूताना के राज्यों के प्रति नीति एवं प्रताप के पड़ोसी राज्यों से संबंध

1556 ई. में अकबर के राज्याभिषेक हुआ किंतु 1556 से 1562 तक अकबर बैराम खां एवं उसकी धाय माहम अनगा के प्रभाव में था। 1562 ई. से अकबर ने स्वतंत्र शासक के रूप में स्वंय को स्थापित करता है और इसी के साथ अकबर के नेतृत्व में साम्राज्यवादी युग का प्रारंभ होता है। बैराम खां के पतन के

---

1 Sarkar, Jadhunath. History of Jaipur. P.No. 30

2 History of Jaipur. P. No. 32

3 सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 39

समय अकबर हिंदुस्तान का बादशाह बनने से बहुत दूर था।[1] मुगल राज्य के आस-पास कई राज्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए हुए थे। इसी क्रम में अकबर की दृष्टि राजपूताना पर पड़ती है जो कि उस समय कई छोटी-बड़ी रियासतों में विभाजित था। अकबर इसी फूट का लाभ उठाते हुए राजपूताना की रियासतों को एक-एक कर विजय करना प्रारंभ करता है।

अकबर सर्वप्रथम राजपूताना के केन्द्र अजमेर पर अपना अधिकार स्थापित करता है। अजमेर जो कि पहले मालदेव फिर शेरशाह के अधीन था। शेरशाह की मृत्यु के बाद उसका गुलाम हाजी खां अलवर से आकर अजमेर एवं नागौर पर अधिकार स्थापित कर देता है ।[2] हाजी खां के बाद यह दुर्ग अकबर के अधिकार में चला जाता है।[3] अकबर के साम्राज्यवादी नीति का अगला शिकार जैतारण होता है। अजमेर के सूबेदार कासिम खाँ सैयद महमूद बाराह और शाह कुली खाँ को जैतारण अभियान पर भेजते है। जैतारण के ऊदावत रतनसी की मुगलों से हुए संघर्ष में मृत्यु हो जाती है तथा जैतारण पर मुगलों का अधिकार हो जाता है।[4] जयमल और मालदेव के विवाद का लाभ अकबर को मिलता है। जयमल मालदेव के विरूद्ध सहायता के लिए अकबर से मिलता है तो अकबर इस फूट का अवसर के रूप में प्रयोग करता है। अकबर शर्फुद्दिन मिर्जा को भेज कर मेड़ता पर अधिकार स्थापित कर देता है।[5] बाद में अकबर का अधिकार परबतसर पर भी हो जाता है।[6] अत: 1562 ई. तक अकबर का राजपूताना में अजमेर, नागौर, परबतसर एवं मेड़ता पर था।

1562 का वर्ष राजपूताना के इतिहास में एक महत्वपूर्ण भूचिह्न के रूप में है। इसी वर्ष जब राजपूताना के सबसे शक्तिशाली शासक मालदेव की मृत्यु हो

---

1 अकबर महान्, पृ. 42

2 Elliot and Dowson. The History of India, as Told by its own historian. Vol. 6. P.No. 21

3 राजस्थान के प्रमुख दुर्ग, पृ. 92

4 मारवाड़ का इतिहास, पृ. 137, जोधपुर राज्य की ख्यात, पृ. 92

5 बांकिदास की ख्यात, पृ. 60

6 मारवाड़ का इतिहास पृ. 140

गई। 1562 ई. में ही अकबर का आमेर के राजा भारमल की पुत्री से विवाह होता है जिससे मुगल-राजपूत संबंधों की एक शुरूआत होती है।[1] इसी वर्ष अकबर मालवा एवं मेड़ता अभियान कर अपने विजय अभियान की शुरूआत करता है। अकबर के विजय अभियान आने वाले वर्षों में भारत के राज्यों की सीमाओं एवं संबंधों में परिवर्तन लाने वाले थे।

16वीं सदी का राजस्थान

16वीं सदी के उत्तरार्द्ध में राजपुतान के राजकीय परिदृश्य पर नजर डाल तो राजपुताना किसी भी शक्तिशाली शासक के साम्राज्य विस्तार हेतु एकदम उपयुक्त स्थान प्रतीत होता है। इस समय राजपुताना में ऐसा कोई भी शासक नहीं था जो कि सभी शासकों को एक झण्डे के नीचे ला सके। मालदेव एक शक्तिशाली शासक के रूप में उभरता अवश्य है किन्तु शेरशाह से गिरी - सुमेल के युद्ध में मिली पराजय से उसकी स्थिति तुलनात्मक रूप से कमजोर हो जाती है। मालदेव की नीतियां भी अदूरदर्शितापूर्ण थी जिसकी वजह से बाहरी शक्तियों को राजपुताना में प्रवेश का अवसर भी मिलता है। इसी समय मेवाड़ उदयसिंह के नेतृत्व में एक प्रभावी शक्ति के रूप में उभरने का प्रयास कर रहा होता है। इसके अतिरिक्त अन्य रियासतें आपसी संघर्ष में व्यस्त होती है।

अकबर द्वारा राजपुताना में कूटनीतिक प्रयासों द्वारा प्रभुत्व स्थापित करने की प्रक्रिया को समझने हेतु राजपुताना को दो भागों में बांटकर देख सकते है। पहला उत्तरी राजपूताना तथा दूसरा दक्षिणी राजपूताना। अकबर के राजस्थान में हस्तक्षेप करने की प्रक्रिया भी उत्तरी राजपूताना से प्रारम्भ होती है। उत्तरी राजपूताना में तीन प्रमुख रियासतें थी आमेर, मारवाड़, बीकानेर एवं जैसलमेर। उस समय की चारों रियासतों की परिस्थितियों को देखें तो वहाँ आंतरिक कलह एवं संघर्ष दिखाई देता हैं। यह परिस्थितियाँ अकबर के द्वारा वहाँ कूटनीतिक सेंध लगाने हेतु उपयुक्त अवसर था।

---

1 History of Jaipur. P.No. 35

अकबर की राजनीतिक स्थिति

1556 ई. में जब अकबर शासक बना तब वह किसी निश्चित प्रदेश का स्वामी नहीं था। अगर केवल उत्तर भारत की ही बात करें तो पाँच वर्ष बाद पंजाब जिसमें मुल्तान सम्मिलित था, पूर्व में इलाहाबाद तक तथा मध्य भारत में ग्वालियर और राजस्थान में अजमेर उसके सुदृढ़ अधिकार में था। किन्तु भारत का एक बड़ा हिस्सा मुगल राज्य की सीमाओं से बाहर था। हिमालय के विभिन्न राज्य, कश्मीर सहित पूर्ण रूप से स्वतंत्र थे। बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मालवा, गुजरात, राजपुताना तथा सिन्ध के राज्य तथा यहाँ के बहुसंख्यक सामन्त किसी का भी आधिपत्य स्वीकार नहीं करते थे।[1] सही अर्थों में अकबर 1562 ई. में ही उत्तर भारत को विजय करने तथा देश का शहंशाह बनने की नीति योजना तैयार करता है। उस संदर्भ में पहले आस-पास के राज्यों को विजय करने की नीति अपनाता है। इसी के तहत बैरम खाँ की मृत्यु के बाद अकबर की पहली विजय मालवा की थी।[2] अकबर की इसी साम्राज्यवादी भावना के चलते पंद्रह साल के भीतर मुगल साम्राज्य की सीमाएं ऊपरी गंगा घाटी से लेकर मालवा, गोंडवाना, राजस्थान, गुजरात, बिहार और बंगाल तक विस्तृत हो गई।[3] अकबर द्वारा मालवा एवं गढ़-कटंगा की विजय के बाद राजस्थान की ओर रूख किया।

राजस्थान के राज्यों पर प्रभाव स्थापित करने हेतु कूटनीतिक तथा अकबर की साम्राज्यवादी नीति के दर्शन अकबरनामा में होते है जहाँ अकबर कहता हैं कि, "एक राजा को विजय के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए नहीं तो पड़ोसी शासक उसके विरूद्ध शस्त्र उठा लेते है।" साथ ही वह यह भी कहता है कि "सेना को सदैव युद्धों में व्यस्त रखना चाहिए, क्योंकि युद्धाभ्यास के अभाव में सैनिक आलसी और विलासी हो जाते है।"[4] अर्थात् अकबर अपनी राजधानी आगरा एवं उसके आसपास के प्रदेशों को जीतने की नीति का अवलंबन करता है। अत:

---

1 Akbar the Great. P.No. 66; मुगलकालीन भारत, पृ. 138

2 मुगलकालीन भारत, पृ. 138

3 सतीश चन्द्र, मध्यकालीन भारत, पृ. 98

4 मुगलकालीन भारत, पृ. 138

राजपूताने के राज्यों को जीतना इसी नीति का सामान्य अंग था। वहीं सतीश चन्द्रा का यह मानना है कि मालवा व गढ़-कटंगा के विपरीत, राजस्थान पर मुगलों के आक्रमण करने के पीछे न तो प्रादेशिक विस्तार की इच्छा थी और न धन लोभ की प्रेरणा। गंगा घाटी में आधारित कोई भी साम्राज्य तब तक अपने को पूरी तरह सुरक्षित नहीं समझ सकता था जब तक कि राजस्थान में उसके बाजू में एक शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी सत्ता-केन्द्र मौजूद रहे। इसी कारण राणा सांगा के साथ बाबर का और राव मालदेव के साथ शेरशाह का संघर्ष हुआ था। राजपुताना एक सैनिक शक्ति के साथ ही एक महत्वपूर्ण सामरिक स्थिति पर भी स्थित था और उसके समुद्री बंदरगाहों तथा मालवा तक पहुंचने वाले मार्ग राजस्थान से होकर गुजरते थे। उन पर तब तक नियंत्रण नहीं किया जा सकता था जब तक कि राजपूताना पर प्रभुत्व न हो। अत: सतीश चन्द्र लिखते है कि राजस्थान पर प्रभुत्व एक साध्य का साधन था।[1] अकबर के लिए उत्तर भारत की विजय तभी स्थायी हो सकती थी जब वह चित्तौड़, रणथम्भौर एवं कालिंजर की विजय करें।[2] इस समय चित्तौड़ अकबर के विरोधियों का केन्द्र भी बन रहा था जहाँ बाज बहादूर को शरण दे रखी थी अत: इस हेतू भी अकबर का राजस्थान विजय अभियान अपरिहार्य था।

जबकि अहसान रजा खाँ का मानना है कि अकबर की प्रारम्भिक विजयों को अधिकतर अफगानों या बागी मुगल कुलीनों के खिलाफ मुगलों की फौजी कारवाइयों की तथा दरबार की राजनीति की उपज मानते है।[3]

राजपूताना के राज्य एवं शक्ति संतुलन

उत्तरी राजपूताना की रियासतों में सर्वाधिक प्रभावशाली रियासत मारवाड़ थी। मालदेव जिसने 52 युद्ध किए थे तथा जिसके अधीन 58 परगने थे जिनमें मेवाड़, बीकानेर, अजमेर, आमेर एवं शाही हाकिम के भी कुछ प्रदेश थे।[4] मालदेव

1 सतीश चन्द्र, मध्यकालीन भारत, पृ. 102

2 राजेन्द्र शंकर भट्ट, मेवाड़ के महाराणा और शंहशाह, पृ. 133

3 इरफान हबीब, अकबर और तत्कालीन भारत, पृ. 20

4 विश्वेश्वरनाथ रेउ, मारवाड़ का इतिहास, भा-1, पृ. 141

की शक्ति को आघात शेरशाह से लडे गए गिरी सुमेल युद्ध से हुई पराजय से लगा है।[1] शेरशाह के माध्यम से ही कल्याणमल बीकानेर का राज्य प्राप्त करने में सफल रहता है। 1562 ई. से पूर्व तक उत्तरी राजपूताना की रियासतों का शक्ति संतुलन बनाए रखते है। इन सभी रियासतों में कोई भी इतनी शक्तिशाली नहीं थी कि दो रियासतों के गठबंधन का सामना कर सके अत: गुटबंदि की संभावना मौजूद थी।

इस समय सभी रियासतों में संघर्ष होने से उनमें एकता नहीं थी। जब आमेर के शासक पृथ्वीराज के पुत्र सांगा व रतनसी के वैमनस्य था तब सांगा सहायता हेतु अपने ननिहाल बीकानेर जाकर राव जैतसी से सहायता मांगता है।[2] राव जैतसी को भी जोधपुर के मालदेव के आक्रमण का सामना करना पड़ा था।[3] बीकानेर भी विवादों से घिरा हुआ था। बीकानेर एक तरफ नागौर और नारनौल के अफगान राज्यों के बीच फंसा हुआ था तो जैसलमेर से भी उसका विवाद चल रहा था।[4] भाटी, जौहियों एवं स्वैच्छाचारी डाकुओं द्वारा किए जा रहे हमलों ने भी बीकानेर के शासकों को दिल्ली के बादशाहों से सम्बन्ध स्थापित करने को मजबूर किया।[5] बीकानेर राजघराने और केन्द्रीय शक्तियों के बीच स्थापित होने वाले सम्बन्धों का एक कारण बीकानेर की आवश्यकता भी थी क्योंकि वे जोधपुर राज्य के हमलों और अपने राज्य के लुटेरों और उपद्रवी लोगों से अपनी रक्षा चाहते थे।[6]
थे।[6]

जहाँ केन्द्रीय शक्तियों के बीकानेर में प्रवेश की रूचि की बात है तो, भूमिगत बनावट द्वारा उत्पन्न बाधा और बीकानेर राज्य की जलवायु के कारण बाहर के लोगों में बीकानेर के लिए कोई आकर्षण नहीं होता और बीकानेर का इतिहास सामान्यत: स्थानीय महत्व के मामलों तक सीमित रह जाता। किन्तु

---

1 नैणसी की ख्यात भाग-1, पृ. 120

2 सोलहवीं सदी का राजस्थान, पृ. 141

3 वही, पृ. 148

4 बीकानेर का केन्द्रीय शक्तियों से सम्बन्ध, पृ. 68

5 वही, पृ. 11

6 वही, पृ. 50

बीकानेर की दिल्ली से निकटता ने इसके महत्व में वृद्धि कर दी अत: दिल्ली के शासकों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपने निकट स्थित राज्य को सैनिक दृष्टि से कम न समझें। बीकानेर के उत्तरी सीमा पर स्थित भटनेर एवं भटिण्डा के दुर्ग के कारण इसका महत्व और बढ़ गया था। इन दुर्गों पर अधिकार किए बिना पूर्वी पंजाब पर अधिकार करना सम्भव नहीं था।[1]

जयपुर, जोधपुर एवं बीकानेर तीनों की सीमाएँ मिली हुई थी। जयपुर राज्य के सन्धि करने के बाद एक बार फिर उत्तरी राजपुताना का शक्ति सन्तुलन बिगड़ गया था। जयपुर मुगल वंश के करीबी होने की वजह से बेहद शक्तिशाली हो गया था। वहीं जोधपुर पर मुगलों का अधिकार हो चुका था। नागौर भी मुगलों के प्रभाव में था।

राजपुताना के राज्यों में सर्वप्रथम आमेर अकबर की अधीनता स्वीकार करता है। आमेर द्वारा अधीनता स्वीकार करने के संदर्भ में जन्दुनाथ सरकार ने तीन प्रमुख कारण बताए है- पहला और प्रमुख कारण आमेर की दिल्ली के निकट स्थित होना तथा दूसरा अजमेर स्थित ख्वाजा मुइनुद्धीन चिश्ती की दरगाह जिसका मार्ग आमेर से होकर गुजरता था। तीसरा कारण मारवाड़ राज्य की सीमाएं आमेर को छु रही थी जो संघर्ष का कारण बनती थी व दिल्ली एवं जोधपुर के बीच स्थित होने के कारण जयपुर इन दोनों के बीच पीस रहा था।[2] इसके जयपुर के आंतरिक कारणों ने भी उसे शाहीखेमे में जाने हेतु विवश किया। क्योंकि भारमल पहले आसकरण का तथा बाद में पूरणमल के पुत्र सूजा व मेवात का गर्वनर मुहम्मद शरर्फद्धीन के विरोध का भी सामना करना पड़ रहा था।[3] अत: अपने राज्य को बचाने हेतु भारमल अकबर की शरण में चला गया।

अकबर की राजपूत नीति

सतीश चन्द्र अकबर की राजपूत नीति को उसकी उदार वैवाहिक सम्बन्ध,[4] सम्बन्ध,[4] स्थापित करने तथा धार्मिक सहिष्णुता,[1] की नीति से सम्बन्ध मानते

1 श्री कन्हैयाबाज देव, बीकानेर का इतिहास, पृ. 9

2 Jadunath, Sarkar. A History of Jaipur. P.No.29

3 राजा मानसिंह आमेर, पृ. 30

4 मध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ. 109

है। वहीं आर्शीवादी लाल श्रीवास्तव,[2] विंसेण्ट स्मिथ[3] तथा इक्तिदार आलम खाँ[4] अकबर की राजनीतिक नीति को तत्कालीन राजपूत परिस्थितियों की जरूरत मानते है। उपर्युक्त नीति के बारे में इक्तिदार आलम खाँ अपने शोध के माध्यम से बताते है कि अकबर की नीति वर्ग एवं राजनीतिक परिस्थतियों से प्रभावित थी।1555 ई. से जहाँ तुरानी एवं ईरानी अमीर मुख्य थे जिसमें तुरानी अमीर अधिक प्रभावशाली थे। किंतु 1562-67 के बीच तुरानी अमीरों के अधिकार कम कर दिए गए क्योंकि उस समय अकबर को तुरानी अमीरों के छः विद्रोहों का सामना करना पड़ता है तब वह ईरानी अमीरों के अधिकारों में वृद्धि करता है। 1561 ई. में ईरानी व तुरानी अमीरों को प्रति संतुलित करने के लिए ही अकबर शेखजादा व राजपूतों को सामंत वर्ग में शामील करता है। राजपूतों के विरूद्ध इस्लामी शक्तियों को अर्थात् ईरानी, तुरानी एवं भारतीय मुसलमान शेखजादों एकजुट करने हेतु 1575 ई. में फिर जजिया आरोपित करता है व चित्तौड़ विजय के पश्चात् उत्तेजक भाषापूर्ण 'फतहनामा' जारी करता है। जो अकबर की सहिष्णुतापूर्ण नीति से मेल नहीं खा रहा था। अकबर के बिल्ग्राम के काजी अब्दुलसमद तथा कस्बे के अन्य अधिकारियों को दिए गए मूर्तिपूजा रोकने के निर्देश इसी रूप में देखे जा सकते है।

उपर्युक्त तथ्यों से यहीं प्रतीत होता है कि अकबर एक बेहद योग्य व कूटनीतिक शासक था। अकबर राज्य की आवश्यकतानुसार नीति का निर्माण करता था। अत: 1561 ई. में खानजादा एवं राजपूतों के सामंतवर्ग में शामील होने के बाद राजपूतों को अपनी ओर मिलाने हेतू 1562 तीर्थयात्रा कर, 1563 युद्ध बंदियों के धर्म-परिवर्तन पर रोक तथा 1564 ई. में जजिया की समाप्ति जैसे उदार विचार एवं सहिष्णु दृष्टिकोण को अपनाता है किंतु 1562 से 67 तक

---

1 वही, पृ. 110

2 अकबर महान, पृ. 157

3 Akabar the Great. P.No. 54

4 The Nobility under Akbar and the Development of his Religious Policy, 1560-80. Iqtidar Alam Khan, The Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland No. 1/2 Apr. 1968. P.No. 30

राजपूतों को मुगलों के पक्ष में प्रलोभित करने में असफल रहता है।[1] क्योंकि अभी तक मेड़ता, रींवा के राजाराम चन्द्र एवं आमेर के अतिरिक्त कोई महत्वपूर्ण सफलता नहीं मिली थी।[2] अकबर ने उजबेगों के विद्रोह के दमन के तुरंत बाद अपनी राजपूत नीति में परिवर्तन कर दिया और उनको अधीन करने की आक्रमक नीति का सहारा लिया। अकबर की राजपूत नीति में विरोधाभास यहीं दिखता हैं कि उसने कोई शांती समझौता या दूत भेजे बिना चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। वहीं अबुल-फजल भी चित्तौड़ पर आक्रमण का ठोस कारण नहीं देता है एक स्थान पर कहता है कि "बादशाह ने शक्तिसिंह से युद्ध की बात हो यूं ही मजाक में कही थी और इतने छोटे भू-स्वामी के विरूद्ध इतना शक्तिशाली सम्राट क्यों जायेगा" तथा दूसरी जगह वह लिखता है कि "अकबर राणा की उद्दण्डता एवं सुदृढ़ किले के अधिकार के घमण्ड को दण्डित करना था।" निजामुद्दीन और बदायुनी आक्रमण का कारण बाज बहादुर को शरण देना बताते है।[3]

उपर्युक्त कथन बताते है कि अकबर शुद्ध साम्राज्यवादी भावना से प्रेरित था। अकबर की मेवाड़ के प्रति जो कूटनीति हमला था वह उसकी उदार नीति की विफलता के पूरक नीति के रूप में था। अकबर की यह नीति राजपूतों के मनौविज्ञान को प्रभावित करने की थी। मेवाड़ के राणाओं की राजपूताना में विशेष ख्याति थी जो हिन्दुआ सूरज माने जाते थे अगर राजपूतों के मनोबल चित्तौड़ को ही तोड़ दिया जाएं तो बाकी अन्य स्वत: ही समर्पण कर देंगे। चित्तौड़ विजय के अगले ही वर्ष 1569 ई. में अकबर ने रणथम्भोर जैसे अभेद्य दुर्ग पर भी आक्रमण कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया इच्छानुरूप ही हुई जब 1570 ई. को बीकानेर, जैसलमेर एवं जोधपुर ने आत्मसमर्पण कर दिया[4]

---

1 हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत का इतिहास, भाग-2, पृ. 223

2 The Nobility under Akbar and the Development of his Religious Policy, 1560-80. Iqtidar Alam Khan, The Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland No. 1/2 Apr. 1968. P.No. 31

3 मेवाड़ मुगल सम्बन्ध, पृ. 47

4 मेवाड़-मुगल, पृ. 149; Akabar the Great P.No. 198 पृ. 47; मेवाड़ के महाराणा और शंहशाह अकबर, पृ. 47

अकबर की चित्तौड़ विजय के साथ मेवाड़ की शक्ति को गहरा आघात लगता है। 1568 ई. ही चित्तौड़ पतन के साथ ही दीर्घकाल तक चलने वाले मेवाड़-मुगल संघर्ष का प्रारम्भ होता है। अकबर 1569 ई. रणथम्भौर, अगस्त 1569 ई. कालिंजर, नागौर दरबार 1570 ई., तथा 1571-72 ई. गुजरात में उलझा होने के कारण मेवाड़ पर ध्यान नहीं दे सका। वहीं मेवाड़ को सैन्य तैयारी हेतु पर्याप्त समय मिल जाता है।

मुगलों के विरूद्ध चलने वाले दीर्घकालीन संघर्ष में सफलता का श्रेय प्रताप के नेतृत्व को है। प्रताप ने राज्य के आंतरिक संघर्ष को रोककर, सभी को एकजुट रख तथा सफलतापूर्वक विदेश नीति का संचालन किया। राजपुताना के उत्तरी राज्यों के समर्पण के कारणों को देखें तो- पहला उन राज्यों में होने वाला आंतरिक संघर्ष तथा षड्यंत्र था। जिनकी वजह से ये राज्य अर्थात् जोधपुर, बीकानेर एवं आमेर कमजोर हो गए थे, तथा अपनी इन्हीं समस्याओं से उबरने के लिए वे बाहरी शक्ति अर्थात् मुगलों के प्रभाव में चले गये। दूसरा कारण उत्तरी राजपूताना के राज्यों का शक्ति सन्तुलन बिगड़ने से वे प्रतिरोध करने में सक्षम नहीं थे। अत: सरलता से मुगलों संप्रभुता के अधीन आ गये।

मार्गेन्थो के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र यथास्थिति को बनाए रखने अथवा परिवर्तित करने के लिए दूसरे राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है। इसके लिए परिणामस्वरूप जिस ढांचे की आवश्यकता होती है वह शक्ति संतुलन कहलाता है। वहीं आई. एल. क्लाड का मानना है कि शक्ति संतुलन एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें विभिन्न राष्ट्र अपने आपसी शक्ति सम्बन्धों को बिना किसी बड़ी शक्ति के हस्तक्षेप के स्वतंत्रापूर्वक संचालित कर सकते है।[1] राजनीति विचारों का अन्तर्राष्ट्रीय शांति में शक्ति संतुलन के सिद्धान्त को एक मूलभूत तत्व के रूप में स्वीकार करते है। शक्ति संतुलन सिद्धान्त का जो मूल तत्व है वह "साम्यता" अथवा "सन्तुलन" है। शक्ति संतुलन की व्यवस्था "साम्यता" को जब कभी आंतरिक एवं बाह्य रूप से शक्ति द्वारा असंतुलित किया गया तो शक्ति संतुलन के तंत्र में यह स्वाभाविक प्रवृत्ति पाई जाती है कि वह या तो पुन: स्वंय को मूल रूप में या "नई साम्यत" को स्थापित करें। इस

1 के.के. मिश्रा, सुभाष शुक्ला, अंर्तराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त, पृ. 106

प्रकार की "साम्यता" या "सन्तुलन" हर प्रकार की व्यवस्था में पाया जाता है भले ही वह सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक या शरीर का अंग हो।[1]

अकबर एक महत्वकांक्षी एवं साम्राज्यवादी शासक था चूंकि साम्राज्यवादी शासक अपने राज्य की सीमाओं में वृद्धि करने हेतु जैसे ही अन्य राज्य की सीमाओं का अतिक्रमण करता है और शक्ति संतुलन विकृत होना प्रारम्भ हो जाता है। अकबर के साम्राज्य विस्तार की नीति ने पहले उत्तरी राजपूताना की शक्ति संतुलन बिगाड़ दिया था। यह अकबर की कूटनीति का हिस्सा था। स्पाइकमैन का कहना है कि प्रत्येक देश केवल उसी शक्ति सन्तुलन में रूचि लेता है जो उसके हित में होता है। इस प्रकार जो राष्ट्र शक्ति संतुलन की स्थापना करना चाहता है वह संतुलन नहीं बल्कि अपने हित में असंतुलन स्थापित करने का प्रयत्न करता है।[2] अकबर भी यहीं कर रहा था।

अकबर व प्रताप के कूटनीतिक सम्बन्धों को देखें तो अकबर एक साम्राज्यवादी शासक होने से उसकी नीतियां आक्रमणात्मक थी वही प्रताप की नीतियां रक्षात्मक दिखाई देती है। अकबर एक साम्राज्यवादी शासक होने के नाते कौटिल्य के 'विजिगीषु' राज्य के रूप में दिखाई देता है। वहीं प्रताप मैकियावली के समीप दिखाई देता है। प्रताप के संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण कूटनीतिक सफलता दक्षिण राजपूताना के शक्ति संतुलन को बनाए रखना था। यही प्रताप की सफलता का आधार भी था। कौटिल्य के मण्डल सिद्धान्त पर विचार करते है तो कौटिल्य कहता है कि 'विजिगीषु' राजा के चारों ओर के राजा शत्रु होते है[3]। प्रताप की स्थिति कौटिल्य की बताई स्थिति से भिन्न होने की वजह से कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त प्रताप पर लागू नहीं होता है।[4] क्योंकि प्रताप इन्हीं पड़ोसी राज्यों के गठबन्धन के आधार पर केन्द्रीय साम्राज्यवादी सत्ता को चुनौती दे रहा था।

1 Morgenthau, Hans. Politics among nation. P.No. 120

2 अंर्तराष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त, पृ. 106

3 अर्थशास्त्र, पृ. 446

4 प्रो. के. एस. गुप्ता भी विभिन्न आख्यानों तथा अपने लेख महाराणा प्रताप एवं पड़ोसी राज्य, युग पुरुष महाराणा प्रताप में इस मत का प्रतिपादन किया।

अकबर की 'विजिगीषु' राज्य की एवं "शक्ति संतुलन बिगाड़ने" की कूटनीतिक नीति का प्रतिसंतुलित करने के लिए प्रताप "शक्ति संतुलन" को बनाए रखने हेतु हस्तक्षेप, युद्ध एंव गठबन्धन जैसे उपकरणों का प्रयोग कर रहा था।

प्रताप द्वारा शक्ति संतुलन को बनाए रखने की नीति

प्रताप को अपने पितामह व पिता अर्थात् सांगा एवं उदयसिंह से विरासत में मेवाड़ के नेतृत्व को स्वीकार से वाले पड़ोसी राज्यों का संघ मिला था।[1] 1568 से 1572 तक चित्तौड़ के प्रति अकबर द्वारा किसी प्रकार की कोई कार्यवाही नहीं की थी क्योंकि इस समय वह अन्य राजपूत राज्यों पर प्रभुत्व स्थापित करने में व्यस्त था। 1572 ई. में जब प्रताप मेवाड़ के सिंहासन पर बैठा तो तब वह इस तथ्य से भली-भांति परिचित थे कि अकबर की अधीनता स्वीकार करने पर उसे लम्बे व कठोर संघर्ष हेतु तैयार रहना होगा।[2] अत: अकबर की नीतियों का उत्तर देने हेतु प्रताप ने राजपूताना के राज्यों के गठबन्धन को मजबूत करने का प्रयास किया।

प्रताप के गठबन्धन की नीति के दो रूप दिखायी देते है - 1. राज्य विहीन मुगल विरोधी शक्तियों का सहयोग 2. मेवाड़ व आस-पास के शासक वर्गों का समर्थन[3]प्रताप के गठबन्धन में राज्यविहीन मुगल विरोधी शक्तियों में राव चन्द्रसेन, बूंदी के राव दूदा तथा डूंगरपुर के रावल आसकरण का पुत्र सहसमल प्रमुख थे। प्रताप के गठबन्धन में शामील मेवाड़ के आस-पास के राज्यों में डूंगरपुर, बांसवाड़ा, देवलिया (प्रतापगढ़), सिरोही, ईडर तथा जालौर प्रमुख थे। प्रताप की गठबन्धन की इस नीति का मुख्य ध्येय यह था कि जब कभी भी केन्द्रीय शक्ति का दबाव किसी एक क्षेत्र मेवाड़ या उसके पास के क्षेत्र पर पड़ता तो आस-पास के सहयोगी राज्य मालवा, गुजरात या मारवाड़ की सीमा के क्षेत्र में शाही थानों को लूटते जिससे की शाही सेना विकेन्द्रीत हो जाएं जिससे उसका दबाव भी कम हो जाएं। 1576 ई. में अकबर के मेवाड़ आक्रमण के समय मुगलों

---

1 सांगा के नेतृत्व में सम्पूर्ण राजपूताना लड़ चुका था। उदयसिंह के सिरोही, बूंदी, बाँसवाड़ा बीकानेर, जोधपुर से अच्छे सम्बन्ध रहे थे।

2 मेवाड़ मुगल मुख्य सम्बन्ध पृ. 61

3 के.एस. गुप्ता, महाराणा और पड़ोसी राज्य, युग पुरुष महाराणा प्रताप, पृ. 155

की शक्ति को विकेन्द्रित करने के लिए अरावली पहाड़ के दोनों ओर के शाही मुल्क लूटने के साथ ही गुजरात के शाही थानों पर हमले शुरू कर दिए।[1] इसी प्रकार सिरोही के राव सुरताण देवड़ा ने अकबर के विरूद्ध विद्रोह कर दिया जिसके विरूद्ध अकबर ने राजा रायसिंह एवं सैय्यद हाशिम बरहा को भेजा। जालौर के ताज खाँ के विद्रोह ने भी शाही सेना को विकेन्द्रीत रखा।

प्रताप ने गठबन्धन को बनाए रखने हेतु हस्तक्षेप एवं युद्ध का भी सहारा लिया था। 1576 ई. में अकबर उदयपुर आता है जब उसे प्रताप को पकडने में सफलता नहीं मिलती है तब वह प्रताप के द्वारा स्थापित शक्ति संतुलन को नष्ट करने का प्रयास करता है। इस नीति के प्रताप के गठबन्धन को तोड़ने हेतु डूंगरपुर एवं बांसवाड़ा के विरूद्ध अभियान करता है[2] और उन्हें अपने अधीन बना लेता है। बांसवाडा व डूंगरपुर को पुन: अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने हेतु भाण सारंगदेवोत के नेतृत्व में सेना भेजता है।[3] इससे पूर्व 1573 ई. में मानसिंह भी डूंगरपुर को मुगल प्रभाव में लाने व प्रयास करता है किन्तु वह सफल नहीं हो पाता है। राजेन्द्र शंकर भट्ट ने मानसिंह की नीति का बहुत अच्छे से विश्लेषण करते हुए कहा है कि "मानसिंह का मेवाड़ पर यह पहला अभियान था, दूसरा हल्दीघाटी का। पहली बार वह मेवाड़ के लिए शांति का सन्देश लेकर चला था, दूसरी बार विनाश का निश्चय लेकर गया। उसका दुर्भाग्य वह दोनों बार असफल रहा।" यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि मानसिंह पहली बार भी कोई शांति-दूत के रूप में नहीं आया था।[4]

आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव के अनुसार 1570 ई. के उत्तरी राजपूताना के समर्पण एवं 1572 ई. के गुजरात विजय के बाद अकबर की नीति प्रताप के पूर्ण घेराबन्दी की नीति थी। अकबर इस घेरेबन्दी में नए शासक पर सैन्य व राजकीय दबाव डाल के समर्पण करवाने हेतु प्रयासरत था।"[5] अत: मानसिंह शांति दूत की

---

1 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 156

2 Akabarnama. Vol. 3. P.No. 272

3 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 159; बाँसवाड़ा राज्य का इतिहास, पृ. 79

4 मेवाड़ में महाराणा और अकबर, पृ. 118

5 अकबर महान, पृ. 197

भूमिका में कम और डूंगरपुर के माध्यम से प्रताप पर राजनीतिक दबाव डालने का प्रयास अधिक था। वहीं प्रताप के इस गुटबन्दी में एक बार सेंधमारी होती तो संघर्ष की सम्पूर्ण नीति की सफलता संदिग्ध हो जाती।

तीसरा - प्रताप ने अपने गठबन्धन को बनाए रखने हेतु डूंगरपुर, बांसवाड़ा, सिरोही एवं ईडर को स्वतंत्रता के लिए संघर्ष हेतु निरन्तर उत्साहित रखा जो संभवत: समान वंश एवं कुलाभिमान के द्वारा या स्वतंत्रता जैसे आदर्श एवं मूल्यों के रूप में। जिस वजह से वे अकबर की अधीनता स्वीकार करने के बावजूद भी अकबर के दरबार में नहीं गए। युद्ध एवं हस्तक्षेप के अतिरिक्त प्रताप ने गठबन्धन को बनाए रखने हेतु आवश्यकतानुसार हस्तक्षेप का भी सहारा लिया। जैसे बूंदी के संदर्भ में राव दूदा को समर्थन देना एवं डूंगरपुर के मामले में सहसमल को समर्थन दिया।

मोगन्थौं शक्ति संतुलन के सिद्धान्त को बताता हुआ कहता है कि जब दो समान शक्ति वाले राज्य दो A और B राज्य है जिसमें से अगर परिस्थितियाँ साम्राज्यवादी राज्य के अनुकूल हो जाती है तो वह उस अवस्था में C की स्वतंत्रता खतरे में पड जाएगी। अगर B राज्य यथा स्थिति का पोषक है और वह कुछ महत्वपूर्ण एंव स्थायी लाभ प्राप्त करने में सफल रहता है तो उस अवस्था में C राज्य की सफलता भी सुरक्षित रहेगी। मेवाड़ तीसरी अवस्था में राज्य में आता है। मेवाड़ के पास स्थायी, महत्वपूर्ण व निर्णायक लाभदायक स्थिति उसकी भौगोलिक स्थिति, दृढ एवं सकारात्मक नेतृत्व तथा स्वामीभक्त सामन्त एवं प्रजा थे। यहीं वे महत्वपूर्ण तत्व थे जिस वजह से तत्कालीन विश्व का महान साम्राज्य का निर्माता अकबर कूटनीति में हार गया। यद्यपि यह प्रताप के नवोदित नीति नहीं थी उदयसिंह एवं उससे पूर्व भी प्रयोग में लाई जा रही थी। यहाँ प्रताप की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि विपरित परिस्थितियों में भी इस नीति को सफलतापूर्वक लागू करना था।

प्रताप अपने राज्यों के गठबन्धन को मजबूत करने हेतु हस्तक्षेप की नीति को भी अपनाया। जब सिरोही राज्य में मानसिंह की मृत्यु के बाद उत्तराधिकारी विवाद चल रहा था तब प्रताप ने हस्तक्षेप करते हुए देवड़ा कल्ला, जो महाराव

जगमाल के बेटे मेहाजल का बेटा और प्रताप का भान्जा था, सिरोही का शासक बनाता है।[1] दूसरी तरफ देवड़ा बीजा, राव सुरताण से समझौता कर देवड़ा कल्ला के विरूद्ध तैयार करता है तथा इस कार्य में वे जालौर के मलिक खाँ की सहायता लेते है।[2] यहाँ कल्ला को हटाने के बाद भी प्रताप द्वारा कोई कार्यवाही नहीं करने तथा भविष्य में सिरोही से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखने की प्रताप की सीमित हस्तक्षेप की नीति प्रतीत होती है। अगर प्रताप यहाँ जोर - जबरदस्ती कर अपने पक्ष के व्यक्ति को शासक बनाने का प्रयास करता तो संभव था कि यह गुट प्रताप के विरूद्ध ही हो जाता या अकबर के पक्ष में समर्पण कर देता। दूसरा प्रताप के प्रभाव का ही असर होगा कल्ला की पराजय के बाद जब उसका जनाना सिराही में ही रह गया था, उसे सुरक्षित एवं हिफाजत के साथ राव कल्ला के पास पहुंचा दिया गया था।[3] बाद में कल्ला के वंशज जो गोडवाड में रहे वह मेवाड़ से दूर प्रताप के प्रभाव क्षेत्र के रूप में कार्य कर रहा होगा।

वैवाहिक कूटनीति

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह आता है कि जब मेवाड़ और अकबर जैसी दो शक्तियों के बीच युद्ध चल रहा था तब अकबर जैसे शक्तिशाली एवं कूटनीतिज्ञ शासक को प्रताप ने कैसे पराजित कर छोट-छोटे राज्यों को अपने पक्ष में बनाए रखा। कूटनीति के सिद्धान्तों के अनुसार दो साम्राज्यवादी शासन से छोटे राज्य अपनी स्वतंत्रता को तभी बनाए रख सकते है जब शक्ति संतुलन उनके पक्ष में हो या प्रबल शक्तिशाली राज्य उसके साथ हो या फिर साम्राज्यवादी राज्य के लिए उसका कोई लाभ न हो। ऐसी अवस्था में ही वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रख सकते थे। इसी प्रकार बफर स्टेट के संदर्भ में माना जाता है कि बफर राज्य हमेशा शक्तिशाली राज्य के प्रभाव में होता है।

1572 ई. में जब प्रताप शासक बना तभी इस नई विकट समस्या का सामना प्रताप को करना था। 1572 में गुजरात विजय के बाद ही दक्षिण

---

1 सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 221; वीर विनोद, भाग-2, पृ. 16

2 सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 221; नैणसी की ख्यात, भाग-1, पृ. 139

3 सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 225

राजपूताना के राज्य मुगल सीमाओं से घिर गए। उस समय प्रताप के समक्ष चुनौति थी कि इन मध्यवर्ती राज्य को मुगल प्रभाव में जाने से रोके। जब मेवाड़ को घेरने की नीति के क्रम में पडौसी राज्यों के विरूद्ध जब सैनिक अभियान हो रहे थे तो प्रताप के लिए आवश्यक था कि वह अपने पड़ोसी राज्यों को सहायता दे अगर वह उस समय उदासीन रहा गया तो मेवाड़ का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा। प्रताप की यह नीति मैकियावली की उस नीति के समान थी जिसमें वह कहता है कि जब दो पड़ौसियों के युद्ध हो रहा हो तो उस स्वंय को एक पक्ष के साथ खड़ा रहना होगा अन्यथा उदासीन रहने पर विजित राज्य आपके राज्य को भी समाप्त कर देगा[1] प्रताप के यथार्थवादी होने से उसे यह स्पष्ट था कि केवल अपने बलबूते पर ही लड़कर सफलता प्राप्त करना असम्भव है। अतः मुगल विरोधी ताकतों को एकजुट करना आवश्यक था।[2]प्रताप ने पड़ोसी राज्यों को एक अवरोधक के रूप में अपने पक्ष में बनाए रखने हेतु शक्ति संतुलन द्वारा जिसके लिए युद्ध, हस्तक्षेप एवं गठबन्धन का प्रयोग किया। ताकि वे प्रताप के समर्थक बने रहे यद्यपि प्रताप ने इसमें बहुत हद तक सफलता भी प्राप्त की किन्तु प्रताप इस गठबन्धन को मजबूत करना चाह रहा था। जिसके लिए उन्होनें वैवाहिक कूटनीति का प्रयोग किया।

दो राज्यों के मध्य विश्वास, सम्बन्धों और मित्रता को मजबूर करने के लिए वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए जाते थे। विवाह कूटनीति का एक महत्वपूर्ण अंग है जिसका प्रयोग भारत की राजनीति में प्राचीनकाल से ही होता रहा है। यहाँ प्राचीनकाल से ही सभी प्रकार के विवाह देखे जा रहे थे। भारतीय राजाओं के मध्य तो भारतीय एवं विदेशी राजाओं के मध्य होने वाले कूटनीतिक विवाह की जानकारी भी मिलती है। जहाँ चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा हेलेना से विवाह करना तो गुप्त शासक समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति में स्पष्ट शर्त के रूप में उल्लेख मिलता है सभी अधीनस्थ राजाओं के लिए सम्राट के परिवार के लिए एक-एक बेटी भेजना आवश्यक था (आत्मनिवेदन कन्योपदान)। न केवल भारत अपितु वैश्विक राजनीति

---

1 Machiavelli. The Prince, P.122

2 जमनेश कुमार ओझा, प्रताप और पड़ोसी राज्यों से सम्बन्ध, महाराणा प्रताप और उनका युग, सं. देव कोठारी, प्रताप और पड़ोसी राज्यों से सम्बन्ध, पृ. 35

विशेषतय: युरोप में भी इसका विशेष महत्व रहा है। काबूर ने ऑस्ट्रिया के विरूद्ध फ्रांस की सहायता प्राप्त करने के लिए लोम्बियर्स समझौते के तहत् सार्डिनिया के शासक विक्टर इमेन्युअल की पुत्री क्लोथिडे का विवाह नेपोलियन के चचेरे भाई जेरोम बोनापार्ट से किया था तथा नेपोलियन ने 1808 ई. में ऑस्ट्रिया को पराजित कर वियना की संधि के तहत् ऑस्ट्रिया की राजकुमारी मेरी लुइसा से विवाह किया था। ऐसे कई उदाहरण देखने को मिलते है।

मध्यकाल में मुस्लिम शक्ति के प्रवेश के बाद भी विवाह कूटनीति का एक महत्वपूर्ण स्तंभ बना रहा। मध्यकाल में राजनीतिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर हिन्दू-हिन्दू, हिन्दू-मुस्लिम एवं मुस्लिम-मुस्लिम शासकों के विवाह के कई उदाहरण मिलते है। 1176 ई. में उच्छा (वर्तमान बहावलपुर) के शासक ने अपनी पुत्री का विवाह शहाबुद्दीन गौरी से किया था। इसी प्रकार दिपालपुर के भाटी राजा रणमल की पुत्री नैला का विवाह सलार रजब से हुआ जिससे फिरोजशाह तुगलक का जन्म हुआ।[1] मारवाड़ के शासक मालदेव ने अपनी पुत्री कनका बाई का विवाह गुजरात के सुल्तान महमूद से, दूसरी बेटी लाल बाई का विवाह इस्लाम शाह सूर से तथा पातर की बेटी रूकमावती (मां तीपू मानो गुनो रोहिला की बेटी) का विवाह अकबर से किया गया।[2] जमाल खाँ मेवाती ने हुँमायू की अधीनता स्वीकार की तो हुँमायू ने उसकी पुत्रियों में से से स्वंय तथा दूसरी से बैरम खाँ का विवाह किया था।[3] इस प्रकार राजनैतिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना सामान्य था।

सामान्य रूप से राज्यों के वैवाहिक सम्बन्धों पर नजर डालते है तो ज्यादातर वैवाहिक सम्बन्ध पड़ोसी राज्यों से या शक्ति संतुलन को बनाये रखने के लिए किए जाते प्रतीत होते है। मेवाड़ के राणाओं का विवाह संबंधों का विश्लेषण करने पर निम्न तथ्य दृष्टिगत होते है। मेवाड़ के महाराणा हमीर, खेता व लाखा के मूलत: चौहान रानियाँ ही थी जबकि मोकल व कुंभा के रनिवास में

1 A History of Jaipur, P.No.36

2 बांकीदास की ख्यात, पृ. 20, सतीश चन्द्र, मध्यकालीन भारत का इतिहास, पृ. 109

3 मध्यकालीन भारत का इतिहास, भाग-2, पृ. 221

विविध जाति की रानियों को स्थान मिला था। रायमल के रनीवास में राठौड़ रानियों की संख्या छः के साथ सर्वाधिक थी। सांगा के अंत:पुर में सर्वाधिक सात हाड़ी रानियां थी। उदयसिंह के नौ चौहान रानियां थी। (सोनगरा -1, चौहान -2, देवड़ा -1, खींची -3) तथा चार राठौड़ रानियां थी। प्रताप के चौहान एवं राठौड़ रानियों की संख्या समान छः-छः रही थी। अमरसिंह के समय फिर राठौड रानियों की संख्या ग्यारह तक पहुँच गई थी।[1] आलोच्य अवधि को ही आधार बना कर तथ्यों का विश्लेषण करें तो सारत: यह दिखाई देता है कि महाराणाओं के रानिवास में चौहान व राठौड़ रानियों की संख्या अधिक रही। इसका कारण था कि मेवाड़ चारों ओर से चौहान (कोटा, बूंदी, सिरोही, गागरोण, पाली तथा मेवाड़ के प्रभावी सामंत) और राठौड़ (जोधपुर, ईडर) राज्यों से घिरा हुआ था। अपने पड़ोसी राज्यों के साथ मजबूत एवं प्रगाढ़ सम्बन्ध के साथ ही विश्वास बनाए रखने हेतु अधिकाधिक वैवाहिक संबंध स्थापित किए गए थे।

जिस प्रकार मेवाड़ के अपने पड़ोसी राज्य से वैवाहिक संबंध रहे थे। वैसे ही सिरोही हो या जोधपुर के अपने पड़ोसी राज्यों से वैवाहिक संबंध थे। जैसे मालदेव की बेटी का विवाह आमेर में हुआ तो बहन का विवाह मेवाड़ मेंहुआ था।[2] प्रताप की वैवाहिक कूटनीति को समझने के लिए हमीर से लेकर अमरसिंह तक की वैवाहिक स्थिति को देखना होगा। हमीर के समय से देखे तो उदयसिंह के पूर्व नौ राजा हुए जिनमें से दो रायमल (11) एवं सांगा (28) के विवाह की संख्या दहाई के अंक को छुती है, अर्थात् 10 से अधिक है, वैसे उनमें भी अधिकतम विवाह संख्या पाँच ही है। उदयसिंह के बीस रानियां थी जो कि अभी तक सांगा के बाद सर्वाधिक थी। उदयसिंह के बीकानेर, जैसलमेर, जोधपुर तथा सिरोही से वैवाहिक सम्बन्ध थे तथा बूंदी ननिहाल था अर्थात् ये तथ्य इस बात के घोतक है कि उदयसिंह एक सुदृढ अवस्था में था। चुनौती भरा काल तो अकबर के भारतीय राजनीति के परिदृश्य में आने के बाद आता है। अकबर के गुजरात विजय के बाद का दौर मेवाड़ के लिए कूटनीतिक चुनौती या युद्ध का काल था। अकबर के

---

1 कुंवर, कुंवरियों का हाल, शोध पत्रिका वर्ष-35, अंक 3-4, पृ. 15

2 जोधपुर राज्य की ख्यात, पृ. 158

कूटनीतिक हमले को प्रतिसंतुलित करना तथा पड़ोसी राज्य को अपने पक्ष में करना प्रताप के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती थी। प्रताप एंव अमरसिंह के विवाह की संख्या को देखे तो जहाँ प्रताप के समय उदयसिंह की तुलना में कम है अर्थात् जहाँ उदयसिंह के 20 रानियां थी वहीं प्रताप के 14 ही रानियां थी। किन्तु वहीं अमरसिंह के 26 रानियां थी जो बताता है कि प्रताप राज्य की स्थिति को मजबूत करने एवं मित्रों की संख्या बढ़ाने में वैवाहिक कूटनीति का सफलतापूर्वक प्रयोग कर रहा था। सांगा के समय जब मेवाड़ शक्ति अपने उत्कर्ष पर था तब भी सांगा के रानियों की संख्या 28 थी वहीं प्रताप के समय सबसे चुनौतीपूर्ण था तब भी प्रताप की सामान्य से अधिक 14 व अमरसिंह की 26 रानियां थी। पडौसी राज्यों के सन्दर्भ में देखे तो सिरोही के राव सुरताण से प्रताप ने अपनी पुत्री का विवाह करवाया था।[1] ईडर का नारायणदास प्रताप का ससुर था।[2] जोधपुर के मालदेव की पोती व रामसिंह की पुत्री फुलकंवर से प्रताप का विवाह हुआ था। शक्तिसिंह के पुत्र भाण का विवाह मोटाराजा उदयसिंह की पुत्री राजकुंवरी से हुआ था।[3] इस प्रकार ईडर, सिरोही एवं जोधपुर के राज्य जिनकी सीमा प्रताप से लग रही थी वैवाहिक सम्बन्धों के माध्यम से संबंधों को मजबूत किया गया। बागड़ के राज्य डूंगरपुर बांसवाड़ा एवं प्रतापगढ़ जो कि सिसोदिया कुल से भी सम्बन्धित थे। अर्थात् सिसोदिया वंश की ही शाखा थी अत: इनसे वैवाहिक सम्बन्ध नहीं होते थे।

प्रताप ने पड़ोसी राज्यों का मेवाड़ के प्रति विश्वास मजबूत करने के लिए तो वैवाहिक सम्बन्धों का प्रयोग किया था। इसी प्रकार आंतरिक सम्बन्धों को भी सुदृढ करना आवश्यक था। जिस प्रकार बाह्य शक्ति सन्तुलन को बनाए रखना आवश्यक था उसी प्रकार आंतरिक शक्ति को राज्य हित में संतुलित करना अतिआवश्यक था। प्रताप ने भी वैवाहिक कूटनीति का प्रयोग आंतरिक शक्ति संतुलन को बनाए रखने हेतु भी किया। प्रताप को जागीर-विहीन सामन्तों का भी अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ था। इन जागीर-विहीन सामन्तों में पाली के सोनगरा,

1 नैणसी की ख्यात, भाग-1, पृ. 142

2 वीर विनोद, भाग-2, पृ.

3 नैणसी की ख्यात, भाग-1, पृ. 64

मेड़ता के राठौड़ तथा ग्वालियर के तंवर[1] तथा झाला सामंत प्रमुख थे। इन तीनों सामन्त वर्ग का मेवाड़ के संघर्ष काल में अमूल्य योगदान है। पाली के सोनगरा जो कि प्रताप के ननीहाल पक्ष से थे प्रताप को हर समय अपने प्राणों की बाजी लगाकर सहायता दी थी। मानसिंह सोनगरा[2] जो कि हल्दीघाटी युद्ध में काम आए तथा भाण सोनगरा[3] कुंभलगढ़ की रक्षार्थ अपने प्राणों का बलिदान कर दिया। इसी प्रकार ग्वालियर के तंवर शासक रामसिंह जो उदयसिंह के समय मेवाड़ आए थे मेवाड़ हेतु अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया। प्रताप ने रामाशाह तंवर से सम्बन्धों में प्रगाढ़ता लाने के लिए वैवाहिक सम्बन्ध बनाए। रामशाह तंवर ने अपनी पोत्री शालीवाहन की पुत्री साहेबकुंवर का विवाह अमरसिंह से करवाया।[4] यही तंवर परिवार हल्दीघाटी के युद्ध में काम आया।[5] हल्दीघाटी युद्ध के बाद भी रामसिंह के पौत्र श्यामसिंह व प्रताप की सेवा में रहे।[6]

इसी क्रम में मेड़ता के राठौड़ो का भी नाम महत्वपूर्ण है। मेड़ता का मारवाड़ एवं मेवाड़ की राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान था। चूंकि मेड़ता, मारवाड़ एवं मेवाड़ की सीमा पर बफर स्टेट के रूप में स्थित था और मारवाड से स्वंय के स्वतंत्र अस्तित्व के लिए लड़ रहा था। अत: उसे एक शक्तिशाली राज्य के समर्थन की आवश्यकता थी। इस समय मेवाड़ मारवाड़ के सम्बन्ध भी अच्छे नहीं थे अत: मेवाड़ एवं मेडतियां राठौडो ने रणनीतिक आवश्यकताओं से प्रेरित होकर राजनैतिक एवं वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। मेडतियाँ राठौडों को 15 वीं एवं 16 वीं सदी में बदनोर, चणोद एवं घाणेराव की जागीर प्रदान की गई थी।[7] मेडतियों राठौड़ के वंशज में वैवाहिक सम्बन्ध महाराणा रायमल के समय से थे। महाराणा रायमल की पुत्री गोरज्या कुमारी का विवाह वीरमदेव से हुआ था।[8]

---

1 के.एस. गुप्ता, महाराणा प्रताप एवं पडौसी राज्य, युगपुरुष महाराणा प्रताप, पृ. 158

2 बांकिदास की ख्यात, पृ. 141

3 वही, पृ. 142

4 मेवाड़ के राजाओं की राणियों, कुंवरो और कुंवरियों का हाल, पृ. 15

5 राणा रासो, पृ. 418; अमरकाव्य, पृ. 249

6 हरिहर-निवास, द्विवेदी, तोमरों का इतिहास भा-2, पृ. 257

7 Kapoor, Nandini Sinha. State Farmation in Rajasthan. P. No. 116

8 देवीलाल पालीवाल, घाणेराव के मेडतिया राठौड़, पृ. 22

वीरमदेव के छोटे भाई रत्नसिंह की पुत्री मीरा बाई का विवाह राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से हुआ था।[1] जयमल मेड़तिया मेवाड़ तीसरे शाके के दौरान प्राणोत्सर्ग करता है तो आगे भी हल्दीघाटी युद्ध में जयमल का पुत्र रामदास काम आता।[2] मेड़तिया राठौड़ गोपालदास (चणोद के जागीरदार) भी हल्दीघाटी के युद्ध में में लड़ता है। झाला सामंतों को योगदान भी अहम् था। इनके मेवाड़ राजवंश से वैवाहिक संबंध थे। झाला मानसिंह हल्दीघाटी के युद्ध में प्रताप की रक्षार्थ काम आता है। मानसिंह के पुत्रों ने भी प्रताप एवं अमरसिंह के काल में मुगल संघर्ष में साथ दिया।[3] प्रताप ने वैवाहिक कूटनीति के माध्यम से आंतरिक एवं बाह्य दोनो स्थिति को मजबूत किया। प्रताप को वीर एवं स्वामीभक्त सामन्तों का साथ मिला।

प्रताप एवं बागड़ राज्यों के संबंध

डूंगरपुर, बांसवाड़ा एवं प्रतापगढ़ के शासक जो गुहिलोत वंश के ही थे, प्रत्यक्ष रूप से चाहे ये प्रताप के साथ मुगलों के विरूद्ध नहीं आये परन्तु प्रताप के लिए उनमें सहानुभूति थी अत: वे कभी मुगल सेना के साथ नहीं गये।[4] मेवाड़ उनकी पितृभूमि होने की वजह से सहानुभूति होना संभव है किन्तु राजनीति विचारकों का मानना है कि राजनीति हितों से परिचालित होती है। अत: प्रताप के कूटनीतिक प्रयास एवं तत्कालीन राजनैतिक मजबूरियों ने बागड़ के राज्य को शाही प्रभाव में जाने से रोका। राजनीतिज्ञों का सामान्य विचार है कि बफर स्टेट सदैव शक्तिशाली राज्य के साथ होता है। इस सन्दर्भ में कौटिल्य एक अन्य मार्ग बताता है कि "दो बलवान राजाओं के बीच में रहता हुआ अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो तो रक्षा करने में समर्थ राजा के पास आश्रय ले अथवा अपने समीपस्थ राजा का आश्रय ले। यदि दोनों ही समीप हो तो कपाल संधि के द्वारा

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 314

2 राणा रासो, पृ. 437

3 गोगुन्दा की ख्यात एवं बड़वा देवीदान की ख्यात से जानकारी मिलती है। प्रताप की पुत्री कुसलकंवर जिसे बड़वा देवीदान ने कुसुम लिखा है इनका विवाह झाला मानसिंह से हुआ था। किंतु कुछ स्त्रोतों में शत्रुशाल को प्रताप का भांजा बताया गया है।

4 नारायणलाल शर्मा, अपराजेय प्रताप, पृ. 43

दोनों का अनुग्रह प्राप्त करे और फिर दोनों में फूट डाले या फिर वह द्वैधीभाव का आश्रय लेकर एक के साथ संधि कर दूसरे से विग्रह करें।[1]

बागड़ की सामरिक एवं राजनीतिक स्थिति देखें तो यह तीन राज्यों से घिरा हुआ था- मालवा, गुजरात एवं मेवाड़। बागड़ के निकट स्थित गुजरात और मालवा के मुस्लिम राज्य अवसर पाकर वहाँ के सुल्तान बागड़ के स्वामियों को दबाते थे अत: बागड़ के शासकों की नीति अवसरपरस्त थी। जब मेवाड़ का दबाव ज्यादा होता तो उन्हे अपना सरपरस्त समझते और यदि गुजरात और मालवा के सुल्तानों की प्रबलता देखते तो खिराज आदि देकर उनसे मेल कर लेते थे। फिर भी इनका झुकाव मेवाड़ की तरफ देखते है। रायमल के समय मालवा का आक्रमण हो, सांगा द्वारा ईडर और खानवा का युद्ध बागड़ ने मेवाड़ का साथ दिया था। उदयसिंह के समय भी सम्बन्ध मित्रतापूर्ण थे।[2] प्रताप की बागड़ के सम्बन्ध सक्रिय हस्तक्षेप की नीति अपनाई। बागड़ में होने वाले उत्तराधिकारी विवाद पर प्रताप ने डूंगरपुर[3] तथा बांसवाड़ा[4] में सेनाएं भेजकर अपने समर्थित उत्तराधिकारी को राज्य सत्ता दिलाने का प्रयास किया। प्रताप का बागड़ पर दबाव निरन्तर बनाए रखने हेतु भी बागड़ के समीप चावण्ड को अपनी राजधानी बनाया। बागड़ को प्रताप किसी भी कीमत पर अकबर के पक्ष में जाने से रोकना चाहता था इसमें प्रताप के दबाव को एवं पूर्ववर्ती इतिहास को देखते हुए बागड़ शासकों ने भी समीपस्थ राज्य के प्रभाव में रहने की नीति को स्वीकार करते हुए 'द्वैधीभाव' का आश्रय लिया। प्रताप की बागड़ को अपने प्रभाव में रखने की नीति सफल रही तभी बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ एवं सिरोही ने अकबर से वैवाहिक सम्बन्ध नही स्थापित किए। बांसवाड़ा के उग्रसेन ने अकबर के विरूद्ध संघर्ष जारी रखा।[5]वहीं डूंगरपुर के

1 अर्थशास्त्र, पृ. 459

2 बाँसवाड़ा राज्य का इतिहास, पृ. 93

3 डूँगरपुर राज्य का इतिहास, पृ. 98

4 बाँसवाड़ा राज्य का इतिहास, पृ. 84

5 वही, पृ. 89

आसकरण ने अकबर की अधीनता विवशता में अवश्य स्वीकार कर ली थी। किन्तु न कभी बादशाही सेवा में गए नहीं मेवाड़ के विरूद्ध लडे।[1]

मेवाड़ वंश के पड़ोसी राज्यों पर प्रभाव सुरजन हाड़ा के उदाहरण से समझा जाता है। सुरजन हाड़ा ने भी अधीनता स्वीकार कर ली किन्तु सन्धि की शर्त के रूप में यह जोड़ दिया कि वह कभी मेवाड़ के विरूद्ध शाही सेना में शामील नहीं होगा।[2]इस प्रकार प्रताप मुगल राज्य के अवरोध के रूप में पड़ोसी राज्यों को स्थापित करने में सफल रहा।

जिस प्रकार अकबर मेवाड़ तथा अन्य राजपूत राज्यों को छोडकर आने वाले राजकुमारों, सरदारों, मन्त्रियों आदि को पनाह देकर ऊंचे-ऊंचे पद देकर उनका साम्राज्य के हित के लिये उपयोग करने की नीति अपनाई।[3] इसे अकबर की बेहतरीन कूटनीति मानी गई जिसमें लेन-देन की नीति अपनाकर अकबर ने सरदारों के हितों को केन्द्रीय सत्ता से जोड़ दिया और एक उच्चत्तर स्तर पर ठोस सम्बन्धों की बुनियाद रखी।[4] इसी प्रकार प्रताप ने भी मुगल विद्रोही तत्वों की शरण देने की नीति अपनाई। दूदा को शरण दी। चन्द्रसेन मेवाड़ के आस-पास के प्रदेशों में रहा था। मारवाड़ के कई सामन्त मेवाड़ आकर रहे, जिनमें मानसिंह सोनगरा, जसवंत सोनगरा, रामदास, सुन्दरदास, मनोहरदास, मुकनदास, आदि मेडतियां राठौड प्रमुख थे।[5] अकबर की नीति का जवाब उसी रूप में दिया था। इस इस प्रकार प्रताप ने डूंगरपुर, बांसवाड़ा, उदयपुर, सिरोही एवं चन्द्रसेन आदि विद्रोही सरदारों का गठबन्धन बना लिया था। यह गठबन्धन कहीं विवाह संबंध के कारण तो कहीं एक ही वंश व कुल के कारण तो कहीं राजनैतिक मजबूरियां एवं भौगोलिक परिस्थितियों के कारण था।

---

1 डूँगरपुर राज्य का इतिहास,पृ. 104

2 नैणसी की ख्यात, भाग-1, पृ. 125

3 देवीलाल पालीवाल, महाराणा प्रताप महान, पृ. 117

4 एस. इनायत अली जैदी, अकबर और राजपूत रजवाड़ों का साम्राज्य में एकीकरण, मध्यकालीन भारत, सं. इरफान हबीब, पृ. 21

5 हुकमसिंह भाटी, वैवाहिक सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में महाराणा प्रताप और मारवाड़, युगपुरुष महाराणा प्रताप, पृ. 107

अकबर का शिष्टमण्डल और प्रताप

चित्तौड़ को 1568 में विजय करने के बाद अकबर अन्य राजपूत राज्यों को शाही शासन के अधीन लाने में व्यस्त हो गया। 1569 ई. में रणथम्भौर एवं कालिंजर अभियान तथा 1570 के नागौर दरबार के बाद लगभग सम्पूर्ण राजपूताना अकबर के प्रभाव में था। इसी दौरान 28 फरवरी 1572 को होली के दिन उदयसिंह की मृत्यु हो गई उसके स्थान पर प्रताप मेवाड़ का शासक बना चित्तौड के तीसरे साके के बाद से उदयसिंह की मृत्यु तक अकबर ने मेवाड़ पर कोई सैन्य अभियान नहीं किया था।[1] 1572 ई. में प्रताप का राज्याभिषेक हुआ तब मेवाड़ के समक्ष कई चुनौतियाँ थी। जहाँ जगमाल उत्तराधिकारी विवाद की वजह से मेवाड़ छोडकर मुगलों के पास चला गया।[2] चित्तौड पर मुगल आक्रमण के कारण राज्य के सामाजिक एंव आर्थिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। चित्तौड़ तथा तथा मेवाड़ का सीमान्त भाग - बदनौर, शाहपुरा और रायला पर मुगलों का अधिकार था।[3] प्रताप के पास केवल 300 मील की परिधि वाला छोटा पर्वतीय भू-भाग था[4]। जब प्रताप गद्दी पर बैठा, तब तक मेवाड़ के उत्तर, पूर्व और दक्षिण पूर्व के सभी ओर से मुगल क्षेत्र से घिरा हुआ था।[5] अकबर सिरोही की ओर ओर भी लगातार सैनिक दबाव बनाए हुए था।

जुलाई 1572 ई. को अकबर गुजरात अभियान पर निकला। इसी क्रम में मेवाड़ में भी उदयसिंह के स्थान पर प्रताप ने शासन ग्रहण किया था। जगमाल भी रूष्ट होकर अकबर की शरण में गया जिसे अकबर ने जहाजपुर की जागीर प्रदान की। इन सभी घटनाओं ने एक बार फिर अकबर को मेवाड़ के प्रति सक्रिय किया।

---

1 मेवाड़-मुगल सम्बन्ध, पृ. 62

2 रावलराणा जी री बात, पृ. 65

3 आर. पी. व्यास, महाराणा प्रताप, पृ. 84

4 महाराणा प्रताप महान्, पृ. 35

5 रघुबीरसिंह, महाराणा प्रताप : जीवन, महत्व व देन, पृ. 20

प्रताप को मुगल संप्रभुता के अधीन हेतु कूटनीतिक रूप से पहले प्रयास के रूप में सितम्बर 1572 ई. वाक् चातुर्य में निपुण दरबारी जलाल खाँ कोर्ची भीलवाड़ा के बागोर स्थान से भेजा। इसके बाद दुसरा दूतमण्डल अप्रैल 1573 ई. को जब अकबर गुजरात के सिधपुर स्थान पर था। मुगल दरबार में एक उभरते सेनापति के रूप में अपना स्थान बना चुके मानसिंह को प्रताप के पास भेजा गया।[1] तीसरे शिष्टमण्डल के रूप में सितम्बर 1573 ई. को अकबर ने अहमदाबाद से राजा भगवंतदास को प्रताप के पास भेजा। अकबर ने चौथे व अंतिम दूतमण्डल के रूप में अक्टूबर 1573 ई. को अकबर के दरबार का प्रमुख हिन्दू दरबारी राजा टोडरमल को प्रताप से मिलने हेतु भेजा।[2] इस प्रकार अकबर ने कुल चार शिष्टमण्डल प्रताप के पास भेजे थे पर चारों ही प्रताप को अकबर के अधीन लाने में असफल रहें।[3]

सर्वप्रथम यह बात महत्वपूर्ण है कि 28 फरवरी 1572 ई. को प्रताप का राज्यारोहण होता है तथा जगमाल रूष्ट होकर मुगल दरबार चला जाता है तब अकबर की तरफ पहला शिष्टमण्डल सात महिने बाद सितम्बर 1572 ई. को आता है। पहले शिष्टमण्डल के आगमन के बाद दूसरा शिष्टमण्डल फिर सात महिने बाद अप्रैल 1573 ई. को मानसिंह आता है। दूसरे शिष्टमण्डल के पाँच महिने बाद तीसरा शिष्टमण्डल प्रताप के पास सितम्बर 1573 ई. को आता है किन्तु अन्तिम चौथा एक माह के भीतर ही अक्टूम्बर 1573 ई. को आता है। दूतमण्डल के मेवाड़ आने का क्रम और अकबर की जीवनी देखें तो उपर्युक्त सारा घटनाक्रम गुजरात अभियान से प्रभावित दिखाई देता है। गुजरात विजय हेतु 4 जुलाई 1572 को अकबर फतेहपुर सीकरी से चला।[4] जब अकबर गुजरात मार्ग के लिए रवाना हुआ तभी उसे मेवाड़ के अधीनता के महत्व का ज्ञान हो गया होगा। अकबर, अजमेर, नागौर, मेडता, सिरोही, आबु रोड़ होते हुए पहुँचा।[5] अत: आगरा

1 Akbarnama. Vol.III. P.No. 57

2 Akbarnama. Vol.III. P.No. 92

3 उदयपुर-चित्तौड़ पाटनामा, भाग-1, पृ. 289

4 राहुल सांकृत्यायन, अकबर, पृ. 199

5 Akbarnama. Vol.II. P.No. 544

गुजरात मार्ग का महत्व पता चल गया। तभी अकबर गुजरात अभियान पर निकलने से पहले बीकानेर के रायसिंह को जोधपुर और सिरोही की जिम्मेदारी सौंप दी थी, ताकि राणा की ओर से वह कोई अतिक्रमण न होने दे और गुजरात की ओर जाने वाले मार्ग को खुला रखे। बाद में जब इब्राहिम मिर्जा ने गुजरात से चुपके से निकल कर नागौर पर घेरा डाल दिया तो रायसिंह और जोधपुर के रामसिंह ने तुरन्त सैनिक कारवाई कर मिर्जा को वहाँ से भगा दिया।[1]

आगे यही मार्ग एवं गुजरात अभियान राजपुताने के केन्द्रीय शक्ति से सम्बन्धों को प्रभावित करने वाला था। संभवत: इसी वजह से ही सतीश चन्द्र ने 1572 के गुजरात अभियान से अकबर की राजपूत नीति को दूसरे चरण की शुरूआत मानी।[2] अकबर के आगरा - गुजरात मार्ग पर अभी ऐसे बहुत से स्वतंत्र राजपूत शासक थे जो कि राज्य की सुरक्षा हेतु खतरा थे। अजमेर पहुँचने के बाद अकबर ने अपनी यात्रा मार्ग को सुरक्षित करने हेतु मीर मोहम्मद खाने कलां को एक बडी सेना देकर आगे भेजा और वह स्वंय पीछे एक बडी सेना के साथ पीछे आया। रायसिंह इस समय अकबर के साथ था। मेड़ता पहुँचने पर उसे ज्ञात हुआ कि सिरोही से मीर मोहम्मद खाने कलां के पास मेल करने के लिये गये हुए दूतों ने धोखे से उस पर वार कर दिया। जब अकबर सिरोही पहुँचा तो एक सौ पचास राजपुतों ने उस पर हमला कर दिया। इसके अलावा राणा प्रताप भी चिन्ता का कारण था और राव चन्द्रसेन भी विद्रोही था। गुजरात का मार्ग जोधपुर होकर जाता था। जो कि असुरक्षित था। गुजरात के किसी भी सैनिक संघर्ष की सफलता हेतु आगरा-गुजरात मार्ग निष्कंटक हो आवश्यक था। इसी वजह से रायसिंह को जोधपुर का सूबेदार नियुक्त किया गया। उसे न केवल जोधपुर का मार्ग खुला रखने बल्कि आगरा और उसके आस-पास के क्षेत्र की रक्षा का कार्य भी सौंपा गया।[3]

---

1 सतीश चन्द्रा, मध्यकालीन भारत, भाग-2, पृ. 112

2 सतीश चन्द्र, मध्यकालीन भारत, भाग-2, पृ. 112

3 सतीश चन्द्र, मध्यकालीन भारत का इतिहास; पृ. 112, बीकानेर के केन्द्रीय शक्ति से सम्बन्ध, पृ. 54

क्षेत्र की महत्ता को देखते हुए पहला दूतमण्डल वाक्पटु जलाल खाँ कोर्ची को भेजा जाता है। फारसी एवं राजस्थानी स्त्रोतों में कहीं भी प्राप्त एवं जलाल खाँ कोर्ची से क्या बात हुई इसकी जानकारी नहीं मिलती है। अकबर का दूसरा दूतमण्डल सात माह बाद आता इसका कारण अकबर उस दौरान गुजरात अभियान में व्यस्त था। 26 फरवरी 1573 ई. को अकबर सूरत विजय कर लेता है।[1] गुजरात विजय से बाद अकबर दूत के रूप में मानसिंह को भेजता है। गुजरात विजय को 6 महिने भी नहीं होते है कि वहाँ फिर विद्रोह हो जाता है और 23 अगस्त 1573 को अकबर फतेहपुर - सिकरी से निकल पड़ता है तथा 2 सितम्बर 1575 को गुजरात विद्रोह का पूर्णरूप से दमन कर देता है।[2] अब अकबर अहमदाबाद से ही तीसरा दूतमण्डल भगवंतदास के नेतृत्व में भेजता है और इसके एक माह बाद ही अन्तिम चौथा दूतमण्डल टोडरमल के नेतृत्व में आता है और वो भी जब टोडरमल गुजरात से फतेहपुर सिकरी जा रहे होते है तब। अर्थात् मेवाड़ आने वाले शिष्टमण्डल तथा अकबर के गुजरात अभियान का गहरा सम्बन्ध था। इस सन्दर्भ में अहसान रजा खां का भी मानना है कि गुजरात अभियान के दौरान ही डूंगरपुर की ओर अकबर का ध्यान गया।[3]

प्रताप के पास अकबर ने जो शिष्टमण्डल भेजे थे उनकी बहुत ही कम जानकारी राजस्थानी स्त्रोतों में मिलती है। अमरकाव्य,[4] राजप्रशस्ति,[5] रावल राणा जी री वात,[6] वंश भास्कर,[7] राणा प्रताप री वात,[8] उदयपुर री ख्यात,[9] वंशावली[10] वंशावली[10] तथा गौरीशंकर ओझा ने भी अकबर के शिष्टमण्डल के रूप में केवल

---

1 Akbarnama. Vol. III. P.No. 27

2 The Emperor Akbar P.No.197; राहुल सांकृत्यायन, अकबर, पृ. 203

3 इरफान हबीब, अकबर और तत्कालीन भारत, पृ. 19

4 अमरकाव्य, पृ. 241

5 राजप्रशस्ति, पृ. 42

6 रावल राणाजी री बात, पृ. 65

7 वंश भास्कर, पृ. 50

8 राणा प्रताप री बात, पृ. 11

9 उदयपुर री ख्यात, पृ. 6 महाराणा स्मृति ग्रंथ

10 महाराणा स्मृति ग्रंथ, पृ. 13

मानसिंह के आने का उल्लेख किया है। जबकि श्यामलदास ने वीर विनोद में मानसिंह के बाद भगवानदास के भी शिष्टमण्डल के रूप मेवाड़ आने का उल्लेख किया है। चारों दूतमण्डल का उल्लेख फारसी ग्रन्थों में मिलता है और वो भी संक्षिप्त में। केवल उदयपुर-चित्तौड़ पाटनामा में प्रथम तीन दूतमण्डल के बारे में कोई जानकारी नहीं दी है केवल चौथे दूतमण्डल के रूप में टोडरमल और प्रताप के बारे में विस्तृत जानकारी दी गई है।

यद्यपि दूतमण्डल के बारे में जानकारी अति संक्षिप्त होने की वजह से अकबर प्रताप के कूटनीतिक सम्बन्धों पर स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता है। फिर भी तत्कालीन परिस्थितियों एवं उपलब्ध जानकारी के प्रकाश में अकबर एवं प्रताप के सम्बन्धों का विश्लेषण किया जा सकता है। प्रथमत: यह तो स्पष्ट है कि अकबर के गुजरात अभियान ने मेवाड़ एवं उसके आस-पास के प्रदेशों का महत्व जाहिर कर दिया था। आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक तीनों ही कारणों से दिल्ली, आगरा एवं गुजरात मार्ग पर स्थित मेवाड़ महत्वपूर्ण था। राजपूताना जो दिल्ली, आगरा तथा पश्चिमी समुद्रतट के बन्दरगाहों के मध्य वाणिज्य की प्रमुख कड़ी था। पर सबसे महत्वपूर्ण इस क्षेत्र पर मानसूनी वर्षा का असर नहीं होता था जबकि अन्य व्यापारिक मार्ग वर्षाकाल में आवागमन योग्य नहीं रह जाते थे। अकबर का गुजरात अभियान वर्षाकाल में ही प्रारम्भ हुआ था। 2 जुलाई 1572 ई. को फतेहपुर सीकरी से चला था तथा 26 जुलाई 1572 ई. को अजमेर में था। राजपूती रियासतों के शुष्क प्रदेश होने की वजह से व्यापारी पूरे साल गतिविधियाँ जारी रख सकते थे। मुगल शासक इन रजवाडों के मध्य से मार्ग विकसित करना चाहते थे ताकि व्यापारिक गतिविधियाँ व सेना की गतिशीलता सुचारू रूप से चलती रहे। इसके अलावा हज के लिए जाने वाले यात्रियों के लिए भी यही मार्ग सुगम रहता था, क्योंकि हज यात्री मुख्यत: गुजरात के दो प्रमुख बंदरगाहों खम्भात तथा सूरत से यात्रा करते थे। ये दोनों बंदरगाह उत्तरी भारत से रजवाड़ा के मध्यवर्ती मार्ग द्वारा सम्बन्ध था। दूसरा पश्चिमी क्षेत्रों से वाणिज्य के लिए महत्वपूर्ण होने के अतिरिक्त दक्कन में प्रवेश का सुगम मार्ग भी इन रजवाडें में से होकर था। राजपुताना का पूर्वी क्षेत्र विंध्य उच्च भूमि का हिस्सा था तथा मेवाड़

के मैदानी इलाकों से सम्पूर्ण मध्य भारत पर मुगलों का नियंत्रण स्थापित किया जा सकता था।[1] इसका उदाहरण तब मिलता है जब जनवरी 1577 ई. में देपालपुर शाही दरबार में जाने को निकले अलबँदायूनी को परेशानी का सामना करना पड़ा क्योंकि उस समय मेवाड़ से होकर जाने वाले सभी प्रमुख मार्ग अवरूद्ध हो गये थे। तब वह मेवाड़ व बांसवाड़ा के सीधे रास्ते नहीं आ सका इसलिये उसे विवश होकर ग्वालियर, सारंगपुर व उज्जैन होते हुए देपालपुर पहुँचा।[2]

अकबर गुजरात अभियान के दौरान राजपूताना एवं गुजरात क्षेत्र में ही था तथा मेवाड़ में नए शासक को स्थापित हुए ज्यादा समय भी नही बीता था। अत: प्रताप पर दबाव बनाने की नीति के रूप में शिष्टमण्डल को भेजा।[3] अकबर ने प्रथम दूतमण्डल के रूप में जलाल खां कोर्ची को भेजा। चूंकि इसके आगमन के कुछ माह पहले ही प्रताप शासक बना था। अत: प्रताप ने कूटनीति से काम लेते हुए इसी प्रकार से बातचीत की होगी की प्रत्यक्ष रूप से समझौते की बात करके भी इस प्रकार की आशा जगाई की वे समझौता कर सकते है। यद्यपि इस वार्ता के सन्दर्भ में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं है फिर भी माना जा सकता है कि 27 नवम्बर 1572 को जलाल खाँ ने अहमदाबाद पहुँचकर अकबर को प्रताप के साथ हुई वार्ता की जानकारी दी।

प्रथम दूतमण्डल के संन्दर्भ में प्रताप किसी प्रकार के संघर्ष में उलझना नहीं चाहता था। क्योंकि उन्हें शासक बने अभी कुछ ही समय हुआ था। प्रताप सैन्य शक्ति को तैयार हेतु कुछ समय चाहते थे। अत: प्रताप का प्रयास संघर्ष को कुछ समय टालने का रहा था। रघुवीर सिंह जी का भी मानना है कि जलाल खां की भेंट औपचारिक तथा आगे संपर्कों की भूमिका मात्र थी।[4]

अकबर ने दूसरे दूतमण्डल के रूप में कुंवर मानसिंह को भेजा। यहाँ से अकबर की दूतमण्डल कूटनीति पर प्रकाश पड़ता है। अकबर ने प्रताप को मनाने

1 हरिश्चन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, भाग-2 पृ. 225

2 देवीसिंह मंडावा, स्वतंत्रता के पुजारी महाराणा प्रताप, पृ. 117

3 A. L. Srivastav, Akbar the Great, P.No. 200

4 रघुवीर सिंह, महाराणा प्रताप जीवन महत्व व देन, पृ. 22

हेतु सजातीय को भेजा। इसका कारण था कि मेवाड़ जो कि अपनी वंश परम्परा पर अभियान करता था उसे मुगलों की अधीनता में लाने हेतु राजपुत से बेहतर कोई नहीं हो सकता था।[1] क्योंकि अकबर की अधीनता में रह चुका राजपुत शासक ही मुगलों की अधीनता में आने के नफा-नुकसान ज्यादा अच्छे से बता सकता था। दूसरा अगर वे किसी सम्मानजनक समझौते तक न पहुँच सकें तो राजपूताना के दो राजपूत वंश में विवाद हो जाता जो कि अकबर हेतु लाभदायक था। यहाँ अकबर की नस्लीय कूटनीति का प्रयोग कर रहा था तो दूसरा अकबर के कूटनीतिक सिद्धान्त यौद्धिक विचारधारा से प्रभावित थे। इस विचारधारा के समर्थक शक्ति राजनीति को महत्व देते है। इस विचारधारा की मुख्य विशेषता है कि वे प्रतिष्ठा, अगुत्व, यथास्थिति एवं स्वाभिमान से प्रभावित होकर व्यवहार करते हैं। इनके लिए संधि-वार्ता सैनिक अभियान का ही एक अंग मात्र है। इसी कारण इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए वे युद्ध जैसी व्यूह रचना करते है। संधि-वार्ता में इनका एकमात्र लक्ष्य दूसरे पक्ष पर विजय प्राप्त करना होता है। इस विचारधारा के अनुसार राजनय एक युद्ध क्षेत्र है अत: उसमें युद्ध की सभी तकनीकें नि:संकोच रूप से अपनाई जा सकती है, जैसे - आक्रमण करना, दबाव डालना, बल प्रयोग करना आदि।[2]अकबर की यह यौद्धिक विचारधारा उसकी अग्रधर्षी नीति, के अनुरूप थी। अकबर की अग्रधर्षी नीति का विश्लेषण करते हुए मिसेज बेवरिज ने कहा था कि, "अकबर एक सशक्त सुदृढ अनुबन्धवादी था जिसके सूर्य के सम्मुख डलहौजी का संकोची सितारा पीला पड़ जाता है। वह विश्वास करता था, संभवत: इस ध्येय में उसे किंचित भी संदेह नहीं था कि राज्य विस्तार और पुनर्गठन के लिए संघर्ष श्लाघ्य था। वह विश्वास करता था कि सर्वोपरिता स्वत: अपने में वांछनीय ध्येय है, और धनजन का साधन रखते हुए वह कार्यरत हो गया और विवेक रहित होकर वह एक प्रदेश के बाद दूसरे को हस्तगत करते चला गया।"[3]

1 Akbar the Great, P.No. 200

2 हरिशचन्द्र शर्मा, राजनय के सिद्धान्त, पृ. 17

3 विसेण्ट स्मिथ, महान् मुगल अकबर, पृ. 69

अकबर के दूत के रूप में आए मानसिंह एवं भगवंतदास दोनों ही अकबर की उपर्युक्त विचारधारा के पोषक थे। मानसिंह एंव भगवंतदास के दूत के रूप में मेवाड आने के समय अकबर द्वारा गुजरात विजय की जा चुकी थी अब मेवाड़ सब ओर से घिर चुका था। बफर स्टेट के रूप में बागड़ के राज्य थे। आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव का मानना है कि प्रताप को घेरने के बाद प्रताप शांति से अधीनता स्वीकार कर ले इस हेतु दूत के माध्यम से राजनीतिक एवं सैन्य दबाव डालने की नीति अकबर द्वारा अपनाई गई।[1] सिद्धपुर से अकबर ने मानसिंह के नेतृत्व में एक सेना देकर निर्देश दिए गए की ईडर, डूंगरपुर होते हुए वह प्रताप से मिले और वहाँ से राजधानी लौटे तथा जो राजा अधीनता स्वीकार कर ले, उसे ससम्मान शाही दरबार में लाये और जो विरोध करें उसे दण्ड दें। मानसिंह के इसी अभियान के दौरान अकबर की अधीनता को लेकर मानसिंह एवं डूंगरपुर के शासक आसकरण के मध्य बिलपण नामक स्थान पर युद्ध हुआ जिसमें उसके दो भतीजे की भी मृत्यु हो गई।[2] बडी सेना के साथ आना और पडौसी विशेषकर सहयोगी राज्य पर हमला करना ये सैन्य दबाव की रणनीति थी। इसी प्रकार भगवंतदास भी सेना के साथ आता है। इस बार जो कि प्रताप का सम्बन्धी एवं सहयोगी था पर अधिकार करते हुए वह ईडर जाता है।[3] अकबर-प्रताप सम्बन्धों को देखने पर यहीं दृष्टिगत होता है कि प्रताप एक कुशल कूटनीतिज्ञ था। प्रताप अपने समय की आवश्यकता को अच्छी तरह पहचानते थे अत: अपने वंश परम्परा की मर्यादा को ध्यान में रख उसी के अनुरूप आचरण कर रहे था। प्रताप एवं अकबर के मूल्यों में विरोधाभास इस बात का सूचक था कि संघर्ष तो अपरिहार्य है बस प्रताप युद्ध कुछ समय के लिए टालना चाहता था, ताकि संघर्ष की पर्याप्त तैयारी की जा सकें। राजनय के कार्य को देखें तो वह भी यही प्रतीत होता है। प्रो. क्विंसी राइट राजनय को परिभाषित करते हुए कहते है कि "अपने विशेष अर्थ में यह संधि-वार्ता की वह कला है जो युद्ध की सम्भावनापूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में न्यूनतम

---

1 Akabar the Great, P.No.199

2 राजा मानसिंह आमेर, पृ. 60

3 Akbarnama. Vol.III. P.No. 92

लागत से अधिकतम सामूहिक लक्ष्यों की उपलब्धि कर सकें।"[1] प्रताप का भी मूल लक्ष्य युद्ध टालना ही था।

प्रताप की कूटनीतिज्ञ योग्यता इस रूप में दिखती है कि-

1. दूत मण्डलों का ससैन्य मेवाड़ में प्रवेश करना, एक प्रकार से आक्रमण करने जैसा ही कृत्य था किन्तु प्रताप ने युद्ध को टालने की नीति को ध्यान में रखते हुए उसको आक्रमण नहीं माना बल्कि एक अतिथि के रूप में उनका स्वागत किया। इस प्रकार प्रताप बडे ही धैर्य, सहिष्णुता और चतुराई से सारे मामलें को निपटा रहे थे।

2. प्रताप अकबर के साम-दाम-दण्ड-भेद पूरित प्रस्तावों को प्रताप ने बडे धैर्य से सुना बगैर विरोध प्रदर्शित किये जहाँ अपनी कुछ मजबूरियाँ बतलाई, वहीं दिलासा देकर उन्हें आशापूर्ण किन्तु अनिश्चित मानसिक स्थिति में विदा भी किया। यह प्रताप की कूटनीतिज्ञ योग्यता को दर्शाता है।[2] (वहीं 40)। प्रताप द्वारा खिलअत स्वीकार करना,[3] अमरसिंह का मुगल दरबार में जाना[4] आदि ऐसे कार्य थे जिन्होने अकबर को प्रताप की अधीनता के सन्दर्भ में आशान्वित रखा।

3. प्रताप प्राचीन राजनीति विचारों एवं सिद्धान्तों से पूर्णतय परिचित था तथा यथार्थवादी होने के अकबर अपने दूतों के माध्यम से प्रताप के विचारों को नहीं जान पाया। दूत की विशेषताओं को बताते हुए मनु-स्मृति में कहा है कि दूत शत्रु के आकार, मनोभाव और चेष्टाओं से उसके छिपे अभिप्राय को जाने। दूत शत्रु की चालों को ठीक-ठीक जानकर ऐसा उपाय करें कि शत्रु राजा कोई पीड़ा न दे सकें।[5] अकबर ने अपने दरबार के सभी प्रमुख एवं

---

1 हरिशचन्द्र शर्मा, राजनय के सिद्धान्त, पृ. 4

2 दामोदरलाल गर्ग, महाराणा प्रताप, पृ. 40

3 Akbarnama. Vol. III. P.No. 92; History of Jaipur. P.No. 44

4 अकबरनामा यद्यपि देवीलाल पालीवाल अमरकाव्य के आधार पर इस बात को स्वीकार करते है कि अमरसिंह अकबर के दरबार में गए थे। समकालीन अन्य स्त्रोत में इस बात की जानकारी नहीं होने से आधुनिक इतिहास इसे स्वीकार नहीं करते है।

5 मनु स्मृति, पृ. 219

योग्य व्यक्तियों को ही दूत बनाकर भेजा था तथा भगवंतदास एवं मानसिंह जिन्होने रणथम्भौर अभियान के दौरान समझौते में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।[1] किन्तु प्रताप के सन्दर्भ में असफल रहें।

4. प्रताप के सन्दर्भ में यह तथ्य बहुत महत्वपूर्ण जो यह बताता है कि प्रताप समझौते के सन्दर्भ में बहुत आशावान नहीं है। प्रताप ने अपनी सुरक्षा, अपने विचार कभी अकबर के दूत पर जाहीर नहीं होने दिए भले प्रताप के सजातीय क्यों न आए। प्रताप जो एक अच्छा मेजबान था उसने कभी किसी भी शिष्टमण्डल को कुम्भलगढ़ पर नहीं बुलाया क्योंकि यह मेवाड़ का एक अति सुरक्षात्मक अभेद्य दुर्ग था। प्रताप जलाल खाँ व भगवंतदास से गोगुंदा[2] में मानसिंह से उदयसागर की पाल[3] पर तथा टोडरमल से उदयपुर में मिले थे।[4] किसी को भी कुम्भलगढ़ ले जाकर अपनी सुरक्षा व्यवस्था का भेद नहीं खुलने दिया। दूत की विशेषता बताते हुए मनुस्मृति में लिखा हुआ है कि दूत तीक्ष्ण स्मरण शक्ति वाला, देश-काल का ज्ञाता और निर्भय हो[5] वहीं कौटिल्य कहता है राजनयज्ञ को स्वागतकर्त्ता राज्य की किलेबंदी का पूरा ज्ञान होना चाहिए और उसे यह भी जानकारी भी प्राप्त करनी चाहिए कि मूल्यवान चीजों के खजाना किधर है। अत: प्रताप दुश्मन के समक्ष अपने महत्वपूर्ण सुरक्षात्मक पहलूओं को उजागर नहीं कर सकता था।

5. प्रताप एक यर्थाथवादी विचारक था। चूंकि प्रताप दूतमण्डल से कूटनीतिक वार्ता कर रहा था अत: प्रताप राजा की भूमिका में न होकर के एक राजनय की ही भूमिका में थे। राजनय का प्राथमिक और एकमात्र कर्त्तव्य अपने देश की सुरक्षा और राष्ट्रीय हितों की रक्षा करना है। जहाँ तक हो

---

1 राजा मानसिंह आमेर, पृ. 51

2 Akbarnam. Vol.III. .oN.P45

3 राजा मानसिंह आमेर, पृ. 68; नैणसी लिखता है कि मानसिंह प्रताप से गोगुन्दा में मिला था।

4 उदयपुर-चित्तौड पाटनामा, पृ. 290

5 मनुस्मृति, पृ. 219

सके उसे इस उद्देश्य की प्राप्ति शांतिपूर्ण तरीके से करनी चाहिए।[1] प्रताप के समक्ष भले की सजातीय और हिन्दू थे किन्तु ये तीनों ही चित्तौड़ अभियान में अकबर के साथ थे। अत: प्रताप को उकसाने का भी प्रयास था किन्तु प्रताप ने बडे ही धैर्य के साथ एक अच्छे मेजबान की भूमिका निभाई। टोडरमल तो प्रताप से इतना प्रभावित हो गया कि अकबर के दरबार में भी प्रताप की प्रशंसा की जिसे अबुल फजल ने चापलूसी की संज्ञा प्रदान कर दी।[2]

उदयपुर-चित्तौड़ पाटनामा में इसका विस्तृत विवरण मिलता है। इसके अनुसार "प्रताप पाँच कोस दूर टोडरमल के स्वागत के लिए आगे आए। सात दिन टोडरमल मेवाड़ में रहे तथा मेवाड से विदा होते समय टोडरमल को 4 घोड़े एक हाथी एक सुखपाल दिया। टोडरमल ने दिल्ली में जाकर प्रताप का सकारात्मक पक्ष रखा।[3]

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जहाँ अकबर के समक्ष सभी राज्यों को आत्मसमर्पण के लिए विवश होना पड़ा था वहीं प्रताप ने एक सुलझे हुए कूटनीतिज्ञ के समान संघर्ष को अधिकतम टालने की नीति का अवलंबन किया। प्रताप का करिश्माई नेतृत्व ही था जिसने दक्षिण राजपूाना के राज्यों में विद्रोह की भावना को जलाएं रखा। कूटनीति सफलता की महत्ता इसमें थी कि यह शांति काल एवं युद्धकाल में समान रूप से उपयोगी था। कूटनीति वह अस्त्र है जो युद्धको शांति एवं शांतिकाल में युद्ध को जन्म दे सकती है।

***

1 राजनय सिद्धान्त एवं व्यवहार, पृ. 288

2 Akbarnam. Vol.III. 92 .oN.P

3 उदयपुर-चित्तौड पाटनामा, पृ. 291

अध्याय तृतीय

महाराणा प्रताप कालीन युद्ध नीति

अध्याय तृतीय

महाराणा प्रताप कालीन युद्ध नीति

युद्ध की पृष्ठभूमि

युद्ध समाज की एक अनिवार्य बुराई है। अनिवार्य दोष होने के कारण युद्ध हमेशा से होते रहे हैं। युद्ध मानव-जाति का एक प्राकृतिक क्रियाकलाप है, बस स्थान एवं काल की विभिन्नता के कारण उसका अनुपात बदलता रहा है।[1] वाल्तेयर का भी मानना है कि इतिहास मुख्य रूप से हिंसा, विनाश, मानव दु:खों तथा मृत्यु की घटनाओं से भरा पड़ा है तथा विभिन्न राष्ट्रों के मध्य संघर्ष तो अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास की एक साधारण घटना है।[2] जैसा कि हॉब्स का मानना है कि मानव एक लड़ने वाला जंतु है जो कि सत्य है। मानव के स्वभाव कि बात करें तो मानवीय स्वभाव में दो सहज प्रवृत्ति पाई जाती है। एक तो आत्म-संरक्षण की तो दूसरी आत्म-विस्तार की। युद्ध होने के ये दो मूल कारण रहें है, मानव या तो आत्म-संरक्षण के लिए या आत्म-विस्तार हेतु युद्ध जैसी विध्वंसक क्रियाओं में संलग्न होता है। अपने प्रारंभ में मानव और मानव के मध्य लड़ाई होती है। बाद में दो जातियों में और तत्पश्चात् दो राज्यों में, इस प्रकार यह प्रक्रिया चलती रहती है।[3] युद्ध एक विध्वंसक क्रिया है जो विशाल जन-धन हानि का कारण बनता है तब भी इसका क्या औचित्य है। इस संदर्भ में भीष्म युधिष्ठिर की शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि जो राजा संग्राम में प्राणियों को कष्ट पहुँचाता है वही युद्धोपरांत विजित राज्य में प्रजा का समुचित पालन करके पाप मुक्त हो जाता है। यही उसका प्रायश्चित्त है।[4] इस प्रकार युद्ध को अपरिहार्य बताया गया है।

---

1 रामसिंह, प्राचीन भारतीय युद्ध व्यवस्था, पृ. 1

2 बाबू राम पाण्डेय तथा रामसूरत पाण्डेय, युद्ध और शांति के मूल तत्व, पृ. 1

3 Chakravarti, P.C. The art of war in ancient india. P. No. 1

4 प्रेम कुमारी दीक्षित, प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 5

भारतीय इतिहास पर दृष्टि डाले तो प्राचीन काल से ही यहॉ युद्ध संबंधी साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्य मिलते हैं। प्राचीनतम भारतीय ग्रंथ ऋग्वेद में इन्द्र एवं अनार्यों के मध्य युद्ध का वर्णन मिलता है, जो निम्न है - "इन्द्र जिसका आह्वान बहुतों ने किया है और जिसके साथ उसके शीघ्रगामी साथी है, उसने अपने वज्र से पृथ्वी पर रहने वाले दस्युओं और सिम्यों का नाश करके खेतों का अपने गोरे मित्रों (आर्यों) में बांट दिया।"।[1]

प्राचीन काल से राजतंत्र प्रचलित था जिसमें राज्य का प्रमुख राजा होता था। जिसका कर्तव्य प्रजा की रक्षा करना[2] एवं युद्ध में सेना का नेतृत्व करना होता था। वीरता राजा का एक महत्वपूर्ण गुण होता था। अत: राजसिंहासन पर शेर, चीते या तेंदुए का चमड़ा बिछाया जाता था। यह बाघ की छाल वीरता का सूचक समझा जाता था। अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है कि " हे राजा, तू स्वयं व्याघ है। इस व्याघ-चर्म पर बैठकर महान् दिशाओं में संक्रमण कर।[3] हिंदू धर्म में चतुवर्ण व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। इन चार वर्णों को भिन्न-भिन्न कार्य सुपुर्द किए गए थे। जिसमें बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा के लिए एक उत्साही, क्रियाशील सैनिक वर्ग की आवश्यकता थी अत: यह कार्य क्षत्रिय वर्ग को सौंपा गया।[4] युद्ध दर्शन एवं उसकी आवश्यकता का विशद वर्णन तथा दार्शनिक व्याख्या गीता में देखने को मिलती है। कुरूक्षेत्र में जब अर्जुन अपने स्वजनों को देख अन्नयमनयस्क हो जाता है तो अर्जुन को किंकर्तव्यविमूढ़ देख श्रीकृष्ण अर्जुन को उसके क्षत्रिय वर्ण का स्मरण करवाते हैं कि क्षत्रिय होने के नाते धर्म के लिए युद्ध करने से बढ़ कर तुम्हारे के लिए अन्य कोई कार्य नहीं है।[5] साथ हि श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि मतिभम्र की वजह से जो तू भले ही युद्ध से पलायन का सोच रहा है किंतु क्षत्रिय स्वभाव या अपने स्वाभाविक कर्म से बंध कर तू युद्ध

1 रमेशचंद्र दत्त, सभ्यता का इतिहास, अनु. गोपाल दास, पृ. 28

2 गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, मनु स्मृति, पृ. 18

3 हिंदू राज्य तंत्र, भाग-2, पृ. 15

4 आद्यादत्त ठाकुर, वेदों में भारतीय संस्कृति, पृ. 227

5 स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छेयोऽन्ययत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।31।। श्रीमद्भगवतगीता

करने को बाध्य होगा।[1] श्रीमद्भगवतगीता के अतिरिक्त कई प्राचीन पुस्तकें है जो राजनीति एवं युद्ध के बारे में विस्तार से चर्चा करती है जैसे- महाभारत, रामायण, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, नारदस्मृति एवं बृहस्पतिस्मृति, अर्थशास्त्र, नीतिवाक्यामृत, शुक्रनीति आदि विशेष उल्लेखनीय है।[2] युद्ध एक स्वाभाविक मानवीय प्रक्रिया है जो आदि से वर्तमान तक निरन्तर है।

युद्ध की परिभाषा

युद्ध मानव जीवन का एक अपरिहार्य अंग है जिस समझने के लिए विद्वानों ने अपने अनुरूप इसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। युद्ध संबंधित कुछ परिभाषाएं निम्न है -

- कौटिल्य के अनुसार शत्रु को हानि पहुँचाने वाला हिंसापूर्ण कार्य करना युद्ध है।
- शुक्राचार्य के अनुसार, "एक-दूसरे के साथ शत्रु भाव रखकर अपने आप को उसी में संयत करके अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए आयुधों से जो व्यापार किया जाता है, उसे युद्ध कहते हैं।"[3]
- शतपथ ब्राहमण में राजन्य के बल प्रदर्शन को युद्ध की संज्ञा प्रदान की गई है
- क्विंसी राइट- "युद्ध दो विभिन्न परन्तु समान इकाइयों के मध्य हिंसात्मक संघर्ष है।"
- क्लॉजविट्ज के अनुसार- "युद्ध राज्यनीति को क्रियान्वित करने का एक माध्यम है।"[4]

---

1 यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्यय इति मन्यसे।
मिथ्यैश व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।59।।
स्वभावजेन कौन्ते निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिश्यस्यवशोऽपि तत्।।60।। श्रीमद्भगवद्गीता

2 वाचस्पति शर्मा त्रिपाठी, पुराणवाड्मय में युद्ध एवं सैन्य विज्ञान, पृ. 38

3 कृष्ण कुमार, प्राचीन भारत की प्रशासनिक एवं राजनीतिक संस्थाएं, पृ. 363

4 लल्लनजी सिंह, आधारभूत सैन्य विज्ञान, पृ. 95

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि अपने उद्देश्य, जो कि सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक या सैनिक आदि हो सकता है, को जब शांतिपूर्ण उपायों से प्राप्त करने में असफल हो जाते हैं तब राज्य अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करता है। लेकिन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में केवल हिंसात्मक कार्यवाहियों को ही युद्ध की संज्ञा देना एक संकीर्ण दृष्टिकोण होगा। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के मध्य व्याप्त तनाव एवं विचारधाराओं में टकराव भी एक प्रकार का युद्ध ही होता है। भले ही इसमें हिंसात्मक पहलू न हो। सम्भवतः इसीलिये क्विंसी राइट ने “Neither War Nor Peace' की स्थिति को युद्ध ही कहकर सम्बोधित किया है, क्योंकि युद्ध व शान्ति के मध्य ही रेखा वस्तुतः बहुत धुंधली होती है। [1]

युद्ध के सामान्य कारण

राजनीति शास्त्र में युद्ध को एक अनिवार्य बुराई माना गया है। जो राज्य की निरंतर प्रगती के लिए अनिवार्य है। युद्ध शून्य में घटित होने वाली घटना नहीं है। युद्ध के होने के लिए कोई न कोई कारण अवश्य उत्तरदायी होता है। प्राचीन राजनीतिक ग्रंथों में माना गया है कि जब दो राज्य साम-नीति का परित्याग कर एक दूसरे के प्रति विग्रह-नीति अपनाते हैं तब युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। रामायण में युद्ध के तीन मूल कारण मोन गये हैं- भूमि, हिरण्य तथा रूप। शुक्र के अनुसार भी गो तथा स्त्रियों के कारण ही युद्ध हुआ करते थे।[2] युद्ध के लिए कोई एक कारण नहीं होता है पर प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अनुशीलन में निम्न कारण सामान्य रूप से उत्तरायी माने गये है-

1. **युद्ध का मनौवैज्ञानिक कारण-** भारतीय समाज को सामान्य रूप से चारों वर्णों में विभाजित किया गया है। जिसमें से क्षत्रिय वर्ण का कर्म ही शासन करना है। क्षत् का अर्थ चोट खाया हुआ। जो क्षति से रक्षा करे वह क्षत्रिय कहलाता है।[3] क्षत्रिय शासक वर्ग एवं योद्धा जाति से होने के कारण वह युद्धों में संलग्न रहना पसंद करता है। संभवतः इसी वजह से भारतीय

---

1 बाबूराम पाण्डेय, सैन्य अध्ययन की पाठ्य पुस्तक, पृ. 7

2 प्रेम कुमारी दीक्षित, प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 151

3 श्रीमद्भगवतगीता, पृ. 78

इतिहास में कई युद्ध देखने को मिलते हैं।[1] भीष्म पर्व में युद्ध में वीरगति को प्रशंसनीय माना है भीष्म कहते हैं कि जो युद्ध में वीरता पूर्वक लड़ते हुए अपने प्राणों का बलिदान करता है वह इन्द्रलोक को पाता है।[2] वर्ण व्यवस्था भी युद्धों का कारण बनीं।

2. **पशु चोरी-** प्राचीन काल में पशु मुख्यत: गाय जिसकी गणना रयि (संपति) में कि जाती थी। अत: गोग्रह के कई उदाहरण वेदों में भी मिलते हैं। अथर्ववेद में तो गाय की रक्षा हेतु प्रार्थना का वर्णन भी मिलता है।[3] गोधन के महत्व के कारण शक्तिशाली राजा प्रतिपक्ष की गायों का अपहरण किया करते थे। इस प्रकार के युद्धों का विवरण हमें महाभारत के विराटपर्व में भी मिलता है।[4]

3. **नारी के लिए-** नारी को लेकर भी कई युद्धों के प्रमाण साहित्य में मिलते हैं। रामायण में रावण द्वारा सीता का अपहरण हो या बाली द्वारा सुग्रीव की पत्नि को छीनना।[5] महाभारत का युद्ध द्रोपदी का अपमान। इसी प्रकार मध्यकाल में पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता का अपहरण।[6]

4. **सार्वभौम सत्ता स्थापित करने के लिए-** यह एक अतिमहत्वकांक्षा थी जिसे प्राचीन से लेकर मध्यकाल में मुस्लिम शासक एवं आधुनिक काल में अंग्रेज प्राप्त करने को व्याकुल थे। कूटनीतिज्ञ चाणक्य के जीवन की सबसे बड़ी आकांक्षा एक चक्रवर्ती सम्राट की स्थापना थी।[7] इसी प्रकार रावण भी त्रैलोक्य विजय का इच्छुक था।[8]

---

1 R. Dikshitar. War in Ancient India. P.No. 11

2 भीष्म पर्व, पृ. 690

3 R. Dikshitar. War in Ancient India. P.No. 15

4 प्रेम कुमारी दीक्षित, प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, पृ. 151

5 रामचरितमानस, पृ. 670

6 हेमेन्द्र चौधरी, पृथ्वीराज चौहान तृतीय के वैवाहिक संबंध एवं उनका महत्व, शिवदयाल सिंह (सं.), सम्राट पृथ्वीराज चौहान, पृ. 121,

7 कौटिल्य का युद्ध दर्शन, पृ. 108

8 रामायण कालीन युद्ध कला, पृ. 144

5. **आर्थिक एवं रणनीतिक कारण-** यह वेदिक कालीन पशु चोरी का ही मध्यकालीन एवं आधुनिक स्वरूप है। मध्यकाल की बहुत सी साम्राज्यवादी लड़ाईयों के पीछे आर्थिक कारण मुख्य था। जैसे कि मुहम्मद गजनवी, नादिर शासक एवं अहमदशाह अब्दाली का भारत आने की मुख्य वजह यहाँ की अपार धन सम्पदा थी। वहीं मुगल एवं अलाउद्दीन की दक्षिण विजय की उसकी धन सम्पदा से प्रेरित थी। इसी प्रकार विजयनगर एवं बहमनी के मध्य संघर्ष का कारण बेहद उपजाऊ रायचुर दोआब था।[1] आधुनिक विचारको में क्राउथर का मानना है कि, "आज का प्रत्येक युद्ध स्त्रातेजी व समरतन्त्र की अपेक्षा अर्थशास्त्र से अधिक प्रभावित होते हैं।" 18वीं व 19वीं शताब्दी में यूरोप में हुए युद्धों के पीछे राज्यों के मध्य व्याप्त आर्थिक प्रतियोगिता मूल रूप से उत्तरदायी थी।[2]

प्रतिशोधात्मक युद्ध-मुस्लिम शासकों की साम्राज्यवादी नीतियों ने सामान्यतः हिंदू शासकों के प्रतिरोधात्मक युद्धों को जंम दिया। अकबर के विरूद्ध महारणा प्रताप का संघर्ष हो या औरंगजेब के विरूद्ध मराठा शिवाजी, जाट, सिख एवं सतनामियों का संघर्ष इसी का उदाहरण है।[3]

ऐतिहासिक काल में राज्यों एवं साम्राज्यों के निर्माण के साथ ही समाज को संगठित और व्यवस्थित करने के लिए समाज में कार्य-विभाजन की आवश्यकता दृष्टिगत होती है। पूर्व-ऐतिहासिक काल में श्रम-विभाजन का अभाव था या पूर्ण विकसित नहीं था जबकि ऐतिहासिक काल में क्षेत्र आधारित राज्यों के निर्माण से समाज भी विकसित हुआ। श्रम विभाजन विशिष्टता (Specificty) प्राप्त समाजों की आवश्यकता है क्योंकि उन उच्च स्तरीय समाजों मे प्रत्येक कार्य को कोई विशिष्ट संस्था करती है।[4] हिंदू समाज कार्य-विभाजन की आवश्यकता से चातुवर्ण्य-विभाजन का उद्भव हुआ जिसे धार्मिक स्वीकृति प्रदान की गई।[5] चतुवर्ण

1 Sarkar, Jagadish Narayan. The Art of War in Medieval India. P. No. 38

2 बाबूराम पाण्डेय, सैन्य अध्ययन की पाठ्य पुस्तक, पृ. 7

3 Art of War in Medieval India. P. 38

4 सुरेन्द्र कटारिया, प्रशासनिक चिंतन, पृ. 236

5 डी.एन. झा, प्राचीन भारत : एक रूपरेखा, पृ. 24

की उत्पत्ति के संदर्भ में उल्लेख मिलता है कि परमत्मा ने लोक की वृद्धि के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य और शुद्र चार वर्णों को पैदा किया।[1] इन चार वर्णों में क्षत्रिय वर्ण का उदय समाज की सैन्य आवश्यकता की पूर्ति हेतु हुआ था। क्षत्रिय के रूप में समाज को एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता थी जो समस्त कर्मों से विरत होकर युद्धविद्या में विशेष योग्यता प्राप्त करे और अवसर पर राष्ट्र के जन-धन की रक्षा कर सकें।[2] यहीं: से अर्थात् वैदिक काल से ही भारतीय समाज में एक सैन्य वर्ग की अस्तित्व का बोध होता है जिसका कार्य शासन करना तथा युद्ध करना था।

हिंदू धर्म शास्त्रों रामायण, महाभारत, गीता, अर्थशास्त्र मनुस्मृत्ति आदि ग्रंथों में चारों वर्णों के कर्मों का विशद वर्णन मिलता है। स्मृतिकारों ने सभी वर्णों का नियत कर्म करने की अनुशंसा की है। मुनस्मृति में कहा गया है कि "जो पुरुष, वेद और स्मृतियो मे कहे धर्मों का पालन करता है, वह संसार मे कीर्ति पाकर, परलोक में अक्षय सुख प्राप्त करता है।"[3]

क्षत्रिय वर्ण का मुख्य कर्म युद्ध करना और राज्य की रक्षा करना था अत: क्षत्रियों के लिए 'तेजस्' शब्द का प्रयोग किया गया है। गीता में श्री कृष्ण कहते हैं कि क्षत्रियों को अत्यन्त बलशाली होना चाहिए, जिससे वे निर्बलों की रक्षा कर सकें।[4] क्षत्रिय वर्ण का उसके कर्त्तव्य का बोध कराते हुए कहा गया है कि "शत्रु पर शस्त्र उठाना क्षत्रिय को कर्त्तव्य है अगर वह ऐसा नहीं करता है तो वह उसके कर्त्तव्य के विरुद्ध है।"[5] समाज में सैन्य आवश्यकता के महत्व को समझते हुए महाभारत में शांतिपर्व में क्षत्रियों वर्ण के लिए संन्यास को निषेध माना है। राजा केवल वृद्धावस्था और शत्रु से पराजित होने पर अर्थात् आपदकाल में ही सन्यास

---

1 गिरिजा प्रसाद द्विवेदी, मनुस्मृति, पृ. 8

2 विमलचंद्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनीति तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 117

3 मनुस्मृति, पृ. 24

4 श्रीमद्भगवद्गीता, अनु. स्वामी प्रभुपाद, पृ. 537

5 वही, पृ. 538

ग्रहण कर सकता है।"[1] इसके अतिरिक्त क्षत्रिय अगर संन्यास ग्रहण करता है तो धर्म की हानि होती है। शांति पर्व में क्षत्रियों में सन्यास प्रवृत्ति को हतोत्साहित करते हुए कहा है कि "जैसे मृग, सूअर, और पक्षी वनवासी हो के भी स्वर्ग के अधिकारी नहीं हैं, वैसे ही सत्कर्मों के अनुष्ठान से विमुख होने वाले शक्तिमान क्षत्रिय पुरुष भी आरण्यक धर्म से किसी प्रकार के स्वर्ग के अधिकारी नहीं हो सकते।[2]

ऋग्वैदिक कालीन राजा निरंकुश अधिपति नहीं था। प्रांरभिक वैदिक राजा वही कहलाता था जो युद्ध इत्यादि का नेतृत्व करता था।[3]

उसका पद और महत्व रणक्षेत्र में उसकी वीरता पर आश्रित था।[4] प्राचीन काल में राजाधिकार के संदर्भ में हुई आख्यान मिलते हैं। ऐसे आख्यानों में ऐतरेय ब्राह्मण के राजा का निर्वाचन का आख्यान प्रसिद्ध है ये राजाधिकार मानवीय आवश्यकता एवं सैनिक मांगों पर आश्रित था तथा राजा का सर्वप्रथम कर्त्तव्य युद्ध में प्रजा का नेतृत्व करना था।" राजा एवं क्षत्रिय का मुख्य कार्य प्रजा की रक्षा एवं सैन्य कर्म था। अत: राजनीतिक शास्त्री कौटिल्य जिसका मानना है कि राजा उन्नतीशील होने पर ही उसके कर्मचारी उन्नतीशील होते हैं। कौटिल्य एक सक्रिय एवं सक्षम प्रशासन की अभिशंसा करता हैं। इस हेतु राजकार्य को व्यवस्थित ढ़ग से संचालित करने हेतु वह दिन-रात को आठ -आठ घड़ियों में बांटता है। कौटिल्य ने राजा की दिनचर्या हेतु दिन की आठ घड़ियों में जो आठ कार्य बताए उनमें से चार कार्य रक्षा संबंधी है। कौटिल्य के राजा के दिन का कार्य रक्षा संबंधी कार्यों के निरीक्षण करने से होता हैतथा उसका अंत सेनापति के साथ युद्ध संबंधी विचार के साथ होता है।[5]

---

1 श्रीपाददामोदर सातवलेकर (सं.), श्री महर्षि व्यास प्रणीत महाभारत शांतिपर्व, भाग 1, पृ. 45

2 श्रीपाददामोदर सातवलेकर (सं.), श्री महर्षि व्यास प्रणीत महाभारत शांतिपर्व, भाग 1, पृ. 47

3 ए.एल. बाशम, अद्भुत भारत, पृ. 55

4 कुमकुम राय, 'वैदिक युग', प्राचीन भारत, पृ. 38

5 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, अनु. वाचस्पति गैरोला, पृ. 61

आधुनिक युग में राज्य की कल्पना चार तत्व के सामुहिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती हैं, इसी तरह प्राचीन राजनीतिक विचारकों ने राज्य के सात अंक बताएं हैं, जो सप्तांग सिद्धांत के नाम से जाना जाता है। आधुनिक राज्य में इन चार में से कोई अंग नहीं होता है तो वह राज्य नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार इन सात अंगो से विहीन राज्य भी अपने उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहता है। वह जनता की आन्तरिक और बाह्यय आक्रमण से रक्षा में असमर्थ रहता है।"[1]

राजा, आमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड एवं मित्र, ये राज्य के सात अंक माने गये हैं। राज्य के सप्तांग सिद्धांत में राजा और दण्ड़ (सेना) को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। राजा की तुलना मानव शरीर के शिरोभाग से सेना की मस्तिष्क से कर उसकी महता को प्रतिपादित किया है।[2] क्षत्रिय वर्ण की सैन्य भूमिका को सभी विचारकों ने महत्व प्रदान किया है।

भारतीय इतिहास में सातवीं एवं आंठवी शताब्दी बहुत महत्वपूर्ण है। इस समय अनेक राजपूत कुल स्वतंत्र राजवंशों के रूप में उभरे अत: इसे राजपूत युग की संज्ञा दी गई।

उत्तरी एवं मध्य भारत में प्रतिहार साम्राज्य के पतन से राजनीतिक बिखराव प्रक्रिया प्रारंभ हुई, जिसने एक नवीन राजनीतिक वर्ग, राजपूत वर्ग के उदय के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण किया। दसवीं शताब्दी के मध्य से लेकर तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक अर्थात् दिल्ली सल्तनत की स्थापना के समय तक, उतर भारत की राजनीति में राजपूतों का पूर्ण वर्चस्व रहा। उनके द्वारा उत्तर भारत में एक नवीन राजनीतिक, समाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक सरंचना का निर्माण हुआ। इन राजवंशों में गुर्जर-प्रतिहार, चौहान, परमार, चालुक्य, चंदेल, गहड़वाल, गुहिल, तोमर, आदि प्रमुख राजपूत वंश थे।[3] इस राजपूत वंश की उत्पत्ति को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कर्नल टॉड जिसने राजस्थान का

---

1 अवस्थी एवं अवस्थी, भारत में लोक प्रशासन, पृ. 17

2 The Theory of Government in Ancient India, P.No. 74

3 हरिशचंद्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, भाग-1, पृ. 6

विस्तृत अध्ययन किया था वह राजपूतों को शक, कृषाण तथा हूण आदि विदेशी शासकों के वंशज से सबंधित मानता है।[1]

गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने राजपूतों के विदेशी मत का विरोध किया तथा उन्हें प्राचीन क्षत्रियों का ही वंशज माना है। इन राजपूतों ने उनके मूल को राजवंशो से अर्थात् सूर्यवंश एवं चंद्रवंश से जोड़ दिया, जिससे उन्हें क्षत्रिय दर्जा प्राप्त हुआ और इस दर्जे पर वे हमेंशा आग्रह रखते रहें।[2] इसका कारण शास्त्रों के अंतर्गत क्षत्रिय जाति को ही राजसत्ता का अधिकारी माना गया है। राजपूत (महाभारत तथा हषचरित में प्रयुक्त राजपुत्र शब्द का अपभ्रंश रूप) अर्थात् राजपुत्र जो व्यक्ति-विशेष के लिए प्रयुक्त होना स्वाभाविक था, किन्तु यह जाति विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ। इसका विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक महत्व है। क्षत्रिय शब्द की भांति राजपूत शब्द भी जातिसूचक था, यदि किसी शासक वंश के विशिष्ट या साधारण सजातीय व्यक्ति के लिए 'राजपूत' शब्द का प्रयोग करे तो वह उस वंश की राजसत्ता के निकट लाता है।[3]

मध्यकाल में राजपूत नामक नवीन जाति का उद्भव होता है किंतु वह उन्हीं कर्त्तव्यों एवं पंरपरओं का निर्वाह करती है जिसका प्राचीन काल में 'क्षत्रिय' जाति कर रही थी। ऋग्वेद में क्षत्र अथवा क्षत्रिय शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ जिसका अर्थ "शौर्य" एवं वीरता था। इसी से शूरकर्म करने वाले देवताओं योद्धाओं और राजाओं के लिए 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग होने लगा।[4] इन प्राचीन क्षत्रियों के समान राजपूत सेनानायकों ने भी रण में शौर्य एवं साहस का अद्भुत परिचय दिया तथा स्वंय को एक योद्धा जाति के रूप में स्थापित किया।

मुगल काल में आए फ्रांसीसी यात्री बर्नियर राजपूतों की वीरता एवं युद्ध कौशल के संदर्भ में लिखता है कि 'राजपूत शब्द का अर्थ राजा का पुत्र है। वंश परम्परा से राजपूतों को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा दी जाती है। जिन राजाओं के राज्य

---

1 Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. I, P. No. 55

2 हिंदू भारत का उत्कर्ष, भाग-2, पृ. 11

3 गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 20

4 The State in Ancient India, P. No. 19

में ये रहते हैं उनकी ओर से इनके भरण पोषण के लिए भूमि दी जाती है। जिससे लड़ाई के समय काम पड़ने पर यह राजा की सहायता करें।...... राजपूत बचपन से ही अफीम खाने के बड़े अभ्यस्त होते हैं।...... ये बडे स्वामीभक्त होते हैं। इनके लिए अपने स्वामी की कीमत अपने प्राणों की कीमत से ज्यादा होती है।" बर्नियर राजपूतों के स्वामीभक्ती के गुणों को इंगित करते हुए कहता है कि "ऐसी अवस्था में यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं कि मुगल बादशाह गण जाति के मुसलमान और हिंदुओं के कट्टर विरोधी होने पर भी अपने यहाँ ऐसे ही राजपूतों के सरदार राजाओं की मंडली रखते हैं। दरबार के दूसरे अमीरों और सरदारों की तरह इनके साथ भी बहुत उत्तम बर्ताव करते हैं और सेना के बड़े ऊँचे पदों का अधिकारी बनाते हैं।"[1]

राजपूत अपने शौर्य, साहस एवं वीरता के लिए प्रसिद्ध थे साथ ही जीवन एवं युद्ध दोनों में ही उच्च आदर्श एवं नैतिक मूल्यों के पोषक भी थे। राजपूतों को खड्म-लाघवता पर अभिमान था, और वे युद्ध को अपनी रण-कुशलता तथा शौर्य प्रदर्शन की प्रतियोगिता ही समझते थे। लेकिन अरब और तुर्क जीतने के लिए युद्ध करते थे, और युद्ध में सभी साधनों को उचित समझते थे। वहीं हिन्दू शत्रु की निर्बलता से लाभ उठाने के विरुद्ध थे। अरब और तुर्क जिन ढ़ोगों और चालबाजियों मे कुशल थे, उनको वे हेय समझते थे।

क्षत्रियों के समान राजपूतों के जीवन में युद्ध का बड़ा महत्व था। युद्ध एक धार्मिक आयोजन के समक्ष था। जिसमें योद्धा अपना सबसे बडा बलिदान करता था। अत: युद्ध में भाग लेने से पूर्व शकुन तथा अपशकुन का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। युद्ध से पूर्व ज्योतिष से मुर्हूत निकाला जाता था। इस हेतु यज्ञ के आयोजन भी होते थे। रणभूमि में सेना का मनोबल बढ़ाने हेतु राजा एवं ब्राह्यणों के द्वारा ओजस्वी भाषण दिया जाता था तथा युद्ध में लूट से प्राप्त साम्रगी एवं सम्मान व पद वृद्धि का लोभ भी दिया जाता था। इसके अतिरिक्त वीरगति पाने पर स्वर्ग-प्राप्ति का आश्वासन दिया जाता था। क्षत्रिय के लिए युद्ध में मरना सम्मान का प्रतिक माना जाता था। युद्ध में पराजित होना भी राजपूतों में निंदय

1 गंगा प्रसाद गुप्त (अनु.), बर्नियर की भारत यात्रा, पृ. 28

माना जाता था अपितु राजपूत स्त्री यह कामना करती थी कि उसका पति युद्ध में भले ही वीरगति को प्राप्त कर ले किंतु पराजित होकर के न आएं। जोधपुर शासक जसवंतसिंह धरमत युद्ध में पराजित होकर जब जोधपुर लौटे तब उनकी रानी ने बड़ी निष्ठुरता से आज्ञा दी कि किले के सब फाटक बंद कर दिए जाएं। वह राजा को धिक्कारते हुए कहती है कि यदि " वह लड़ाई में शत्रुओं को हरा नहीं सका तो यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी वहीं युद्ध क्षेत्र में वीरता के साथ लड़कर प्राण देना उचित था।" उपर्युक्त दृष्टांत के संदर्भ में बर्नीयर राजपूत स्त्रियों की प्रशंसा में कहता है कि "इस देश की स्त्रियों को अपने नाम प्रतिष्ठा और सम्मान का कितना ध्यान है और उनका हृदय कैसा सजीव हैं।" [1]

निश्चय ही राजपूतों में वीरता, साहसा एवं शौर्य जैसे उत्कृष्ट गुण व विचारों के संचार संपोषण और संवहन मे उनकी माता व पत्नी की महत्वपूर्ण भूमिका थी। सुर्यमल्ल मिश्रण के वीर सतसई में इन्हीं राजपूती गुणों के दर्शन होते हैं जब विवाह के अवसर पर स्त्री अपने पति की हथेली के तलवार की मूठ के निशानों पर स्पर्श करने के बाद अपनी माता से कहती कि है "हे माता ! मै जान गई कि चाहे कुछ भी हो जाये युद्ध में अकेले होने पर भी वे मेरे चूड़े को कभी न लजायँगें अर्थात् या तो युद्ध में विजयी होकर लौटेंगे अथवा वीरगति प्राप्त करेंगें।"[2] यह महाभारत के भीष्म पर्व की उन्हीं भावना को प्रतिबिंबित करता है जिसमें धर्म युद्ध में प्राण को त्याग करके परलोक मे गमन करना ही कल्याणकारी है।

प्रसिद्ध इतिहासकार मुहम्मद हबीब राजपूतों के सैन्य गुणों के संदर्भ में लिखते हैं कि "राजपूत बहुत बहादुर और अच्छे तलवार बाज होते हैं तथा वे युद्ध को एक खेल की तरह लेते हैं। जहाँ वे अपने कौशल, शूरवीरता एवं साहस को दिखा सकें। बाबर ने भी अपनी पुस्तक में लिखा है कि राजपूत मरना जानता है लेकिन लड़ना नहीं। वे दुश्मन की कमी का फायदा नहीं उठाते तथा उस पर छिप

---

1 गंगा प्रसाद गुप्त, बर्नियर की भारत यात्रा, पृ. 29

2 हथलेवै ही मूठ किण, हाथ विलग्गा माय।
लाखां बातां हेकलो चूड़ौ, मो न लजाय।।16।। वीर सतसई

कर हमला नहीं करते हैं। वे युद्ध रणनीति का प्रयोग करने के तथा पीछे से हमला करने के बजाय वे आमने-सामने की लड़ाई लड़ते हैं। जमीला बृजभूषण भी लिखती है कि "राजपूतों ने वीरता की संहिता को इस प्रकार परिभाषित किया है कि या तो शत्रु की तलवार से या स्वंय के तलवार से वह रणभूमि में प्राणों का त्याग कर दें किंतु किसी भी अवस्था में वह पराजित होकर जीवित घर न पहुँचे।"[1]

विदेशी इतिहासकारों में स्टेनले लेनपूल ने बाबर के राणा सांगा से संघर्ष के दौरान बाबर के सबसे दुर्जेय शत्रु के बारे मे बताते हुए लिखा है कि ''बाबर का अपने जीवनकाल में कई लड़ाका जातियों से सामना हुआ था किंतु इस समय राजपूत नामक सर्वोत्कृष्ट लड़ाका जाति से उसका सामना होना था। राजपूत योद्धा बेहद ऊर्जावान, शूरवीर, युद्धप्रिय एवं रक्त बहाने वाले थे। इनमें अपनी भूमि के प्रति आगाध प्रेम था जिसके लिए वे किसी शक्तिशाली शत्रु का आमने-सामने के युद्ध के लिए तैयार रहते थे। अपने सम्मान एवं वंश प्रतिष्ठा हेतु अपने प्राणों को न्यौछावर करने हेतु तत्पर रहते थे।[2]

दिल्ली सल्तनत के शासक राजपूतों को एक सैनिक सहयोगी के रूप में उनके महत्त्व को समझने में असफल रहें। मुगल शासकों विशेषकर अकबर ने साम्राज्य के विस्तार एवं सुदृढ़ीकरण में राजपूतों के महत्व को समझा तथा प्रशासन में उचित स्थान दिया। यहीं राजपूत जाति मुगल साम्राज्य की सैनिक भुजा बन गई।

युद्ध एवं राज्य

युद्ध समाज का वह स्याहा पक्ष है जिससे प्रत्येक राज्य बचना चाहता है किंतु इसके बावजुद युद्ध अनंत काल से राज्य की आवश्यक बुराई रहा है। युद्ध की संभावना या वांछनीयता पर जितने भी अनुशीलन किये जाये इतिहास इस बात का साक्षी है कि युद्ध सभी राष्ट्रों की स्थायी प्रक्रिया रही है। कुछ राष्ट्रों ने अन्य राष्ट्रों की तुलना में एकाधिक बार युद्ध किये हैं, किन्हीं राष्ट्रों को बडे पैमाने पर

---

1 Rana Mohammad Sarwar Khan, The Rajputs, Vol. II, P. No. 394

2 Poole, Stanlay Lane. Babar., P. No. 76

युद्ध करने के अवसर ही नहीं मिले। स्पार्टा जैसे राज्य युद्ध संबधी तैयारी को अपने संघटित सामाजिक जीवन का आवश्यक घटक मानते रहें, एथेन्स जैसे राज्य बरबादी और विनाश के कगार पर पहुँच कर ही युद्ध में प्रवृत्त हुए और प्राचीन काल के रोमन साम्राज्य ने अपनी उज्ज्वल सांग्रामिक परंपरा से महान एवं विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। भारत भी युद्ध दर्शन एवं इस परंपरा से अछूता नहीं रहा है। भारतीय मनीषा के प्रतिनिधि आचार्य चाणक्य ने कहीं भी युद्ध के नये-नये कारणों और युद्ध जीतने के नये-नये उपायों का विधान करके मत्स्य-न्याय के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।[1]

युद्धों का इतिहास मानव जाति के इतिहास से जुड़ा हुआ है। आदिम-घुमक्कड़ जातियाँ जो पशुचारण एवं कृषि करती थीं वे शांतिप्रिय थीं किंतु समय एवं परिस्थितियों ने उन्हें युद्ध की ओर धकेल दिया। जब जनसंख्या में वृद्धि हुई तो ये आदिम जनजातियाँ संसाधनों की खोज में नए अधिवास की ओर बढ़ी। इसी विस्तार की प्रक्रिया के दौरान वे नई संस्कृति के लोगों के संपर्क में आएं। स्थानीय निवासियों ने इस विदेशी जाति के अतिक्रमण या घुसपैठ के विरूद्ध विद्रोह कर दिया तथा इन विदेशी लोगों को आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षात्मक उपाय करने हेतु विवश होना था। आक्रमण और आक्रांता का परिणाम वैमनस्य या शत्रुता का जंम था। इसी प्रकार के संघर्ष में नेतृत्वकर्त्ता की आवश्यकता हुई जिससे राजपद अस्तित्व में आया। देवासुर संग्राम के रूप में इसी प्रकार का आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है।[2]

जब जनजातिय जीवन से एक स्थिर समाज का निर्माण हुआ तो उसने राजा ओर सेना दोनों को भी विकसित किया। समाज के निर्माण से राज्य का उद्भव हुआ जिसके साथ वैवाहिक एंव संपत्ति संबंधी कानून भी अस्तित्व में आया। परिवारों एवं निजी संपति से सामाजिक जीवन समाज में समन्वय व सौहार्द को बनाए रखने के लिए बडे कानून एवं परंपराए स्थापित की गई जो समाज को एक

---

1 दुष्प्रणीत: कामकोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति , किमङ्ग पुनर्गृहस्थान्। अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भम्बयति। बलीनबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे। तेन गुप्त: प्रभवतीति।। प्र. 1 : अ. 3, 4.1।। अर्थशास्त्र

2 प्राचीन भारतीय युद्ध व्यवस्था, पृ. 2

बनाए रख सकें। एक वैधानिक सत्ता के ये कानून निरर्थक थे अत: इन्हें लागू करवाने हेतु दण्ड अर्थात् सजा का प्रावधान किया गया जिसका आधार राजा था। दण्ड को लागू करने में सेना तथा पुलिस सहयोगी होती थी। पुलिस का विकास बाद के काल में हुआ था। राज्य के आंतरिक एवं बाह्यय अर्थात् प्रशासन एवं सुरक्षा दोनों हेतु राजा एवं दण्ड अपरिहार्य तत्व हैं।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों ने राजा और दण्ड की महत्ता को पहचाना तथा राज्य एवं राजा की उत्पत्ति, कार्य एवं प्रशासन के साथ दण्ड एवं सुरक्षा पर भी लिखा। प्राचीन हिंदू विचारकों ने राज्य के संदर्भ में 'सप्तांग' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जिसमें से एक सेना भी है।[1] कौटिल्य दण्ड (सेना) को कोष के बराबर स्थान देता है। कौटिल्य जो कहता है 'कोष मूंल दंण्ड' अर्थात् कोष (खजाना) ही राज्य का आधार है। कौटिल्य से आगे बढ़कर शुक्रनीति में सेना को ज्यादा महत्व प्रदान करते हुए उसकी तुलना मानव अंग मस्तिष्क से की गई है। वह कहता है कि जिस प्रकार मस्तिष्क के बिना मानव कार्य नहीं कर सकता उसी प्रकार सेना की अनुपस्थिति में राज्य के कार्यों में ठहराव आ जाएंगा। शुक्र कहता है "बिना सेना के कोई राज्य नहीं, कोई धन नहीं, कोई शक्ति नहीं। कोष ही सेना का मूल है और सेना ही कोष का मूल है। एक शक्तिशाली सेना से राज्य और कोष समृद्ध होते हैं तथा शत्रुओं का विनाश होता है।" कौटिल्य, शुक्र एवं कामंदक बडे राजनीतिक विचारक हुए है किंतु उससे पूर्व भी हिंदू ग्रंथों मे युद्ध एवं सेना का उल्लेख मिलता हैं। विश्व की प्राचीनतम रचना 'ऋग्वेद' में तीन भीषण संग्रामों का उल्लेख मिलता है। ये युद्ध हैं- इन्द्र-वृत्र युद्ध, दशराज्ञ युद्ध एवं तुग्र राजा का युद्ध। ऋग्वेद में मरूतों को देवों का सैनिक बताया है। एक मन्त्र में मरूतों का चित्रण एक वीर सैनिक के रूप में किया है- "सिर पर शिरस्राण, कन्धे पर चर्म (ढ़ाल), वृक्ष : स्थलपर वक्षस्राण, पाँवों में कटक, हाथों में चमकतें शस्त्र-परशु, बर्छी, तीर-धनुष, सुनहरे रथ पर आसीन है।"[2]

---

1 Kamandakiya Nitisar, P. No. 5

2 The Art of War in Ancient India, P. No. 8

अर्थात् इस समय ही सैन्य-कर्म ने व्यवस्थित रूप ग्रहणकर लिया था। पुराणों में भी युद्ध विद्या को समुचित स्थान दिया गया है। पुराणों में अग्निपुराण प्रमुख है। यह प्राचीन भारतीय युद्ध-विद्या से संबंधित है। इसमें धनुर्विधा, शस्त्र-पूजा, घुड़सवारी करते समय विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग की विधि तथा युद्ध-कला के 32 प्रकारों का वर्णन मिलता है।[1] हिंदूओं के महाकाव्य रामायण एवं महाभारत में युद्ध एवं राज्य का विशद वर्णन है। रामायण का एक अध्याय तो युद्ध से ही समर्पित है जो युद्धकाण्ड के नाम से जाना जाता है। रामायण से तत् समय में वेतन-भोगी सैनिकों का उल्लेख मिलता है साथ ही सैनिकों के प्रशिक्षण की जानकारी भी मिलती है। महाभारत का शांति पर्व तो राज्य-व्यवस्था एवं सैन्य-विद्या का उत्कृष्ठ ग्रंथ है।

उपर्युक्त राजनैतिक सिद्धांतों को मौर्य, गुप्त, राजवंश, एवं कनिष्ठ एवं हषवर्द्धन जैसे शासकों ने अपनी दिग्विजयों की नीतियों से विशाल साम्राज्यों का निर्माण कर व्यवहार में लांए। गुप्त काल में 'रणभाण्डा-गारिक एवं 'महासेनापति' जैसे सैन्य-पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है।[2] हर्षचरित्र में हर्षबर्द्धन की दिग्विजय नीति एवं सैन्य शक्ति का विस्तृत वर्णन मिलता है।

युद्ध पद्धति

राज्य के उद्भव से राज्य विस्तार की नीति राजा के राजत्व का अंग रही है जिसकी कल्पना राजनीतिक-शास्त्रों में चक्रवर्ती सम्राट, एकाराट्, एवं दिग्विजय की नीति से प्रेरित है। राजा के राज्य विस्तार की नीति में सहायक सबसे महत्वपूर्ण अंग सेना है। राज्य का महत्वपूर्ण अंग होने की वजह से प्राय: सभी महत्वपूर्ण ग्रंथों में महाकाव्य, पुराण एवं स्मृति ग्रंथों में भी इसके अंगों पर विचार किया गया है।

प्राचीन ग्रंथों में चतुरांगिणी सेना का उल्लेख मिलता है, जो स्मृति एवं मौर्य काल से राजपूत काल तक प्रचलित रहीं। प्राय: चतुरांगिणी सेना में गज,

1 पुराण वाङ्मय में युद्ध एवं सैन्य विज्ञान, पृ. 3

2 गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग-2, पृ. 11

अश्व, रथ एवं पैदल सेना प्रमुख थी।[1] अग्निपुराण में षडंगो का उल्लेख मिलता जिनमें चतुरंगिणी के अतिरिक्त जिनमें चतुरंगिणी के अतिरिक्त है। मंत्री एवं कोष भी थे।[2] मनु ने भी कोष एवं मंत्री को अतिरिक्त बल के रूप में स्वीकारा है।[3] पाणिनी काल में ऊँट भी सैन्य बल का एक अंग बन गया था।[4] सेना के उन उपर्युक्त अंगों में देश एवं काल की परिस्थितिनुसार बदलाव भी आया। चतुरंगिणी सेना का एक अंग रथ युद्धों के बदलते स्वरूप के साथ अपना संयोजन नहीं बिठा पाया अत: वह समय के साथ लुप्त हो गए। इसका महत्वपूर्ण कारण था, कि रथ केवल सूखी एवं समतल भूमि के लिए ही उपयोगी था तथा पहाड़ी भूमि एवं वर्षा के मौसम में उसका प्रयोग संभव नहीं था।[5] भौगोलिक आवश्कतानुरूप ऊँट भी सीमित क्षेत्र में ही अर्थात् रेगिस्तानी भूमि वाले क्षेत्र जैसे सिंध, बलुचिस्तान एवं बीकानेर की सेना का मुख्य अंग था। इसके अतिरिक्त दिल्ली सल्तनत के सुल्तान, एवं अकबर ने भी ऊँट सेना रख रखी थी। ऊँट विजयनगर की सेना का एक स्थायी अंग भी था।[6] बीकानेर ऊँट सैन्यदल आधुनिक काल में भी प्रसिद्ध रहा जिसने देश-विदेश में अपनी सेवाएं अर्पित की ब्रिटिश ने इसे 'गंगा-रिसाला' का नाम दिया।[7] चतुरंगिणी सेना में गज एवं अश्व सेना को अधिक महत्व दिया गया है। इनमें कौटिल्य प्रमुख है। फिर भी पैदल सैनिकों की संख्या में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं हुई। अग्निपुराण में तो उल्लेख मिलता है कि 'जिस राजा की सेना में पैदल सैनिकों की संख्या अधिक होती है वह निश्चित ही शत्रु पर विजय प्राप्त करता है। "ऐसा ही उल्लेख शांति पर्व में भी मिलता है।[8]

भारत में तुर्कों के आगमन तथा युद्ध में गतिशील अश्वारोही सैनिक तथा अस्त्र के रूप में तीरंदाजी ने मध्यकालीन युद्ध नीति में बदलाव आया। जिसका

---

1 अग्नि पुराण, पृ. 469, अर्थशास्त्र, पृ. 651

2 अग्नि पुराण, पृ. 469

3 पुराणों में युद्ध पद्धति, पृ. 166

4 पुराणों में युद्ध पद्धति, पृ. 166

5 The Art of War in Ancient India, P. No. 26

6 Sarkar, Jagdish Narayan. The Art of War in Medieval India, P. No. 109

7 पुष्पा गुप्ता (अनु.), राज्यश्री कुमारी बीकानेर : बीकानेर के महाराज, पृ. 340

8 प्राचीन भारतीय युद्ध-व्यवस्था, पृ. 23

प्रभाव राजपूत चतुरंगिनी पर भी पड़ा। इस समय तक पैदल सेना का महत्व पूर्ववत था। इस संदर्भ में पी.सी. चक्रवर्ती लिखते हैं कि "हिंदू सेनाओं में चौथी शताब्दी ई.पूं से लेकर बारहवीं शती ई. के अंत तक पैदल सैनिकों की अधिकता बनी रही।" इस पैदल सेना की कमी पड़ रही थी। 1600 वर्षो तक सेना का मुख्य अंग होने के बावजूद उस तरह सेना का सबसे महत्वपूर्ण अंग बनने या मजबूत रक्षा तंत्र बनाने में असफल रही जिस प्रकार यूनानियों अपनी 'फ्लेक्स' तंत्र को बनाया।"[1] आधुनिक एवं पाश्चात्य विचारकों ने पदाति सेना को सैन्य-तंत्र का आधार माना है। मैकियावली ने तो उसे सेना के स्नायु तंत्र की संज्ञा दी। किंतु पदाति सेना प्राचीन एवं मध्यकाल में समरतंत्र का मुख्य आधार नहीं रहा।[2] इन सब के बावजूद पहाड़ी युद्व एवं किले की घेरे बंदी के समय पदाति सेना की भूमिका महत्वपूर्ण रहती थी। अरब यात्री अल मसूदी लिखता है कि मालखेत का बलाहारा राजा (राष्ट्रकूट) जिसके पास असंख्य सैनिक एवं हाथी है किंतु सर्वाधिक पदाति सैनिक हैं, क्योंकि उसका राज्य पर्वतों के बीच स्थित है। पदाति सैनिकों के कार्य बतातें हुए कौटिल्य कहता है कि वे शिविर लगाने, श्रमिकों के कार्य का निरीक्षण करने, अन्नागार, कोष, शस्त्रागार एवं मार्ग की सुरक्षा का दायित्व था।[3] जब 16वीं एवं 17वीं सदी के भारत को दृष्टिगत करते हैं तो पदाति सैनिकों के कार्य में सादृश्यता दिखाई देती है। पी.सी. चक्रवर्ती कहते हैं कि "प्राचीन हिंदू सेना एवं मुगल पदाति सेना को देखने पर स्पष्ट होता है कि इस देश में समय के साथ शासन करने वाले वंश बदल गए किंतु संस्थागत जीवन में किसी प्रकार का बदलाव नहीं हुआ। वी.ए स्मिथ अकबरकालीन पदाति के सेना के संदर्भ में लिखते हैं कि द्वारपाल से लेकर डाक पहुँचाने वाला, पानी ढ़ोने वाला, तलवारबाज और पहलवान सभी पदाति सैनिक थे।[4]

पदाति सेना के बाद चतुरंगिणी सेना का दूसरा मुख्य अंग अश्व सेना होती यह चतुरंगिणी सेना का सबसे महत्वपूर्ण अंग था। वैदिक काल से ही अश्व, सेना,

1 The Art of War in Ancient India, P. No. 16

2 Ibid, P. No. 94

3 The Art of War in Ancient India, P. No. 95

4 Ibid, P. No. 17

सेना के का अभिन्न अंग थे। कुछ पाश्चात्य विचारकों का कहना है कि ऋग्वैदिक आर्य घोड़ो के अनुसार अश्वारो ही सेना वैदिक कालीन सेना का महत्वपूर्ण अंग माना है।[1] महाकाव्य काल में भी घोडे सेना के मुख्य अंग है। रामायण में कंबोज, सिंध, अरब एवं बल्कि के अश्वों को श्रेष्ठ जाति का बताया है।[2] सोमदेव ने सेना में अश्यव के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "अश्वबल सेना की गति का प्रतिनिधित्व करती है। जिस राजा के पास उत्तम अश्व-बल रहता है उसके लिए युद्ध एक क्रीड़ा मात्र बन जाता है। विजय श्री उसके साथ रहती है और दूरस्थ शत्रु भी सरलता से उसके अधीन हो जाते हैं। सोमदेव अश्व सेना की प्रशंसा करते हुए कहा है कि "अश्व बलन कीर्ति की कुंजी हैं। जिस राजा के पास श्रेष्ठ अश्व-बल है, वह अपनी सीमा रक्षा के लिए तनिक भी भयभीत नहीं है।"[3]

प्राचीन विचारक अश्व सेना के महत्व से भली भांति परिचित किंतु फिर भी हिंदु अश्व सेना अपने समकालीन विदेशी राज्यों की सेना के समकक्ष स्तर की नहीं थी। ए.एल.बाशम का मानना है कि उत्तर-पश्चिम के आक्रान्ताओं के आक्रमणों के समय भारतीय सेना की पराजय में, उनकी अश्वसेना की दुर्बलता एक मुख्य कारण था। 326 ई.पू के पुरू पर सिकन्दर की तथा 1192 ई. में पृथ्वीराज पर मोहम्मद गौरी की निर्णायात्मक विजय का मुख्य कारण अधिक श्रेष्ठ सचल अश्व सेना का महत्वपूर्ण भाग नहीं बन सका[4] गुप्त काल में घुड़सवार धनुर्धर सेना का उल्लेख मिलता है।[5] 11वीं एवं 12वीं शताब्दी में हिंदू सेना का मुकाबला जब कुशल धनुर्धारी अश्वारोहियों से हुआ तो उन्होंने सेना को गहरा आघात पहुँचाया। अश्वारोही धनुर्धर जंहा द्रुतगति से स्थान बदलते एवं कारवाई में सक्षम थे, वहीं भारतीय पदाति धनुर्धर अपनी धीमी रणनीतिक तकनीक की वजह

---

1 प्राचीन भारतीय युद्ध व्यवस्था, पृ. 39

2 रामायण कालीन युद्ध कला, पृ. 152

3 The Art of War in Ancient India, P. No. 42 ; Indian Army Through the Ages, P. No. 44

4 अद्भुत भारत, पृ. 91

5 Ray Kaushik. Hindusim and the Ethics of Warfare in South Asia : From Antiquity to Present, P. No. 160

से उनका मुकाबला करने में सक्षम नहीं थे।[1] राजपूत काल में घोडे का महत्व बढ़ गया था। घोडे के महत्व को इंगित करते हुए रानी लक्ष्मी कुमारी चुण्डावत लिखती है कि "सामंती युग में अपनी संतान का इतना ख्याल नहीं रखा जाता था, जितना की घोडे और घोड़िया का।"[2] राणा-रासों में विभिन्न देश एवं स्थलों के घोड़ो की नस्लें तथा उनकी विशेषताओं को विस्तार से बताया गया है।[3] महाराणा रायमल रासा में विभिन्न सामंतों तथा उनके घोड़ों के नाम के बारे में जानकारी मिलती हैं।[4] घोडे मुगल सेना का सबसे महत्वपूर्ण अंग होते थे। सेना की क्षमता घुड़सवार सेना पर निर्भर करती थी किंतु लोभ वश सैनिक सेना के उत्तम घोडे बेचकर टट्टू पेश कर देते थे जिसका प्रतिकूल प्रभाव सेना की क्षमता पर पड़ता था। अत: अकबर ने घोड़ो पर शाही दाग लगाने की परंपरा को प्रारंभ किया। अबुल फजल शाही सेना के अश्वों की जानकारी देता है तथा उन्हें सात श्रेणियों में विभक्त करता है- अरबी, ईराकी, मुजन्नस, तुर्की, याबू, ताजी और जंगला।[5] राजपूतों के पास उत्तम नस्ल के घोडे होते थे जिन्हें युद्ध में ले जाने से पूर्व अच्छी तरह से प्रशिक्षित किया जाता था।[6] अश्व सेना प्राचीन एवं मध्यकाल में सेना का अति महत्वपूर्ण अंग रही।

चतुरंगिणी सेना में तृतीय बल गजबल था। प्राचीन काल में राजा के ऐश्वर्य-सम्पन्न एवं प्रबल होने का आधार गजबल ही था। हस्ति सेना का प्रयोग वैदिक काल से ही होता आ रहा है। आचार्य शुक्र ने सेना में गजों की संख्या का निर्धारण भी किया है। उनके अनुसार गजों की संख्या ऊँट की संख्या का चतुर्थांश होना चाहिए।[7] कामदक नीतिसार में हाथियों के महत्व पर प्रकाश डाला है कि "राजा का साम्राज्य गज पर निर्भर है। युद्ध में प्रशिक्षित तथा पूर्ण रूप से सज्जित

1 The Art of War in Ancient India, P. No. 43
2 रानी लक्ष्मी कुमारी चूण्डावत, रजवाड़ों के रीति-रिवाज, पृ. 24
3 राणा रासो, पृ. 330
4 वीर विनोद, भाग-1, पृ. 339
5 हरिवंश राय शर्मा (अनु.), अबुल फजल, आईने अकबरी, पृ. 170
6 The Art War in Medieval India, P. No. 101
7 पुराणवाङ्मय में सैन्य विज्ञान, पृ. 67, Nitisara, P. No. 217

एक हाथी छः हजार पूर्ण-सुसज्जित अश्व को मारने में सक्षम है।" पालक्पय ने हस्तायुर्वेद में "गज को सेना का आभूषण" कहा है।[1] हिंदू विचारकों ने तो गज को सेना का महत्वपूर्ण भाग माना था जिसे बाद में मुस्लिमों ने भी अपनाया।

भारतीय विश्वास को मुसलमान विजेताओं ने उत्तराधिकार के रूप में ग्रहण कर लिया था जो भारत में कुछ पीढ़ियों के बाद हिन्दुओं की भाँति हाथियों पर लगभग पूर्व विश्वास रखने लगे थे और वे भी ठीक उसी प्रकार बिना हाथियों की सेनाओं द्वारा आपतिग्रस्त हुए।[2] प्राचीन विचारकों के समान मध्यकालीन विचारकों ने भी गज को सेना का अभिन्न अंग माना है। सारंगधर पद्धति में उल्लेख मिलता है कि "हाथी के बिना सेना उसी प्रकार है जैसे वन बिना सिंह, राजा के बिना राज्य।" इसी प्रकार के विचार अमीर खुसरों तथा अबुल रज्जाक ने भी रखें।[3] भारतीयों द्वारा युद्ध में हाथियों के प्रयोग में विदेशी युद्ध पद्धति को भी प्रभावित किया और वहाँ भी इनकी मांग होने लगी। सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से प्राप्त हाथियों का प्रयोग ऐंटिगोनस के विरूद्ध युद्ध में किया था। और सफलता प्राप्त की थी। इसके अतिरिक्त 281 ई.पू. में पैनोरमस इन हाथियों को इटली ले गया। 251 ई.पू. में हैसड्बल ने पैनोरमस में भारतीय महावतों द्वारा चलाये जाने वाले हाथी प्रयोग में लाये। रोम के विरूद्ध द्वितीय प्यूनिक युद्ध में हैनिवाल तथा हैसडबल में इन्हीं भारतीय हाथियों का प्रयोग किया और राफिया के युद्ध में तोलेमी के लीबियाई हाथी ऐंटिओकस के भारतीय हाथियों के सम्मुख थोडे समय भी न टिक सके।[4] मुहम्मद गजनवी ने भी हाथियों के महत्वों को देखकर इनका प्रयोग किया था।"[5] हाथी का वर्णन बाबर ने अपनी आत्मकथा बाबरनामा में भी किया है। वह लिखता है "हाथी हिन्दुस्तान का अपना जंगली जानवर हैं। ये एक लंबा-चौड़ा जानवर है। जितना बड़ा होता है उसका उतना ही अधिक दाम होता है। ये पूर्व दिशा में पाया जाता है। कालपी के आस-पास भी मिलता है। कर्रा और मानिकपुर के तीस-चालीस गाँवों का काम ही हाथी पकड़ना है। यह समझदार पशु

1 The Art of War in Ancient India, P. No. 49

2 अद्भुत भारत, पृ. 91

3 The Art War in Medieval India, P. No. 104

4 प्राचीन भारतीय युद्ध व्यवस्था, पृ. 48

5 The Art War in Medieval India, P. No. 105

है। हिंदुस्तान की हर सेना में हाथी होते हैं।"[1] हाथी स्वंय मुगल सेना का महत्वपूर्ण भाग अकबर के काल में बन चुका था। इन पर भी शाही दाग लगता था। घोडे के समान हाथियों को भी सात भागों में विभाजित किया गया-मस्त, शेरगीर, सादा, मँझोला, करहा, कन्दुरकिया, और मोकल।[2] हाथी राजपूत समर तंत्र के भी महत्वपूर्ण भाग होते थे। महाराणा अमरसिंह ने हाथियों के विषय में जानकारी हेतु अमर विनोद नामक थ की रचना कराई जिसमें हाथियों की उत्प त्ति, नस्ल, रोग एवं निराकरण की जानकारी मिलती है।[3] सामन्ती काल में हाथी का अपना महत्वपूर्ण स्थान था। जयपुर, मेवाड़, अलवर, बूंदी रियासतों में हाथियों की संख्या दूसरी रियासतों की तुलना में अधिक थी। इन रियासतों में ठिकानेदार के यहाँ भी हाथी होते थे। 'हाथी बन्ध' ठिकाना महत्वपूर्ण और शक्तिशाली माना जाता था।[4] अमरसार में महाराणा अमरसिंह के हाथियों के वीरता की प्रशंसा मिलती है।[5] युद्ध में हाथियों का प्रयोग शत्रुओं को भयाक्रांत करने, एवं शत्रु की रणनीति को तहस-नहस करने का तो होता है इसके अतिरिक्त मार्ग से पेड़ हटाने, नदी पार करने, दरवाजा तोड़ने, सेनापति के युद्ध संचालन करने, सैन्य सामान ठोने तथा तोपों को ढ़ोने जैसे महत्वपूर्ण कार्य भी करता था। हाथी सैन्य कर्म के अतिरिक्त परिवहन में भी उपयोगी था।[6] युद्ध में हस्ति सेना के प्रयोग का नुकसान भी थे। तोपों के आगमन के बाद युद्ध में होती गोला बारी प्रशिक्षित हाथी को भी कर्तव्य भ्रष्ट कर देता था और आंतकित होने पर वह अपने की सैनिकों को कुचल डालता था। जिससे स्वंय की सेना को भी आघात पहुँचाता था।[7] हस्ति

---

1 बाबरनामा, पृ. 320

2 आईने अकबरी, पृ. 173

3 मनोरमा जोशी, महाराणा अमरसिंह प्रथम और उसका काल, पृ. 99
महाराणा अमरसिंह के काल में रचित दूसरा महत्वपूर्ण ग्रंथ अमर विनोद है। अमरसिंह की आज्ञा से बालाचार के पुत्र वैद्य धन्वन्तरी ने प्रचलित मेवाड़ी भाषा में इसकी रचना की थी। यह ग्रंथ हाथियों के विषय में जानकारी देता है। गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इस ग्रंथ की एक प्रति स्वर्गीय पण्डित विष्णुराम शास्त्री के व्यक्तिगत पुस्तकालय में देखी थी किंतु अब से अप्राप्य है।

4 रजवाड़ों के रीतिरिवाज, पृ. 25

5 पण्डित जीवन्धर कृत अमरसार, अनु. कुमार शास्त्री, पृ. 5

6 बाबरनामा, पृ. 52

7 अद्भुत भारत, पृ. 93

सेना के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों पक्ष थे फिर भी इसकी उपयोगिता की वजह से सेना का मुख्य अंग रहा।

सेना के प्रकार

राज्य की सुरक्षा राजा का प्राथमिक तथा सबसे महत्वपूर्ण कार्य था। इस कार्य में राजा की सहायक सेना थी जिसे भारतीय विचारकों ने बल की संज्ञा प्रदान की है। सेना एक अनुत्पादक वर्ग होने से राज्य के आर्थिक संसाधनों पर दबाव डालता था। राजा को एक विशाल सेना की सदैव आवश्यकता रहती थी किंतु सीमित आर्थिक संसाधनों में यह संभव नहीं था। अत: प्राचीन काल एवं मध्यकाल में राजा के पास एक नियमित सेना के अतिरिक्त एक अस्थायी सेना एवं सामंतों की सेना भी होती थी। जो राज्य के संसाधनों पर सीमित बोझ डाले आवश्यकता के समय एक विशाल सेना एकत्रित कर लेता था।

कौटिल्य छ: प्रकार की सेना का उल्लेख करता है।[1]

1. **मौलबल-** मूल स्थान अर्थात् राजधानी की रक्षा करने वाली सेना होती थी। इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसकी स्वामीभक्ति थी, जिसे किसी प्रकार भेदा नहीं जा सकता था।

2. **भृतक बल-** कौटिल्य शत्रु कमजोर होने, उसका देश दूर न होने तथा शत्रु देश के गुप्तचरों द्वारा सेना मे भेद डालने की संभावना नगण्य होने पर युद्ध में भृतक बल को साथ ले जाने को कहता है। यह सेना सवैतनिक होती है। आपातकालीन स्थिति में वेतन भोगी अथवा भत्ते की शर्तो पर नियुक्ति प्राप्त सैनिकों से निर्मित था।

3. **श्रेणी बल-** यह सेना राज्य के विभिन्न प्रकार के व्यवसाय करने वाली श्रेणियों द्वारा निर्मित होती थी जो अपने जनपद अथाव राष्ट्रहित में बडे से बड़ा त्याग करने को तत्पर थे।

---

1 अर्थशास्त्र, पृ. 596 ; लल्लनसिंह, कौटिल्य का युद्ध दर्शन, पृ. 120

4. **मित्रबल-** यह सेना अपने मित्र राजाओं अथवा राज्यों की उस सेना से निर्मित होती थी जिसे आवश्यकतानुसार युद्ध के समय बुलाया जा सकता था। मित्र सेना का प्रयोग प्रकाश युद्ध की अधिक संभावना होने, मित्र राज्य एवं राजा का समान उद्देश्य होने, पहले मित्र सेना को लड़ाकर फिर अपनी सेना द्वारा आक्रमण कर शत्रु पराजित करने में इस सेना का प्रयोग करना चाहिए। आमने-सामने के युद्ध में बड़ी सेना की आवश्यकता तथा शत्रु सेना को थकाकर फिर उस पर आक्रमण करने हेतु एक सुरक्षित व ऊर्जावान सेना के लिए इस प्रकार की सेना की सुझाव देता है।

5. **अमित्र बल-** शत्रु राजा द्वारा प्राप्त सेना को अमित्र बल कहा है। कौटिल्य को अमित्र बल से तात्पर्य है कि जब कभी शत्रु ज्यादा शक्तिशाली हो तथा अपने समीप ठहरा हुआ हो तब स्वंय युद्ध में न उलझकर उसी के शत्रु तथा आतविक सेना का प्रयोग कर दोनों में युद्ध संलग्न कर देना। यह छद्म युद्ध था जिसमे राजा की अप्रत्यक्ष भूमिका होती थी। इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता हानि चाहे किसी भी पक्ष की हो लाभ विजिगीषु राज्य को ही था। मित्र सेना एवं आटविक की सेना में उसके जो कंटक थे उनका उन्मूलन हो जाता था।

6. **आटवी बल-** यह सेना लूटपाट करने वाले असभ्य एवं जंगली जातियों के लोगों द्वारा निर्मित होती थी। कौटिल्य का कहना है कि जब विजिगीषु को गंतव्य के पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता हो, आटविक उस स्थल की युद्धभूमि में लड़ने योग्य को हो तथा बिना विजिगीषु की आज्ञा के शत्रु से लड़ने को उधत हो तो ऐसी स्थितियों एवं अवसरों पर आटविक सेना को भेजने की अनुशंसा की।

उपर्युक्त छः के अतिरिक्त कौटिल्य औत्साहिक नामक सातवीं सेना का भी उल्लेख करता है। नेतृत्वहीन, भिन्न-भिन्न देशों में रहने वाली राजा की स्वीकृति या अस्वीकृति से ही दूसरे देशों पर लूट-मार करने वाली सेना को 'औत्साहिक बल' कहा जाता है। चूंकि औत्साहित सेना प्राय: एक ही देश की एक ही जाति की और

एक ही व्यवसाय की होती है अत: संगठित होने की वजह से कौटिल्य इसे संग्रह करने को कहता है।

मध्यकाल में सैन्य एवं प्रशासनिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु सामंती व्यवस्था विकसित हुई। दिल्ली सल्तनत में अपने प्रारंभिक काल में अपनी स्थिति को मजबूत करने हेतु सैन्य एवं प्रशासनिक व्यवस्था पर ध्यान दिया। इसी प्रयास में इल्तुतमिश ने भारतीय समाज में सामंति-प्रथा को समाप्त करने तथा साम्राज्य को दूर-दराज के हिस्सों को केन्द्र से जोड़ने के लिए महत्वपूर्ण साधन के रूप में अक्ता-प्रणाली को स्थापित किया।[1] अलाउद्दीन खिलजी के पूववर्ती काल में मुस्लिम बादशाहों की अपनी निजी सेना प्राय: नहीं के बराबर होती थी। राजधानी तथा अपनी व अपने महल की सुरक्षा के लिये थोड़ी सी सेना उनके पास होती थी, जो वर्तमान की पुलिस के समान थे। अलाऊद्दीन ही सर्वप्रथम मुस्लिम बादशाह था, जिसने सोचा कि देश की आंतरिक शांति को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि एक सुदृढ़ एवं विशाल केन्द्रीय सेना रखी जाय।[2] मुगलों की सैन्य व्यवस्था का आधार मनसबदारी व्यवस्था थी, जिसे अकबर ने प्रारंभ किया था। मुगलों की सेना अमीरों के भर्ती किए गए वेतन-भोगी सैनिकों से बनी हुई थी। बादशाह द्वारा इन्हें एक निश्चित सैनिक टुकड़ी रखने का अधिकार दिया जाता था, जिसके वेतन हेतु जगीर प्रदान कर दी जाती थी। इस व्यवस्था में सैनिक के लिए अमीर सरदार महत्वपूर्ण हो जाता था, क्योंकि उसे वेतन अमीर से ही मिलता था। सभी कार्य बादशाह के निदेर्शों के अनुरूप ही संपादित होते थे अत: इस व्यवस्था में बादशाह ही सर्वोपरि था। इसके अतिरिक्त कुछ थोडे से किंतु चुने हुए लोगों को अमीरों की सेना के सैनिकों की अपेक्षा अधिक वेतन तथा ऊँचे पद पर सम्राट स्वंय भरती करता था। इन्हें 'अहदीस' अथवा व्यक्तिगत सिपाही कहा जाता था।[3]

---

1 हरिश्चंद वर्मा, मध्यकालीन भारत, भाग-1, पृ. 337

2 विलियम इरविन : भारतीय मुगलों की सैन्य व्यवस्था, अनु. रमेश तिवारी, पृ. 8

3 जदुनाथ सत्कार : मुगल शासन पद्धति , अनु. विजयनारायण चौबे , पृ. 182; Ali, Athar M. The Mughal Nobility Under Aurangzab, P. No. 4

दिल्ली सल्तनत एवं मनसबदारी व्यवस्था के समाज राजपूतों में सैन्य एवं प्रशासनिक व्यवस्था का आधार सामंती व्यवस्था थी। वंशानुगत एवं शासक के कुलीय संबंध से प्रभावित थी। ये सामंत राजा की शक्ति के स्त्रोत होते थे। उन दिनों सामंत-वर्ग 'जमीत' रखते थे जो हर समय युद्ध के लिए तैयार रहती थी। उनकी सतर्कता के लिए कहा जाता था कि 'सिराणे सूती जमीत' अर्थात् जमीयत हर वक्त सिरहाने तैयार मिलती है। टॉड मेवाड़ की जगीरदारी प्रथा की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि "सात शताब्दियों तक मुगलों और पठानों द्वार किये गये भयंकर विनाश के उपरांत भी यह प्रथा निर्जीव नहीं हुई। जिस समय दिल्ली का मुगल शासन शिक्षिल और कमजोर हो गया था, उस समय में भी मेवाड़ राज्य की जागीरदारी प्रथा दृढ़ता के साथ चल रही थी।" जमीरदार शांति के समय अपने क्षेत्र में शांति एवं व्यवस्था बनाए रखते थे तथा युद्ध के समय राजा को सैन्य सहायता उपलब्ध करा के उसे मजबूत बनाते थे।[1]

कौटिल्य का मानना है कि जिस प्रकार राज्य रूपी गाड़ी एक पहिये से नहीं चल सकती हैं। राजा को दूसरे पहिये अर्थात् अमात्य की आवश्यकता रहती है।[2] उसी प्रकार मध्यकाल में सामंत का दाहिना हाथ बन चुका था। सामंतों का सैन्य दृष्टि से अत्यंत महत्व था। पृथ्वीराज रासो में राजा एव सामंतों के संबंधों पर प्रर्याप्त प्रकाश डाला है। चंद, पृथ्वीराज एवं सामंतों में युद्ध में मरने की होड़ पर कहता है कि "सामंतगण राजा के और राजागण सामंतो के रक्षक कहे गये हैं।" इस प्रकार कवि राजा और सामंतों दोनों के महत्व को इंगित करता है।"[3] युद्ध में सामंतों की संख्या राजा की शक्ति की द्योतक होती थी। संयोगिता के अपहरण के दौरान पृथ्वीराज अपनी शक्ति को प्रदर्शित करते हुए युद्ध भूमि में कहता है कि, "मेरे साथ सौ सामन्त है।"[4]

---

1 कर्नल जेम्स टॉड कृत राजस्थान का इतिहास , अनु. कालूराम शर्मा , पृ. 52 ; राजेंद्र प्रकाश भटनागर : मेवाड़ का राज्य प्रबंध एवं महाराणा राजसिंह कालीन बही , पृ. 67 ; भंवर लाल भादानी, 'राजस्थान के ठिकानों का उद्भव एवं ठिकानेदारों के अधिकार : एक सर्वेक्षण:, पृ. 28

2 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, पृ. 19

3 मनोहरसिंह राणावत (सं.), कविराव मोहनसिंह, महाकवि चंदबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो, पृ. 211

4 वही, पृ. 200

प्रताप से पूर्व युद्ध नीति

युद्ध नीति का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना मानव जाति का। जब भारतीय इतिहास के प्राचीन काल से ही युद्ध संबंधी घटना हड़प्पा सभ्यता एवं उसके बाद वैदिक ग्रंथों, रामायण, महाभारत तथा गीता आदि ग्रंथों में युद्ध संबंधी जानकारी मिलती है। कौटिल्य मनु एवं कामंदक जैसे राजनीतिक विचारों ने तो इस विषय पर विस्तार से चर्चा की है। चूंकि इन विचारकों ने सार्वभौमिक मूल्यों को आधार बनाकर यर्थाथवादी उपागम से मानवीय मूल्यों का विश्लेषण किया अत: इनके विचार तकनीक क्षेत्र में होने वाले आमूल-चूल परिवर्तन के पूर्व तक प्रासंगिक रहें।[1]

राजपूत युद्ध नीति के दर्शन गुर्जर-प्रतिहारराजवंश की युद्धनीति में होते हैं। गुर्जर-प्रतिहारों के पास एक विशाल शक्तिशाली एवं मजबूत सेना थी। इसी मजबूत सेना के दम पर दोनों ही मोर्चो पर अर्थात् आंतरिक एवं ब्राह्य, क्रमश: त्रिराष्ट्रीय संघर्ष एवं अरब आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना कर अपनी कुशल सैन्य क्षमता का परिचय दिया। इनकी अश्वरोही सेना की प्रशंसा स्वंय अल-मसूरी ने भी की है। गुर्जर-प्रतिहार वंश के पतन के साथ की उत्तर भारत की राजनीतिक एकता विखण्डित हो गई तथा इसके साथ कई छोटे-छोटे राज्य अस्तित्व में आएं। इन राज्यों में परस्पर द्वेष की भावना तथा आपसी प्रतिस्पर्द्धा ने सदैव इन्हें आपसी संघर्ष में उलझाये रखा, जिससे इन राज्यों को जन, धन की हानि सहन करनी पड़ी। ब्रिटिश विचारक कूपलैण्ड लिखते हैं कि इसी आपसी फूट के चलते राजपूत शासक मुस्लिम आक्रमण के विरुद्व एवं संयुक्त मोर्चे का गठन करने में असफल रहें और उन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ा।[2]

हिन्दू युद्ध पद्धति की चर्चा करें तो यहाँ झेलम के युद्ध से लेकर मध्यकाल के राजपूत राज्यों की व्यूह पद्धति में सभ्यता दिखाई पड़ती है। पोरस ने सेना को चार भागों में विभाजित किया तथा जो कि सेना का सामान्य विभाजन था। पोरस ने सेना गरूड व्यूह के रूप में सजाया। सेना के अग्र भाग में हाथियों की पंक्ति

---

1 Parasad, Beni. The State in Ancient India, P. No. 441

2 बाबूराम पाण्डेय, सैन्य अध्ययन की पुस्तक, पृ. 47

को जमाया प्रत्येक हाथी के मध्य एक सौ फीट का फासला रखा। उन हाथियों के बगल में तीन सौ रथ और चार हजार सैनिक खड़े किए। इन रथ को चार घोडे खींच रहे थे तथा प्रत्येक रथ पर छः सैनिक सवार थे। इन छः सैनिकों में दो धनुर्धर दो ढ़ालधारी तथा दो सारथि थे। युद्ध के प्रारंभ में हाथियों के डर से तथा बाणों की तेज वर्षा ने पोरस की सेना को एक परिस्थिति में रणनीति को बदला और सेना को दायें और से पोरस की सेना पर आक्रमण करने के निर्देश दिए। इसी के साथ घुड़सवार धनुर्धारियों को हाथी एवं महावत को निशाना बनाने के आदेश दिए। आतंकित हाथी अपनी ही सेना को कुचलने लगें वहीं भारी-भरकम रथो युद्ध की तेजी से बदलती युद्ध नीति के अनुरूप सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकें। आठ घंटो के लंबे युद्ध में घायल पोरस शत्रुओं के हाथों लग गया। इस प्रकार पोरस युद्ध में पराजित हुआ।[1]

झेलम के युद्ध के बाद हुए विदेशी आक्रमण को मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त ने पराजित कर विजय श्री प्राप्त की तथा आपसी संबंधों को मजबूत बनाने हेतु वैवाहिक संबंध भी कायम हुए।[2] इस प्रकार पूर्व मध्यकाल तक कई आंतरिक एवं ब्राह्य संघर्ष हुए। पूर्व मध्यकाल में या सातवीं शताब्दी में फिर बाहरी आक्रमण का सामना करना पड़ा। ये बाहरी शक्ति अपने भारतीय इतिहास को प्रभावित करने वाली थी। अरब के शासक के युवा सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध के शासक दाहिर को पराजित कर सिंध में मुस्लिम शासन की नींव डाली। करीब तीन सौ वर्ष बाद एक बार फिर मुस्लिम सेनाएं भारत की सीमाओं में प्रवेश करने को तैयार थी। मोहम्मद गजनवी के नेतृत्व की मुस्लिम सेना को उत्तर-पश्चिम के राज्यों की तरफ से कड़ी टक्कर मिली किंतु वे विजय प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकें 100 ई.में मुहम्मद गजनवी ने पेशावर के निकट जयपाल को पराजित किया था।[3] चूंकि महमूद गजनवी हिंदुस्तान पर स्थायी अधिकार करने नहीं अपितु धन लूटने आया अत: उसकी मृत्यु के बाद यहाँ के आंतरिक प्रशासन पर कोई

1 केशव कुमार ठाकुर : भारत की प्रसिद्ध लड़ाइयाँ, पृ. 28 ; Major Gautam Sharma : India Army Through the Ages, P. No. 46

2 डी.एन. झा, प्राचीन भारत की एक रूपरेखा, अनु. कन्हैया, पृ. 62

3 Indian Army Through the Ages, P. No. 52

प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ। ग्याहरवीं एवं बारहवीं शताब्दी के उत्तर भारत के प्रमुख राज्यों मे दिल्ली एवं अजमेर के चौहान, गुजरात के चालुक्य जेजाक मुक्ति के चंदेल तथा कन्नौज के गहड़वाल वंश प्रमुख थे। ये सभी राज्य साम्राज्यवादी भावना से प्रेरित होकर आपस में संघर्षरत थे, जिससे इनक शक्ति का ह्यस हुआ।[1] विग्रहराज चतुर्थ (बीसलदेव) एवं पृथ्वीराज तृतीय के काल में चौहान शक्ति अपने उत्कर्ष पर थी। बिजोलिया तथा दिल्ली के शिलालेख से विग्रहराज चतुर्थ के दिल्ली तथा हांसी विजय की जानकारी मिलती है।[2] चौहान राज्य की शक्ति की और अधिक सुदृढ़ करने का कार्य पृथ्वीराज तृतीय ने किया। इस पृथ्वीराज एवं शिहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के मध्य तराईन के दो युद्ध लड़े गए जिसने भारत के इतिहास को एक नई दिशा प्रदान की। पृथ्वीराज का प्रतिद्वंद्वी गोरी एक अपराजेय शासक नहीं था, उसे गुजरात के शासक भीमदेव के हाथों हार का सामना करना पड़ा था।[3] इस युद्ध में मुस्लिम सैन्य युद्ध पद्धति एवं सैन्य विन्यास की भी जानकारी मिलती है। सल्तनत काल एवं मुगलकाल में सेना को पांच भागों में विभाजित किया जाता था। इन पांच ईकाईयों को अल खमीस कहां जाता था-सेना को अग्रभाग, पश्च भाग, वाम पार्श्व एवं दायां पार्श्व में विभाजित होती थी। अग्र भाग-कल्ब तथा पश्च-कल्फ के नाम से जाना जाता था। सेना के प्रत्येक भाग का एक पृथक सैन्य अधिकारी होता था।[4]

फरिश्ता लिखता है कि भटिंडा के दुर्ग पर गौरी के अधिकार की सूचना मिलते ही, पृथ्वीराज दो लाख सवार एवं तीन हजार हाथियों की विशाल सेना लेकर भंटिडा की ओर बढ़ा।[5] मिनहाज भी लिखता है कि इस समय हिंदुस्तान के सभी राजा कोला (गोविंदराज) के साथ थे।[6] पृथ्वीराज की सेना का आक्रमण इतना भंयकर था कि फरिश्ता लिखता है कि गौरी की सेना का मेमना व मयसरा

---

1 Kumar, Raj. Rajput Military Systems. P. No. 51

2 Sharma, Dasharatha, Early Chouhan Dynasties, P. No. 60

3 नरेन्द्र बहादुर श्रीवास्तव (अनु.), तारीखे फरिश्ता, पृ. 123

4 The Art of War in Medieval India, P. No. 210

5 तारीखे फरिश्ता, पृ. 124

6 Somani, Ram Vallabh. Prithviraj Chauhan And His Times, P. No. 68

बिल्कुल रिक्त हो गया कल्बे लश्कर में कुछ सेनाएं शेष रह गई थी। गौरी स्वंय इस युद्ध में घायल हो गया था।[1] मुस्लिम सेना को पराजय का सामना करना पड़ा। अपनी हार हो सबक लेते हुए गौरी साल भर की तैयारी के बाद सेना लेकर फिर युद्ध हेतु 1192 ई. में तराइन के मैदान में उपस्थित हुआ। तराईन के द्वितीय युद्ध में गौरी की समरतंत्र एवं रणनीति इस तथ्य पर बल देती है कि युद्ध नीति कोई सार्वभौमिक नियमों एवं सिद्धान्तों पर आधारित नहीं होती है। अपितु इसका मुख्य ध्येय विजय होती है। यह पहला और महत्वपूर्ण परिवर्तन युद्ध पद्धति में दिखाई देता है छल, कपट और शत्रु को युद्धोन्माद से ग्रसित करने पर आधारित थी। गौरी पहला कार्य पृथ्वीराज को भड़काने का करता है, उसे दूत भेजकर गौरी की अधीनता तथा इस्लाम ग्रहण करने का प्रस्ताव रखता है। जिसकी पुष्टि ताज-उल-मासिर एवं तारिखे- फरिश्ता में होती है। एक पराजित शत्रु द्वारा अधीनता स्वीकार करने तथा मध्यकाल में धर्म परिवर्तित करने का प्रस्ताव साफ तौर पर उसे उकसाने तथा युद्धोन्माद से ग्रस्त करने का प्रयास था।

जिससे वह कोई गलती करें तो दूसरा मन्तव्य अपने जनाधार एवं अनुयायियों की संख्या बढ़ाने हेतु युद्ध पर धर्म का आवरण चढ़ाया था। फरिश्ता लिखता है गौरी का दूत कवामुलमुल्क रूकनुद्दीन हमजा के इस्लाम स्वीकारों की बात सुनकर राय पिथौरा या पृथ्वीराज ने क्रुध होकर इस्लाम और मुसलमानों को अशिष्ट शब्द कहें और कवामुलमुल्क को दरबार से वापस भेज दिया। निश्चय ही इसका प्रयोग गौरी ने अपने हित के लिए किया होगा। गौरी एक लाख बीस हजार तुर्क, ताजिक और अफगान सुज्जित सेना को लेकर तराईन के मैदान में उपस्थित हुआ। इस बार गौरी ने स्वयं का भी गठबंधन बनाने का प्रयास किया जिसमें पृथ्वीराज के शत्रुओं को मिला सकें। इस गठबंधन में शामिल होने वालों में जम्मू का शासक विजयराज मुख्य था। पृथ्वीराज, गौरी के विरूद्ध राजाओं से सहायता मांगता है फरिश्ता कहता है कई राजा पृथ्वीराज की सहायता हेतु उपस्थित हुए। फरिश्ता के अनुसार पृथ्वीराज की सेना में तीन लाख की विशाल सेना थी, जिसमें

1 तारीखे फरिश्ता, पृ. 124, Early Chauhan Dynasty, P. No. 83

राजपूत एवं अफगान थे। इस युद्ध में गौरी ने छल-कपट का सभी तरह से प्रयोग किया। गौरी ने भ्रमित करने के निम्न कार्य किए-[1]

1. हिंदू राजाओं के पत्र का प्रत्युत्तर इस तरह से लिखा कि उसे ऐसा आभास होता था कि गौरी अपने भाई के दबाव में यहाँ आया है अन्यथा वह युद्ध का इच्छुक नहीं है।

2. मोहम्मद उल्फी के जीम-उल-हिदायत से जानकारी मिलती है कि पृथ्वीराज को भ्रमित करने हेतु कुछ सैनिकों को मशाल लेकर रात्रि में युद्ध-भूमि की विपरीत दिशा में भेजा जिससे ये आभास हो कि गौरी की सेना लौट रही है।

3. हम्मीर महाकाव्य एवं तारीखे-फरिश्ता में उल्लेख मिलता है कि गौरी की सेना ने प्रात: तड़के जब राजपूत सैनिक नित्य कर्म हेतु बाहर निकले तब आक्रमण प्रारंभ कर दिया।

4. अपनी सेना को झुठमूठ के भगोड़े प्रदर्शित करने की नीति-गौरी ने सेना को चार भागों में विभाजित किया। हर भाग को बारी-बारी से हिन्दूओं की सेना से युद्ध करने के निर्देश दिए। प्रात:काल से सांय काल तक जब युद्ध का दौर ऐसे ही चला तो थकी हिंदू सेना पर गौरी ने बारह हजार सैनिकों के साथ ऐसा भयंकर हमला किया कि हिंदू सेना के पांव उखड़ गए।

5. तराईन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय ने भारत मुस्लिम शासन की स्थापना का मार्ग प्रशस्त कर दिया। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ ही राजपूताना एवं मेवाड़ के संबंधों को भी एक नई दिशा मिली।

उदयसिंह की कालीन राजनीतिक स्थिति

उदयसिंह का शासन काल मेवाड़ के इतिहास के किसी भी शासक की अपेक्षा सबसे सर्वाधिक जोखिमपूर्ण एवं संवेदनशील था। सांगा की मृत्यु के बाद से

---

1 तारीखे फरिश्ता, पृ. 127 ; नयनचंद्र सूरि विरचित हम्मीर महाकाव्य, सं. मुनि जिनविजय, पृ. 28 ; Early Chauhan Dynasty, P. No. 85, Prathivraj Chauhan and His Times, P. No. 73

1540 ई. उदयसिंह के राज्याभिषेक तक का काल मेंवाड़, आपसीफूट, आंतरिक कलह का था। सांगा के बाद मेवाड़ में सामंत गुटों में विभाजित हो गए जिससे मेवाड़ की आंतरिक स्थिति कमजोर हुई। उदयसिंह के शासक बनने पर एक बार फिर बदलाव आया और मेवाड़ ने पुन: अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करने के प्रयास किए। इस कालखण्ड में उदयसिंह की स्थिति का विश्लेषण अत्यंत आवश्यक है। इतिहासकारों ने प्रताप की नीति एवं कार्यो को समझने हेतु उदयसिंह की नीतियों को समझना आवश्यक है। पूर्ववर्ती शासकों की नीतियां एवं कार्य परवर्ती शासकें के पथ-प्रदर्शन का कार्य करते हैं। इसी प्रकार शेरशाह एवं अकबर के संबंधों पर टिप्पणी करते हुए कानूनगां ने कहा है कि, "शेरशाह का अकबर से वही राजनीतिक संबंध है, जो चन्द्रगुप्त का अशोक से, जुलियस सीजर का आगस्टस से हेनरी द्वितीय का एडवर्ड प्रथम से और हेनरी पंचम लुई चौदहवें से है।"[1]

उदयसिंह की तुलना के दौरान उसकी समकालीन राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर उदयसिंह के कार्यों एवं नीतियों का विश्लेषण न करके हंमीर के बाद हुए एक से बढकर एक योग्य उत्तराधिकारियों की उपलब्धियों के संदर्भ में उदयसिंह को देखा। अत: उन इतिहासकारों की दृष्टि में उदयसिंह एक कमजोर शासक था। उदयसिंह को कमजोर शासक बताने वालों में सर्वप्रथम टॉड था। टॉड का कहना था कि उदयसिंह में शसक का एक भी गुण नहीं था और न ही स्वयं के वंश का सामान्य गुण शूरवीरता थी।[2]

टॉड के लेखन ने बाद के इतिहासकारों के विचारों को भी प्रभावित किया। उदयपुर राज्य का इतिहास में गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने लिखा है कि "उदयसिंह एक साधारण राजा हुआ न वह बड़ा वीर था और न राजनीतिज्ञ। प्रारंभिक जीवन विपत्तियों में बीतने पर भी उसने उससे कोई विशेष शिक्षा नहीं ली। अकबर के चित्तौड़ आक्रमण के समय भी अपने राज्य की रक्षार्थ, क्षत्रियोंचित वीरता के साथ

1 बी.एल. लूणिया : *शेरशाह और सूर साम्राज्य*, पृ. 125

2 Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. I, P. No. 255

रण में प्राण देने का साहस न कर, पहाड़ों में जा रहा। वह विलासीप्रिय और विषयी था।''[1]

इसी प्रकार के विचार श्यामलदास ने वीर विनोद में रखें।[2] टॉड के ही विचारों के आधार सिलविया मैथसेन मूलर ने भी लिखा था कि "दुर्भाग्य से उदय अपने पूर्वजों के शौर्यपूर्ण ढांचे में नहीं ढला था।"[3]

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 365

2 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 86

3 Masters, Brain. Maharana, P. No. 58

उदयसिंह की उपर्युक्त आलोचना का एक बड़ा कारण वह क्षत्रिय (राजपूत) परंपरा उत्तरादायी रही है जहां युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त करना श्रेष्ठ माना जाता था। उदयसिंह ने उपर्युक्त नीति का परित्याग करके सतत् संघर्ष की नीति को जिसके लिए जीवित रहना जरूरी था। उदयसिंह की तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य पर दृष्टि डाले तो उसे तीन साम्राज्यवादी ताकतों से लड़ना था जो मेवाड़ को समाप्त करने की उद्यत थी- शेरशाह सूरी, मालदेव एवं अकबर।

दिल्ली सल्तनत के पतन एवं खानवा के युद्ध के बाद दिल्ली ने शेरशाह सूर के काल से साम्राज्यवादी रूप धारण कर लिया था। जिस वर्ष उदयसिंह शासक बना उसी वर्ष 1540 ई. को हूंमायू को भारत छोड़ना पड़ा।[1] तथा शेरशाह शासक बना। शेरशाह ने मुगलों को बाहर निकालने हेतु उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत को सुरक्षित किया[2] तत्पश्चात् उत्तर भारत को अपने प्रभाव में लाने हेतु व मालदेव को दण्ड देने के लिए 1543-44 ई. में शाही सेना सहित शेरशाह ने नागौर, अजमेर व जोधपुर की दिशा में प्रस्थान आगे बढ़ा। गिरी-सुमेल के प्रसिद्ध युद्ध में शेरशाह छल से मालदेव को पराजित कर दिया।[3]

मारवाड़ विजय कर मालदेव चित्तौड़ की ओर बढ़ा नवनिर्मित शासक उदयसिंह शेरशाह जैसे शासक से लड़ने हेतु तैयार नहीं था अत: स्वंय में दुर्ग की चाबियां सौप टकराव को टाल दिया।[4] उदयसिंह ने आपसी राज्यों को मैत्री प्रभाव में लाने का कार्य किया बूंदी[5] एवं सिरोही[6] मेवाड़ी राज्य के प्रभाव में लायें। ईडर को राव भारमल्ल, डूंगरपुर को रावल आसकरण, बांसवाडा को रावल जगमाल तथा प्रतापगढ़ का राव रायसिंह तो उदयसिंह को शासक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।[7]

---

1 मुगलकालीन भारत, भाग-2, (हुमायूँ), अनु. सैय्यद अतहर अब्बास रिजवी, पृ. 56

2 बी.एन. लूणिया : शेरशाह और सूर साम्राज्य, पृ. 37

3 राठौड़ा री ख्यात, पृ. 82 ; विद्या भास्कर : शेरशाह सूरी, पृ. 75

4 Eliot and Dowson's, Vol. 4, P. No. 6

5 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 351

6 नैणसी री ख्यात

7 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 62

चित्र संख्या 3.1 : 1567-68 ई. में अकबर द्वारा किए गए चित्तौड़ आक्रमण के दृश्य





.झाला जैतसिंह की पुत्री के विवाद को लेकर मालदेव एवं उदयसिंह में मनमुटाव हो गया जो बाद में हाजी खां पठान को लेकर हरमाड़े के युद्ध का कारण भी बना। इस समय तक मेवाड़ फिर स्वयं को एक उभरती शक्ति के रूप में स्थापित कर चुका था। हरमाड़ा के युद्ध में उदयसिंह को रामपुरा के दुर्गा सिसोदिया, मेड़तियां राठौड़, सुरजन हाड़ा आदि ने साथ दिया। मेवाड़ की परंपरा एवं शक्ति को देखकर कई विद्रोहियों ने यहाँ शरण ली थी जिसमें बाज बहादूर प्रमुख था, जिसे अबुल फजल युद्ध का प्रमुख कारण बताया है।[1] .

उदयसिंह को 1567 ई. में अकबर के आक्रमण का सामना करना पड़ा। उदयसिंह ने सामंतों के परामर्श पर युद्ध से पलायन की नीति को अपनाया तथा घेराबंदी के दौरान भी सम्मानजनक संधि का प्रयास किंतु अकबर के अडिग रवैये से नहीं हो सकी।[2] क्योंकि अकबर मेवाड़ को पराजित कर समस्त राजपूत शासकों को अधीन करना चा रहा था। उदयसिंह के द्वारा पलायन करने एवं संधि के प्रयास के पीछे मूल मंत्वय मेवाड़ की जन एवं धन हानि को न्यूनतम करना था। उदयसिंह दूसरे शाके का साक्षी था और उसके परिणामों से भी परिचित था। उदयसिंह की उपर्युक्त नीति कायरता की नीति न होकर के दीर्घकालीन नीति और वर्तमान की कठोर आवश्यकता के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास था।

हल्दीघाटी युद्ध से पूर्व की स्थिति

सांगा की खानवा के युद्ध में पराजय ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मेवाड़ की राजनीतिक, आर्थिक एवं सैन्य शक्ति को क्षीण किया था। इसका सीधा प्रभाव सामंतों पर पड़ा। मध्यकाल में राजा की शक्ति का आधार सामंत हुआ करते थे तथा सामंतों की संख्या उसके भौगोलिक विस्तार पर निर्भर करती थी। सामंत राज्य एवं निजी आवश्यकता की पूर्ति हेतु संसाधन (आर्थिक एवं मानवीय) भूमि-अनुदान अर्थात् जागीरों से ही प्राप्त करते थे। ये तभी संभव होता था जब राज्य का भौगोलिक क्षेत्र व्यापक हो। दूसरा सामंत वर्ग की एक सामान्य प्रवृत्ति विजय पक्ष के साथ रहने में स्वयं का हित मानती थी क्योंकि वहाँ प्रतिष्ठापूर्वक

---

1 Akbarnama, Vol. 3, P. No.

2 वीर विनोद, भाग-2, पृ.

जीवनयापन हेतु सुगमता से संसाधन उपलब्ध हो जाते थे। मध्यकाल में पराजित शासक का साथ छोड़कर विजित पक्ष में सामंतों का पलायन एक सामान्य बात थी।

खानवा की पराजय ने मेवाड़ की प्रतिष्ठा में कमी ला दी जिसका प्रभाव मेवाड़ की सैन्य एवं सामंतों की संख्या पर भी पड़ा। खानवा की पराजय के बाद महाराणा रत्नसिंह एवं विक्रमादित्य के शासनकाल में सामंतों की संख्या में यकायक कमी आती है जो उदयसिंह के काल में जाकर बढ़ती है। उदयसिंह ने शासक बनने के बाद मेवाड़ की शक्ति को पुन: प्रतिष्ठित करने हेतु सर्वप्रथम मित्रों की संख्या बढ़ाने पर बल दिया और इस हेतु उदयसिंह ने विवाह, मित्रता, शरण देकर एवं युद्ध सभी उपायों से अपनी शक्ति को बढ़ाया मारवाड़, ईडर, हाड़ा से वैवाहिक संबंध स्थापित किए, हाजी खां पठान[1] एवं वागड़ को युद्ध में पराजित किया तथा बाज बहादूर व जयमल मेड़तियां को शरण दी। मित्रों की संख्या बढ़ाने के साथ ही उदयसिंह ने युद्ध नीति में भी बदलाव किया इस हेतु पहला कार्य राजधानी परिवर्तन था। तोप एवं बारूद के युग में चित्तौड़ दुर्ग की अभेद्य नहीं रहा तथा दूसरे शाके में हुई क्षति ने तथा शेरशाह की चित्तौड़ पर चढ़ाई ने उदयसिंह को राजधानी के रूप में दूसरे विकल्प पर सोचने हेतु बाध्य कर दिया था। राजधानी के रूप में गिर्वा के चयन के बाद जरूरी था कि राजधानी के आस-पास का क्षेत्र उदयसिंह के प्रभाव क्षेत्र में हो तभी राजधानी सुरक्षित रह सकती थी। अत: भोमट के राठोड़ों को पराजित कर 1563 ई. तक जूड़ा, ओगना तथा पानरवा का क्षेत्र उदयसिंह अपने अधीन कर चुका था।[2]

पूर्व में शेरशाह के आक्रमण के समान ही 1567-68 में अकबर के आक्रमण के दौरान भी उदयसिंह ने साम्राज्यवादी ताकतों से मैदानी युद्ध न करने की नीति अपनाई। उदयसिंह ने अकबर के आक्रमण के समय राजपीपला व ईडर में कुछ समय बीताकर कुंभलगढ़, गोगुंदा व केलवाड़ा को अपना निवास बनाया। मेवाड़ के पश्चिम के उपर्युक्त क्षेत्र को अपना आधार बनाने का कारण इनकी

---

1 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 70

2 मेवाड़-मुगल संबंध, पृ. 46

दुर्गम घाटियां एवं घना वन क्षेत्र होना था जहां बड़ी सेना का युद्ध करना मुश्किल था साथ-ही यहाँ बड़ी तोपों को लाना संभव नहीं था। 1568 से 1572 ई. तक इन चार वर्षों में उदयसिंह ने प्रशासन को सुगठित करने एवं आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने का कार्य किया। उदयसिंह के इन कार्यो की जानकारी उसके द्वारा जारी किए गए ताम्र पत्रों से होती है। चित्तौड़ के तीसरे शाके बाद 1570 ई. में उदयसिंह ने गोगुंदा में कृषि हेतु भूमिदान दिये थे। 1572 ई. में गोगुंदा में ही उदयसिंह का स्वर्गवास हुआ था।[1]

उदयसिंह के पश्चात् एक आंतरिक कलह का सामना करने के बाद प्रताप शासक बना। नवोदित शासक के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती के रूप में अकबर खड़ा था। यहाँ प्रताप की नीति व कार्यो पर उदयसिंह का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार उदयसिंह के शासक बनते ही शेरशाह सामने खड़ा था तत् समय उदयसिंह ने युद्ध से बचने की नीति अपनाई उसी प्रकार से प्रताप भी युद्ध हेतु तैयार नहीं था। प्रताप के समक्ष अकबर जैसा एक कुशल और चतुर शासक था, जिसने बेहद कम समय में अपनी सीमाओं को विस्तृत कर दिया था, आमेर, मारवाड़ बीकानेर, रणथंभोर और गुजरात अकबर के अधीन थे। अत: विशाल संसाधनों वाले मुगल साम्राज्य का सामना जन, धन और भूमि से क्षीण छोटे से मेवाड़ राज्य का, जिसका बहुत बड़ा भाग मुगलों के अधीन था, करना संभव नहीं था। प्रताप के सम्मुख दूसरी समस्या जगमाल और शक्तिसिंह जैसे भ्राता मुगल सेवा में चले गए थे। अत: मेवाड़ को आंतरिक घर्षण से भी बचाना था। अकबर उत्तरी राजपूताना की भांति दक्षिण राजपूताना के राज्यों का शक्ति संतुलन को विस्थापित कर मेवाड़ को मित्रविहीन बनाने का प्रयास कर रहा था, जिसके लिए फूट डालने व प्रलोभन की नीति अपना रहा था।

अकबर द्वारा मेवाड़ के नवोदित शासक को अधीन करने हेतु चार दूत-मंडल क्रमश: बारी-बारी से जलाल खाँ कोर्ची, मानसिंह, भगवानदास व टोडरमल को भेजा। प्रताप में उपर्युक्त चारों दूत का राजसी शिष्टाचार से स्वागत किया तथा पर्याप्त सम्मान प्रदान किया व उपहार भी भेंट किए। प्रताप ने अपने पुत्र

1 नारायण लाल शर्मा, महाराणा उदयसिंह, पृ. 74

अमरसिंह को मुगल दरबार में भी भेजा[1] जिससे की अकबर को संधि की आस बनी रहे। चौथे व अंतिम शिष्टमण्डल के रूप में अकबर का विश्वासपात्र टोडरमल आया जो प्रताप के आचरण से अत्यधिक प्रभावित भी हुआ।[2] अकबर जो एक तरफ शिष्टमण्डल को भेज संधि की बात कर रहा था तो दूसरी ओर दबाव की नीति का भी प्रयोग कर रहा था। मानसिंह सेना सहित मेवाड़ आया और रास्ते में प्रताप के सहयोगी राज्य डूंगरपुर को पराजित किया,[3] भगवानदास ईडर पर आक्रमण करते हुए मेवाड़ आया। सैन्य दबाव व मित्रविहीन करके भी प्रताप को अधीनता स्वीकार करने हेतु विवश करने का प्रयास किया जा रहा था।

प्रताप और अकबर के मध्य संधि संभव नहीं थी, क्योंकि इस प्रकार का प्रयत्न चित्तौड़ की घेराबंदी के समय भी हो चुका था। अकबर और प्रताप का टकराव साम्रज्यवादी भावना और स्वतंत्रता के मध्य टकराव था जिसमें समझौता संभव नहीं था। अकबर का ध्येय भारत का सम्राट बनना था। इस हेतु मेवाड़ की अधीनता आवश्यक थी। यह मेवाड की पूर्व परंपरा की विरोधी थी। गोपिनाथ शर्मा लिखते हैं कि, "प्रताप मेवाड़ की एकांकी स्वतंत्रता की नीति जो गंभीर स्थानीय एवं जातीय संस्मरणों पर आधारित थी , उसकी रक्षा करना अपना धर्म समझता था। प्रताप पर आधारित थी, उसकी रक्षा करना अपना धर्म समझता था। प्रताप इस तथ्य से परिचित था कि यदि वह मुगलों की अधीनता स्वीकार कर लेगा तो उसके राज्य का सार्वभौम अस्तित्व समाप्त हो जाऐगा ; वह मुगलों का जगीरदार बन जाएगा और उसका राज्य मुगल सरकार का परगना बन जाएगा। यह अवस्था प्रताप की प्रतिष्ठा के लिए लाभदायक न होकर के हानिकारक ही थी। प्रताप के लिए राज्य का महत्व उसमें अधिक था कि वह एक सांस्कृतिक एवं जातीय इकाई के रूप में बना रहे। प्रताप के लिए दिल्ली से आदेश प्राप्त करना अपमानजनक था।"[4]

---

1 अमरकाव्यम्, पृ. 254

2 राणा रासो, पृ. 311 ; उदयपुर चित्तौड़ पाठनामा, भाग-1, पृ. 289

3 Akbarnama, Vol. 3, P. No. 40

4 मेवाड़ मुगल संबंध, पृ. 62

अत: प्रताप संधि का इच्छुक न होते हुए भी उसने चारों दूत-मंडल का एक कूटनीतिज्ञ की भांति स्वागत व सम्मान किया। मानसिंह व भगवानदास तो ससैन्य मेवाड़ में आएं और मेवाड़ के समीप के क्षेत्रों को अधीन भी किया। उनका ससैन्य मेवाड़ के स्वतंत्र क्षेत्र में आना आक्रमण के ही समान था। प्रताप ऐसे समय किसी प्रकार का विवाद नहीं चाहता था क्योंकि उसे युद्ध की तैयारी हेतु समय चाहिए था। प्रताप का दूतमण्डल के साथ किया गया व्यवहार प्रताप की दूरदर्शिता धैर्य और चतुराई का प्रमाण है। 1572 ई. से 1576 ई. के इन चार वर्षो में प्रताप ने जो सामरिक और कूटनीतिक तैयारियां की, उनके आधार पर ही वह आगामी दस वर्षो तक निरंतर संघर्ष कर सका।

हल्दीघाटी युद्ध के कारण

अकबर द्वारा प्रताप को दबाव एवं समझौते की नीति के तहत अधीन करने का प्रयास असफल रहा। अकबर ने जलाल खाँ कोची के बाद कोई दूतमंडल नहीं भेजा। दोनों ही शासक वर्ग के मध्य संचार अवरूद्ध हो गया था किंतु दोनों ही इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे कि युद्ध अवश्यं-भावी है। यह हल्दीघाटी के प्रसिद्ध युद्ध के रूप में सामने आता है। किंतु यहाँ एक स्वाभाविक सा प्रश्न उठता है कि हल्दीघाटी युद्ध का क्या कारण था? निश्चय ही यहाँ कारण इसलिए भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि हल्दीघाटी में जो युद्ध हुआ था वह एक दिन का युद्ध न होकर के दो राज्यों की मध्य की लड़ाई थी, जो दस वर्षो तक चली थी। यह दस वर्ष का संघर्ष यहीं समाप्त नहीं हुआ अपितु दूसरी पीढ़ी अर्थात् प्रताप के पुत्र अमरसिंह व अकबर के पुत्र जहांगीर के मध्य भी सतत् चलता रहा। यह संघर्ष भी मेवाड़ के एक छोटे से भाग के लिए था या कुछ ओर था क्योंकि 1568 ई. में चित्तौड़ के पतन के बाद मेवाड़ का संपूर्ण मैदानी उपजाऊ भू-भाग मुगल आधिपत्य में चला गया था और मेवाड़ के पास केवल 300 मील की परिधि वाला छोटा पर्वतीय भू-भाग बचा था।[1]

---

1 देवीलाल पालीवाल, महाराणा प्रताप महान्, पृ. 35

हल्दीघाटी के संघर्ष के कारणों पर साहित्यिक ग्रंथों में मतैक्य नहीं है। विभिन्न ग्रंथ प्रताप और अकबर के संघर्ष के भिन्न-भिन्न कारण बताते हैं। राजस्थानी भाषा के ज्यादातर स्त्रोत युद्ध का कारण मानसिंह और प्रताप के मध्य उदयसागर की पाल पर शिष्टाचार भोजन के दौरान प्रताप द्वारा आमेर के मुगलों से वैवाहिक संबंध होने के कारण मानसिंह के साथ बैंठकर भोजन नहीं किया गया तथा कच्छवाहा शिष्टमण्डल के जाने के उपरांत भोजन पात्रों व भूमि का शुद्धिकरण करवाया गया जिससे दोनों के मध्य विवाद हो गया।

इस बात की जानकारी मानसिंह को हुई तो क्रोधित हो गया। मानसिंह क्रुध होकर अकबर के पास गया तथा मुगल सेना लेकर युद्ध हेतु उपस्थित हुआ। कुछ परिवर्तन के साथ ज्यादातर स्त्रोत हल्दीघाटी युद्ध का कारण उपर्युक्त घटनाक्रम को बताते हैं। उपर्युक्त कारण का समर्थन करने वालों में नैणसी[1], अमरकाव्य[2], राजप्रकाश[3], उदयपुर की ख्यात[4], रावल राणा री बात[5], वंशावली संख्या दो[6] प्रमुख है। अभिलेखीय साक्ष्यों में राजप्रशस्ति[7] में भी इसका उल्लेख हुआ है तथा कर्नल टॉड[8] ने भी हल्दीघाटी युद्ध का कारण इसे ही माना है। यद्यपि कई उपर्युक्त स्त्रोत उक्त घटना को युद्ध का कारण मानते हों किंतु इसकी सत्यता संदेहास्पद है। मानसिंह फरवरी 1573 ई. को मेवाड़ आता है तथा हल्दीघाटी का युद्ध जून, 1576 ई. को हुआ दोनों घटनाओं के मध्य तीन वर्ष चार महिने का अंतराल था अगर वह बदला लेने की कार्यवाही से होता तो तुंरत ही आक्रमण होना चाहिए था किंतु ऐसा नहीं हुआ।

दूसरा अकबर ने मानसिंह के बाद भी दो ओर दूत मंडल को भेजा और सबसे महत्वपूर्ण मानसिंह के बाद उसके पिता भगवंतदास को ही दूत कार्य सौंपा

---

1 नैणसी री ख्यात, भाग-1, पृ. 92

2 अमरकाव्यम्, पृ. ê55

3 किसोरदास कृत राजप्रकाश, पृ. 115

4 उदयपुर की ख्यात, महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ, द्वितीय खण्ड, पृ. 6

5 रावल राणाजी री बात, पृ. 66

6 वंशावली संख्या दो, महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ, द्वितीय खंड, पृ. 13

7 राजप्रशस्ति, पृ. 42

8 Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. 1, P. No. 268

गया। निश्चय ही प्रताप ने मानसिंह को अपमानित किया होता तो भगवंत दास ऐसे तनावपूर्ण वातावरण में स्वयं ही मेवाड़ नहीं आता, अगर अकबर के दबाव में आया भी होता तो प्रताप अपने पुत्र अमरसिंह को भगवतदास के साथ मुगल दरबार में नहीं भेजता। आधुनिक इतिहासकारों में कर्नल जेम्स टॉड, श्यामलदास,[1] गौरीशंकर हीराचंद ओझा[2], श्रीराम शर्मा[3] तथा राजीव नयन प्रसाद[4] भोजन के दौरान प्रताप एवं मानसिंह के मध्य हुई कटुता को स्वीकार करते हैं। आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव[5] और गोपीनाथ शर्मा[6] इस घटना को अस्वीकार करते हैं। हैं। इस घटना के संदर्भ में रघुवीरसिंह का कुछ ओर मत है। रघुबीरसिंह ने उपर्युक्त घटना का उल्लेख अपनी पुस्तक महाराणा प्रताप एवं पूर्व आधुनिक राजस्थान में किया है किंतु वह कहते हैं कि प्रताप और मानसिंह के भेंट उदयसागर की पाल पर अवश्य ही हुई थी किंतु प्रताप और मानसिंह की भेंट के दौरान हुई अप्रिय घटना के फलस्वरूप क्रुद्ध मानसिंह के शाही दरबार में लौट कर बरसों बाद हल्दीघाटी के युद्ध में उसका बदला लेने का जो अतिरंजित विवरण टॉड ने दंतकथाओं तथा युगों बाद लिखित ख्यातों के आधार पर दिया, जिसका परवर्ती घटनाओं से किसी प्रकार की पुष्टि भी नहीं होती है अत: रघुबीर सिंह कहते हैं कि अनेक युगों के बाद प्रचलित होने वाली राणा प्रताप संबंधी अनेकानेक कल्पनापूर्ण कथाओं में ही इसकी भी गणना होनी चाहिये।[7]

राजनीतिक तथा सैन्य निर्णय लाभ-हानि तथा अनुकूल परिस्थितियों के अनुरूप लिए जाते हैं इसमें भावुकता का कोई स्थान नहीं होता है। राजीव नयन प्रसाद का मानना है कि प्रताप ने मानसिंह के समक्ष राजसी शिष्टाचार एवं पर्याप्त सम्मान दिया। लेकिन राणा का वंश समस्त राजपूतों में प्रतिष्ठित एवं

---

1 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 147

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 369

3 Sharma Shri Ram, Maharana Pratap. P. No. 49

4 Prasad, Rajiv Nayan. Raja Man Singh of Amber. P. No. 38

5 आशीर्वादी लालसिंह वास्तव अकबर महान, पृ.

6 गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 229

7 रघुबीर सिंह, पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 22

सम्माननिय था तथा अकबर उनका मुख्य शत्रु था वहीं आमेर के मुगलों से वैवाहिक संबंध थे अत: राणा उससे नाराज थे। प्रसाद मानते हैं कि संभव है कि जब दोनों मिलें हो तब कुछ ऐसा अवश्य घटित हुआ होगा जिससे मानसिंह का मान भंग हुआ। मानसिंह उस समय पूर्ण ऊर्जा, उमंग एवं गर्व से भरपूर तेईस वर्षीय युवक था। इस उम्र में हल्की सी मानहानि भी व्यक्ति का मानसिक संतुलन को बिगाड़ सकती है। इन परिस्थितियों में दोनों के मध्य दरार पैदा होना अवश्यंभावी था।[1]

श्रीराम शर्मा का मानना है कि मानसिंह ने जब संपूर्ण वृत्तांत अकबर को सुनाया तो तब अकबर ने कैसी प्रतिक्रिया दी होगी ये कहना तो मुश्किल है कि क्योंकि आमेर के शासक उसके प्रमुख सहयोगी होने के साथ ही उसके वैवाहिक संबंध भी थे किंतु फिर भी परवर्ती घटना से यह सिद्ध होता है कि अकबर किसी भी प्रकार से प्रताप से उलझना नहीं चाहता था[2] अपितु शांति और दबाव से अपने अधीन करना चाहता था। अत: मानसिंह के बाद भगवंतदास को भेजा। अकबर एक कुशल राजनीतिज्ञ था जो यह जानता था कि राजनीतिक एवं सैन्य निर्णय लाभ-हानि का विश्लेषण कर अनुकूल परिस्थितियों के अनुरूप लिए जाते हैं जिसमें जल्दबाजी एवं भावुकता का कोई स्थान नहीं होता है। हल्दीघाटी एवं उसके बाद के संपूर्ण घटनाक्रम को देखें तो मानसिंह का कोई भी कृत्य प्रतिशोध पूर्वक की गई कार्यवाही का प्रतीत नहीं होता है। शाहबाज खां के आक्रमण के समय तो मानसिंह एवं भगवंतदास पर पूर्ण शक्ति से आक्रमण न करने का आरोप भी लगा।[3] रीमा हूजा का भी मानना है हल्दीधाटी युद्ध के बाद मानसिंह का प्रताप की की सेना का पीछा न करना मानसिंह को प्रताप के प्रति आदर को प्रदर्शित करता है।[4]

---

1 Raja Man Singh of Amber, P. No. 32

2 Sharma, Shriram. Maharana Pratap. P. No. 50

3 Akabarnama, Vol. 3, P. No.

4 Hooja, Rima. Maharana Pratap : The Greatest Rajput Warrior, P. No. 122

हल्दीघाटी युद्ध का दूसरा कारण राणा प्रताप की कछवाहा रानी को बताया गया है। जिसका उल्लेख जैन विद्वान दलपति विजय की पुस्तक खुम्माण रासों में मिलता है। खुम्माण रासों के अनुसार हल्दीघाटी युद्ध का कारण प्रताप द्वारा कच्छवाह रानी को दु:ख देना था। ये कच्छवाहा रानी मानसिंह की बहिन थी। राणा की उपेक्षा एवं उसके दु:खों से पीड़ित रानी मानसिंह से अनुरोध करती है कि तुम आकर मेरी सहायता करों तथा अपने बहनोई को मार डालो। इसी अनुरोध पर मानसिंह अकबर की सहायता से मेवाड़ पर चढ़ाई करता है।[1]

भाई द्वारा बहन की सहायता के लिए जाना इस प्रकार के और भी उदाहरण मिलते और ये मेवाड़ के इतिहास में ही दिखाई देता है। जब उडणा राजकुमार पृथ्वीराज अपनी बहन की सहायता हेतु गए। इस तथ्य की पृष्टि न तो किसी अन्य स्त्रोतों से और सबसे महत्वपूर्ण वंशावलियों में प्रताप की कोई कच्छवाहा रानी का उल्लेख नहीं मिलता है। कच्छवाहा रानी के अतिरिक्त हल्दीघाटी के युद्ध के कारणों में भटियाणी रानी का भी उल्लेख मिलता है। रानी लक्ष्मी कुमारी चुण्डावत लिखती है कि राजा मानसिंह पर भटियाणी रानी का अत्यधिक प्रभाव था। यह भटियाणी जगमाल की मौसी थी। जगमाल को जब मेवाड़ के सिंहासन से च्यूत कर दिया गया तब मानसिंह की भटियाणी रानी ने ही उसे अपने यहॉ शरण दी तत्पश्चात् मानसिंह के माध्यम से अकबर के दरबार में पहुंचाया। जगमाल मेवाड़ की गद्दी चाहता था। यहीं मानसिंह और प्रताप के विवाद का भी कारण था। हल्दीघाटी के ऐतिहासिक का कारण इस भटियाणी रानी को माना।[2] हल्दीघाटी का युद्ध दो साम्राज्यों के बीच का संघर्ष था- मुगल और मेवाड़ जिसमें निजी संबंधों का कोई महत्व नहीं था। जहाँ तक मानसिंह का संबंध है वह सेनापति मात्र था जबकि नीति-निर्माण एवं नीति-निर्देशन का कार्य अकबर स्वयं कर रहा था।

1 खुम्माण रासो, पृ. 289

2 रजवाड़ो के रीतिरिवाज, पृ. 205

अकबरनामा कवि नरोत्तम कृत मानचरित्र रासो[1] में तथा राणा रासो[2] में हल्दीघाटी युद्ध का कारण प्रताप को माना है। प्रताप द्वारा शाही क्षेत्र के स्थानों को बार-बार लूटने तथा जालोर एवं सिरोंज पर भी आक्रमण कर उसे लूटा और नगर को नष्ट कर दिया। अत: प्रताप को सबक सिखाने हेतु अकबर ने शाही सेना भेजी। अबुल फजल हल्दीघाटी युद्ध के लिए प्रताप के व्यवहार एवं कार्य को उत्तरदायी बताता है। अबुल फजल कहता है कि "अपने पूर्वजों के वंश की कीर्ति, स्थिति की दृढ़ता, अपने राज्य के विस्तार और सम्मान के लिए जीवन का बलिदान करने को तत्पर राजपूतों की विशाल संख्या का अभिमान हो गया था।[3] प्रताप का दमन इसलिए भी आवश्यक हो गया था कि "उसकी अवमानना, गर्व, कपट और छल सभी सीमाओं को पार कर गये थे।" [4]

युद्ध के लिए किसी एक को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता अपितु दोनों की ही नीतियों ने युद्ध को अपरिहार्य कर दिया था। आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव का मानना है, कि; "मुगल शिष्टमण्डल की असफलता के बाद अकबर को विश्वास हो गया था कि प्रताप स्वेच्छा से अपनी स्वतंत्र सत्ता का परित्याग नहीं करेगा और केवल पूर्ण पैमाने पर युद्ध ही उसे डिगा कर मुगल अधीनता स्वीकार करने को विवश कर सकेगा।[5] सतीश चंद्र ने शांति समझोते की असफलता के लिए दोनों को जिम्मेदार माना तथा उनका मानना है कि समझौते की विफलता ने दोनों के लिए युद्ध अपरिहार्य कर दिया था।[6] विण्सेण्ट स्मिथ हल्दीघाटी युद्ध कारण के संदर्भ में लिखते हैं कि "प्रताप की देशभक्ति उसका अपराध था जहाँ अन्य राजपूत शासक अकबर के अधीनता स्वीकार कर चुके थे वहीं प्रताप अटल और अडिग रूप से खड़ा था।"[7]

---

1 मानचरितावली, पृ. 254

2 राणा रासो, पृ. 310

3 अकरबनामा

4 वही

5 अकबर महान, पृ. 197

6 सतीश चंद्र, मुगलों की धार्मिक नीतियाँ राजपूत-समुदाय और दक्खिन, पृ. 36

7 Smith, Vincent A. Akbar the Great : 1542-1605, P. No. 151

हल्दीघाटी संघर्ष को हिंदू-मुस्लिम के संघर्ष के रूप में भी इंगित करते हैं इस विषय में आर.पी. त्रिपाठी कहते हैं, "वह संघर्ष हिंदू-मुस्लिम संघर्ष की समस्या नहीं था बल्कि मुगल साम्राज्य तथा मेवाड़ की मध्य की समस्या था। अगर ऐसा न होता तो राणा प्रताप अपनी सेना के एक भाग को हकिम खाँ सूर के नेतृत्व में न रखता न ही अकबर की सारी फौज मानसिंह के नेतृत्व में रही होती।" आर. पी. त्रिपाठी के मत में 'हल्दीघाटी का युद्ध शांति, आवेग का परिणाम था जिसके वशीभूत होकर मालवा के बाजबहादूर, गुजरात के मुजफ्फर, बंगाल के दाउद, सिंध के जानीबेग तथा कश्मीर के युसूफ को तहस-नहस कर डाला था, इसी भावना के कारण राणा से संघर्ष हुआ। मेवाड़ पर किसी मुस्लिम शासक का आधिपत्य होने की दशा में भी अकबर उससे यहीं व्यवहार करता। संघर्ष पूरी तौर पर राजनीतिक था।"[1]

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में हल्दीघाटी के युद्ध के कारण का विश्लेषण करें तो स्मिथ का कथन महत्वपूर्ण है। स्मिथ कहता है कि आवश्यक नहीं की हल्दीघाटी युद्ध के पीछे कोई घटना, जैसा कि मानसिंह वाली घटना को जोड़ा जाता है, ही उत्तरदायी हो या कोई तात्कालिक कारण उत्तरदायी थे। हल्दीघाटी युद्ध के लिए कोई घटना यहीं अपितु वैचारिक आयाम महत्वपूर्ण थे। यह संघर्ष साम्राज्यवादी ताकत एवं स्वतंत्रता के मूल्यों के मध्य था। साम्राज्यवादी भावना स्वतंत्रता की विरोधी है तथा जहाँ स्वतत्रता है वहाँ साम्राज्यवादी मूल्य पल्लवित नहीं हो सकते। ये दो विरोधी विचार है जो एक नहीं हो सकते। प्रताप की स्वाधीनता के विचार प्रताप की समकालीन रचनाओं झूलणा राणा प्रताप सिंह जी रा[2] एवं विरूद्ध[3] छतहरी में देखने को मिलती है। इस समय तक उड़ीसा और कश्मीर को छोड़कर अकबर के राज्य की सीमाएं समस्त उत्तर भारत में विस्तृत हो चुकी थी। ऐसे में छोटा सा मेवाड़ राज्य अकबर को चुभ रहा था।[4] दोनों की मनोवृत्ति और भावनाओं का मेल न होना इस युद्ध का प्रमुख कारण था। इसके

---

1 हरिशचंद्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, भाग-2, पृ. 230

2 सांदू माला कृत झूलणा महाराणा प्रतापसिंह जी रा., महाराणा स्मृति ग्रंथ द्वितीय खण्ड, पृ. 62

3 नरेन्द्र सिंह चारण और पुनाराम पटेल, महाराणा प्रताप एवं राष्ट्रकवि दुरसा आढ़ा, पृ. 115

4 Sharma, Gopinath. Mewar and Mughal Emperors. P. No. 91

साथ मुगलों के राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थ भी जुड़े हुए थे जिन्होंने युद्ध की संभावना को निश्चित कर दिया।[1]

हल्दीघाटी युद्ध की तैयारी

1573 ई. में अकबर के अंतिम दूतमंडल के रूप में टोडमल मेवाड़ आया। अकबर के चारों दूत से कोई भी उसे संधि करने या अकबर की संप्रभुता स्वीकार कराने को तैयार न कर सका। दोनों अपनी ही शर्तो पर समझौता चाहते थे, जिसकी विफलता ने एक दीर्र्घकालीन चलने वाले संघर्ष की नींव रख दी थी।[2] अकबर और प्रताप के मध्य अंतीम दूत एवं हल्दीघाटी के युद्ध में दो वर्ष छः महिने का अंतर था। संधि-वार्ता की विफलता के साथ दो वर्ष से अधिक का समय यह स्पष्ट करता है कि दोनों पक्ष अभी युद्ध हेतु तैयार नहीं थे बल्कि दोनों को युद्ध की पूर्व तैयारी हेतु समय चाहिए था।

अकबर 1572 ई. तक मालवा, जौनपुर, गोंडवाना, कालिंजर, बीकानेर, आमेट, मारवाड़, बूंदी तथा चित्तौड को विजित कर स्वयं को एक शक्तिशाली शासक के रूप में स्थापित कर दिया था।[3] गुहिल वंश के अतिरिक्त मिर्जा और अफगान अभी भी उसकी शक्ति को चुनौति दे रहे थे। इन्हें पराजित कर वह उत्तर भारत की एकछत्र शक्ति बन सकता था। 1572 ई. के गुजरात अभियान के दौरान ही अकबर का संपूर्ण ध्यान मेवाड़ की ओर गया। अकबर के चारों दूत-मंडल गुजरात अभियान के दौरान ही भेजे गए थे। जो अकबर के समझौते के प्रयत्नों पर संदेह को जम देता है। अकबर को अक्टुबर, 1572 ई. में सूरत अभियान के दौरान ही बंगाल-बिहार के अफगान शासक सुलेमान की मृत्यु की सूचना मिल गई थी।[4] अकबर के सलाहकारों ने पश्चिम अभियान को बंद कर तुरंत अफगानों पर चढ़ाई करने की सलाह दी। अफगान हुँमायू के समय से मुगलों के लिए सरदर्द बन चुके थे तथा मुगलों की शक्ति के विस्तार एवं सुद्दढता हेतु आवश्यक था कि अफगानों को नष्ट कर दिया जाएं। अकबर ने गुजरात के

---

1 गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 230

2 मुगलों की धार्मिक नीतियाँ राजपूत समुदाय और दक्खिन, पृ. 36

3 आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, अकबर महान्, पृ. 151

4 Shelat, J.M. Akbar, P. No. 143

राजनीतिक एवं आर्थिक महत्व को देखते हुए पहले गुजरात विजय पर पूरा ध्यान केंद्रित किया। गुजरात ऐतिहासिक द्रुतगामी[1]आक्रमण कर अकबर 5 अक्टुबर 1573 ई. को फतेहपुर सिकरी पहुँच गया। गुजरात से लौटते हुए ही टोडरमल मेवाड़ आया था। गुजरात विजय के बाद अकबर की साम्रज्यवादी नीति के अनुरूप मेवाड़ विजय की अपेक्षा बिहार एवं बंगाल की विजय ज्यादा महत्वपूर्ण थी। ए.एल. श्रीवास्तव का मानना है कि "अकबर की साम्राज्यवादी नीति 1574 ई. में ही, जब उसने बिहार पर चढ़ाई की थी, सैद्धांतिक विकास के विभिन्न चरणों को पार कर अपनी पूर्णता प्राप्त कर चुकी थी।[2] दाउद खाँ ने स्वंय की स्वाधीनता की घोषणा कर दी तथा मुगल प्रदेशों को लूटने लगा और जमानिया की (गाजीपुर) घेराबंदी कर दी, जो उस समय मुगल साम्राज्य का पूर्वी रक्षा स्थल था, आक्रमण कर अकबर को नाराज कर दिया किंतु अकबर इससे पूर्व ही पूर्व विजय का मन बना चुका था। दाउद से प्रारंभ हुआ संघर्ष, 1576 ई. में अंतिम रूप से समाप्त हुआ।[3] इस समय प्रताप की ओर से कोई कार्यवाही भी नहीं हुई एवं अकबर भी प्रताप से उलझना नही चाहता था अत: दोनों के मध्य संघर्ष कुछ समय के लिए टल गया। अकबर ने जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र का विस्तार किया उसे एकसूत्र में बांधे रखने के लिए सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्थाकी आवश्यकता थी। आवश्यक है। अकबर ने इस कालखंड में कुछ प्रशासनिक सुधार भी किए। इबादतखाने की स्थापना के अतिरिक्त मालगुजारी एवं सैन्य व्यवस्था में सुधार किए। अकबर ने पशुओं के दागने, जागीरों को खालसा करने एवं करोड़ियों की नियुक्ति की।[4]

अकबर बंगाल-बिहार के सैन्य अभियान एवं प्रशासनिक सुधार में व्यस्त होने के बावजूद अकबर प्रताप संघर्ष की पूर्वपिठिका तैयार कर रहा था। वास्तव में 1573-1576 ई. का काल सशस्त्र शांति का काल था जिसमें ऊपरी तौर पर कोई हलचल नहीं थी किंतु आंतरिक तौर पर भावी दीर्घकालीन संघर्ष हेतु तैयारी की जा

---

1 Smith, Vincent A. Akbar the Great, P. No. 120

2 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, अकबर महान, पृ. 158

3 Muntakhabu-T-Tawarikh. Vol. III, P. No. 232 ; The Tabaqat-I-Akbari. Vol. II, P. No. 484

4 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, अकबर महान, पृ. 166-170

रही थी। अकबर प्रताप को घेरने के लिए तथा पड़ोसी राज्यों से सहायता समाप्त करने हेतु चन्द्रसेन एवं सिरोही पर निरंतर दबाव बना रहा था। राव चन्द्रसेन अपने भाई राम के पुत्र कल्ला के सहयोग से अकबर के विरूद्ध विद्रोही बना हुआ था। मालानी का शासक मेघराज भी चन्द्रसेन के साथ था। चन्द्रसेन को सिरोही एवं डूंगरपुर से भी सहायता मिल रही थी। दक्षिण राजस्थान (राजपूताना) अकबर के विशाल राज्य के समक्ष चुनौती बना हुआ था अत: उसे कुचलने हेतु सर्वप्रथम मारवाड़ को चुना। मारवाड़ की आंतरिक फूट एवं मोटा राजा उदयसिंह का सहयोग मिलने से मारवाड़ को जीतना आसान था। कल्ला और मेघराज को परास्त कर चन्द्रसेन की शक्ति को तोड़ दिया। शाही सेना के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती सिवाणा दुर्ग को जीतना था। यह चन्द्रसेन की तत्कालीन राजधानी थी। जिस प्रकार मेवाड़ के शासक संकटकाल में कुंभलगढ़ की शरण लेते थे उसी प्रकार मारवाड़ के शासकों की संकटकालीन शरणस्थली सिवाणा थी। सिवाणा दुर्ग का घेरा करीब दो वर्ष तक चला यह मार्च 1576 ई. में मुगलों के अधीन आया। चन्द्रसेन, पत्ता राठौड़ को दुर्ग सौंपकर स्वयं पीपलोक की ओर चला गया। 1576 ई. में शाहबाजखां के आक्रमण के समय दुनाड़ा के समीप राठौड़ों की पराजय हुई जिससे किले पर अधिक दिनों तक अधिकार रखना संभव नहीं रहा। दुनाड़ा की पराजय के बाद चन्द्रसेन ने सिरोही और बागड़ के पर्वतों की शरण ली। अकबर ने सैन्य एवं प्रशासन को सुदृढ़ कर मेवाड़ के विरूद्ध अभियान किया।[1]

अकबर द्वारा अपने राजनीतिक, सैन्य एवं प्रशासनिक कार्यो में व्यक्त हो जाना प्रताप के लिए उपयोगी ही सिद्ध हुआ। प्रताप को विशाल संसाधनों से युक्त मुगल राज्य से दीर्घकालीन संघर्ष हेतु समय मिल गया। मेवाड़ को चित्तौड़ के तीसरे शाके से उबरने तथा संघर्ष हेतु तैयार होने के लिए आठ वर्ष का समय मिला चार वर्ष उदयसिंह को और चार वर्ष प्रताप को। प्रताप ने निम्न मोर्चो पर कार्य किया प्रशासन को युद्ध की आवश्यकतानुरूप सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित किया, उपलब्ध मानवीय एवं प्राकृतिक संसाधनों के समुचित उपयोग की नीति अपनाई, सैन्य मोर्चाबन्दी की तथा स्वभूमिध्वंस नीति अपनाई।

---

1 राठौड़ा री ख्यात, पृ. 109 ; रघुबीर सिंह, पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 53

प्रताप ने युद्ध को ध्यान में रखते हैं सैन्य मोर्चाबन्दी की नीति को लागू किया। गिरवा से कुम्भलगढ़ और उसके आगे तक की पहाड़ियों और घाटियों के मोर्चे के सभी स्थानों की मोर्चाबंदी कर दी जिससे शत्रु को आंतरिक भाग में प्रवेश करने से रोका जा सकें।[1] हल्दीघाटी की मोर्चा-बन्दी हेतु तीन सौ सवारों को दर्रे पर लगा दिया था। इसके लिए इन सवारों का नेतृत्वकर्ता जोशी पुनों को ढोल गाँव अनुदान में दिया।[2] यह क्षेत्र भील बाहुल्य था अत: प्रताप ने इनकी सैन्य क्षमता का दोहन राज्य की सुरक्षा एवं सैन्य कार्य में किया। भील इन पर्वत एवं वन वाले दुर्गम घाटियों के मार्ग से पूर्णत: परिचित थे अत: पर्वतीय युद्ध में ये सर्वोत्तम सहायक थे। राणा रासों और अन्य ग्रंथों से जानकारी मिलती है प्रताप ने शाही क्षेत्रों को लूटा। चित्तौड़ एवं मैदानी भाग जो प्रताप के नियंत्रण से बाहर थे वहाँ प्रताप ने स्वभूमिध्वंस की नीति का अनुसरण किया। शत्रु सेना की स्थानीय रसद आपूर्ति श्रृंखला को नष्ट करने के लिए इसे अपनाया। इसके लिए मेवाड़ के केन्द्रीय उपजाऊ भाग की जनता को कुम्भलगढ़ और केलवाड़ा की ओर पहाड़ी क्षेत्र में जाने के आदेश दिए जिससे भीतरी गिर्वा और मुगल अधीन मेवाड़ के बीच के भूखण्ड में यातायात के साधन, खाद्य पदार्थ एवं घास उपलब्ध न हो सकें। प्रताप ने इस आदेश की पालना कठोरता से करवाई। प्रताप ने अनुभवी और विश्वसनीय सामंतों को भी आमंत्रित किया तथा उनसे सलाह अनुरूप प्रशासन एवं सैन्य नीति को पुर्नगठित किया।[3]

हल्दीघाटी का युद्ध

मुगल सेनाएं बंगाल-बिहार एवं मारवाड़ में अपने अभियानों में व्यस्त। अकबर इसी समय अपने शासन के बांइसवें वर्ष के प्रारंभ में प्रति वर्ष के भांति अजमेर तीर्थ यात्रा हेतु फतेहपुर सीकरी से 17 फरवरी 1576 को रवाना हुआ। अकबर की तीर्थ यात्रा वे धार्मिक भावना के साथ राजनीतिक मंतव्य भी होते थे।

---

1 राजेंद्र शंकर भट्ट, मेवाड़ के दो महाराणा और शहशांह अकबर, पृ. 207

2 गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान के इतिहास के स्रोत, पृ. 254

3 गोपीनाथ शर्मा : मेवाड़ मुगल संबंध, पृ. 65 ; आर. पी. व्यास : महाराणा प्रताप, पृ. 114 ; महाराजाधीराज महाराणाजी प्रतापसिंह जी आदेशातु जोसी पुनो कस्य गाम ढोल माहे चोकीरा खत्रा माहे सवारारी मुरचा घाटे राट बखंता (राखी)...... मय कीधा संवत् 1631 वरषे सुदी 15 श्री मुख प्रति हुकम धणीरा माफिक पंचोली गोवर्धन।

चूंकि अजमेर, राजपूताने का मुगलों का सूबा था अत: तीर्थ यात्रा के साथ राजनीतिक स्थिति पर भी निगरानी रख सकता था।[1]

बंगाल-बिहार का अभियान जारी था उस समय गुजरात की स्थिति भी पूरी तरह से ठिक नहीं थी इसका कारण मिर्जा कोका था। अत: अकबर ने वहां प्रशासनिक परिवर्तन किए। पंजाब में भी शांति स्थापना हेतु युसूफ खान, मनसद अली फतह खान आदि अधिकारियों को भेजा।[2]

निश्चय ही बंगाल गुजरात व पंजाब के अभियान के बाद अकबर ने मेवाड़ की ओर अपना ध्यान दिया और मुगल प्रतिष्ठा व सैन्य क्षमता पर प्रश्न चिह्न लगाते विद्रोह के प्रतिक बन चुके मेवाड़ के विरूद्ध अभियान के लिए मानसिंह को नियुक्त किया। अकबर के मेवाड़ अभियान की घोषणा एक दीर्घकालीन संतत् संघर्ष का प्रारंभ था। मानसिंह के सहयोगियों के रूप में गाजी खां बदख्शी, ख्वाजा ग्यासुद्दीन अली, आसफ खाँ, सैय्यद अहमद, सैय्यद हाशिम बरहा, जगन्नाथ, सैय्यद मजू, मिहत्तर खान, माधोसिंह, मुजाहिद बेग, खंगार, राय लूणकर्ण, [3] शाह गाजी खान तबरीजी, ख्वाजा मुहम्मद रफी बदख्शी, मुहबीब अली खान[4] को नियुक्त किया। आसफ खाँ को मीर का बुना कार्य सौंपा गया। अल बदायूं नी भी इस सेना का हिस्सा था। 11 मार्च 1576 ई. को अजमेर में शाही पड़ाव डालने के बाद सलाहकारां से विचार-विमर्श कर अकबर ने मानसिंह को धार्मिक एवं प्रशासनिक विषयों पर लिखित में निर्देश देकर 3 अप्रैल 1576 ई. को अजमेर से विदा किया।

मानसिंह को सेना को नेतृत्व

मुगल सेना के प्रताप विरूद्ध अभियान का नेतृत्व एक 26 वर्षीय नवयुवक को देना जिसने इससे पूर्व किसी युद्ध में सेना का नेतृत्व नहीं किया था और दिलचस्प तथ्य यह था कि इससे पूर्व किसी हिंदू ने मुगल सेना का नेतृत्व भी नहीं किया था। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या कारण था कि

1 Shelat, J. M. Akbar, P. No. 158

2 Akbarnama, Vol. III, P. No. 236

3 Ibid. P. No. 237

4 Muntakhabu - T- Tawarikh, Vol. II, P. No. 233

अकबर ने मानसिंह को प्रताप के विरूद्ध लड़ने वाली मुगल सेना का सेनापति नियुक्त किया जबकि मुगल सेना में उन्हे बहादुर एवं अनुभवी सेनानायक मौजुद थे।

पहला दृष्टिकोण जब समकालीन फारसी स्त्रोतों को देखते हैं तो बदांयूनी को अबुल फजल व निजामुद्दीन अहमद किसी ने अकबर के इस निर्णय पर कोई अप्रत्याशित प्रतिक्रिया नहीं दी। निजामुद्दीन अहमद एवं अबुल फजल ने मानसिंह की प्रशंसा की। अबुल फजल मानसिंह ही प्रशंसा करते हुए कहता है कि "मानसिंह सभी दरबारियों में साहस, स्वामीभक्ति एवं वीरता में सबसे योग्य था तथा उसे अन्य कई कृपाओं के साथ फर्जन्द (पुत्र) जैसी उदात्त उपाधि से नवाजा गया, उसे राणा के विरूद्ध नियुक्त किया गया।" अकबरनामा वहीं निजामुद्दीन मानसिंह की प्रशंसा करते हुए कहता है कि "मानसिंह जिसमें वीरता, साहस, उच्च उत्साह एवं बुद्धिमता जैसे विलक्षण गुण थे उसे राणा के विरूद्ध भेजी जाने वाली सेना का सेनापति बनाया।" तबकात-ए-अकबरी यहाँ बंदायूनी के विचार महत्वपूर्ण है क्योंकि वह स्वंय हल्दीघाटी के युद्ध में मौजूद था और इस अभियान का हिस्सा था। इसके बावजूद उसने मानसिंह के सेनापति बनाए जाने पर उसके पक्ष और विपक्ष में कुछ भी नहीं लिखा। बंदायूनी मानसिंह को सेनापति बनाए जाने के संदर्भ में कहता है कि "मैं बादशाह के किसी भी सच्चे सेवक की सेनापति के रूप में नियुक्ति को उचित मानता हूँ फिर चाहे वो मानसिंह हो या कोई और उससे कोई फर्क नहीं पड़ता है।"[1] यहाँ सबसे महत्वपूर्ण यह है कि उपर्युक्त तीनों इतिहासकारों ने ये पुस्तकें सोलहवीं सदी के अंतिम दशक में लिखी थी।[2] तीनों ही लेखक मानसिंह की उच्चस्तरीय मुगल सेवा को वे उसकी वीरता व योग्यता से परिचित हो चुके थे। अत: उन्होने मानसिंह के जिन गुणों का उल्लेख किया था वे उसके पूर्ववर्ती कार्यो की अपेक्षा परवर्ती कार्यो के ज्यादा घोतक थे। एक आध अवसर को छोड़कर हल्दीघाटी से पूर्व तक मानसिंह को मुगलों को अपनी योग्यता दिखाने का प्रत्यक्ष अवसर नहीं मिला था। बदांयूनी के युद्ध विवरण में मानसिंह की प्रशंसा

---

1 The Tabaqat-I-Akbari, Vol. II. P. No. 485

2 हरिशचंद्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, भाग-2, पृ. 6-7

कहीं नहीं है जो कि उसकी लेखन शैली और धार्मिक विचारों से है। वह स्वयं कहता है कि "मेरा उससे कोई संबंध नहीं है जो शरीया को नहीं मानते और न ही उनसे कोई वास्ता है जिन्होंने इसके सिद्धांतों को त्याग दिया है।"[1] बंदायूनी के उपर्युक्त विचार उसके मानसिंह को सेनापति बनाने एवं हल्दीघाटी युद्ध के दौरान दिए वक्तव्य से मेल खाते हैं।

मानसिंह को सेनापति बनाने से क्या मुस्लिम सेनानायकों में नाराजगी या असंतोष था? एक कुशल सेनानायक के रूप मानसिंह की सैनिक योग्यता पर प्रश्न चिह्न नहीं लगाया जा सकता था मानसिंह ने गुजरात अभियान के दौरान अपनी स्वामी भक्ति एवं बहादूरी से अकबर को प्रभावित तो किया था।[2] किंतु अभी के बड़े सेना नायक के रूप में स्वयं को स्थापित नहीं किया था की जिससे कि उसे निर्विवाद सेनापति मान लें। गैर मुस्लिम को सेनापति बनाने से अमीर वर्ग में नाराजगी थी इसकी जानकारी बदायूंनी के लेखन में मिलती है। बदायूंनी के प्रताप के विरूद्ध अभियान में शामिल होने के आग्रह पर नकीब खां कहता है कि "अगर सेना का प्रमुख हिंदू नहीं होता तो वह अभियान का हिस्सा बनने हेतु स्वीकृति मांगने वालों में प्रथम होता।"[3] इतिहासकार शेलेट का मानना कि एक मुस्लिम सेना के सेनापति के रूप में मानसिंह की नियुक्ति महत्वपूर्ण थी क्योंकि 1556 ई. में हेमू को छोड़कर, यह शायद पहला ही अवसर था, जबकि किसी मुस्लिम सेना का सेनापति एक हिंदू नियुक्त किया गया था। निश्चय ही अकबर इस घोषणा से होने वाले असंतोष से परिचित था तभी उसमें यह घोषणा फतेहपुर सिकरी से न कर अजमेर से की थी।[4]

क्या वजह थी कि अकबर ने मानसिंह को प्रताप विरूद्ध अभियान का सेनापति नियुक्त किया था? अकबर की कूटनीति पर इकबाल नामा जहाँगीर का लेखक मौतमिद खॉ प्रकाश डालता है, उसके अनुसार मानसिंह राणा का सजातीय

---

1 Hasan, Mohibbul. Historian of Medieval India, P. No. 106

2 Akbarnama, Vol. III. P. No. 56

3 Muntakhabu - T- Tawarikh, Vol. II, P. No. 233

4 J.M. Shelat. Akbar, P. No. 160

है तथा उसके पूर्वज राणा है अधीन रह चुके है। अत: मानसिंह को भेजने से संभव है कि राणा इसे अपने सामने तुच्छ और अधीनस्थ समझकर लज्जा और प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर लड़ाई हेतु स्वंय सामने आ जाएं और मारा जाएं गौरीशंकर हीराचंद ओझा भी इससे सहमत है।[1] अबुल फजल भी उपर्युक्त कथन का समर्थन करता है।[2]

जे. ए. शेलेट ने मानसिंह एवं प्रताप के मध्य संघर्ष को शाही खेमे के राजपूतों की स्वामिभक्ति का परीक्षण माना है। वह लिखते हैं कि, "कच्छवाहा और राठौड़ जो मुगल दरबार के राजपूत सरदार थे। जिन्हें अपनी ही जाति और धर्म के लोगों के खिलाफ लडने हेतु विवश होना पड़ रहा था, वास्तव में बड़े धर्म संकट में थे। मेवाड़ से अधीनता स्वीकार कराने के उद्देश्य से वह महाराणा को आत्म-समर्पण का सरल मार्ग स्वीकार करने के जैसे हाडा राजा, जैसलमेर के रावल आदि को आदि को सहमत कराने में सफल हुए थे। यदि वे ऐसा नही करते तो यह केवल चिंता की ही नही बड़े दु:ख और कष्ट की बात होगी कि उन्हें बापा रावल के उस कुल के विरूद्ध हथियार उठाना पडेगा जिसके लिए उसके मन में अपार श्रद्धा थी और जिसके झंडे के नीचे कुछ समय पहले उनके पूर्वज लड़ चुके थे। अकबर को इस बात का संदेह था कि जब युद्ध का समय आएगा। तब शायद हिंदू सरदार अपनी स्वामीभक्ति निस्संकोच नहीं दे पाएंगे। कुछ समय बाद वह वास्तव में राजपूत सेनानायकों पर संदेह करने लगा। उसे ऐसा महसूस हो रहा था कि मेवाड़ को अधीन बनाने हेतु पूर्ण मनोयोग से प्रयास नहीं रहे हैं। अत: स्वामिभक्ति परखने हेतु मानसिंह को सेना नायक नियुक्त किया।"[3]

शेलेट के तर्क के विपरित मानसिंह की सेनापति के रूप में नियुक्ति के संदर्भ में सतीश चंद्र का मानना है कि, "यह अकबर के राजपूत नीति के दूसरे चरण का चरम उत्कर्ष था। पहला चरण जिसकी समाप्ति 1572 ई. में मानी जाती है, इसमें अकबर के अधीन राजपूत शासकों को वफादार मित्र माना जाता

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 371

2 Akbarnama, Vol. 3, P. No. 244

3 J.M. Shelat. Akbar, P. No. 160

था। उनसे अपने राज्य के अंदर या उसके आसपास सेवा करने की अपेक्षा रखी जाती थी, लेकिन उससे बाहर नहीं जैसे-ऊजबेक विद्रोह के दौरान अपने बेटे भगवान दास सहित राजा भारमल अकबर के साथ रहा, लेकिन उनके किसी लडाई में शामिल होने का जिक्र नही मिलता, हालांकि टोडरमल और राय पतरदास दोनों ने सैनिक कार्रवाइयों में सक्रिय भाग लिया। इसी तरह चित्तौड़ की घेराबंदी में मानसिंह से हिस्सा लेने को नहीं कहा गया यद्यपि वह शाही शिविर में लगातार उपस्थित था। लेकिन राजस्थान के अंदर जब मुगल फौज ने 1562 ई. में मेड़ता पर घेरा डाला था तब कच्छवाहों की एक टुकड़ी ने मुगलों के साथ होकर लड़ाई में भाग लिया था। इसी प्रकार राजपूत नीति के दूसरे चरण की शुरूआत 1572 ई. के गुजरात अभियान से मानी जा सकती है। आरंभ में मानसिंह को एक सुसज्जित सेना के साथ शेर खां फूलादी और उसके बेटों का पीछा करने की जिम्मेदारी सौंपी गई। यद्यपि शेर खां फूलादी के बेटे मानसिंह की पकड़ में नहीं आएं तथापि उसने उनके माल-असबाव पर कब्जा कर लूट का मान ले आया, जिसकी अकबर ने तारीफ की। जब अकबर सेना ही छोटी टुक़ड़ी लेकर सरनाल में इब्राहिम हुसैन मिर्जा पर आक्रमण किया तब मानसिंह अकबर के हरावल में तथा भगवंत दास अकबर है बगल में रहा। इस लड़ाई में भगवत दास का बेटा भूपत राय खेत रहा। भूपत की मृत्यु को अकबर ने व्यक्तिगत क्षति माना। अकबर की सेवा में केवल कच्छवाहा की नहीं थे बल्कि रायसिंह की जोधपुर एवं सिरोही में सेवाएं ली तो सुरजन हाड़ा व शेखावटी के रायसाल दरबारी ने गुजरात अभियान में सक्रिय भाग लिया। सतीश चंद्र कहते हैं इस प्रकार, इस दौर में राजपूत साम्राज्य के वफादार मित्र होने के साथ ही मुगलों की बाजू की तलवार के रूप में उभरने लगे, जिसकी चरम परिणति मानसिंह को राणा प्रताप के खिलाफ मुहिम में निकली मुगल सेना का सेनापति बनाने के रूप में सामने आती है।[1]

अत: उपर्युक्त तर्को के प्रकाश में फारसी इतिहासकारों एवं सतीश चन्द्र के कथन मानसिंह को सेनापति के संदर्भ में ज्यादा तर्कसंगत प्रतीत होते हैं।

मानसिंह और प्रताप की सेनाएं

1 सतीश चंद्र, मध्यकालीन भारत, भाग-2, पृ. 112

हल्दीघाटी युद्ध की गणना इतिहास के प्रसिद्ध युद्धों में होती है। इस युद्ध की भयंकरता को लेकर आमजन में कई आख्यान प्रचलित है इसमें से एक इसकी सैन्य संख्या की विशालता को लेकर भी है। दोनों पक्षों की संख्यात्मक स्थिति को लकर मतभेद है। समकालीन फारसी स्त्रोतों में अबुल फजल ने सैन्य संख्या का वर्णन नहीं किया है तथा तबकात-ए-अकबरी में मुगल सेना पांच हजार अश्वारोही सेना भेजने का उल्लेख मिलता है।[1] यहाँ लेखक ने प्रताप की सैन्य संख्या नहीं बताई है। मुन्तखब-उल-तवारिख में शाही सेना में पांच हजार सैनिक थे जिनमें से कुछ अकबर के अंगराक तथा कुछ अमीरों की सेना के अंग थे।[2] प्रताप की सेना में तीन हजार घुड़सवार थे।[3] इसके विपरित अन्य स्त्रोतों में संस्कृत स्त्रोतों की बात करें तो उनमें प्रताप की सैन्य संख्या की कोई जानकारी नहीं मिलती है। अमरसिंह व जगतसिंह के काल में लिखे गए ग्रंथ अमरसार में हल्दीघाटी युद्ध संबंधी कोई महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं होती है। उसमें अमरसिंह को ही मुख्य नायक के रूप में दर्शाया गया है।[4]

अमरकाव्य एवं राजप्रशस्ति महाकाव्य में हल्दीघाटी युद्ध का वर्णन तो है किंतु दोनों सेनाओ की संख्या संबंधी कोई जानकारी नहीं दी गई है। राजस्थानी स्त्रोतों में नैणसी की ख्यात महत्वपूर्ण है। नैणसी के अनुसार मानसिंह की सेना में 40 हजार सैनिक थे जबकि प्रताप की सेना में 10 हजार सैनिक थे।[5]

17 वीं सदी में रचित राणा रासों में शाही सेना ही संख्या को तो नहीं बताया किंतु उसकी विशालता को काव्यात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हुए बताया है कि अकबर के अपार सैन्यदल का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है।[6] रावल राणाजी री बात में प्रताप की सेना में बाइस हजार घुड़सवार थे जिनमें से आठ

---

1 The Tabaqat-A-Akbari, Vol. II. P. No. 484

2 Muntakabha-T-Tawarikh. P. No. 233

3 Ibid. P. No. 236

4 अमरसार, पृ. 18 ; गजानन जोशी : जींवधर कृत : शोध पत्रिका, वर्ष 37, अंक 1, पृ. 96

5 नैणसी री ख्यात, भाग-1, पृ.

6 ग्यांन नैन तिय नैन के, गिने जु उडुगन गैन।
गिने गंग तट रेनुका, गिने सु अकबर सेन।।277।।
कवि कोनु अकबरू सेनु गने, सब सोभ कहंत कहे न बने। राणा रासो, पृ. 333

हजार ही जीवित बचे थे।[1] राणा प्रताप री वात में शाही सेना की संख्या 40 हजार घुड़सवार एवं प्रताप की सेना में 7000 घुड़सवार होना लिखा है।[2] सिसोदा वंशावली में प्रताप की सेना में 15 हजार घुड़सवार, 101 हाथी, 2 हजार पायक बताए है।[3]

कर्नल जेम्स टॉड ने प्रताप की सेना में 22 हजार राजपूत सैनिक थे जिसमें केवल आठ हजार सतपूत की जीवित बचे थे।[4]श्यामलदास मेवाड़ी पोथियों के आधार पर मेवाड़ की सेना में बीस हजार तथा मानसिंह की सेना में 80 हजार सैनिक बताते हैं।[5]

उपर्युक्त संख्या की आधुनिक इतिहासकारों ने अतिश्योक्ति कहकर नकारा है। प्रसीद्ध इतिहासकार आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने भारतीय कहावत चतुर एक बात को चौगुनी तथा मूर्ख उसको दस गुनी बड़ा कर कहते हैं (चतुर चौगुण, मूरख इस गुण।) कहरकर आलोचना की है।[6] आलोचकों में गोपीनाथ शर्मा, गौरीशंकर हीराचंद शर्मा, सर यदुनाथ सरकार प्रमुख है। गोपीनाथ शर्मा ने अपने शोध कार्य के आधर पर प्रताप की सेना में तीन हजार घोड़े, दो हजार पैदल, सौ हाथी और एक सौ भाले वाले, नगारची और तुरही बजाने वाले थे।[7] सर यदुनाथ सरकार ने प्रताप की सेना में तीन हजार घुड़सवार व 400 भील थे तथा मानसिंह की सेना में लगभग दस हजार सैनिक माने। दस हजार में से चार हजार कच्छवाह सैनिक थे, एक हजार अन्य हिंदू सैनिक तथा शेष पांच हजार शाही सेवा के मुस्लिम सैनिक थे।[8] केसरी सिंह ने मानसिंह की सेना में सात से आठ हजार सैनिक होना माना है।[9] उपर्युक्त आधुनिक इतिहासकारों सैन्य संख्या के विश्लेषण का आधार

---

1 रावल राणा जी री वात, पृ. 68

2 राणा प्रताप री बात, महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ, पृ. 11

3 सिसोदिया वंशावली, पृ. 57

4 Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. No. I, P. No. 270

5 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 153

6 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, अकबर महान्, पृ. 201

7 मेवाड़-मुगल संबंध, पृ. 65

8 Military History of India, P. No. 77

9 Singh, Kesri, Maharana Pratap The Hero of Haldighati, P. No. 50

बदायूंनी का लेखन ही रहा है।[1] चूंकि वह स्वंय इस अभियान का हिस्सा था अत: सभी इतिहासकारों ने उसकी संख्या को सत्य के समीप माना है। गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने भी बदायूंनी की बताई सैन्य संख्या को ही स्वीकार किया था।[2]

बदांयूनी की बताई संख्या में भिन्नता का कारण उसने दोनों पक्षों की केवल अश्वारोही सेना की ही संख्या दी है जबकि समकालीन प्रचलित समरतंत्र के विभिन्न विभागों में से केवल एक है जो समुचित सेना का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। दोनों ही सेना के प्रमुख अंग के रूप में पैदल सैनिक, हस्ति सेवा, धनुर्धर एवं तोपखाना भी होते थे। यहाँ तोपखानें को एक बार के लिए छोड़ भी दे तो भी बदायूंनी जिसने स्वंय हाथियों की लड़ाई का विवरण दिया था उसने हस्ति सेना का बिल्कुल उल्लेख नहीं किया। इसी तरह से पैदल सेना की भूमिका को भी नजरअंदाज किया गया है। यहाँ राजस्थानी स्त्रोतों में वर्णित सैन्य संख्या के अतिश्योक्तिपूर्ण विवरण संदेहगत करने का एक महत्वूर्ण कारण युद्ध स्थल, बादशाही बाग की भौगोलिक स्थिति है। बादशाही बाग जहाँ दोनों सेनाओं के मध्य प्रथम टकराव हुआ वह स्थल चारों ओर से पहाड़ियों से घिरा हुआ है अत: इस सीमित पर्वतपदीय क्षेत्र में करीब पचास से आठ हजार सैनिकों का युद्ध लड़ना संभव प्रतीत नहीं होता है। केवल पचास से साठ हजार सैनिक ही नहीं थे हाथी, घोड़े व धनुर्धर तथा जिन्हें सैन्य रणनीति के अनुरूप व्यवस्थित करने के बाद उनका आकार कई गुना बढ़ जाता था। अत: इतनी विशाल सैन्य समूह का लड़ना संभव नहीं है।

दोनों सेनाओं का युद्ध हेतु प्रस्थान

मार्च 1576 ई. को अकबर अजमेर आया तथा 3 अप्रेल 1576 ई. को अजमेर से मांडलगढ के लिए रवाना हुआ।[3] मांडलगढ अजमेर से 70 मील से दूर

---

1 मेवाड़ के दो महाराणा और शहंशाह अकबर, पृ. 223

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 374

3 गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने यह तारीख 2 अप्रैल दी है जबकि आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव व देवीलाल पालीवाल ने 1 अप्रैल मानी है। अकबरनामा की फारसी अनुवादकर्ता बेवरीज, मानसिंह पर शोध कार्य करने वाले राजीव नयन प्रसाद, मेवाड़-मुगल संबंधों पर शोध करने वाले गोपीनाथ शर्मा तथा जे. एम. शेलट ने मानसिंह के अजमेर से मांडलगढ़ के प्रस्थान की तारीख 3 अप्रैल मानी है।

है स्थित है। मांडलगढ, मेवाड़ का प्रवेश द्वार है, [1] जिसे कुंभा ने हाडाओं से जीतकर स्थाई रूप से मेवाड़ का भाग बना दिया था।[2] अकबर के चितौड़ आक्रमण के समय वह मुगलो के पास चला गया था। मानसिंह करीब डेढ माह तक मांडलगढ में रूका रहा।

यह मुगल कूटनीति के रूप में प्रताप को युद्ध हेतु उकसा कर पहाडों से निकालकर मैदान में लाना था, जिससे प्रताप को आसानी से पराजित किया जा सके।[3] मानसिंह इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों से आ रही सैन्य सहायता का भी इंतजार कर रहा था। डेढ़ माह रूकने व इंतजार के बाद मानसिंह शाही लवाजमें के साथ गोगुंदा की ओर निकल पड़ा। मानसिंह के आगमन की सूचना पाकर प्रताप भी युद्ध हेतु निकल पड़ा।[4]

हल्दीघाटी युद्ध का विवरण

हल्दीघाटी युद्ध का विवरण देने वाले कई ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध है। फारसी, राजस्थानी, तथा संस्कृत में गद्य में पद्य में आदि स्त्रोतों से हल्दीघाटी युद्ध की जानकारी मिलती है। उपलब्ध सभी साक्ष्यों में युद्ध में उपस्थित व्यक्ति का आंखों देखा विवरण की प्रामाणिकता अधिक मानी जाती है। जिसे सामान्यत: करीब-करीब सभी इतिहासकारों में स्वीकारा भी है। राजस्थान के प्रबुद्ध इतिहासकार गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अपनी पुस्तक उदयपुर राज्य का इतिहास में बदायूंनी के संपूर्ण विवरण को ही उद्धत किया है। हल्दीघाटी के युद्ध में प्रताप एवं मानसिंह के समरतंत्र एवं रणनीति के विश्लेषण तथा निष्कर्ष से पूर्व घटना की समझ एवं जानकारी हेतु बदायूंनी के विवरण को ही दिया जा रहा है-[5]

---

1 राघवेंद्र सिंह मनोहर : राजस्थान के प्रमुख दुर्ग, पृ. 127

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 263

3 Akbarnama, Vol. III, Pg. No. 237

4 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 374-378 ; मेवाड़ के दो महाराणा और शहंशाह अकबर, पृ. 231

5 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 374-378

"जब मानसिंह और आसफ खां गोगून्दा से 7 कोस पर दर्रे (घाटी) के पास शाहीसेना सहित पहुंचे तो राणा लड़ने को आया। ख़्वाजा मुहम्मद रफ़ी बदख्शी, शियाबुद्दीन गुरोह, पायन्दाह कज़्ज़ाक, अलीमुराद उजबक और राजा लूणकरण तथा बहुत से शाही सवारों सहित मानसिंह हाथी पर सवार होकर मध्य में रहा और बहुत से प्रसिद्ध जवान पुरुष हरावल के आगे रहे। चुने हुए आदमियों में से 80 से अधिक लड़ाके सैय्यद हाशिम बारहा के साथ हरावल के आगे भेजे गये और सैय्यद अहमदखां बारहा दूसरे सैय्यदों के साथ दक्षिण पार्श्व में रहा। शेख इब्राहीम चिश्ती के रिश्तेदार अर्थात् सीकरी के शेखजादों सहित काज़ी खां वाम पार्श्व में रहा और मिहतरखां चन्दावल में। राणा कीका (प्रतापसिंह) ने दर्रे (हल्दीघाटी) के पीछे से 3000 राजपूतों सहित आगे बढ़कर अपनी सेना के दो विभाग किए। एक विभाग ने, जिसका सेनापति हकीम सूर अफ़गान था, पहाड़ों से निकलकर हमारी हरावल पर आक्रमण किया। भूमि ऊंची-नीची, रास्ते टेढ़े-मेढ़े और कांटों वाले होने के कारण हमारी हरावल में गड़बड़ी मच गई, जिससे हमारी (हरावल की) पूरी तौर से हार हुई। हमारी सेना के राजपूत, जिनका मुखिया राजा लूणकरण था और जिनमें से अधिकतर वाम पार्श्व में थे, भेड़ों के झुण्ड की तरह भाग निकले और हरावल को चीरते हुए अपनी रक्षा के लिए दक्षिण पार्श्व की तरफ दौड़े। इस समय मैं (अल्बदायूनी) ने, जो कि हरावल के ख़ास सैन्य के साथ था, आसफ़ खां से पूछा कि ऐसी अवस्था में हम अपने और शत्रु के राजपूतों की पहिचान कैसे कर सके? उसने उत्तर दिया कि तुम तो तीर चलाये जाओ, चाहे जिस पक्ष के आदमी मारे जावे, इस्लाम को तो उससे लाभ ही होगा। इसलिये हम तीर चलाते रहे और भीड़ ऐसी थी कि हमारा एक भी वार खाली न गया और काफ़िरों (हिन्दुओं) को मारने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। इस लड़ाई में बारहा के सैय्यदों तथा कुछ जवान वीरों ने रुस्तम की सी वीरता दिखाई। दोनों पक्षों के मरे हुए वीरों से रणखेत छा गया।

हल्दीघाटी युद्ध क्षेत्र में दोनों सेना की व्यूह रचना

मिहत्तर खाँ

माधो सिंह

सैय्यद अहमद

मानसिंह

गाजी खाँ, बदख्शी,
राजा लूण खाँ

बराह बंधू

राजा जगन्नाथ

मोहम्मद रफी बदाख्शी

सैय्यद हसीन

....

हकीम खाँ सूर

भीम सिंह डोडिया

रावत कृष्ण दास

राम दास

महाराणा प्रताप

झाला मान सिंह

राजा राम शाह तंवर
भामाशाह ताराचंद

राणा पूंजा

पुरोहित गोपी नाथ

मेहता रतन चंद

पुरोहित जगन्नाथ

'राणा कीका के सैन्य के दूसरे विभाग ने, जिसका संचालक राणा स्वयं था, घाटी से निकलकर काज़ीखां के सैन्य पर, जो घाटी के द्वारा पर था, हमला किया और उसकी सेना का संहार करता हुआ वह उसके मध्य तक पहुँच गया, जिससे सब के सब सीकरी के शेखजादे भाग निकले और उनके मुखिये शेख मन्सूर के, जो शेख इब्राहीम का दामाद था, भागते समय एक तीर ऐसा लगा कि बहुत दिनों तक उसका घाव न भरा। काज़ीखां मुल्ला होने पर भी कुछ देर तक डटा रहा, परन्तु दाहिने हाथ का अंगूठा तलवार से कट जाने पर वह भी अपने साथियों के साथ भाग गया।

'हमारी जो फौज पहले में ही भाग निकली थी, नदी (बनास) को पार कर 5-6 कोस तक भागती रही। इस तबाही के समय मिहतरखां अपनी सहायक सेना सहित चंदावल से निकल आया। उसने ढोल बजाया और हल्ला मचाकर फ़ौज को एकत्र होने के लिए कहा। उसकी इस कार्यवाही ने भागती हुई सेना में आशा का संचार कराया, जिससे उसके पैर टिक गये। ग्वालियर के राजा मान के पोते रामशाह ने, जो हमेशा राणा की हरावल में रहता था, ऐसी वीरता दिखलाई, जिसका वर्णन करना लेखिनी की शक्ति से बाहर है। मानसिंह के वे राजपूत, जो हरावल के वाम पार्श्व में थे, भागे, जिससे आसफखां को भी भागना पड़ा और उन्होंने दाहिने पार्श्व के सैय्यदों की शरण ली। यदि इस अवसर पर सैय्यद लोग टिके न रहते, तो हरावल के भागे हुए सैन्य ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी थी कि बदनामी के साथ हमारी हार होती।

"दोनों सेनाओं के मस्त हाथी अपनी-अपनी फ़ौज में से निकलकर एक दूसरे से खूब लड़े और हाथियों का दारोगा हुसैनखां, जो मानसिंह के पीछे वाले हाथी पर सवार था, हाथियों की लड़ाई में शामिल हो गया। इस समय मानसिंह ने महावत की जगह बैठकर बड़ी वीरता दिखाई। उनमें से बादशाह का एक खासा हाथी राणा के रामप्रसाद नामक हाथी से खूब लड़ता रहा, अन्त में रामप्रसाद का महावत तीर लगने से ज़मीन पर गिर गया, तो शाही हाथी का महावत फूर्ती से उस पर जा बैठा। ऐसी दशा में राणा टिक न सका और भाग निकला, जिसस

उसकी सेना हताश हो गई। मानसिंह के जवान अंग-रक्षक बहादुरों ने बड़ी वीरता बतलाई। इस दिन से मानसिंह के सेनापतित्व के संबंध में मुल्ला शीरी का कथन 'हिन्दू इस्लाम की सहायता के लिए तलवार खींचता है' चरितार्थ हुआ।

"इस लड़ाई में चित्तौड़ वाले जयमल का पुत्र (राठौड़ रामदास) और ग्वालियर का राजा रामशाह अपने पुत्र शालिवाहन सहित बड़ी वीरता के साथ लड़कर मारे गये। तंवर खानदान का एक भी वीर पुरुष बचने न पाया। माधवसिंह के साथ लड़ते समय राणा पर तीरों की बौछार हो गई और हकीम सूर जो सैय्यदों से लड़ रहा था, भागकर राणा से मिल गया। इस प्रकार राणा के सैन्य के दोनों विभाग फिर एकत्र हो गए। फिर राणा लौटकर पहाड़ों में, जहां चित्तौड़ की विजय के बाद वह रहा करता था और जहां वह किले के समान सुरक्षित रहता था, भाग गया। उष्णकाल के मध्य इस दिन गर्मी इतनी पड़ रही थी कि खोपड़ी के भीतर मग़ज भी उबलता था। ऐसे समय लड़ाई प्रातःकाल से मध्याह्न तक चली और 500 आदमी खेत रहे, जिनमें 120 मुसलमान और शेष (380) हिन्दू थे। 300 से अधिक मुसलमान घायल हुए। उस समय लू आग के समान चल रही थी, हमारे सैनिको में चलने फिरने की भी शक्ति न रही औ सेना में यह खबर फैल गई थी कि राणा छल के साथ पहाड़ के पीछे घात लगाये खड़ा होगा। इसी से हमारे सैनिकों ने राणा का पीछा न किया। वे अपने डेरों में लौट गये और घायलों का इलाज करने लगे।

"दूसरे दिन हमारी सेना ने वहां से चलकर रणखेत को इस अभिप्राय से देखा कि हरएक ने कैसा काम किया था। फिर दर्रे (घाटी) से हम गोगून्दे पहुँचे, जहां राणा के महलों के कुछ रक्षक तथा मन्दिरवाले, जिन सबकी संख्या बीस थी, हिन्दुओं की पुरानी रीति के अनुसार अपनी प्रतिष्ठा के निमित्त अपने -अपने स्थानों से निकल आये और सब के सब लड़कर मारे गये। अमीरों को यह भय था कि रात के समय कहीं राणा उन पर टूट न पड़े, इसलिये अपनी रक्षार्थ उन्होंने सब मोहल्लों में आड़ खड़ी करा दी और गांव के चारों तरफ खाई खुदवाकर इतनी ऊँची दीवार बनवा दी कि सवार उसको फांद न सके। तत्पश्चात् वे निश्चिंत हुए।

फिर वे मरे हुए सैनिकों और घोड़ों की सूची बादशाह के पास भेजने को तैयार करने लगे, जिस पर सैय्यद अहमदखां बारहा ने कहा- 'ऐसी फिहरिश्त बनाने से क्या लाभ है ? मान लो कि हमारा एक भी घोड़ा व आदमी मारा नहीं गया। इस समय तो खाने के सामान का बन्दोबस्त करना चाहिये। इस पहाड़ी इलाके में न तो अधिक अन्न पैदा होता है और न बनजारे आते हैं और सेना भूखों मर रही है। इस पर वे खाने के सामान के प्रबंध का विचार करने लगे। फिर वे एक अमीर की अध्यक्षता में सैनिकों को इस अभिप्राय से समय-समय पर भेजने लगे कि वे बाहर जाकर अन्न ले आवें और पहाड़ियों में जहां कहीं लोग एकत्र पाये जावें उनकी कैद कर लें, क्योंकि हरएक को जानवरों के मांस और आम के फलों पर, जो वहां बहुतायत से थे, निर्वाह करना पड़ता था। साधारण सिपाहियों को रोटी न मिलने के कारण इन्हीं आम के फलों पर निर्वाह करना पड़ा, जिससे उनमें से अधिकांश बीमार पड़ गये।

चित्र संख्या 3.2 : 1822 ई. में चौखा द्वारा बनाया गया हल्दी घाटी युद्ध का चित्र



हल्दीघाटी युद्ध की रणनीति एवं समरतंत्र

मेवाड़ का आधार केन्द्र कुंभलगढ या गोगुंदा

हल्दी घाटी युद्ध अभियान पर मानसिंह मांडलगढ से निकलता है तब अबुल फजल,[1] बदांयूनी[2] तथा निजामुद्दीन अहमद[3] मानसिंह का गोगुंदा पर चढ़ाई करना लिखते हैं। वीर विनोद में जब मानसिंह मांडलगढ से आगे बढता है तब प्रताप का कुंभलगढ से निकलकर गोगुंदा आना बताया है।[4] कुंभलगढ जैसा मजबूत और सुरक्षित दुर्ग होते हुए भी मुगल सेना का अभियान का केन्द्र गोगुंदा क्यों था? बदायूनी तो लिखता ही यहीं है कि मुगल सेना गोगुंदा विजय हेतु निकल पड़ी थी तथा प्रताप एंव शाही सेना के मध्य हुए युद्ध को तो उसने गोगुंदा का युद्ध ही[5] कहा है। अबुल फजल ने इसे खमनोर का युद्ध[6] कहा तो निजामुद्दीन अहमद ने गोगुंदा के समीप हल्दुघाटी में युद्ध होना बताया हैं।[7] नैणसी[8] तथा अन्य राजस्थानी स्त्रोतो में इसे खमणोर के युद्ध की ही संज्ञा दी गई है। युद्ध में उपस्थित व युद्ध में भाग लेने वाले बंदायूनी द्वारा गोगुंदा विजय बताने का कारण वह इस प्रताप की राजधानी को जीतने के रूप में देख रहा था। अन्यथा यह संभव नहीं है कि बंदायूनी जो शाही सेना के साथ करीब चार दिन मोलेला एवं हल्दीघाटी में रूका उसे खमनोर कस्बे की जानकारी न हो। गोगुंदा ही प्रताप व मेवाड़ का मुख्य केन्द्र था। इसी प्रकार का उल्लेख निजामुद्दीन अहमद भी देता है। तबकात-ए-अकबरी में वह लिखता है कि मुगलों की चितौड़ विजय के बाद राणा ने हिंदवाडा के पर्वतीय क्षेत्र में बाग बागीचों एवं इमारतो वाले गोगुंदा शहर की

---

1 Akbarnama, Vol. III, P. No. 244
2 Muntakabha-T-Tawarikh. Vol. II, P. No. 235
3 The Tabaqat-A- Akbari. Vol. II., P. No. 488
4 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 150
5 Muntakabha-T-Tawarikh. Vol. II, P. No. 235
6 Akbarnama, Vol. III, P. No. 245
7 The Tabaqat-A- Akbari. Vol. II., P. No. 488
8 नैणसी की ख्यात, भाग-1, पृ. 91

स्थापना की।[1] फारसी स्त्रोते गोगुंदा को प्रताप की गतिविधियों के केन्द्र में रखते हैं।

यहाँ महत्वपूर्ण यह है कि प्रताप की दृष्टि में गोगुंदा व कुंभलगढ का क्या महत्व था। कुंभलगढ चितौड के बाद मेवाड का प्रमुख दुर्ग था। कुंभा के काल में यह दूसरी राजधानी के रूप में स्थापित हो चुका था उदयसिंह के काल में भी महत्वपूर्ण बना रहा। प्रताप के समय कुंभलगढ के महत्व में कोई नहीं आई थी इसका उदाहरण प्रताप का राजसी एवं परंपरागत तरीके से राज्याभिषेक कुंभलगढ में ही हुआ था। शाहबाज खां के मेवाड़ अभियान के दौरान प्रताप कुंभलगढ में ही था। प्रताप की राजधानी एवं सुरक्षात्मक दृष्टि से कुंभलगढ का महत्व ज्यादा था। वह क्या कारण था कि फारसी इतिहासकारों ने चितौड के बाद पहाडी क्षेत्र में प्रताप को पूर्णरूप से समाप्त करने हेतु कुंभलगढ़ अभियान की ओर ध्यान नहीं दिया। इसका कारण था प्रताप का दूरदर्शिता पूर्ण कूटनीतिज्ञ प्रयास। चूंकि चित्तौड़ के बाद मेवाड का एक विस्तृत एवं विशाल दुर्ग जो राजधानी के रूप में कार्य कर सके तो वह केवल कुंभलगढ था। कुंभलगढ की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता इसकी दुर्गमता जिसे आसानी से घेरा नहीं जा सकता था जैसा कि चितौड़ दुर्ग को घेरा जा सकता था। प्रताप को मुगल संघर्ष के दौर में परिवार, कोष, सामंतों एवं सेना हेतु एक विशाल एवं सुदृढ दुर्ग की आवश्कयता थी।

मेवाड़ के इस पर्वतीय प्रदेश में कुंभलगढ़ का कोई अन्य विकल्प नही था, गोगुंदा भी नहीं। गोगुंदा न तो कुंभलगढ जैसा सुरक्षित था नहीं यहाँ कुभलगढ जैसा सुदृढ़ दुर्ग। गोगुन्दा में निवास हेतु महल तो था। किंतु राजधानी की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकता था। अत: कुभलगढ़ प्रताप के लिए इस संघर्ष के दौर में महत्वपूर्ण था। यहाँ प्रताप में एक बेहद अच्छे राजनय के गुण

---

1 The Tabaqat-A- Akbari. Vol. II., P. No. 487
गोगुंदा ताम्रपाषाणकालीन स्थल ईसवाल के समीप स्थित एक उत्तर ऐतिहासिक कालीन स्थल है। यहाँ 8वीं-9वीं शताब्दी बस्ती होने के प्रमाण मिलते हैं। 1370 ई. में यहां के विष्णु मंदिर से महाराणा खेता का शिलालेख मिला है तथा खेता ने यहां एक तालाब बनाया जो खेता तालाब के नाम से भी जाना जाता है। गोगुंदा की ख्यात से जानकारी मिलती है की यहाँ पर प्रारम्भ में ईडरिया राठौड़ का प्रभाव था। महाराणा खेता के समय या मेवाड़ का अभिन्न अंग बन गया।

दिखाई देते हैं कुभलगढ़ की सुरक्षा में उसकी दुर्गमता सबसे महत्वपूर्ण थी। अत: प्रताप ने अकबर के किसी भी शिष्टमण्डल का स्वागत कुंभलगढ़ दुर्ग में नहीं किया था। वह उदयपुर एवं गोगुंदा में ही मिला, गोगुंदा में मुख्य रूप से इसके पीछे प्रताप का मंतव्य कुभलगढ के सुरक्षित मार्गो से मुगल सेनानायकों को अनजान रखना तथा दूसरा अपने कोष एवं सैन्य क्षमता को शत्रु को जाहिर न होने देना था। प्रत्येक बार शिष्टमंडल का गोगुंदा एवं उसके आस पास मिले तथा उदयसिंह की मृत्यु भी गोगुंदा हुई अत: फारसी इतिहासकारों ने गोगुंदा को ही प्रताप की राजधानी मान लिया। मुगलों के प्रारंभिक आक्रमण में ही राजधानी की समस्या से उलझना नहीं पड़ा।

गोगुंदा की भी अपनी महत्ता थी। जब तक राजधानी कुंभलगढ़ थी तब तक गोगुंदा प्रताप का सर्वाधिक महत्व का स्थल रहा। चितौड़ पतन के बाद प्रताप के अधीन जो पर्वतीय क्षेत्र था। कुंभलगढ झाडोल एवं छप्पन का क्षेत्र जो मुगल संघर्ष का रणक्षेत्र रहा था। इस क्षेत्र को दो भागो में बांट सकते हैं पहला कुंभलगढ से झाडोल तक का क्षेत्र जो कुभलगढ के पतन से पूर्व तक संघर्ष का प्रमुख क्षेत्र रहा और दूसरा झाड़ोल से छप्पन का क्षेत्र जो संघर्ष का प्रमुख क्षेत्र रहा और दूसरा झाड़ोल से छप्पन का क्षेत्र जो संघर्ष के द्वितीय चरण का प्रमुख रहा। गोगुंदा, कुंभलगढ एवं झाड़ोल के क्षेत्र को जोडने का कार्य करता है यद्यपि गोगुंदा का महत्व हमेशा ही रहा। गोगुंदा का सामरिक के साथ साथ व्यापारिक महत्व भी था। गोगुंदा, चितौड़, उदयपुर, आबू सिरोही, ईडर, पानरवा, ओगणा, रणकपुर कुंभलगढ मार्ग पर स्थित है।[1] जो सामरिक और व्यापारिक रूप से महत्वपूर्ण है। निजामुद्दीन अहमद ने गोगुंदा की चितौड़ पतन के बाद स्थापना होना कहा है जबकि गोगुंदा एक प्राचीन कस्बा है जहां 8 वीं 9 वीं शताब्दी में बस्ती के प्रमाण मिलते हैं। महाराणा खेता के समय यह पूर्णरूप से मेवाड़ का भाग बन चुका था। गोगुंदा ऊँचाई पर होने के बावजूद भी पठारी भूमि होने से अन्न, जल तथा आवास की सुविधा उपलब्ध करता था जो आस पास उपलब्ध नहीं था। मुगल सेना को गोगुंदा में उलझाने का कारण उसकी घेराबंदी करना भी था वह झाडोल

---

1 Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. I., P. No. 110

की तरफ बढे तो कुंभलगढ़ से अगर कुंभलगढ़ की तरफ बढे तो झाडोल से मुगल सेना पर दबाव बनाया जा सकता था।

हल्दीघाटी युद्ध स्थल का चयन

युद्ध एक कला जिसमें सदैव पूर्व प्रचलित सिद्धातों का प्रयोग किया जाता है। इन प्रचलित सार्वभौमिक सिद्धातों के होने के बावजूद बदलती परिस्थितियों के अनुरूप सेनापति का स्वविवेक से लिया गया निर्णय युद्ध क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। "चुंकि किसी राष्ट्र का भूगोल ही वहां की यौद्विक क्रिया को निर्धारित करता है।" किसी भी युद्ध की रणनीति को निश्चित करने में दो सबसे अहम पहलू होते हैं। स्थान और समय एक कुशल सेनानायक वहीं होता है। जो दुश्मन पर अपने निर्णय थोपता है। अत: जो सेना नायक युद्ध का स्थान व समय दोनों को अपनी पहल के अधीन रखता है वह रणनीतिक लाभ की स्थिति में रहता है। स्थल एवं समय के चयन की मुख्य भूमिका सेनानायक की होती है।

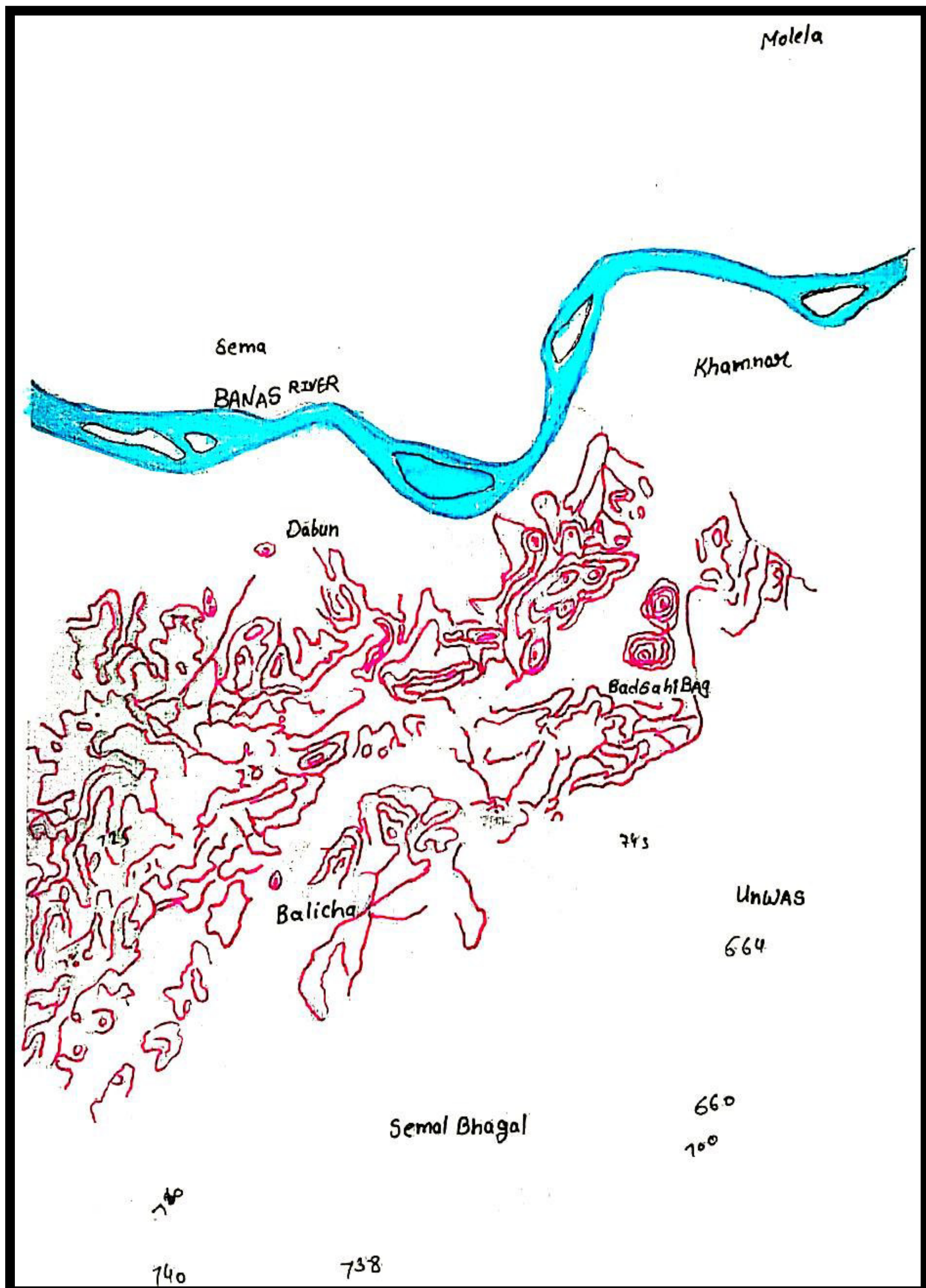
अजमेर से मानसिंह गोगुंदा प्रस्थान की सूचना मिलते हैं प्रताप की युद्ध परिषद को बुलावा गया।[1] युद्ध संबंधी महत्वपूर्ण निर्णय लेने तथा रणनीति बनाने में युद्ध परिषद् की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। इस परिषद् में दो प्रकार की नीति पर विचार किया गया पहली मेवाड़ की भौगोलिक पृष्ठभूमि का लाभ उठाते हुए पहाड़ो के बीच में मुगल सेना के आने के बाद पर हमला कर नष्ट किया जाएं दूसरा पहाड़ो से आगे निकलकर मैदान में मुगलो से लड़ा जाएं। रत्नसिंह व उदयसिंह के काल में मेवाड़ की युद्ध नीति में कुछ परिवर्तन आया था। किंतु फिर भी युद्ध में लड़ते हुए प्राणों का बलिदान करने को लालायित रहते थे। वीरगति प्राप्त व्यक्ति को विशेष सम्मान प्राप्त होता था। इसका उदाहरण सांगा के काल में ईडर अभियान के दौरान दुर्ग की फाटक को खोलने हेतु स्वयं का बलिदान करना तथा अमरसिंह के समय हरावल में रहने के लिए बल्लु शक्तावत व जैतसिंह कृष्णावत के बलिदान राजपूती वीरता के उदाहरण हैं।[2]

---

1 राणा रासो, पृ. 365

2 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 217

MAP NO. 3.1 : TOPOGRAPHY MAP OF HALDHIGHATI



इस दशा में प्रताप को निर्णय करना था कि युद्ध कहां लड़े। सामंतो के अतिरिक्त स्वयं मुगल प्रताप एवं अन्य राजपूत वीरों को उनके स्वभाव के अनुरूप उकसाने के लिए मांडलगढ में कुछ माह रूके रहें। प्रताप ने मेवाड़ के पूर्व शासकों की नीति के अनुरूप रक्षात्मक युद्ध लडने का निर्णय किया। महाराणा क्षेत्रसिंह के समय पहली बार सफलतापूर्वक शत्रु को अपनी सीमाओं में दूर तक प्रवेश करने के बाद अचानक आक्रमण कर पराजित करने की युद्ध नीति का अनुसरण किया गया।[1] बाद में महाराणा कुंभा व रायमल के समय भी इसे अपनाया गया। मेवाड़ के पूर्ववर्ती शासकों की परिस्थिति के अनुरूप नीतियां बदलती रहीं। महाराणा रायमल ने मालवा को तीन बार मेवाड़ में प्रवेश करने दिया तो एक बार मालवा की सीमा में जाकर उसे पराजित भी किया।

युद्ध नीति उद्देश्य, संसाधन एवं परिस्थिति पर निर्भर करती है। सांगा के काल मेवाड़ के इतिहास का चरमोत्कर्ष था। अत: इस समय मेवाड़ी सेना आक्रमण युद्ध नीति अपना रही थी।

प्रताप का उद्देश्य उसके संसाधन एवं परिस्थिति उसे इस तथ्य से परिचित करा रहे थे कि केवल मुगलों से एक बार यहीं नहीं लड़ना है। ये संघर्ष का प्रारंभ था जो दीर्घकाल तक चलेगा। अत: युद्ध हेतु रणनीति का निर्माण इस प्रकार से करना था मानवीय, आर्थिक एवं सैन्य संसाधनों का सतत चलने वाले संघर्ष में आगे भी प्रयोग में ला सकें। एक दूरदर्शि एवं कुशल शासक को तत्कालीन परिस्थितियों आक्रमण युद्ध नीति अपनाने की स्वीकृति नहीं दे रही थी। प्रताप के समक्ष यह तो साफ था कि प्रताप शत्रु क्षेत्र में जाकर लड़े यह एक आत्मघाती प्रयास होगा जो मेवाड़ के लिए न होकर शत्रु पक्ष के लिए लाभकर होता।

प्रताप सांगा के समय हुई गलती को यहाँ दोहराना नहीं चाहता था। खानवा के युद्ध में स्थान और समय दोनों का रणनीतिक लाभ बाबर को मिला था। इतिहासकार सांगा की हार का एक कारण युद्ध में की गई देरी को भी मानते हैं।[2] अत: प्रताप युद्ध हेतु ऐसा स्थल चाहता था जहां उसकी सेना मुगलो से संख्या मे

---

1 War Strategy of Maharana Pratap. P. No. 13

2 हरविलास शारदा, महाराणा सांगा, पृ. 93

कम होते हुए भी लाभ की अवस्था में रहें। दूसरी सेना भी प्रताप के अधीन क्षेत्र में ज्यादा अंदर तक न जाना पड़े तथा मुगल सेना भी प्रताप के अधीन क्षेत्र में ज्यादा अंदर तक न आएं। मुगल सेना का मेवाड़ के अंदर ज्यादा आने पर हार की दशा में पूर्णत: मेवाड़ मुगलों के हाथ में आसानी से चला जाता। प्रताप ने उपर्युक्त दशाओं का विश्लेषण कर युद्ध क्षेत्र के रूप में हल्दीघाटी का चयन किया था। यह चयन बडा महत्वपूर्ण था हल्दीघाटी एक संकरा दर्रा हैं। जहां दो पहाड़ आकर मिल रहे हैं। उसके बीच यह एक संकरा मार्ग था। इस मार्ग से एक घोड़ा बडी मुश्किल से ले जाया जा सकता था और दो सैनिक साथ साथ नहीं चल सकते थे। यहीं दुर्गमता प्रताप की सेना को मुगलों की अधिक सैन्य बल होते हुए भी लाभ में रख सकती थी। कुछ सैनिकों की के बल पर मुगलों की बडी सेना को आसानी से रोका जा सकता था। अत: प्रताप ने युद्ध स्थल काफी सोच विचार कर तय किया था।

चित्र संख्या 3.3 : हल्दीघाटी का प्रसिद्ध दर्रा जिसे आधार बनाकर युद्ध लड़ा गया है, कर्नल टॉड ने इसकी तुलना थर्मोपल्ली से की है



प्राकृतिक कारकों में युद्ध को प्रभावित करने वाली भूगोल के बाद दूसरा महत्वपूर्ण प्रभावी कारक मौसम है। निश्चय ही किसी भी युद्ध में सेनानायक, सैनिक एवं सैन्य तकनीक की भूमिका महत्वपूर्ण होती हैं किंतु इसमें प्राकृतिक कारकों की भूमिका को भी नजर अंदाज नही किया जा सकता हैं। बहुधा सैन्य नायकों की बेहतरीन रणनीति भी भुगोल एवं ऋतु के प्रतिकूल होने से असफल हो जाती है। नेपोलियन के रूस अभियान की असफलता का कारण उसकी सेनाए रूस की भयंकर सर्दी में फंस गई तथा वह संचार पंक्ति से भी दूर हो चुकी थी। किसी भी अभियान पर निकली सेना की महत्ती आवश्यकता अन्न और जल होता हैं। इनकी सम्मुचित आपूर्ति में किसी प्रकार का व्यधान समस्त सैन्य अभियान पर संकट ला देता हैं। वर्षा का काल युद्ध के लिए उपयुक्त नहीं समझा जाता था। वर्षा के कारण ही अकबर को अफगानिस्तान एवं दक्षिण के अभियान को रोकना (स्थगित) पड़ा था।

सैन्य अभियान के लिए मार्च-अप्रेल व नवम्बर दिसंम्बर का समय सही माना जाता था। यद्यपि सैन्य अभियान हर मौसम में हो रहे थे। मानसिंह को भी 3 अप्रेल 1576 ई. को प्रताप के विरुद्ध अभियान हेतु विदा कर दिया था। मुगल सेना का ध्येय वर्षा ऋतु से पूर्व इस अभियान को समाप्त करना था। प्रताप इस तथ्य से भी परिचित थे कि मई, जून की तेज गर्मी भी युद्ध के समय तथा उसके बाद यहाँ अत्यधिक गर्मी पडने की शिकायत करता हैं। वह गर्मी एवं पानी की कमी में चितौड़ पर अधिकारों करने के मना कर देता हैं प्रताप द्वारा इस मौसम का लाभ उठाते हुए स्वभूमि ध्वंश की नीति अपनाते हुए शत्रु के लिए स्थानीय रसद आपूर्ति को पूर्णत: समाप्त कर दिया। अत: शाही सेना को रसद आपूर्ति हेतु मांडलगढ एवं शाही स्थानों पर निर्भर रहना पडा। इस वजह से भी मानसिंह को मांडलगढ से आने में देरी हो गई। प्रताप ने चितौड़ दुर्ग में अन्न व जल के अभाव में मजबूरी में शाके होते देखा था। अत: प्रताप ने मुगल सेना की गोगुंदा में रसद आपूर्ति काट कर खुले में बंदि बना दिया था।[1]

---

1 Muntakhabu-T-Tawarikh. Vol. II. P. No. 233

हल्दीघाटी का युद्ध

मानसिंह ने मांडलगढ से निकलकर मोही से होता हुआ बनास नदी के तट पर मोलेला गांव में शाही शिविर स्थापित किया। मोलेला गाँव और खमनौर के मध्य बनास नदी है जो दोनों को अलग करती हैं। मोलेला गांव एक विस्तृत मैदानी भूमि होने से विशाल सेना के शिविर हेतु उपयुक्त स्थान भी था। आगे खमनोर से पहाड़ी भूमि प्रारंभ हो रही थी। प्रताप को मानसिंह की जानकारी मिलते ही वह कुभलगढ से गोगुंदा की ओर निकल पड़ा। गोगुंदा से पूर्व में हल्दीघाटी करीब 28 किमी की दूरी पर स्थित है। प्रताप ने गोगुंदा से निकलकर लोहसिंग गांव में सेना का शिविर डाला।[1] लोहसिंग से हल्दीघाटी 14 कि.मी. उत्तर में हैं। प्रताप की सेना का एक भाग हल्दीघाटी दर्रे के समीप स्थित था। तत् समय दोनों सेनाओं के बीच की दूरी 5 कि.मी. मात्र थी। दोनों सेनाओं का पड़ाव महत्वपूर्ण था। प्रताप ने लोहसिंग गांव के तालाब के समीप विस्तृत मैदान में पड़ाव डाला था। मानसिंह ने बनास नदी के किनारे पड़ाव डाला। मानसिंह जो अब मेवाड़ की पहाड़ी भूमि में प्रवेश करने वाला था। और उसे किसी भी अकस्मात से होने वाले आक्रमण को सामना करना पड़ सकता था। अत: युद्ध पूर्व की अंतिम तैयारी करने हेतु मोलेला में बनास नदी को प्राकृतिक सुरक्षा प्रहरी के रूप में स्थापित करने हेतु, बनास नदी को अवरोधक बनाया। एक बहती नदी सदैव विपरित तट पर स्थित शत्रु पक्ष पर हमले के दौरान आक्रमण की तीव्रता को मंद कर देती है तथा शत्रु को स्वयं को तैयार करने का समय मिल जाता है। मानसिंह ने बनास नदी का प्रयोग एक मजबूत अवरोधक के रूप में कर मुगल सेना को युद्ध हेतु तैयार किया।

---

1 नैणसी ने प्रताप का गोगुंदा से आकर लाहसिंग गांव शिविर लगाना लिखा है। जिसकी दूरी उदयपुर से उत्तर में 9 कोस अर्थात् लगभग 27.6 कि.मी. बताई है। वर्तमान ने उदयपुर से लोहसिंग गांव की दूरी करीब 28 कि.मी. 14 कि.मी. दूरी लोहसिंग से हल्दीघाटी के मध्य की है। आज जिस मार्ग का अनुसरण किया रहा है पहले भी उसी मार्ग को प्रयोग में लाया जाता होगा। टॉड ने अपनी अंतिम यात्रा में घसियार से होते हुए गोगुंदा गया था। वर्तमान में नेशनल हाईवे बन जाने से घसियार की दुर्गम चढ़ाई जरूर खत्म हो गई किंतु मार्ग सामान्यत: वही हैं। एक कोस में 1.91 मील होते है तथा 1 मील में 1.609 कि.मी.

मेवाड़ के इस पहाड़ी क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व उस क्षेत्र को समझने के लिए शिकार के बहाने मानसिंह ने यहाँ कुछ समय गुजारा[1] मोलेला में करीब चार दिन ठहरने के बाद मानसिंह की सेना आगे बढ़ी। मानसिंह के समक्ष मुगल सेना के अनुशासन को बनाये रखना एक चुनौती थी ; जैसा कि बर्नियर मुगल सेना के बारे में कहता है इसमें अनुशासन की बेहद कमी है तथा ये कूच करते समय पंक्तिबद्ध हो कर चलने के बजाय भेड़ो की तरह चलना अधिक पसंद करते थे। विलियम इर्विन बताते हैं कि मैदानों में अजेय मुगल सेना पहाड़ी युद्ध में बहुत ही कमजोर थी, जब कभी इस विशाल अनुशासनहीन सेना को दुर्गम पहाडो से गुजरना पडता था तो ये उस सेना के लिए एक गंभीर चुनौती बन जाती थी और यदि इसी दौरान किसी घात लगाए शत्रु से उसकी मुठभेड़ हो जाती तो कभी कभी सारी की सारी सेना नष्ट हो जाती थी।[2] अब तक के घटनाक्रम से यह निश्चित हो चुका था कि प्रताप मैदानी युद्ध नहीं लडेगा और मुगलो को पहाड़ो में युद्ध हेतु प्रवेश करना ही पड़ेगा। मानसिंह की सेना जब मेवाड़ के पर्वतीय प्रदेश में प्रवेश करने लगी तो उससे पूर्व ही किसी अनअपेक्षित आक्रमण का सामना करने हेतु मुगल सेना तैयार रहे अत: सेना को सैन्य व्यूह में सजाकर ही दर्रे की तरफ बढने के निर्देश दिए।

साम्राज्यीय सेना का विन्यास निम्न प्रकार से था, बरहा के सैय्यद हाशीम के नेतृत्व में करीब 85 चुने हुए नवयुवक[3] थे जिसे चूजा ए हरावल कहा जाता था। इनके पीछे हरावल था जो दो भागों में विभाजित था राजपूत और मुगल। कच्छवाहों का नेतृत्व जगन्नाथ कच्छावाहा कर रहा था और मध्य एशियाई मुगलों का नेतृत्व मीर बख्शी आसफ खां कर रहा था। तीसरी पंक्ति अल्तमश[4] की थी जो माधोसिंह कच्छवाहा के अधीन थी। मध्य में ख्वाजा मुहम्मद रफी बदख्शी, शिहाबुद्दीन करोह, पयन्दा कज्जाक, अली मुराद उजबेक और कच्छवाहा जाति का

---

1 नैणसी री ख्यात, भाग-1, पृ. 91

2 भारतीय मुगलों की सैन्य व्यवस्था, पृ. 167

3 बदायूंनी कहता है कि ये 80 से अधिक थे जदुनाथ सरकार ने इसे 85 माना है वहीं आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ने 80 माना हैं।

4 अग्रिम सुरक्षित दल

सैन्यदल था, इसका नेतृत्व मानसिंह के पास था। बायें पार्श्व का नेतृत्व मुल्ला काजी खां[1] तथा सांभर का सामंत लूणकर्ण फतेहपुर सीकरी के शेखजादों की[2] एक टुकड़ी के साथ कर रहे थे। मुगल सेना का सबसे शक्तिशाली अंग जिसे साम्राज्यीय सेना की धुरी कहा है वह दायां पार्श्व था। इसका प्रधान वंशानुगत शौर्य के लिए प्रसिद्ध बरहा के सैय्यद थे[3] सेना का पृष्ठ भाग या सुरक्षित दल मिहतर खान के अधीन था, इसे युद्ध के समय पीछे रखा गया था।[4]

प्रताप की सेना का विन्यास निम्न था प्रताप के हरावल में 500 घुडसवार थे जिनका नेतृत्व हकीमखां सूर कर रहा था, इसके साथ डोडिया सामंत भीमसिंह (सरदारगढ) रामदास राठौड (बदनौर), किशनदास चुण्डावत (सलूम्बर), सांगा चुण्डावत (देवगढ) तथा अन्य राजपूत थे। दांये पार्श्व का नेतृत्व रामशाह तंवर अपने पुत्रों के साथ कर रहा था, इसके साथ भामशाह तथा उसका भाई ताराचंद थे। बांये पार्श्व का नेतृत्व मानसिंह झाला कर रहा था इसके साथ मानसिंह सोनगरा[5] भी था। बाये और दायं पार्श्व के पास 500-500 सैनिक थे। सेना के मध्य भाग का नेतृत्व राणा प्रताप कर रहा था जिसके अधीन 1300 सैनिक थे। चंदावल में पूंजा, गोपीनाथ पूरोहित, रत्नचंद मेहता, केशव तथा जेसा चारण, पडिहार कल्याण मेहता, जयमल बछावत, बलभद्र सिंह चौहान बेदला।[6] 400 भील धनुर्धर राजपूत सैनिकों के पीछे उसी तरह खड़े थे जिस तरह मराठा अश्वारोहिणी सेना के पीछे पिण्डारी खडे होते थे।[7] हकीम खां सूर अफगान था तथा इसे मैदानी

---

1 जिसका पदनाम बाद में गाजी खां हो गया था

2 शेख सलीम चिश्ती के बंधुगण

3 उन्हें प्रधान सेनापति के दाहिने हाथ की ओर रहने का सम्मानजनक स्थान प्राप्त करने का अधिकार था। बदायूंनी ने इनकी वीरता की प्रशंसा करते हुए इनकी तुलना शाहनामा के प्रसिद्ध नायक रूस्तम से की थी।

4 Akbarnama, Vol. III. P. No. 245, Muntakhabha-T-Tawarikh. Vol. II. P. 236, Militrary History of India, P. No. 78, आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, अकबर महान्, पृ. 202

5 अखैराज सोनगरा का पुत्र व प्रताप का मामा

6 चौहान प्रकाश, पृ. 37

7 Akbarnama, Vol. III. P. No. 245, Militrary History of India, P. No. 79, आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव अकबर महान्, पृ. 202

युद्ध एवं मुगलों से लड़ने का अनुभव था अत: इसी वजह से प्रताप ने हकीम खां सूर को हरावल में स्थाल दिया।

प्रात: काल के पहले पहर[1] में ही मुगल सेना का बांया भाग दर्रे के मुहाने पर पहुंचा ही था कि प्रताप की सेना दो भागों में निकल कर मुगलों के सामने आई और उसने मुगल सेना पर भयंकर हमला किया[2] यह हमला इतना जबरदस्त एवं आवेगपूर्ण था कि मुगल चूजे के पांव उखड गए तथा वहां की कंटीली झाडियों वाली पथरीली एवं पर्वतीय भूमि व सर्पीलाकार मार्ग ने उन्हें संभलने का मौका ही नही दिया। मुगल चूजे एवं आसफ खां व जगन्नाथ कच्छवाहा का अग्रिम दल दोनों एक हो गए। इससे लडाई हेतु संभलने का मौका ही नहीं मिला हाशिम खां घोडे से गिर गया जिसे सैयद राजू ने फिर बिठाया। प्रारंभिक भिडंत में ही जगन्नाथ कच्छवाहा शत्रुओं से घिर गया उसके प्राणों पर संकट आ गया तभी अल्तमश से आकर माधोसिंह ने बचाया। किंतु अल्तमश की सेना भी राणा के आक्रमण के वेग को सह न सकी। राणा के दोनों पक्ष भी अब अपने विरोधी मुगल पक्षों पर आक्रमणह करने आगे बढ़ आये थे। गाजी खॉ बदख्शी के अधीन मुगल वामपक्ष पर राणा के दाहिने पक्ष ने राजा रामशाह के नेतृत्व में धावा बोल दिया और उसे हराकर पीछे हाटा दिया। इतनी भीषणता से हुआ था कि सांभंर लूणकरण के जो राजपूत मुगल वामपक्ष में थे, वे भेड़ो की झुण्ड की तरह भाग निकले और उन्होनें मुगलों के अग्रिम दल के बीच से भागकर बारहा सैयदों के अधीन दाहिने पक्ष में आश्रय लिया। फतेहपुर सीकरी के शेखजादे भी सामुहिक रूप से भाग निकले। वे जब भाग रहे थे तभी उनके नेता शेख मंसूर (सलीम चिश्ती के दामाद) के पीछे में एक तीर घुस गया जिसका घाव बहुत समय तक जमा रहा और उसके दाहिने हाथ पर तलवार का एक वार हुआ जिससे उसका अंगूठा जख्मी

---

1 Akbarnama, Vol. III. P. No. 245

2 बदांयूनी ने प्रताप की सेना को दो भाग में ही होना लिखा है जबकि अबुल फजल ने प्रताप की सेना की तीन भागों का वर्णन दिया है। मध्य भाग का नेतृत्व प्रताप, दांया का राजा रामशाह व बांया का झाला बीदा नेतृत्व कर रहे थे। हकीम खां सूर एवं भीलों के बारे में कुछ नहीं लिखा है। चुंकि दर्रा बहुत संकरा था अत: प्रताप की सेना का एक भाग दर्रे से निकला तो दूसरा पहाड़ों से आया।

हो गया। अब वह और न रूक सका और यह चिल्लाता हुआ भागा कि "घोर आपत्ति के समय भाग जाना मुहम्मद साबह की उक्तियों में से एक हैं।" इसी समय मान झाला के अधीन राणा के वामपक्ष ने मुगल दाहिने पक्ष पर आक्रमण कर दिया। सैयदों ने बडा शौर्य और विरोध प्रदर्शित किया। पर तब भी वह पक्ष पराजित हो गया। अगर वे ऐसा न करते तो मुगल सेना एक बडे खतरे में फस जाती। राजपूतों के इस पहले हमले में ही मुगलों की पीठें मुड़ गयी और वे अपनी बागें खींचना भूलकर बनास नदी के उस पार 10-12 मील तक भाग गये।[1]

शाही बाग में युद्ध का दूसरा चरण प्रारंभ हुआ। जब मुगल सेना के हरावल तथा बायें बाजू छिन्न-भिन्न हो जाने तथा दाहिने बाजू के कमजोर पड़ जाने के बाद सेनाएं मध्य भाग में पहुँच गई। इस समय दोनों और के राजपूत सैनिक आपस में भिड़ रहे थे। अत: शाही धनुर्धरों को दोनों और के सैनिको को पहचानना मुश्किल हो रहा था।[2] इसका कारण उस समय सैनिकों की कोई निश्चित पोशाक नहीं होती थी जिससे उन्हें पहचाना जा सकें।[3]

प्रताप ने युद्ध में आक्रमकता एवं गतिशीलता के महत्व को ध्यान में रखते हुए हाथी पर सवार न होकर जिस प्रकार सांगा खानवा के युद्ध में हाथी पर सवार थे, घोड़े पर सवार हुए। सामान्यत: सेनापति हाथी पर ही सवार होते थे। मानसिंह भी हाथी पर सवार था।[4] इस युद्ध में प्रताप के पुत्र अमरसिंह ने भी भाग लिया। प्रताप प्रारंभ में धनुष से ही शत्रुओं पर हमला कर रहा था[5] किंतु जब प्रथम दौर में ही शालिवाहन की मृत्यु हो गई तो इसने रामशाह तंवर को उग्र कर दिया और वो दुश्मन पर टूट पड़ा। रामशाह की उग्र नीति ने मुगल सेना को भयंकर हानि पहुंचाई तब शत्रु सेना ने रामशाह को घेर लिया। रामशाह को शत्रु से घिरा देख कर प्रताप धनुष छोडकर युद्ध में सक्रिय रूप से तलवार धारण कर आ गया।[6]

1 Muntakhabha-T-Tawarikh. Vol. II. P. 236, अकबर महान्, पृ. 204

2 Muntakhabha-T-Tawarikh. Vol. II. P. 237

3 इर्विन : भारतीय मुगलों की सैन्य व्यवस्था, पृ. 125

4 Muntakhabha-T-Tawarikh. Vol. II. P. 236

5 राणा रासों, पृ. 436

6 वही, पृ. 426

प्रताप अब मानसिंह की ओर बढा तथा हाथी पर चढकर भाले से हमला किया किंतु इस हमले में मानसिंह बच गया। इसी समय मानसिंह को खतरे में देख के माधोसिंह आ गया। प्रताप और माधोसिंह में जब संघर्ष हो रहा था तभी प्रताप पर लगातार तीरों से हमला हो रहा था।[1]

प्रताप पर लगातार हो रहे हमले में तीर एवं भाले से चोटे लगी थी[2] इस समय युद्ध की परिस्थिति में भी लगातार बदलाव हो रहा था। मुगलों की सुरक्षित सेना जिसका नेतृत्व मिहतर खां कर रहा था वह युद्ध मैदान के पास आ पहुंचा। प्रताप की सेना के भीषण आक्रमण व मुगलों की हार होते देख वह जोर जोर से नक्कारें बजवाने लगा तथा ऐलान कर रहा था कि बादशाह अकबर अपनी शाही सेना के साथ आ चुके है ऐसी झूठी खबर फैला दी। इस समय जब रामदास मेड़तिया जगन्नाथ कच्छवाहा के हाथो मारा जा चुका था।[3] रामशाह एवं उसके पुत्र भी काम आ चुके थे।[4] लडाई होते-होते आधा दिन हो चुका था।[5]

ऐसे समय में ऊर्जावान शाही सेना का सामना करना मुश्किल था। झाला बीदा व सामंतों के परमर्श पर प्रताप अपनी सेना के साथ निकल गया।[6] युद्ध में साहस एवं सैन्य क्षमता के साथ छल, कपट का प्रयोग भी होता रहा है। मध्यकालीन युद्ध में संचार एक बडी बाधा थी और अत: झूठी खबर और अफवाह फैला कर भी हार को जीत में बदलने का प्रयास किया जाता था। मुगल काल में एक अमीर ने अपनी सेना में नक्कारा बजाने के लिए 100 आदमीयों को नियुक्त किया था। जिसका उद्देश्य यह था कि यदि युद्ध में अपने पक्ष की सेना हारने लगे तो वे एक साथ पूरे जोर से नक्कारे को पीटते थे जिससे शत्रु सेना में भय पैदा हो जाए। क्योंकि उस समय युद्ध के बाद विजयी दल अपने विजय की घोषणा के प्रतीक के रूप में नक्कारे बजवाते थे।[7]

---

1 Muntakhabha-T-Tawarikh. Vol. II. P. 239

2 The Tabaqat-I-Akbari, Vol. II. P. No. 459, राणा प्रताप री री बात के अनुसार प्रताप के सात घाव लगे थे, 6 बर्छी से व एक तीर से

3 Akbarnama, Vol. III. P. No. 246

4 Muntakhabha-T-Tawarikh. Vol. II. P. 239

5 Militrary History of India. P. No. 78

6 Akbarnama, Vol. III. P. No. 246

7 इर्विन, भारतीय मुगलों की सैन्य व्यवस्था, पृ. 193

अमरसिंह ने भी युद्ध में वीरता का परिचय दिया। जिस समय प्रताप एवं मानसिंह युद्ध में संलग्न थे उसय अमरसिंह ने मानसिंह पर भाला फेंक कर प्रहार किया किंतु वह बच गया।[1] मानसिंह से लडने वालों में भीमसिंह डोडिया भी था।[2] युद्ध में माधोसिंह[3] एवं जगन्नाथ कच्छवाहा ने युद्ध में बहादुरी दिखाई।

हाथियों की लड़ाई

हल्दीघाटी के युद्ध में हाथियों की लडाई बड़ी महत्वपूर्ण थी। मुगल सेना के हरावल के पीछे हाथियों को खडा किया जाता था।[4] हल्दीघाटी के युद्ध में जो हाथियों का प्रयोग किया गया था वह मुगलों की प्रारंभिक हमले के बाद जो दुर्गति हुई थी उसके नुकसान की भरपाई के लिए किया गया था। मुगल सैन्य व्यूह छिन्न भिन्न हो गया था किंतु मुगल हाथियों की पंक्ति प्रताप की सेना की गति को अवरूद्ध कर रही थी।[5] अत: प्रताप की और से लूणा, रामप्रसाद तथा शाही सेना सेना में गजराज व रणमदार, गजमुक्ता नामक हाथी थे। प्रताप की सेना में खांडेराव एवं चक्रवाप हाथी के नाम और मिलते हैं।[6]

हल्दीघाटी युद्ध में क्षति

हल्दीघाटी का युद्ध दोनों पक्षों के लिए महत्वपूर्ण था। मेवाड के लिए यह एक स्वतंत्रता का प्रश्न था। मानसिंह का पहला सैन्य अभियान होने से इसका प्रभाव उसके जीवन के लिए परिवर्तनकारी हो सकता था। अबुल फजल युद्ध के दोनों पक्षों के लिए महत्व को देखकर कहता है कि यहाँ युद्ध में जान सस्ती एवं इज्जत महंगी हो गई थी। अबुल फजल के अनुसार 150 गाजी धाराशायी हो गये और शत्रु के 500 आदमी मारे गये।[7] निजामुद्दीन अहमद 50 सैनिकों का शाही

1 राजप्रशति महाकाव्य, पृ. 42

2 अमरकाव्यम्, पृ. 251

3 मानप्रकाश, संपा. किशनलाल दुबे, पृ. 32

4 Sarkar, Jagdish Narayan. The Art of War Medieval India. P. No. 212

5 राणा रासो, पृ. 427

6 Maharana pratap and his times, पुरूषोत्तम लाल मेनारिया , *डिंगल गीतों में वर्णित महाराणा प्रताप संबंधी नवीन ऐतिहासिक* तथ्य, पृ. 130

7 AkbarNama Vol. III P.No. 245

घुड़सवार तथा 500 से अधिक राजपूत मारे गए।[1] बंदायूनी के अनुसार 500 काम आए जिसमें से 120 मुस्लिम शेष हिंदू मारे गए थे शाही सेना के 300 से अधिक घायल हुए थे।[2] निजामुद्दीन अहमद ने जो शाही सेना के केवल 50 सैनिकों का मरना लिखा है वह संभव नहीं है कि युद्ध के प्रारंभिक पक्ष पर मेवाड़ी सेना हावी रही थी। गोगुन्दा की ख्यात में 210 राजपुतों के काम आने का उल्लेख मिलता है।[3] यदुनाथ सरकार एवं रघुबीर सिंह का मानना है कि प्रताप की सेना के 46 प्रतिशत के लगभग योद्वा या तो खेत रहे थे या घायल हुए।[4] गोपीनाथ शर्मा प्रताप की सेना के 500 सैनिक वीरगति प्राप्त होना मानते हैं।[5]

हल्दीघाटी के बाद

मानसिंह ने प्रताप की लौटती सेना का पीछा नहीं किया इसका कारण गर्मी, थकान और डर था। पश्चिमी मेवाड़ की तपती पहाड़ियाँ 18 जून को इतनी गर्मी हो गयी थी कि बदांयूनी लिखता है कि "खोपडी में दिमाग तक उबलने लगा था।" और "हवा भट्टी की तरह हो गयी थी तथा सैनिको में हिलने की कोई शक्ति नहीं रह गयी थी।" तथा उन्हें डर भी था कि कहीं प्रताप पहाड़ों की ओट में घात लगाए न बैठा हो। [6] अबुल फजल भी यहीं लिखता है कि गर्मी एवं थकान की वजह से उन्होंने राणा का पीछा नहीं किया। [7] तबकाते अकबरी में लिखा गया है कि मुगलों ने भागते हुए सैनिकों का पीछा किया तथा कई राजपूतों को मार दिया।[8] बंदायूनी के विवरण को देखते हुए निजामुद्दीन का विवरण सही प्रतित नहीं नहीं होता है। स्वाभाविक था कि थकान होने से मुगल भागने वालों का पीछा करने में असमर्थ रहे तथा उन्हें भीलों एवं राणा के सैनिकों के छिपे होने का भय

---

1 Tabaqat-t- Akbari vol. II P. No. 459

2 Muntakhabu - Tawarikh Vol. II P. No 239

3 गोगुंदा की ख्यात पृ. 4-5

4 रघुबीरसिंह, *हल्दीघाटी के युद्ध तथा उसके परिणामों आदि का वास्तविक महत्व और सही स्वरूप,* हल्दीघाटी युद्ध, पृ. 1

5 मेवाड़ मुगल सम्बन्ध, पृ. 69

6 Muntakhabu - tawarikh Vol. II P. No 239

7 Akbarnama vol. III. P. No 247

8 Tabaqat-t- Akbari vol. II P. No. 489

भी होगा। अत: मानसिंह बनास के तट पर अपनी छावनी में लौट आया और दूसरे दिन गोगुंदा की ओर बढा। राणा सुरक्षित रूप से गोगुंदा के पश्चिम में कोलियारी बचकर पहुंच गया। कोलियारी में प्रताप ने भी सुरक्षापूर्वक युद्ध के पश्चात रात काटी। मुगलों ने अपनी सुरक्षा के लिए चारों और खाई खोद दी थी।[1]

युद्ध का परिणाम

फारसी इतिहासकारों ने युद्ध में शाही सेना की जीत बताई है। वहीं राणा रासों,[2] अमरकाव्य,[3] जगदीश मंदिर प्रशस्ति,[4] राजरत्नाकर,[5] आदि ग्रंथो में प्रताप प्रताप को विजय माना। आधुनिक इतिहासकारों में गोपीनाथ शर्मा[6] आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव[7], जदुनाथ सरकार[8] एवं रघुबीरसिंह[9] आदि इतिहासकारों ने मुगल सेना के उद्देश्य एवं लाभ प्राप्ति के आधार पर इसे शाही सेना की असफलता मानी। इतिहासर रघुबीरसिंह ने मनोबल एवं उत्साह के आधार युद्ध के परिणामों का विश्लेषण करते हुए कहा है मेवाड़ प्रदेश और उससे लगे हुए क्षेत्रों में स्थानीय जनसाधारण की मनोभावना की जो समकालीन झलकियों बंदायूनी के इतिहास

---

1 वीर विनोद भाग 2 पृ. 207

2 परताप रान रन सिंधु मथि, सुजस रेनु लिय कढ़िढ कर।।
दिल्लीसु फेरि दिल्ली गयो, बहुत कित्ति अनमित्ति वर।। 460 ।। राणारासो

3 रणभुवि समुपेतं धन्यसेनासमंत,
वशगतयवनेशं भूपतिमनिसिंहम्
पवनबलनिदानं म्लेच्छनाथैकतान,
दलितसमरमानं शौर्यशाणां ततान।। 17.35।। अमरकाव्यम्

4 कृत्वा करे खऽलतां स्ववल्लभां
प्रतापसिंहे समुपागते प्रगे।
सा खंडिता मानवती द्विषच्चमू:
संकोचयन्ती चरणो पराऽ.मुखी।।41।। जगदीश मंदिर प्रशस्ति: शिला 1

5 अरिपटभवनाद् गृहीतवित्त: पुनरवलोकितसम्परायभूमि:।
स समरविजयी ययौ महीश उदयपुराभिमुख: प्रतापसिंह: ।।7.42।। राजरत्नाकर

6 मेवाड मुगल संबंध पृ. 69

7 अकबर महान्, पृ. 207

8 Militrary History of India, P. No. 83

9 रघुबीरसिंह, *हल्दीघाटी के युद्ध तथा उसके परिणामों आदि का वास्तविक महत्व और सही स्वरूप,* हल्दीघाटी युद्ध, पृ. 2

ग्रंथ में मिलती हैं, उनमें मुगल सेना की गोगुंदा मे निवास करने के दौरान जिन कठिनाईयों का सामना करना पडा था। उन विपन्न परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न चित्र देखने को मिलता है।

हल्दीघाटी में प्रताप की युद्ध नीति

हल्दीघाटी के युद्ध में प्रताप की युद्धनीति आक्रमणात्मक एवं रक्षात्मक दोनों पद्धति का मिश्रित रूप था। हल्दीघाटी में प्रताप की नीति में रक्षात्मक तत्व कम आक्रमणात्मक विशेषताएं अधिक थी। युद्ध सदैव एक उद्देश्य से प्रेरित होता है। जो सेना एवं शासक को उत्साहित भी करता है। प्रताप का उद्देश्य स्वतंत्रता एवं मेवाड़ के मुगल अधीन राज्यों को पुन: विजय करना था किंतु हल्दीघाटी युद्ध का उद्देश्य शत्रु सेना का अधिकतम नुकसान करना था। जिससे शत्रु के मन में डर पैदा किया जा सकें। हल्दीघाटी का युद्ध लडने का कारण उसके कई सामंत ऐसे थे जो मुगलों से प्रतिशोध लेना चाहते थे प्रताप उनकी भावनाओं को ध्यान रख रहा था। प्रताप की युद्ध नीति ही परिष्कृत थी। प्रताप सैन्य संचालन एवं उसके संसाधन पर पडने वाले दबावों से परिचित था अत: प्रताप ने अमित्र बल एवं आटवी बल का भरपूर प्रयोग किया था।

हल्दीघाटी में सेना के अंग

सेना के अंग सदैव सामान्य रूप से चार रहे है। इनमें से कुछ समय के साथ प्रासंगिकता खो देने से प्रतिस्थापति कर दिए गए। प्राचीन काल में भारतीय सेना के अंग निम्न चार हुआ करते थे। 1. अश्व 2. गज 3. रथ 4. पैदल सैनिक[1] सैनिक[1] किंतु मध्यकाल में आकर इस व्यवस्था में कुछ बदलाव हुए। रथ समय के साथ अप्रासंगिक हो गए। उनका स्थान तोपों ने ले लिया। तोप बाबर के आगमन के बाद युद्ध पद्धति के सैन्य संगठन का हिस्सा बन गए।[2] आइन-ए-अकबरी में कई प्रकार की तोपों का उल्लेख मिलता है।[3]

---

1 Rajput Military System, P. No. 6

2 Art of War in Medieval India, P. No. 213

3 आईने-ए-अकबरी, पृ. 108

मध्यकाल में सैन्य संगठन के मुख्य चार अंग होते थे- 1. अश्व 2. गज 3 पैदल 4. तोपखाना मुख्य था।[1] मुगलों के पास हाथी के अतिरिक्त सवारी एवं तोप के लिए भी किया जाता था। अकबर ने गुजरात के दुतगामी अभियान ऊँट पर ही किया था।[2] राजपूत युद्ध पद्धति में तोपखाना प्रताप के समय तक अभिन्न अंग नहीं बना था। प्रताप के काल तक सेना के तीन भाग होते थे- 1. घुडसवार 2. हाथी और 3. पैदल।[3] सेना के प्रत्येक भाग का अपना महत्व होता है जो सर्वाधिक युद्ध स्थल की भौगोलिक अवस्था से प्रभावित होता हैं। कामंदक नीतिसार में इस रणनीतिक पहलू पर जोर देकर कहता है कि एक श्वान भूमि पर मगरमच्छ को आसानी से पराजित कर सकता है किंतु वहीं श्वान पानी में मगरमच्छ का आसान शिकार बन जाता हैं।[4]

अश्व सेना

प्राचीन से मध्यकाल तक सेना का सबसे अंग अश्व रहा। अश्व गतिशीलता प्रतिनिधित्व करता था। जिसमें बदलती युद्ध नीति के अुनसार सेना की स्थिति को बदला जा सकता था।[5] मेवाड़ की सेना में भी अश्व प्रारंभ से सेना के महत्वपुर्ण अंग रहे अत: यह शासक के प्रिय भी बने रहे। राजप्रशस्ति में सहज को अश्वों का पोषक बताया हैं।[6] मेवाड़ का पहाडी क्षेत्र जहां की दुर्गम घाटियां थी वहां घोड़े पे बैठ के आसानी से कहीं भी जाया जा सकता था बजाएं पैदल एवं हाथी को हल्दीघाटी युद्ध में भेजी गई मुगल सेना में सभी घुडसवार होने का उल्लेख फारसी इतिहासकार करते हैं।[7] निजामुद्दीन अहमद तो सेना के साथ भेजे जाने वाले घुडसवार तक का उल्लेख करता है। वह बताता है कि शाही सेना के साथ इराकी एवं अरबी घोड़े भेजे गए थे।[8] अबुल फजल आईन ए अकबरी में घोडों के गुण एवं

---

1 Akbarnama, Vol. III, P. No. 275
2 सिसोदा वंशावली, पृ. 53
3 Kamandak Nitisar, P. No. 221
4 कौटिल्यिलीन युद्ध पद्धति, पृ. 127
5 राजप्रशस्ति, पृ. 37
6 Tabaqat-A-Akbari, Vol.II., P.No. 484; Muntakhabhu-T-Tawarikh. Vol.II. P.No. 233
7 Tabaqat-A-Akbari, Vol. II., P. No. 485
8 आईने-ए-अकबरी, पृ. 171

एवं नस्ल के आधार पर सात भागों में विभाजित किया जिसमें पहली श्रेणी के अरबी तथा दूसरी श्रेणी के इराकी घोडों को माना हैं।[1] अकबर ने हल्दीघाटी युद्ध हेतु अपने सर्वोत्तम साधन लगाए थे। घोडे जांच परख कर लिए जाते थे। प्रताप ने चेतक को परीक्षण उपरांत ही लिया था।[2] इसी युद्ध में चेतक ने घोड़े की महत्ता महत्ता और स्वामीभक्ति ऐतिहासिक उदाहरण स्थापित किया। युद्ध के संपूर्ण घटनाक्रम में अश्व का महत्व निर्विवाद है क्योंकि वह भौगोलिक आवश्यकता के अनुरूप का ऐतिहासिक उदाहरण स्थापित किया।

हस्ती सेना गज सेना

हाथी अश्व के समान प्रारंभ में ही भारतीय सेना का अभिन्न अंग रहा। हाथियों का प्रयोग मुख्य रूप से सैन्य व्यूह को तोडने, शत्रु के दुर्ग के दरवाजा तोडने उसके शिविर को नष्ट करने के लिए होता था।[3] अकबर के काल में हाथियों हाथियों का प्रयोग पर्याप्त संख्या में प्रयोग किया जाता था। हाथी पर तोपे एवं धनुर्धर रखे जाते थे। हाथी पर सेनापति भी बैठता है ताकि वह सेना पर नजर रखते हुए निर्देश दे सके। मानसिंह भी हाथी पर था किंतु प्रताप की युद्ध नीति, जिसमें समय आने पर पुन: लौटना भी था उस अवस्था में हाथी की मंद गति के अनुकूल नहीं था। हल्दीघाटी युद्ध में हाथियों का प्रयोग सैन्य व्यूह को तोडने हेतु प्रताप ने लूणा हाथी को आगे बढाया था। प्रताप की सेना के प्रारंभिक हमले में ही मुगल सेना के चूजा-ए-हरावल व अग्रिम पंक्ति ध्वस्त हो गई थी अत: मेवाड़ी सेना को शाही सेना के मध्य भाग तक पहुंचने के लिए उसकी हस्ती सेना के अवरोध को तोड़ना जरूरी था। हस्ती (गज) सेना ने मेवाड़ी सेना के अवरोधक के रूप में शाही सेना के लिए प्रशंसनीय भूमिका निभाई। रामप्रसाद हाथी जिसे अकबर पूर्व भी लेने हेतु प्रयासरत था उसे युद्ध के बाद अकबर के पास भिजवाया गया।[4]

---

1 उदयपुर-चित्तौड़ पाटनामा, पृ. 281

2 कौटिल्य सैन्य संगठन, पृ. 127

3 भारतीय मुगल सैन्य व्यवस्था, पृ. 163

4 Muntakhabhu-T-Tawarikh. Vol. II. P. No. 243

पैदल सेना

सेना का मुख्य भाग पैदल सेना हुआ करती थी। जिसे प्राचीन ग्रंथो में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया है किंतु घुडसवार सेना के आगे इसे निम्न समझा जाता था। मुगल काल में घुड़सवार, पैदल और तोपखाना इन तीनों की तुलना में घुडसवार को ही अधिक महत्व दिया जाता था।[1] पैदल सैनिक के विभिन्न वर्ग होते थे जिन्हें भिन्न भिन्न सेवाएं देनी होती थी। इनमें दरबान, खिदमतिया, शमशेरबाज तथा कहार होते थे।[2] इसी प्रकार राजपुत सेना में भी पैदल सेना को तीन भागों में विभक्त किया गया था। प्रथम बन्दूकची और तलवार चलाने वाले सैनिक होते थे। दूसरे प्रकार के सैनिक "अर्द्ध लडाकू" होते थे जैसे संदेशवाहक, टास व चोबेदार, तुरीबर्दार, करनायची, शहनायची, नगारची आदि। तीसरे प्रकार के वे होते थे जो कि 'गैर लडाकू' होते थे जैसे-सीफा, फरार्श, मशालची, हाथी का चाकर, चबरर्दार, निशानबर्दार, आतिशबाज, बेतदार आदि।[3] पैदल सैनिकों से बहुत से असैनिक कार्य लिये जाते थे।

पैदल सैनिकों का महत्व ऊबड़ खाबड़ भूमि, असमतल धरातल, पर्वत तथा वनों में अधिक था।[4] हल्दीघाटी का क्षेत्र पूर्णत: इसी प्रकार का था। प्रताप द्वारा दर्रे के समीप पर्वतीय भूमि का युद्ध स्थल के रूप में चयन सोच समझकर किया गया था। मुगल सेना की सैन्य क्षमता उसके घुड़सवारों पर निर्भर करती थी। घुड़सवार सेना को युद्ध कुशलता एवं शौर्य प्रदर्शन के लिए मैदानी भाग होना आवश्यक होता था जो हर ओर से खुला हो। यदि युद्धस्थल झाड़ियों से भी ढका होता था तब भी इन घुड़सवार को युद्ध कौशल के प्रदर्शन में असुविधा होती थी। जहां पहाडियां और ऊँचे नीचे भाग होते थे वह क्षेत्र उनकी युद्ध कला के प्रतिकूल और उनकी गति को अवरूद्ध करने वाले होते थे।[5] प्रताप ने युद्ध स्थल के अनुरूप ही पैदल सैनिकों को युद्ध में पर्याप्त स्थान दिया। गोपीनाथ शर्मा प्रताप की सेना

1 इर्विन, भारतीय मुगलों की सैन्य व्यवस्था, पृ. 61

2 आईने-ए-अकबरी, पृ. 185

3 राठौड़ों की सैन्य व्यवस्था, मधुलता सिंह, अप्रकाशित शोध प्रबंध, पृ. 71

4 The Art of War in Ancient India. P. No.17

5 इर्विन, भारतीय मुगलों की सैन्य व्यवस्था, पृ. 215

में तीन हजार घुड़सवार तथा दो हजार पैदल सैनिक बताएं। सिसोदा वंशावली में भी प्रताप की सेना में दो हजार पैदल सैनिक बताएं हैं।[1] प्रताप की युद्ध नीति को आघात उस समय लगा जब मेवाड़ी सेना के भयंकर हमले ने मुगल सेना के पांव उखाड़ दिए तथा उन्होनें भाग कर खमनोर के मैदानी भाग में शरण ली तब युद्ध नीति के दांवपेच में प्रताप का भौगोलिक अवस्था का लाभ कम हो गया। मैदान में पहुंचने के बाद घुड़सवार सेना का महत्व बढ़ गया।

युद्ध में मनोबल ओर संगीत

युद्ध एक दिल दहलाने वाली एक विभत्स क्रिया है जिसमें कई दफा युद्ध करते सैनिकों का मनोबल कमजोर हो जाता है। युद्ध के निर्णय में सैनिको का मनोबल बनाएं रखना महत्वपूर्ण होता है। मनोबल एवं संचार हेतु युद्ध में संगीत का प्रयोग किया जाता रहा हैं।[2] हल्दीघाटी युद्ध में भी प्रताप की सेना में सौ भाले वाले नगारची और तुरही बजाने वाले थे। युद्ध के दौरान सिंधु राग बजाया जाता था।[3] मुगल सेना में भी सेना में जोश जगाने शत्रुओं को हतोत्साहित करने हेतु सेनापति नक्कारे पीटने व करनाइयां बजाने का आदेश देता था।[4]

तोप खाना और बंदूक

तोपखाना आक्रणात्मक एवं रक्षात्मक युद्ध दोनो में ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह शत्रु सेना की सैन्य व्यूह रचना को तहस नहस करने में सक्षम है। इसके महत्व को देखते हुए इसे 'युद्ध के देवता' की संज्ञा दी जाती है।[5] मुगलों के पास हल्की एवं भारी दोनों प्रकार की तोपे थी। अबुल फजल तोपो की प्रशंसा करता। आईन-ए-अकबरी में भारी और हल्की तापों का उल्लेख किया है। हल्की

---

1 सिसोदा वंशावली, पृ. 57

2 The Art of War in Ancient India. P. No. 121

3 राणा रासो, पृ. 387

4 इर्विन, भारतीय मुगलों की सैन्य व्यवस्था, पृ. 230

5 The Art of War in Medieval India. P. No. 126 ; अबुल फजल तोप की महता को बताते हुए कहता है कि तोपखाना राज्य रूपी प्रासाद की रक्षा के लिए आश्चर्यजनक ताला और देश-विजय के दरवाजे की चित्ताकर्षक चाभी है।

तोपों में जो महत्वपूर्ण थी- गजनाल और नरनाल।[1] भारी तापों को ले जाने तो 20-20 जोड़ी बैलों की आवश्यकता पड़ती थी। वजनी तोपों की समस्या थी कि उन्हें संकीर्ण दर्रे से, नावों के पुल से तथा पर्वतीय क्षेत्रों में नहीं ले जाया जा सकता था।[2] अत: हल्दीघाटी युद्ध में तोपों के प्रयोग का सवाल है तो यह निश्चित है कि मुगल सेना में तोपों का प्रयोग अवश्य किया होगा। यहाँ की पहाड़ी भूमि होने की वजह से भारी तोपें नही लाई गई बल्कि गजनाल और नरनाल जैसी तोपे ही प्रयुक्त की होगी। तोपों के प्रयोग का विवरण राणा रासो एवं अमरकाव्य में उल्लेख मिलता हैं। फारसी स्रोत जो समकालीन है उसमें उल्लेख न मिलने का कारण पहला यहाँ बडी संख्या में प्रयोग में नहीं लाई गई होगी दूसरा प्रताप की सेना का जो प्रारंभिक हमला था उसमें तोपें अग्रिम सैन्य दल के पीछे ही थी, जैसा की मुगल सैन्य व्यूह में होता है। अत: प्रारंभिक आक्रमण में मुगल सैन्य व्यूह पूर्णत: अस्त व्यस्त हो गया और आकस्मिक आक्रमण ने संभलने का मौका ही नहीं दिया। दूसरा चरण हल्दीघाटी से रक्त तलाई में हुआ जो वहां से पथरीली भूमि पार करते हुए 2.5 किमी दूर है अत: इसमे गजनाल की युद्ध में कोई प्रभावी भूमिका नही रही।

तोपों के बाद मुगलों के पास बंदूके भी थी। हल्दीघाटी के युद्ध में इसके प्रयोग का उल्लेख भी फारसी स्त्रोतों से मिलता है। हाथी के महावत को निशाना बनाने में इसका प्रयोग किया गया था।[3] हल्दीघाटी के तीव्र युद्ध में तथा जहां दोनों पक्षों के सैनिक आपस में गुत्थम गुत्था थे वहां इन बंदूको का कोई ज्यादा महत्व नहीं था। ये बंदूके दूर से बड़ी वस्तु पे निशानें में ज्यादा उपयोगी जैसे महावत को निशान बनाने में।

भील

प्रताप के संपूर्ण संघर्ष में भीलों का भी विशिष्ट स्थान हैं। हल्दीघाटी युद्ध में दर्रे की नाकाबंदी करते हुए पहाड़ो पर धनुष धारण कर भील खड़े हो गये थे।[4]

---

1 आईने-ए-अकबरी, पृ. 109

2 इर्विन, भारतीय मुगलों की सैन्य व्यवस्था, पृ. 114

3 Akbarnama. Vol. III. P. No. 276

4 राजरत्नाकर, पृ. 270

युद्ध के बाद भीलों के डर से भी मुगल सेना पहाड़ों में प्रवेश करने से डर रही थी।[1] श्यामलदास का मानना है कि युद्ध में भीलों की कोई भूमिका नहीं थी तथा इसका सरदार राणा पूंजा युद्ध से भाग गया था।[2] युद्ध में भीलों की कोई प्रभावी भूमिका का उल्लेख न मिलने का कारण युद्ध का एक महत्वपूर्ण भाग मैदान में लड़ा गया था चूँकि भील मैदानी युद्ध में पारंगत नहीं थे। अत: उनकी भूमिका गौण ही रही। भील प्रताप के साथ विश्वासघात करते तो इसकी सजा अवश्य मिलती किंतु नही हुआ बल्कि इनकी विश्वसनीय भूमिका को देखकर अमरसिंह के समय युद्ध हेतु पूंजा के पुत्र को महत्वपूर्ण दायित्व दिया गया।[3]

हल्दीघाटी युद्ध के बाद का संघर्ष

हल्दीघाटी युद्ध के बाद दूसरे दिन मुगल सेनाएं गोगुंदा पहुँची। गोगुदा में पहुँचने के बाद जून से सितंबर 1576 तक मुगल सेनाएं गोगुंदा रही। इस दौरान मुगल सेनाओं ने प्रताप के विरूद्ध कोई कार्यवाही नहीं की न उसकी शक्ति को नष्ट करने का प्रयास न ही उसका पीछा किया। इससे अकबर नाराज भी था। गोगुंदा में शाही सेना की स्थिति बहुत दयनीय थी वे ऐसे क्षेत्र में थे जहाँ चारों ओर से शत्रु के हमले का खतरा था किंतु उनकी दुदर्शा का बड़ा कारण रसद आपूर्ति एवं संचार का अभाव था।[4] इन परिस्थितियों में शाही सेना का मुख्य ध्येय गोगुंदा में यथास्थिति को बनाए रखना था। शाही सेना का एक भाग अगर प्रताप को खोजने जाता जब तक दूसरी ओर से होने वाले आक्रमण में सेना का आधार केन्द्र गोगुंदा खतरे में आ सकता था। इससे पूरी सेना ही नष्ट हो सकती थी। प्रताप इस समय आवरगढ़ थे तथा दूसरी ओर कुंभलगढ़ था शाही सेना दोनों के मध्य में थी। गोगुंदा में शाही सेना रक्षात्मक अवस्था में आ चुकी थी।

सितंबर 1576 ई. में अकबर के अजमेर में मानसिंह से मिलने के बाद सतत संघर्ष के दूसरे चरण का प्रारंभ हुआ। पहला चरण हल्दीघाटी में संपन्न हो

---

1 Muntakhabhu-T-Tawarikh. Vol. II. P. No. 239

2 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 153

3 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 223 ; पानरवा का सोलंकी राजवंश, पृ. 52

4 Muntakhabhu-T-Tawarikh. Vol. II. P. No. 240

चुका था। दूसरा चरण सर्वाधिक लंबा चलने वाला था जो 1576 ई. में अकबर के अभियान से प्रारंभ हुआ तथा 1584 ई. में जगन्नाथ कच्छवाहा के युद्ध के साथ समाप्त हुआ। आठ वर्ष के दीर्घकालीन संघर्ष में कुल छः बड़े अभियान हुए जिसमें से एक का नेतृत्व स्वयं अकबर ने तथा शेष का उसके साम्राज्य के सबसे अच्छे वीर साहसी एवं कुशल सेनानायकों ने किया। चार अभियान जिनमें एक का नेतृत्व स्वयं अकबर शेष तीन का शाहबाज खॉ ने किया इन सैन्य अभियान में मुगल साम्राज्य सभी बेहतरीन संसाधनों का प्रयोग भी किया गया। सबसे महत्वपूर्ण की इन अभियान के साथ ही अकबर की सेनाएं बंगाल, गुजरात, पंजाब, कश्मीर एवं उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत के विद्रोह दमन में भी लगी हुई थी केवल प्रताप के अभियान को छोड़कर उसे सभी अभियान में कुछ न कुछ महत्वपूर्ण सफलता मिल रही थी। बंगाल जिसे कलह का घर कहा गया था। वह भी 1585 ई. में तीसरी बार विजय कर लिया गया। जबकि मेवाड़ में केवल कुछ महिनों को छोड़कर सितंबर 1576 ई. से लगभग 1585 ई. मुगलों के निरंतर आक्रमण होते रहें फिर भी कोई विशेष लाभ अर्जित नहीं कर सके। मेवाड़ जिसका एक बड़ा एवं विस्तृत प्रदेश पहले ही मुगलों को अधीन था उसके छोटे से पर्वतीय प्रदेश को तथा प्रताप को मुगल साम्राज्य के बेहतरीन सेनानायक अधीन करने या पकड़ने में असफल रहे।

प्रताप को घेरने की नीति

प्रताप के विरूद्ध मुगलों की नीति प्रारंभ से ही घेराबंदी की थी। शिष्टमण्डल के दौर में बांसवाड़ा, डूंगरपुर एवं ईडर पर आक्रमण किए गए। हल्दीघाटी युद्ध से पूर्व चन्द्रसेन की शक्ति को तोड़ने हेतु सिवाना विजय किया गया। हल्दीघाटी के बाद अकबर के गोगुंदा की ओर प्रस्थान करने से पूर्व जालौर और सिरोही को अधीन बनाने हेतु (ताज खां एवं देवड़ा सुरताण) रायसिंह, तरसून खॉ, सैय्यद हाशिम बरहा के अधीन सेना भेजी गई। सेना को विशेष निर्देश थे कि जहाँ तक संभव हो शांति से बिना बल प्रयोग किए समर्पण करवाने का प्रयास किया जाएं। यहाँ शांतिपूर्ण तरीके से आपसी समझ से विद्रोह दमन के पीछे मूल भाव प्रताप को सहायता देने से रोकना था। बल प्रयोग पूर्व में भी किया जा चुका था जिसका

शाही खेमें को कोई लाभ नहीं हुआ। जालौर एवं सिरोही पर अधिकार करने के पश्चात् पट्टन एवं नाडौल को कब्जे में लेने हेतु तरसून खाँ को पट्न एवं सैय्यद हाशिम बरहा को एवं रायसिंह को नाडौल भेजा गया। इस प्रकार सिरोही, जालौर के बाद गुजरात के मार्ग को भी अवरूद्ध कर दिया गया।[1] अबुल फजल कहता है कि अब न कोई प्रताप की सीमा में जा सकता था न ही आ सकता यथार्थ में यह नीति जितनी सरल प्रतीत हो रही उतनी थी नहीं। सिरोही, जालौर अभियान से पूर्व बूंदी का राव दूदा विद्रोह प्रारंभ कर चुका था अत: एक सेना सफदर खां, मुहम्मद हुसैन शेख के नेतृत्व में अगस्त-सितंबर 1576 ई. को भेजी किंतु वह सफल नहीं हुई। बूंदी विद्रोह का गढ़ बना हुआ था और इसी दौरान अकबर मेवाड़ अभियान पर था। जालोर एवं सिरोही तथा गुजरात का मार्ग शाही प्रभाव में था किंतु बांसवाड़ा, डूंगरपुर, प्रतापगढ़, मंदसोर (मालवा), बूंदी एवं ईडर का विस्तृत क्षेत्र अकबर के प्रभाव क्षेत्र से बाहर था।

अकबर का मेवाड़ अभियान

11 अक्टूबर 1576 ई. को अकबर प्रताप विरूद्ध अभियान हेतु रवाना हुआ। अकबर के इस अभियान का उद्देश्य प्रताप को बंदी बनाना था। अकबर ने गोगुंदा में आते ही प्रताप पर दबाव बनाने व उसे ढूढ़ने हेतु कुतुबुद्दीन खाँ, भगवानदास और मानसिंह को भेजा तथा एक सेना ईडर पर आक्रमण हेतु भेजी गयी जिसमें कुलीन खाँ, ख्वाजा गयासुद्दीन, अली आसफ खाँ, मीरगयासुद्दीन, अली नकीब खां, तैमूर बदख्शी, मीर अब्दूल आदि प्रसिद्ध सेनानायक थे।

अकबर के लिए भी संघर्ष आसान नहीं था। अकबर के मेवाड़ में रहते ईडर पर किए गए दो गंभीर आक्रमणों का उसे प्रबल उत्तर मिला। अबुल फजल लिखता है कि, ''नारायणदास पहाड़ों में चला गया किंतु घर एवं मंदिरों का मोर्चा बनाकर लड़ रहे सैनिकों शाही सेना को कड़ी टक्कर दी। एक बार तो मुगल सेना को धकेल दिया गया तथा दो प्रमुख मुगल सेनानायक उमर खॉ एवं हसन खॉ मारे गए। य़द्यपि इस समय शाही सेना ईडर पर अधिकार करने में सफल रहीं

1 Akbarnama. Vol. III, P. No. 270

किंतु यह विजय क्षणिक ही रही इसे फिर चुनौती देने हेतु प्रताप सेना लेकर आ गया।[1]

कुलिच खाँ सेना लेकर हज यात्रियों को सुरक्षित गुजरात पहुँचाने चला गया था। नारायणदास व आशारावल इस अवसर का लाभ उठाकर 23 फरवरी 1577 ई. को ईडर पर चढ़ाई कर दी। मुगल सेना के हरावल को नष्ट कर दिया एक बार तो मुगल सेना के पांव उखड़ गए।" अबुल फजल लिखता है शाही सेवक हारते-हारते जीत गए। इस खबर को सुन अकबर ने ईश्वर को धन्यवाद दिया। मुगल सेना को क्षति उठानी पड़ी मिर्जा मुकिम और कुतुब युद्ध में मारे गए नूर कुलीज भी घायल हुआ।[2] अकबर ने सात महिने के गोगुंदा अभियान के बाद बिना कोई उपलब्धि के लौटने का निश्चय किया।

स्वयं बादशाह के सैन्य अभियान का सेनापति बन कर आने से मुगल सेना को मनोवैज्ञानिक लाभ तथा नैतिक बल मिल रहा था वहीं प्रताप एवं उसके गठबंधन पर मनोवैज्ञानिक दबाव भी रहा किंतु इसके बावजूद प्रताप ईडर एवं आवरगढ़ के घने पहाड़ों एवं जंगल में स्वयं को बचाने में सफल रहा। अकबर ने लौटते समय गोगुंदा, देबारी, मोही एवं मदारिया में सैनिक थाने स्थापित किए जिससे प्रताप की कार्यवाही पर नियंत्रण रखा जा सकें। उदयपुर से जाते हुए डूंगरपुर के रावल आसकरण एवं बांसवाड़ा के रावल प्रताप ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली।[3] सामरिक महत्त्व के स्थल एवं दर्रों पर बड़े सेनानायकों के अधीन एक बड़ी सेना नियुक्त थी। गोगुन्दा में भगवन्तदास, मानसिंह, बैरम खाँ के पुत्र मिर्जा खाँ तथा कासिम खाँ को नियुक्त किया। उदयपुर के मुहाने पर फखरूद्दीन और जगन्नाथ कच्छवाहा को, मोही में गाजी खाँ बदख्शी[4], शरीफ मुहम्मद खाँ, मुजाहिद खाँ और तुर्क सुभान अली को 3000 घुड़सवारों की बड़ी सेना देकर नियुक्त किया। मदारिया तो अर्ब्दुरहमान (जलालुद्दीन बेग का पुत्र) और अर्ब्दुरहमान (मुय्यावाद बेग का पुत्र) को 500 सैनिकों के साथ नियुक्त किया।[5]

---

1 Akbarnama. Vol. III, P. No. 272

2 Ibid. P. No. 282

3 Akbarnama. Vol. III, P. No. 274

4 बदायूंनी लिखता है गाजी खां बदख्शी को एक हजार का मनसब इसी समय दिया गया था।

5 Muntakhabu-T-Tawarikh. Vol. II, P. No. 249 ; Akbarnama, Vol. III, P. No. 274

बूंदी के विद्रोह को दबाने हेतु दूदा फिर सक्रिय हो चुका था, अत: उसके दबाने हेतु जैना खां कोकलताश को भेजा गया। दूदा पहाड़ों में चला गया था अत: अंतर्दान (ऊंट की गर्दन) पहाड़ी पर हुए युद्ध में बड़ी मुश्किल से पराजित किया गया।[1]

अजमेर सूबे के क्षेत्र में शांति एवं व्यवस्था बनाए रखने हेतु अकबर ने 1577 ई. में दस्तम खां को भेजा तथा रणथंभोर की जागीर दी गई।[2] दस्तम खां प्रताप को रोकने में कोई प्रभावी भूमिका नहीं निभा पाया। प्रताप ने मौका पाकर पहाड़ों में मुगल सेना पर आक्रमण करना प्रारंभ कर दिया इसी दौरान मोही थाने पर प्रताप के प्रबल हमले ने अकबर को हिला दिया। [3]

अशीर्वादी लाल श्रीवास्तव लिखते हैं कि जब अकबर स्वयं आकर भी राणा को अधीन न कर सका तो उसने इसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना दिया।[4] अबुल फजल अकबर के गुस्से एवं उसकी कार्यवाही हेतु प्रताप को दोषी बताते हुए बहुत ही अलंकृत भाषा में लिखता है कि,

> ***'जब समाज में हठिले एवं घमंडी व्यक्तियों की वजह शांति बाधित होती है तो उन्हें डांट-फटकार कर व चेतावनी देकर सही मार्ग पर लाना चाहिए किंतु सलाह एवं डाँट डपट से भी वह न माने तो राजनीतिक एकता में कोई दरार न पड़े और विश्व का खुशनुमा संसारगृह अनेका की हलचल से कलंकित न हो इसलिए आवश्यक है कि उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर दे।'***[5]

शाहबाज खाँ का अभियान

अत: अकबर ने अक्टूबर 1577 को अपने सर्वश्रेष्ठ सेनापतियों से सुसज्जित विशाल सेना को भेजा। इस सेनानायकों में राजा भगवंतदास, कुंवर मानसिंह, पायंदा खां मुगल, सैय्यद कासिम, सैय्यद राजू, उतूना असद तुर्कमान तथा कजरा चौहान आदि को नियुक्त किया। इस बार सेना की कमान मीर बख्शी

---

1 Akbarnama, Vol. III, P. No. 286

2 Ibid. P. No. 295

3 Ibid. P. No. 304

4 अकबर महान्, पृ. 213

5 Akbarnama. Vol. III, P. No. 307

आसफ खाँ को दी गई।[1] शाहबाज तत् समय का मुगल सेना का सबसे काबिल सेनापति में से था। इससे पूर्व सिवाना है किले को उसी के नेतृत्व में विजित किया गया तथा बंगाल बिहार में भी अभियान कर चुका था।[2]

शाहबाज खां सेना सहित जब मेवाड़ पहुँचा और यहाँ की भौगोलिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का निरीक्षण कर पहाड़ी युद्ध के अनुरूप अनुभवी एवं तथा प्रशिक्षित सैनिकों को भेजने हेतु अकबर को लिखा। अकबर ने शेख इब्राहिम फतेहपुरी[3] को शाहबाज खाँ की सहायता हेतु भेजा। इसी समय वजीर खां को ईडर का सूबेदार नियुक्त किया।[4] हल्दीघाटी युद्ध के बाद से प्रताप ने झाड़ोल के आवरगढ़ क्षेत्र को अपना आधार बना रखा था अत: मुगल सेनाएं गोगुंदा एवं झाड़ोल एवं ईडर की ओर अभियान कर रही थी। शाहबाज खाँ के आक्रमण के समय प्रताप कुंभलगढ़ में था। शाहबाज खां बड़ी तेजी से कुंभलगढ़ की ओर बढ़ा और पांच महिने में ही वह पथरीली भूमि तथा घाटियों को पार करता हुआ कुंभलगढ़ आ पहुँचा। शाहबाज खाँ इस तेजी से आ पहुँचेगा ऐसी किसी को उम्मीद नहीं थी। केलवाड़ा को जीतकर कुंभलगढ़ का घेरा डाला तथा दुर्ग पर आक्रमण प्रारंभ किए। मुगल सेना का भाग्य बलवान था कि इसी समय किले के भीतर की एक बड़ी तोप फट गई जिससे समस्त युद्ध सामग्री राख हो गई। बाहर से रसद आपूर्ति बंद होने से युद्ध अंतिम उपाय रह गया था। इसी बीच प्रताप संन्यासी का वेष बनाकर निकल गया।[5] प्रताप रणकपुर फिर वहाँ से ईडर होते हुए चुलिया पहुँचा भामाशाह दुर्ग की प्रजा को लेकर के मालवा के रामपुरा की ओर निकल गया जहाँ राव दुर्गा व उसके साथियों ने सहायता दी। कुंभलगढ़ की रक्षा का भार प्रताप के मामा भाण सोनगरा के पास था। भाण व उसके साथियों ने मुगलों से

---

1 Muntakhabu-T-Tawarikh. Vol. II, P. No. 275

2 Tabaqat-I-Akbari. Vol. II, P. No. 507

3 शेह इब्राहिम फतेहपुरी ये शेख सलीम चिश्ती की बहन का पुत्र था। 1585 ई. में यह दरबार लौट गया तथा इसे फतेहपुर सीकरी का शासक नियुक्त किया गया।

4 Akbarnama. Vol. III, P. No. 307

5 Muntakhabu-T-Tawarikh. Vol. II, P. No. 275 ; Akbarnama. Vol. III. P. No. 339; वीर विनोद, पृ. 157

संघर्ष किया किंतु उनसे पार न पा सकें।[1] 6 अप्रेल 1578 ई. को कुंभलगढ़ पर शाहबाज खां का अधिकार हो गया।

शाहबाज खाँ छापामार युद्ध में समय एवं गति के महत्व को अच्छे से समझता था अत: कुंभलगढ़ के अजेय दुर्ग को विजित करने के बाद गाजी खां बदख्शी को किलेदार नियुक्त किया और दूसरे दिन ही प्रताप का पीछा करने निकल गया।[2] दूसरे दिन, दिन तक गोगुंदा व मध्य रात्रि में उदयपुर पर कब्जा कर लिया। मआसिल-उमरा के लेखक के अनुसार शाहबाज खां ने 50 थाने पहाड़ी क्षेत्र में और 35 थाने उदयपुर से पुरमांडल तक स्थापित किए।[3] इसी संघर्ष के दौरान दूदा शाहबाज खां के हाथों लग गया उसे पंजाब में अकबर के समक्ष पेश किया गया किंतु फिर एक बार दूदा मौका पाकर भाग गया।[4]

15 दिसंबर 1578 ई. को शाहबाज खाँ के साथ गाजी खाँ, मुहम्मद हुसैन, शेख तैमूर बदख्शी व मीर जादा अली खां को मेवाड़ अभियान पर दूसरी बार भेजा। अकबर शाहबाज खां के पहले अभियान से खुश था।[5] शाहबाज खाँ दूसरे अभियान में कोई विशेष उपलब्धि अर्जित नहीं कर पाया था। करीब सात माह मेवाड़ में रहकर 1579 ई. के मध्य में दरबार चला गया। शाहबाज खां 9 नवम्बर 1579 ई. को तीसरी बार मेवाड़ आया। शाहबाज की उग्र आक्रमणात्मक नीति, बड़ी संख्या में थानों की स्थापना ने प्रताप को दबाव की स्थिति में ला दिया था किंतु प्रताप व उसकी सेना तथा सामंतों का मनोबल नहीं तोड़ सकें। अबुल फजल शाहबाज खां के कार्यो के संदर्भ में लिखता है कि, *"शाहबाज खाँ की साम्राज्य के प्रति ऊर्जा एवं उत्साह से की गई उत्तम सेवा ने राणा के लिए बुरे दिन ला दिए और वह रेगिस्तानी घुमक्कड़ बन गया। प्रत्येक सुबह उसे अपने जीवन का अंतिम दिन लगता तथा डर से भागते-भागते उसके पैरों में छाले हो गए थे।"* शाहबाज खाँ पूर्ण उत्साह से प्रताप के पीछे पड़ गया था। उसने तेजमल सिसोदिया के

---

1 वीर विनोद, पृ. 157

2 Akbarnama. Vol. III. P. No. 340

3 हुकुम सिंह भाटी, महाराणा प्रताप ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 48

4 Akbarnama. Vol. III. P. No. 355

5 Ibid. P. No. 380-81

निवास पर भी आक्रमण किया तथा उसे लूटा बाद में वहॉ सैनिक थाना स्थापित कर दिया।[1] प्रताप ने बढ़ते सैनिक दबाव को देखते हुए गोडवाड में सूंधा के पहाड़ों की ओर रूख कर दिया। ये क्षेत्र देवल परिहारों के अधीन था। प्रताप को इस नाजुक समय में लोयण ठिकाने के ठाकुर रायधवल की सहायता मिली।[2] प्रताप ने संबंधों का प्रगाढ़ बनाने हेतु रायधवल की पुत्री के विवाह प्रस्ताव को स्वीकार किया तथा शाहबाज खां के 1580 ई. में जाने के बाद ढोलाण गाँव (सायरा) में रहा।[3]

अब्दुर रहीम खानखाना

अब्दुर रहीम खानखाना सिरोही के समीप एक शिकार यात्रा पर था उसके साथ उसकी स्त्रियां भी थी। शिकार के दौरान खानखाना अपनी सेना से बिछुड़ गया और इसी दौरान कुछ राजपूत सैनिक आ जाने से वह युद्ध में फंस गया किंतु भाग्य से वह बच गया। इसी समय अमरसिंह ने खानखाना की स्त्रियों को बंदी बना लिया था किंतु बाद में प्रताप के कहने पर उन्हें छोड़ दिया।[4]

दिवेर युद्ध प्रताप पर शाही दबाव कम होने से पुन: शक्ति संचय का अवसर मिल गया। 1580 ई. के बाद मेवाड़ पर कोई बड़ा अभियान नहीं हुआ था तथा इसी दौरान मुगल साम्राज्य बंगाल के बाद गुजरात में मुजफ्फर खां ने एक बड़ा विद्रोह खड़ा कर दिया था। यह व्रिदोह सिंतबर 1583 में प्रारंभ हुआ जो करीब एक वर्ष तक चला। इसने न केवल शाही सेनाओं को गंभीर चुनौती दी बल्कि सेना में भी राजद्रोह फैला दिया। गुजरात विद्रोह के साथ सिरोही में भी राज्य के अधिकार को लेकर संघर्ष प्रारंभ हो गया। इतिमाद खाँ व जालौर (गुजरात का प्रशासक) को आदेश दिए गए कि वे जगमाल को सैन्य सहायता दे। शाही सेना के बल पर जगमाल ने राज्य को प्राप्त कर लिया किंतु सेना के जाते ही देवड़ा सुरताण ने विद्रोह कर दिया। सुरताण देवड़ा व जगमाल के मध्य 17 अक्टुबर

---

1 Akbarnama. Vol. III. P. No. 459-60

2 महाराणा प्रताप ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 51 ; महाराणा प्रताप महान्, पृ. 94

3 अमरकाव्यम्, पृ. 259

4 अमरकाव्य, पृ. 257 ; राजप्रशस्ति, पृ. 44 ; अकबर महान्, पृ. 218

1583 ई. को हुए दत्ताणी के युद्ध में जगमाल व रायसिंह चन्द्रसेनोत राठौड़ काम आएं। गुजरात के उपद्रव एवं सिरोही की अशांति का लाभ लेकर प्रताप ने मेवाड़ से मुगल शासन को समाप्त करने की ओर बड़ा कदम उठाया और दिवेर पर चढ़ाई कर दी।

दिवेर का युद्ध सामरिक एवं रणनीतिक रूप से बड़ा महत्वपूर्ण था। दिवेर मेवाड़-मारवाड़ को जोड़ने वाले मार्ग पर स्थित प्रमुख दर्रा थी। तथा मुगलों की संचार रेखा जो मदारिया से मोही को जोड़ती उसका संपर्क केन्द्र था। दिवेर जीतने का मतलब था मुगलों की मारवाड़ से सहायता अवरूद्ध करना तथा राजसमंद एवं गिर्वा की पहाड़ियों के समीप के मैदानी मुगल थानों को नष्ट करना अब आसान हो गया था। रणनीतिक महत्व यह था कि हल्दीघाटी के बाद प्रताप द्वारा मुगल सेना से फिर आमने-सामने का एक बड़ा युद्ध लड़ा जा रहा था। दिवेर थाने अधिकारी को प्रताप के आगमन की सूचना होते ही आस-पास के चौदह थाने की सेना दिवेर आ चुकी थी। प्रताप जो ढोलाण गांव में था वहां से गोगुंदा, कुंभलगढ़ एवं गोडवाड पर नजर रखी जा सकती थी। प्रताप ने वहां से दिवेर की ओर प्रस्थान किया। चूंकि सादड़ी, घाणेराव के क्षेत्र प्रताप के अधीन था अत: प्रताप ने दिवेर की नाल के संकीर्ण मार्ग से अचानक ही हमला किया गया। इस युद्ध में अमरसिंह ने अपनी वीरता का परिचय दिया। मुगल थानेदार सुल्तान खॉ को अमरसिंह ने ही मारा। दिवेर विजय के बाद एक सेना अमर सिंह के नेतृत्व में मैदानी मुगल थानों को नष्ट करने बढ़ी तथा दूसरी सेना प्रताप के नेतृत्व में कुंभलगढ़ की ओर बढ़ी। मुगलों की पराजय देखकर कुंभलगढ़ का थानेदार दुर्ग छोड़ भाग गया। प्रताप का कुंभलगढ़ दुर्ग पर अधिकार हो गया। टॉड ने दिवेर के युद्ध को मेवाड़ का मैराथन कहा है।[1]

जगन्नाथ कच्छवाह का अभियान

अकबर की सेनाए गुजरात अभियान में सफल होकर दिसंबर 1584 ई. को जब सेनाएं फतेहपुर सीकरी पहुँची तब अकबर का ध्यान एक बार फिर मेवाड़ की ओर गया। 6 दिसंबर 1584 ई को मेवाड़ अभियान हेतु जगन्नाथ कच्छवाहा को

1 Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. I., P. No. 278

भेजा गया तथा मीरबख्शी जफर बेग को बनाया गया। जगन्नाथ कच्छवाहा का मेवाड़ में आने के बाद पहला कार्य मुगल थाने जो दिवेर युद्ध के दौरान नष्ट हो गए थे उसे पुन: स्थापित करना था । मांडलगढ़, मोही एवं मदारिया में शाही थाने नियत किये गए। सुरक्षा के पुख्ता इंतजाम कर सैय्यद राजू को मांडलगढ में नियुक्त कर प्रताप के निवास स्थान चावंड की ओर निकल पड़ा। मुगल गुप्तचर व्यवस्था कमजोर होने से जगन्नाथ कच्छवाहा प्रताप की सही स्थिति की जानकारी प्राप्त न कर सका। जब शाही सेना चावंड की ओर बढ़ रही थी वहीं प्रताप दूसरे मार्ग से निकलकर मुगल थानों पर आक्रमण किया। प्रताप के आक्रमण की जानकारी मिलते ही सैय्यद राजू प्रताप से लड़ने निकल पड़ा किंतु इस समय प्रताप चित्तौड़ की ओर चला गया।[1]

इस अभियान में शाही सेना की कोई जीत नहीं हुई। जगन्नाथ कच्छवाहा चावंड पर हमला कर सैय्यद राजु के पास लौट गया। जगन्नाथ कच्छवाहा को प्रताप के निवास एवं मार्ग की जानकारी हो चुकी थी। अत: वह बस सही समय और सही सूचना का इंतजार कर रहा था। जो उसे प्राप्त हो गई सितंबर 1585 ई. को प्रताप के निवास पर होने की सूचना मिलते ही जगन्नाथ कच्छवाहा, जफरबेग एवं सैय्यद राजू सभी को लेकर चावंड तेजी से पहुंचा किंतु तब तक प्रताप अपने परिवार सहित पहाड़ों में चला गया। जगन्नाथ कच्छवाहा ने अपनी असफलता का गुस्सा प्रताप के संसाधनों को तोड़ने व चावंड को लुटने में निकाला। जगन्नाथ डूंगरपुर पहुंच गया क्योंकि उसे रावल आसकरण पर संदेह था कि वह प्रताप की सहायता कर रहा है।[2]

जगन्नाथ कच्छवाह का अभियान अंतिम अभियान था। इसके बाद अकबर के काल में कोई महत्वपूर्ण अभियान नहीं हुआ। सभी सेनानायक अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हुए मेवाड़ उन सेनानायकों की उपलब्धियां ग्रहण लगाने वाला ही सिद्ध हुआ। अकबर का 1580 ई. के बाद मुख्य ध्यान बंगाल, गुजरात तथा उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत की ओर था। यहाँ से फिर दक्षिण भारत की ओर सीमा

1 Akbarnama Vol. III. P. No. 66

2 Ibid. P. No. 706

विस्तार में जुट गया। मेवाड़ के अभियान में लाभ की आशा कम तथा व्यय अधिक था अत: यह उसकी प्राथमिकता में नहीं रहा फिर भी वह 16 वीं सदी के अंतिम दशक में सैन्य नियुक्तियां करता है। 1584 ई. को फिरोज खाँ को अजमेर भेजता है।[1] प्रताप की मृत्यु के बाद फिर सैन्य अभियान हेतु शाहबाज खाँ को नियुक्त किया।[2]

महाराणा प्रताप की युद्ध नीति एवं दर्शन

युद्ध सामान्यत: दो प्रकार से लड़े जाते हैं एक रक्षात्मक व दूसरा आक्रमणात्मक हल्दीघाटी का युद्ध आक्रमणात्मक एवं रक्षात्मक दोनों युद्ध पद्धति का मिश्रण था। दुर्ग की सुरक्षा में रहकर लड़े जाने वाले रक्षात्मक युद्ध की अपेक्षा इसमे उग्रता अर्थात् आक्रमणात्मकता अधिक थी। यहाँ दोनों पक्षों के मध्य संघर्ष का कारण था- मुगल मेवाड़ को अधीन करना चाहते थे वहीं मेवाड़ स्वतंत्रता हेतु लड़ रहा था। यहाँ यह ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि मेवाड़-मुगल संघर्ष का कारण साम्राज्यवादी भावना व स्वतंत्रता का संघर्ष था किंतु हल्दीघाटी की लड़ाई का उद्देश्य शत्रु सेना को नष्ट करना था। युद्ध या लड़ाई सदैव एक उद्देश्य से प्रेरित होते हैं। यही उद्देश्य सेना एवं शासक का मागदर्शन भी करता है तथा उन्हें उत्साहित भी करता है। लड़ाई का उद्देश्य ही सैन्य रणनीति के निर्धारण का अहम् बिन्दु माना जाता है।[3] हल्दीघाटी की लड़ाई में प्रताप की सेना का उद्देश्य शत्रु सेना का विनाश करना था। शाही सेना का उद्देश्य प्रताप को मुगल संप्रभुता के अधीन लाना था।[4] यह स्पष्ट था कि केवल हल्दीघाटी की लड़ाई को जीतने मात्र से प्रताप नहीं अपनी स्वतंत्रता को सदैव के लिए सुरक्षित कर लेगा और न ही भविष्य में मुगल अधीन मेवाड़ी प्रदेश भी प्राप्त हो जाएगा। जैसा कि बंगाल एवं गुजरात के परवर्ती इतिहास से यह प्रमाणित होता है कि अकबर ने इन क्षेत्रों पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने हेतु दीर्घकालीन संघर्ष किया किंतु उन्हें साम्राज्य से विलग

1 Akbarnama, Vol. III, P. No. 1006

2 Ibid. P. No. 1020

3 The Art of War. P. No. 44

4 Akbarnama Vol. III, P. No. 1007

नहीं होने दिया। मेवाड़ का इतिहास स्वयं साक्षी है कि हल्दीघाटी के बाद भी दस वर्षों तक मेवाड़ को संघर्ष करना पड़ा। शत्रु सेना को नष्ट करने की नीति का उद्देश्य ही यहीं है कि जहाँ तक संभव हो उसे वहाँ तक शत्रु सेना को हानि पहुँचाना होता है।[1] प्रताप का भी मुख्य उद्देश्य शत्रु सेना का अधिकतम नुकसान करना था। लडाई का उद्देश्य ही आगे की रणनीति को निर्धारित करता है।[2]

हल्दीघाटी युद्ध की रणनीति

लड़ाई की रणनीति निर्धारित करते समय ही यह निश्चित किया गया था कि किसी भी अवस्था में समर्पण न किया जाएं[3], दूसरा प्रताप को युद्ध भूमि से जीवित लाना[4], तीसरा आगे के संघर्ष हेतु नवयुवको की एक पीढ़ी को सुरक्षित रखना।[5] अत: उपर्युक्त रणनीति को ध्यान में रखते हुए भी युद्ध स्थल का चयन किया गया। लड़ाई के दौरान अगर शत्रु पक्ष हावी हो जाएं तो युद्ध क्षेत्र से आसानी निकल जाएं तथा बहुत कम सैनिकों के द्वारा भी इन दर्रो में संपूर्ण मुगल सेना को रोका जा सकता था। इन पर्वतों में मुगल शक्ति का मुख्य बल तोप लाना करीब-करीब असंभव था। अत: प्रताप के उद्देश्य एवं रणनीति जिसमें कम से कम जन हानि हो इसके अनुरूप युद्ध स्थल उपयुक्त था। लड़ाई के पूर्व निश्चित उद्देश्य तथा युद्ध परिषद के निर्णय अनुरूप युद्ध स्थल का चयन किया गया।

शत्रु पक्ष को अधिकतम हानि पहुँचाने हेतु प्रारंभिक हमला पूरी उग्रता से किया गया। हकीम खां सूर तथा रामशाह तंवर जिन्हें पूर्व में मुगलों से युद्ध का अनुभव था महत्वपूर्ण जिम्मेदारी दी गई। हरावल का नेतृत्व हकीम खाँ सूर के पास था जबकि हरावल में रहने के लिए अमरसिंह के समय चूण्डावत एवं शक्तावतों में एक भयंकर संघर्ष हुआ।[6] चूण्डावत हरावल में रहना अपना अधिकार

---

1 On War, P. No. 10

2 The Art of War, P. No. 44

3 राणा रासो, पृ. 401

4 वही, पृ. 406

5 बीज उगारो राखिये, करया हूं के गेहूँ।
बाकी अंक के व्योपरे, यहि धरण धरि देह।। 334।। राणा रासो, पृ. 375

6 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 217

अधिकार समझते थे। ऐसे में हकीम खां सूर को नेतृत्व देना स्वयं में महत्वपूर्ण है। दांय पार्श्व का नेतृत्व रामशाह तंवर के पास था। लड़ाई पूर्ण नियोजित रणनीति के अनुरूप की गई। प्रारंभिक हमला इतना भयंकर था कि मुगल सेना के पाँव ही उखड़ गए तथा उसे करीब 3 कि.मी. दूर रक्त तलाई में भागती सेना रूकी। रक्त तलाई में लड़ाई का दूसरा चरण प्रारंभ हुआ। युद्ध के दूसरे चरण में मेवाड़ी सेना को मैदानी युद्ध लड़ना पड़ा जिसमें मुगल कुशल थे। जैसे की युद्ध कभी शतरंज के खेल की तरह नहीं है जिसे खेलने वाला शत्रु को केवल अपनी चतुराई से चली गई चालों द्वारा मात देता है। युद्ध में शत्रु से लड़ना और उसे नष्ट करना होता है। चतुरतापूर्वक चली गई चालों से अच्छी स्थिति में रहकर लड़ने का लाभ प्राप्त हो सकता है। लेकिन इसके बावजूद शत्रु को विनिष्ट नहीं करते तो शत्रु आपको विनिष्ट कर देता है, अत: चतुरतापूर्वक चली गई सब चाले व्यर्थ हो जाती है।[1] मैदानी मुठभेड़ में परिस्थितियां कुछ बदल गई थी। भील को शास्त्र धारण कर पीछे खड़े थे पहाड़ी युद्ध में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण थी किंतु मैदानी युद्ध में वे अप्रासंगिक हो गये।

दोनों सेनाओं को पूरी वीरता के साथ युद्ध लड़ा क्योंकि यह उनकी प्रतिष्ठा से जुड़ गया था। अबुल फजल भी लिखता है कि "युद्ध में जान सस्ती एवं इज्जत महंगी हो गई।"[2] राणा रासो में भी उल्लेख मिलता है "समरभूमि में युद्धोन्मत्त वीरों के मन में व्याप्त प्रतिष्ठा और मर्यादा की भावना थी, अत: उनके लिए अब उनकी अर्धांगिनी से मिलना दुर्लभ था।"[3] निजामुद्दीन अहमद[4] एवं अबुल फजल[5] ने युद्ध की प्रबलता एवं हुई जनहानि उल्लेख किया है। प्रताप व उसकी सेना द्वारा शाही सेना के आगमन की सूचना पर पहाड़ों में पलायन करने के कारण

1 आर्थर बिर्नी, युद्ध कर्म (अनु. श्रीराम गोयल), पृ. 13

2 Akbarnama Vol. III. P. No. 245

3 राणा रासो, पृ. 400

4 खूनी से सनी भूमि , एक अशांत समुद्री सी दिख रही थी , जिसमें घुड़सवार सैनिक नावों के समान दिखाई दे रहे थे, उनमें मेरे हुए सैनिक लंगर के समान प्रतीत हो रहे थे, सभी ओर से मृत्यु की भयंकर गर्जना हो रही थी, पैदल सैनिक तो उस रक्त के समुद्र में तैर रहे थे।

5 सेना की जब सेना से मुठभेड़ हुई , पृथ्वी पर स्वर्ग जाने का दिन जल्दी आ गया। खून के समुद्रों ने एक दूसरे को टक्कर दी , उनसे उठी उबलती लहरों ने पृथ्वी को रंग-बिरंगा कर दिया।

उनकी थकी सेना किसी बड़े आक्रमण का सामना करने हेतु तैयार नहीं थी। दूसरा प्रताप की पूर्व नीति जो न्यूनतम हानि पर आधारित थी। हल्दीघाटी का लड़ाई के बाद प्रताप ने कुंभलगढ़ न जाकर के आवरगढ़ की ओर प्रस्थान ने यह स्पष्ट कर दिया की वह छापामार युद्ध पद्धति का अनुसरण कर संघर्ष जारी रखेगा न कि दुर्ग में कैद होकर शाका करेगा।

प्रताप की छापामार युद्ध नीति

हल्दीघाटी का युद्ध प्रताप की युद्ध नीति का एक परिवर्तनकारी बिंदु माना जाता है। इस दौरान उसकी नीति का मुख्य उद्देश्य किसी भी प्रकार से पर्वतीय भूमि वाले क्षेत्र को शत्रु के कब्जे में जाने से रोकना तथा संघर्ष का दीर्घकाल तक चलाए रखने के लिए मानवीय, आर्थिक एवं खनीज संसाधनों को बचाना था। इसके विपरीत शत्रु पक्ष के संसाधनों को नष्ट करना था। इसके लिए अब शत्रु पक्ष पर अचानक धावा करके उसे हानि पहुँचा कर भागने की नीति अपनाई जिसे छापामार[1] या गुरिल्ला युद्ध कहते हैं। छापामार युद्ध एक ऐसा अमोघ अस्त्र है जिसने विश्व के बड़े-से-बड़े साम्राज्य को झुकने पर मजबूर कर दिया। विश्व के शक्तिशाली साम्राज्यों में गिना जाने वाले मुगल राज्य को भी छापामार युद्ध लड़ने वाले महाराणा प्रताप, राजसिंह, शिवाजी एवं मलिक अंबर के समक्ष झुकना पड़ा। छापामार युद्ध सबल के विरूद्ध निर्बल का एक प्रबल हथियार है। जिसकी खासीयत यह है कि परंपरागत युद्ध शैली में इसका कोई मजबूत तोड़ नहीं है। इसका कारण दोनों की युद्ध शैलियां पूर्णत: भिन्न है। नियमित परंपरागत सेना शत्रु-सेना के विरूद्ध खुली आक्रमक कार्यवाही करती है, जबकि गुरिल्ले शत्रु पर छिप कर आक्रमण करते हैं। छापामार युद्ध पद्धति का मुख्य उद्देश्य शत्रु पर मनोवैज्ञानिक दबाव डालना, उनके मुख्यालय व यातायात एवं संचार के साधनों पर आक्रमण करना तथा असावधानी की स्थिति में स्वयं शत्रु पर आक्रमण करना होता है।[2]

मेवाड़ के सैन्य इतिहास में छापमार युद्ध के प्रणेता के रूप में पहली बार सफलतापूर्वक प्रयोग करने वाला हमीर था। हमीर ने केलवाड़ा, उनवास तथा गिर्वा

1 War Strategy of Maharana Pratap. P. No. 129

2 परशुराम गुप्त, गुरिल्ला युद्ध कर्म, पृ. 1

की इन पहाड़ियों में ही शक्ति संचय कर चित्तौड़ पर अधिकार किया।[1] हमीर के बाद उदयसिंह ने चित्तौड़ से इतर गिर्वा की पहाड़ियों में उदयपुर बसाकर राजधानी बनाई एवं चित्तौड़ पलायन के बाद गोगुंदा की पहाड़ियों में जाना छापामार युद्ध पद्धति अपनाने की ओर कदम था। प्रताप ने मुगल विरूद्ध छापामार युद्ध पद्धति का सफलता पूर्वक प्रयोग किया जिसका अनुसरण अमरसिंह एवं राजसिंह ने किया। प्रताप की छापामार युद्ध पद्धति की प्रमुख विशेषता निम्न है -

मेवाड की भौगोलिक स्थिति

छापामार युद्ध हेतु कुछ आधाभूत तत्व होते हैं जो उसकी सफलता एवं असफलता में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। इनमें राज्य की भौगोलिक स्थिति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भूमि का विस्तार, जंगल, पर्वत, नदी व दलदली भूमि आदि प्राकृतिक रक्षात्मक रेखा का कार्य करती है जो शत्रु को आगे बढ़ने से रोकती है, उनकी गति को अवरूद्ध करती है तथा उन्हें अनेक भागों में विभाजित करके उनमें असुरक्षा की भावना पैदा करती है।[2]

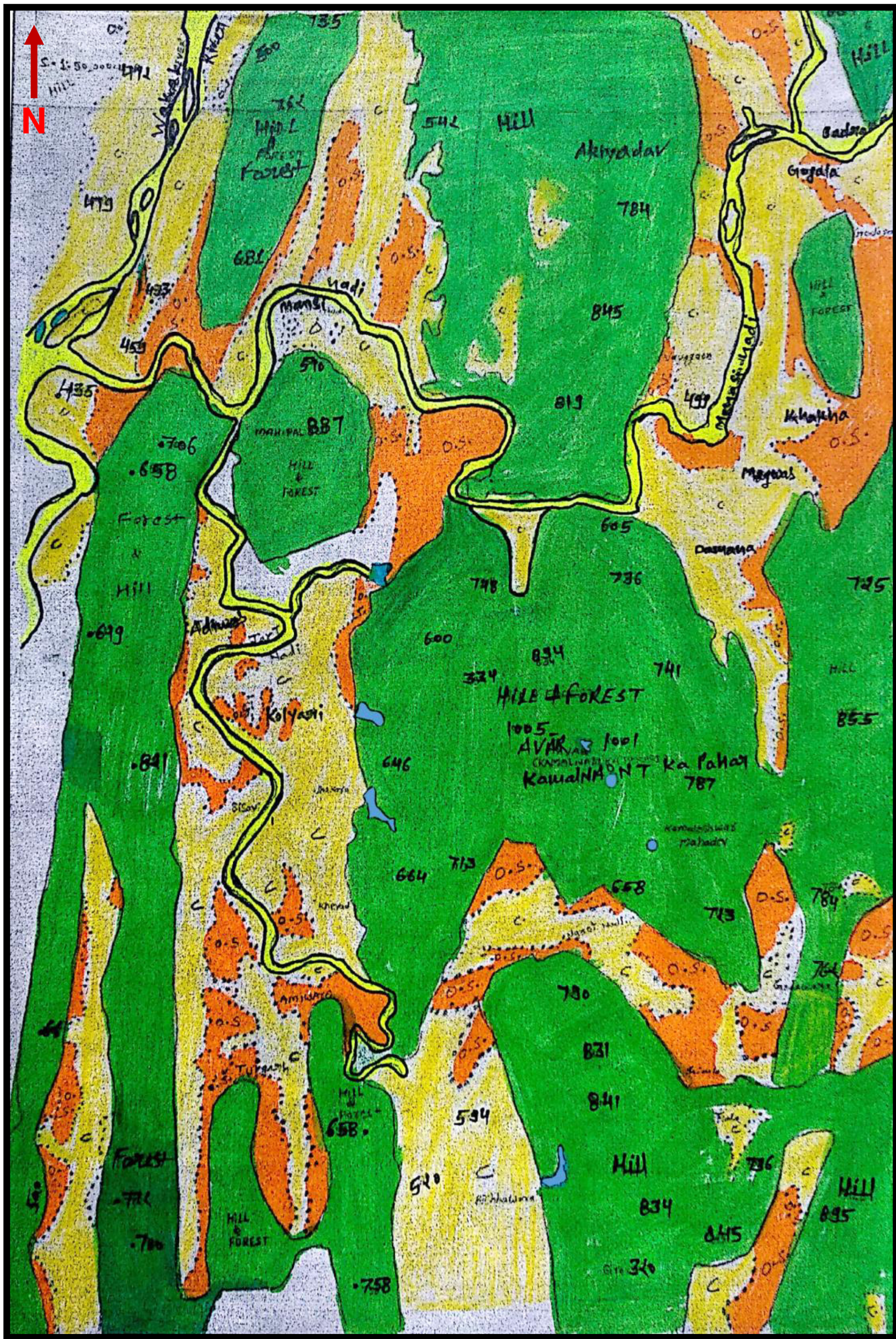
मेवाड़ जिसमें वर्तमान उदयपुर, राजसमंद भीलवाड़ा एवं चित्तौड़ का क्षेत्र आता था। 1568 ई. में चित्तौड़ पर अकबर के अधिकार के बाद मेवाड़ का संपूर्ण मैदानी भाग मुगल साम्राज्य का हिस्सा बन गया था। उदयपुर एवं राजसमंद का पर्वतीय प्रदेश ही महाराणा के कब्जे में था। संपूर्ण क्षेत्र पर्वतों, पहाड़ों एवं घाटियों से घिरा हुआ है। राजस्थान में अरावली पर्वत श्रृंखला का विस्तार है। जो उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम दिशा में फैली हुई है। इसकी सर्वाधिक चौड़ाई एवं ऊंची-ऊंची चोटियां दक्षिण राजस्थान में है। सिरोही के बाद अरावली की महत्वपूर्ण ऊची चोटियां उदयपुर एवं राजसमंद में ही है। तारागढ़ की ऊंचाई समुद्र तल से 2855 फिट है, टॉड गढ़ की 3075 फिट, कुंभलगढ़ की 3567 फिट व जरगा 4315 फिट ऊँचे है।

---

1 वीर विनोद, भाग-1, पृ. 294-295 ; उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 215

2 परशुराम गुप्त, गुरिल्ला युद्ध कर्म, पृ. 9 ; On War, P. No. 20

MAP NO. 3.2 : AWARGARH TOPOGRAPHY MAP



Lake | Cultivated | Open Scrub | Green & Hilly | River | Hilly Area

उदयपुर से सिरोही तक का क्षेत्र विस्तृत ऊँची-ऊँची पहाड़ियों एवं दुर्गम घाटियों का क्षेत्र होने से यहाँ पर कई नाल अर्थात् दर्रे भी विकसित हुए है, जो परिवहन हेतु मार्ग उपलब्ध करवाते हैं जिनमें देसूरी की नाल, सोमेश्वर की नाल, पगल्या नाल, हाथी गुड़ा की नाल प्रमुख है। ये दर्रे मेवाड़-मारवाड़ को जोड़ने के प्रमुख मार्ग है।[1] गोगुंदा से कुंभलगढ़ तक भोराठ के पठार का विस्तार है जो समुद्रतल से 1225 मी. ऊंचा है। माउंट आबू या सिरोही व डूंगरपुर के मध्य भोमट का पठार विस्तृत है जहाँ मुख्य रूप से भीलों का आवास है।[2] प्रताप के पास जो क्षेत्र था वह भोमट एवं भोराठ के पठार वाला क्षेत्र था जहां प्रताप को युद्ध हेतु सभी प्रकार के संसाधन उपलब्ध थे इस क्षेत्र की दुर्गमता का वर्णन स्वयं टॉड ने भी किया है। वह कहता है उदयपुर से सिरोही जाने पर ओगणा, पानरवा व मेरपुर आते हैं जहाँ केवल पहाड़ ही पहाड़ है और जो ऊँचे होते जाते हैं।[3] नैणसी ख्यात में उदयपुर की पहाड़ियों एवं नालों तथा यहाँ बसे गावों की विस्तृत जानकारी देता है देबारी का घाटा, केवड़े की नाल, जावर की नाल, खमनोर का घाटा, तथा सायरे का घाटा आदि। नैणसी छप्पन प्रदेश के घने जंगल के बारे में बताता है कि वहाँ सूर्य की किरणे भी नहीं पहुँच पाती थी।[4]

अत: मेवाड़ की दुर्गम घाटियां, बड़े-बडे पहाड़ घने जंगल एवं दर्रे छापामार युद्ध पद्धती के अनुकूल थे। यहाँ कुछ थोड़े से सैनिकों के दम पर एक विशाल सेना को रोका जा सकता था।

जन सहयोग

छापामार युद्ध की सफलता पूर्ण रूप से जन-सहयोग पर निर्भर करती है। राज्य की भौगोलिक अवस्था के बाद छापामार युद्ध की सफलता और असफलता का निर्धारण करने वाला महत्वपूर्ण कारक है तो वह जन-समर्थन ही है। छापामार युद्ध जाति और वर्ग तक ही सीमित कर दिया जाता है तो वह अपनी ही अविश्वनीयता से असफल हो जाता है।[5]

---

1 Rajputana Gazeetteers, P. No. 91

2 Human Geography of Mewar. P. No. 9

3 Annals and Antiquities of Rajasthan. P. No. 8

4 नैणसी री ख्यात, पृ. भाग-1, पृ. 40

5 गुरिल्ला युद्धकर्म, पृ. 9

हिंदू समाज में प्रचलित जाति व्यवस्था में सभी जातियों के कर्म को निर्धारित किया गया है। जिसमें यह कर्म, समाज एवं राज्य की रक्षा का दायित्व क्षत्रिय वर्ण को सौंपा गया जो कालांतर में राजपुत जाति के रूप में स्थापित हुआ। सैन्य कर्म एक ही जाती तक सीमित होने से इसका प्रतिकूल प्रभाव भारतीय राजाओं की सैन्य क्षमता पर पडा। बहुधा भारतीय सेनाओं के हार का एक कारण उसका जातीय चरित्र भी माना जाता है। समाज खण्डित होने से मिलकर शत्रु का सामना न कर सका।[1] सामान्यत: जब शासक की सेना का उल्लेख किया जाता तब भी राजपूत कुल की शाखाओं के रूप में सैन्य शक्ति को प्रदर्शित किया जाता था। जैसे पृथ्वीराज रासो में कन्नौज आक्रमण के दौरान पृथ्वीराज की सेना में चौहान, राठौड़, गुहिल, पुंडिर तथा बडगुजर उसकी सेना में होना बताया है।[2] किंतु प्रताप के काल में स्थिति कुछ भिन्न थी।

स्टीफन पीटर रोजन का मानना है कि सेनाएं सदैव उसके समाज को प्रतिबिंबित करती।[3] हल्दीघाटी के युद्ध में शामिल सैनिकों पर दृष्टि डालते हैं तो वहीं प्रताप को प्राप्त जनसमर्थन दिखाई देता है। प्रताप की सेना राजपूत, ब्राह्मण, वैश्य, कायस्थ चारण एवं भील सभी उपस्थित थे। प्रताप छापामार युद्ध से पूर्व ही सभी को एकजुट करने लगा था। प्रताप चित्तौड़ के महल को छोड़ गोगुंदा, कुंभलगढ़ एवं झाड़ोल के पर्वतीय क्षेत्र में आमजन के संपर्क में था अब महाराणा एवं आमजन के बीच महलों की दीवार न होने से अंतक्रिया बढ़ी जिसने भी जनता को प्रताप से भावनात्मक रूप से जोड़ा। छापामार युद्ध में प्रताप के सेनाएं विक्रेन्द्रित थी जो विभिन्न गांवों एवं पर्वत व घाटियों में तैनात थी जिनके भोजन की व्यवस्था इन्हीं गांवों में ग्रामीणों से पूर्ति हो रही थी।[4] हल्दीघाटी युद्ध से पूर्व भी गोगुंदा में सभी लोगों के लिए दो समय का खाना बनने उल्लेख मिलता है

---

1 Warfare in Pre-British India. 1500 BCE To 1740 CE. Kaushik Roy. P. No. 20

2 पृथ्वीराज रासो, पृ. 74

3 Warfare in Pre-British India. 1500 BCE To 1740 CE. Kaushik Roy. P. No. 20

4 लोसिंग गांव में प्रताप के काल में एक लांगुरी सेना ही जनश्रुति मिलती है जिसके तहत् गांव वाले मेवाड़ी खाने के रूप में बाटी बनाकर तालाब के किनारे गर्म राख में दबा देते थे। जब भी सैनिक वहां से जाते थे तब वे वहां से बाटी निकालकर अपने साथ ले लेते तथा तालाब से पानी की भी पूर्ति हो जाती। वैसे सामान्यता: जब भी कभी सेना शासक के साथ पड़ाव डालती थी तो गांव वालों को। उनकी खाने की पूर्ति हेतु खिचड़ी लाग देना होता था।

जिसने प्रताप की आमजन में छवि को और मजबूत किया।[1] प्रताप को जनता का सहयोग एवं समर्थन काफी मजबूत था इसका उदाहरण वीर विनोद में मिलता है कि प्रताप को एक बार मुगल सेना के पीछा करने के कारण एक दिन में सात बार स्थान बदलने पड़े। यह प्रताप के विस्तृत पहाड़ी क्षेत्र में जन सहयोग को इंगित करता है।[2] प्रताप जानते थे कि जन सहयोग तभी मिल सकता है जब राजनीतिक लक्ष्य उनके बीच से ही स्फुरित हो बल्कि उन पर थोपा न जाएं। अत: इस समय ऐसे साहित्य की भी रचना की गई जिसका उद्देश्य किसी आश्रयदाता को प्रसन्न करना नहीं, केवल लोकप्रिय चरित्रों को लोकप्रिय काव्य-शैली में चित्रित करके उनके आदर्शो को लोक जीवन में स्थापित करना था।[3] जिससे कि जनमानस भी गोरा बादल की भांति उस संघर्ष में भाग लेने हेतु उद्वेलित हो सकें।

मुगल काल में संघर्ष केवल मेवाड़ में ही नहीं चल रहा था अपितु अन्य कई राज्य भी विद्रोह के गढ़ बने हुए थे किंतु वे समय के साथ दबा दिए गए। विद्रोह की असफलता का कारण जन समर्थन का अभाव था अत: पर्वत एवं पहाड़ों का आधार होते हुए भी जन सामान्य का मुगल की सहायता करने से वे आसानी से दबा दिए गए। चन्द्रसेन द्वारा जोधपुर के साहूकार को लूटने की नीति ने भी उसके जनसमर्थन पर प्रतिकूल प्रभाव ही डाला।[4] असीरगढ़ की विजय[5] भी इसका उदाहरण है।

तत्कालीन राजनीतिक स्थिति एवं प्रताप का गठबंधन

अकबर ने कुशल नेतृत्व, धैर्य, लगन एवं असीम स्फूर्ति से तथा सुयोग्य एवं समर्पित व्यक्तियों की एक मंडली की सहायता से लगभग पन्द्रह साल की अल्प अवधि में ही मुगल साम्राज्य ऊपरी गंगा घाटी से लेकर मालवा, गोंडवाना, राजस्थान, गुजरात, बिहार और बंगाल तक फैल गया।[6] बंगाल-बिहार विजय के

---

1 अमरकाव्यम्, पृ. 249

2 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 163

3 कवि हेमरतन कृत गोरा बादल, पद्मिणी चउपई, संपा. उदयसिंह भटनागर, पृ. 20

4 राठौड़ा री ख्यात, पृ. 110

5 Akbarnama Vol. III, P. No. 1150

6 सतीश चंद्र, मध्यकालीन भारत (1526-1761), पृ. 98

बाद उसका ध्यान 1576 ई में मेवाड़ पर केन्द्रित था। 1576 ई. से 1585 ई. तक मेवाड़ उसकी प्राथमिकता में रहा एक के बाद एक निरंतर आक्रमण होते रहे। प्रताप के संघर्ष का सबसे कठिन समय 1576 ई. से 1581 ई. का रहा। ये पांच वर्ष वह समय था जब अकबर ने अपने साम्राज्य के सबसे अच्छे सेनानायकों से सुसज्जित सेना बेहतरीन संसाधनों के साथ मेवाड़ अभियान पर भेजी। पहले मानसिंह फिर स्वयं अकबर तथा शाहबाज खां के तीन अभियान ने प्रताप को घने पहाड़ों तथा ईडर एवं आबू की शरण लेने पर विवश कर दिया।[1] प्रताप ने प्रतिकूल दौर में भी संघर्ष जारी रखा। भारत की राष्ट्रीय राजनीति के पटल पर हो रहे बदलाव ने मेवाड़ को भी प्रभावित किया। बंगाल और बिहार में विद्रोह हो जाने और मिर्जा हकीम के पंजाब पर चढ़ आने के फलस्वरूप 1579 ई. के बाद मेवाड़ पर मुगलों के दबाव में शिथिलता आई। 1585 ई. में अकबर लाहौर चला गया और अगले बारह वर्षो तक वहीं रहकर उत्तर-पश्चिम की स्थिति पर नजर रखता रहा। इस अवधि में प्रताप के विरूद्ध कोई सेना नहीं भेजी।[2]

प्रताप के पास मेवाड़ की पर्वतीय भूमि एवं जन समर्थन होने के बावजूद उसे पता था कि मुगल साम्राज्य के पास इतने संसाधन पर्याप्त है कि वे 300 मील की इस पर्वतीय भूमि की भी नाकाबंदी कर सकते हैं। इस समय दक्षिण राजस्थान मुगलों के विरूद्ध विद्रोह का गढ़ बना हुआ था। मेवाड़ के अतिरिक्त, सिरोही, जालौर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, ईडर एवं बूंदी अर्थात् कुल सात राज्य तथा जो मुगल प्रभुत्व को चुनौती दे रहे थे। इन्हें एक-एक कर दबाना आसान था किंतु एक साथ हो रहे व्रिदोह को दबाना मुश्किल था। यहाँ अकबर की नीति में बदलाव दिखाई देता है। अबकर की प्रारंभिक युद्ध नीति इस तथ्य पर आधारित थी कि भारत में छोटे-छोटे राज्यों के संघ बने हुए है, इन संघ का एक प्रभावी राज्य है जब इस केन्द्रिय प्रभावी राज्य की शक्ति को ही तोड़ दिया जाएं तो संघ स्वत: ही आत्मसमर्पण कर देगा। अकबर की इसी नीति का परिणाम था 1567-68 ई. का चित्तौड़ आक्रमण। जब यह नीति सफल नहीं हुई तब मेवाड़ के लिए एक नई

1 प्रताप-रघुवीर सिंह, पृ. 30-33

2 मध्यकालीन भारत (1526-1761), पृ. 119

अपनाई गई। जब मेवाड़ को केंद्र से न तोड़ा जा सका तो बाहरी आवरण को ध्वस्त कर केन्द्र की ओर बढ़ने का प्रयास किया गया अर्थात् मेवाड़ के सभी समीपवर्ती राज्यों को जीत कर मेवाड़ को अलग-थलग कर देना। हल्दीघाटी युद्ध से पूर्व चन्द्रसेन पर चढ़ाई तथा सिवाणा की विजय इसका प्रारंभिक रूप था। दूसरा चरण अकबर के मेवाड़ अभियान के समय आया जब अकबर मेवाड की ओर बढ़ रहा था तब रायसिंह को भेज कर सिरोही, जालौर एवं गुजरात की ओर के मार्ग को बंद करने का कार्य किया गया। इसी समय बूंदी में विद्रोह कर रहे दूदा को दबाया जा रहा था।

कुछ इतिहासकारों ने डूंगरपुर की विजय को गुजरात अभियान से जोड़ा तो बांसवाड़ा की विजय को मालवा अभियान से[1]। डूंगरपुर एवं बांसवाड़ा दोनो का संबंध गुजरात एवं मालवा से अधिक मेवाड़ से था। मानसिंह गुजरात से प्रताप को मिलने आ रहा था तब भी उसका डूंगरपुर से संघर्ष हुआ परन्तु उसने अधीनता नहीं स्वीकारी तथा मानसिंह का मुख्य ध्येय प्रताप को मुगल संप्रभुता के अधीन लाने का प्रयास था। बांसवाड़ा विजय अकबर के मेवाड़ अभियान के बाद मालवा जाते समय की गई।

प्रताप उपर्युक्त घटनाक्रम पर नजर रखे हुए था। विद्रोही पड़ोसी राज्यों की अधीनता मेवाड़ की स्वतंत्रता हेतु खतरा थी। प्रताप का प्रयास था कि यह विद्रोह जीवित रहें चूंकि इस क्षेत्र का शक्तिशाली राज्य मेवाड़ था अत: वह ही इसे जीवित रख सकता था। प्रताप ने इस गठबंधन को बनाए रखने हेतु तीन साधनों का प्रयोग किया-युद्ध, हस्तक्षेप एवं विवाह।

डूंगरपुर एवं बांसवाड़ा राज्य मेवाड़ के भाई माने जाते थे अत: यहाँ वैवाहिक संबंध नहीं होते थे। प्रताप ने डूंगरपुर एवं बांसवाड़ा में अकबर के मेवाड़ अभियान के समय जब अधीनता स्वीकार कर ली तब प्रताप के भाण के नेतृत्व में सेना भेजी जिनका सोम नदी के किनारे युद्ध हुआ तथा सहसमल के उत्तराधिकार के प्रश्न पर भी हस्तक्षेप कर वागड़ के राज्यों को अपने प्रभाव में

---

1 अहसन रजा खान , *"सरदारों के साथ अकबर के आरम्भिक टकराव वर्चस्व की प्रक्रिया में संयोग बनाम योजना"*, सं. इरफान हबीब, अकबर और तत्कालीन भारत, पृ. 19

रखने का प्रयास किया। वागड़ के राज्य पर अपने प्रभाव को बनाए रखने में प्रताप सफल रहा तब भी इन राज्यों के पूर्ण रूप से कभी मुगल प्रभुसत्ता स्वीकार नहीं की। दूसरा जगन्नाथ कच्छवाहा चावंड होते हुए डूंगरपुर रावल आसकरण के पास पहुँच गया क्योंकि उसे रावल पर संदेह था कि वह प्रताप की सहायता कर रहा है। जब बांसवाड़ा में रावल मानसिंह की मृत्यु 1583 ई. के बाद मानसिंह चौहान शासक बन गया तब प्रताप ने रामसिंह खंगारोत तथा प्रतापसिंह खंगारोत को मानसिह के विरूद्ध भेजा।[1] ईडर के शासक नारायण दास से मेवाड़ के वैवाहिक संबंध थे, नारायणदास प्रताप का ससुर था। देवड़ा सुरताण जो अकबर के विरूद्ध दृढ़ता से विद्रोही के रूप में खड़ा था जगमाल की हत्या का दोषी होते हुए भी, उससे वैवाहिक संबंध स्थापित किए। प्रताप ने अमरसिंह की पुत्री केसरकंवर (सुखकंवर) का विवाह महाराव सुरताण से किया।[2] चन्द्रसेन एवं आसकरण भी वैवाहिक संबंधों से बंधे हुए थे। चन्द्रसेन की बहन पार्वती देवी का विवाह रावल आसकरण से हुआ था अत: सिवाणा छुटने के बाद चन्द्रसेन ने डूंगरपुर शरण ली थी।[3]

उपर्युक्त वे प्रत्यक्ष संबंध थे जो दिख रहे थे किंतु कुछ वैवाहिक संबंध अन्य नीति से राजनीति को प्रभावित कर रहे थे। जोधपुर एवं बीकानेर भी मेवाड के साथ राजनीतिक संबंधों से बंधा हुए थे ये अकबर के निर्णय को प्रभावी रूप से तो नहीं किंतु गौण रूप से अवश्य प्रभावित कर रहे थे। जोधपुर के मोटा राजा उदयसिंह की पुत्री राजकंवर का विवाह प्रताप के भाई शक्तिसिंह के पुत्र भाण से हुआ था।[4] इसके अतिरिक्त प्रताप के मामा भाण, जो कुंभलगढ़ में वीरगति को प्राप्त हुए थे, की पुत्री का विवाह मोटा राजा उदयसिंह से हुआ था।[5]

बीकानेर से भी मेवाड़ के वैवाहिक संबंध थे। सोनगरा अखैराज की पुत्री भक्ता दे का विवाह बीकानेर के कल्याणमल से हुआ था जिससे रायसिंह का जन्म

1 बांसवाड़ा राज्य का इतिहास, पृ. 84

2 सिरोही राज्य का इतिहास, पृ. 243

3 राठौड़ा री ख्यात, पृ. 110

4 नैणसी री ख्यात, भाग-1, पृ. 187

5 वही, पृ. 170

हुआ।[1] इसी अखैराज की एक अन्य पुत्री जयवंता बाई का विवाह महाराणा उदयसिंह से हुआ। उदयसिंह की पुत्री जसवंत देवी का विवाह बीकानेर के रायसिंह से हुआ जिससे सूरसिंह का जन्म हुआ।[2] मेवाड़ अभियान तक मोटा राजा उदयसिंह को जोधपुर नहीं मिलता है तथा रायसिंह को जोधपुर का प्रशासक बनाया जाता है। संपूर्ण मेवाड़ अभियान में अकबर के काल में जोधपुर एवं बीकानेर को कोई महत्वपूर्ण जिम्मेदारी नहीं दी जाती है। संपूर्ण राजपूत वर्ग में सबसे प्रमुख स्थान कच्छवाहा राजपूतों का ही था। अकबर के समय जहां कच्छवाहा सरदार मनसबदार थे वहीं जोधपुर एवं बीकानेर को मिलाकर केवल 7 राठौड़ सरदारों को ही मनसब प्राप्त थी।[3] जहां मध्यकाल में वैवाहिक संबंध विश्वास का आधार थे तो वहीं संदेह का कारण भी बनते थे अत: बीकानेर एवं जोधपुर को मेवाड़ अभियान में शामिल न करने का कहीं न कहीं विवाह संबंध भी एक कारण रहा होगा। इस गठबंधन से जालौर एवं बूंदी भी जुड़े हुए थे। जालौर शासक को अच्छी तरह से अवगत थे कि जब तक मेवाड़ में विद्रोह जारी है तब तक वे भी विद्रोही बने रह सकते हैं। जालौर के ताज खाँ व बाद में गजनी खाँ दोनों ही विद्रोही बने रहें।

सामंतों का सहयोग

मध्यकालीन शासकों के शासन की धुरी एवं उसकी शक्ति का आधार सामंत हुआ करते थे। सामंतों की संख्या शासक की शक्ति का घोतक था। राजा शासक और सामंत दोनों का अस्तित्व एक-दूसरे पर निर्भर हुआ करता था।[4] ये सामंत राजा को सैन्य एवं प्रशासनिक सहायता उपलब्ध करवाते थे।[5] सामंत व्यवस्था का नकारात्मक पक्ष भी है जहाँ बाहरी आक्रमण के समय यह राजा की ढाल की तरह रक्षा करता है वहीं शासक अयोग्य या कम कुशल है तो सामंती

---

1 नैणसी री ख्यात, भाग-2, पृ. 199

2 वही पृ. 199 ; नैणसी जो नाम जसवंतदे बताता है वही बड़वा देवीदान की ख्यात में सावनकंवर बाई आता है।

3 ओंकार नाथ उपाध्याय, अकबर तथा जहांगीर के अंतर्गत हिंदू अमीर वर्ग, पृ. 56

4 पृथ्वीराज रासो, पृ. 312

5 Annal and Antiquities of Rajasthan Vol.1 P. No. 117

व्यवस्था के दुर्गुण हावी हो जाते हैं। सामंती व्यवस्था राजा की योग्यता पर निर्भर करती है वहीं इस व्यवस्था का प्रधान केन्द्र हैं जो सभी सामंतों को एकताबद्ध कर उसे संचालित करता है। अन्यथा सामंतों की आपसी प्रतिस्पर्धा एवं ईर्ष्या की भावना राज्य को बर्बाद कर देती है।[1] राजस्थान के इतिहास में मेवाड़ के सामंतों की भूमिका बड़ी सकारात्मक रही। इसका कारण था कि मेवाड़ में भिन्न-भिन्न वंश के लोगों को जागीर प्रदान की गई जैसे-राठौड़, चौहान, परमार, सोलंकी, झाला और भाटी वंश के सरदार को मेवाड़ के सामंत वर्ग में शामिल किया गया इससे महाराणा की किसी एक वंश पर निर्भरता की आवश्यकता नहीं थी दूसरा शक्तिशाली वंशों में एकता स्थापित करने में स्वत: रोक लग गई।[2]

प्रताप के शक्ति के मूल स्तंभ सामंत थे जिन्होंने प्रताप को संघर्ष हेतु पर्याप्त संबल दिया जिससे की प्रताप को कभी पांव पीछे नहीं खिंचने पड़े। यहाँ मुख्य रूप से तीन प्रकार के सामंतों को देखा जा सकता है जिन्होंने प्रताप को संघर्ष में सहायता प्रदान की - पहले वे सामंत जो सिसोदिया कुल से संबंधित थे, दूसरे प्रवासी सामंत जिन्हें मेवाड़ में जागीर मिली, तीसरे वे जिन्होने संघर्ष काल में मेवाड़ में शरण ली। प्रताप एवं बाद में अमरसिंह के संघर्ष में उपर्युक्त तीनों श्रेणियों को सामंतों का अमूल्य योगदान रहा। किसी भी शासक की हार-जीत में सामंतों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। बहुधा सामंतों का विश्वासघात एवं धोखा प्रबल से प्रबल शासक को झुकने के लिए मजबूर कर देता है। हठी हमीर को भी रणमल्ल एवं रतिपाल के विश्वासघात का सामना करना पड़ा।[3] महाराणा सांगा की हार का एक कारण सलहदी तंवर का विश्वासघात भी था।[4] इसके विपरीत प्रताप[5] एवं अमरसिंह[6] के काल में सामंतों का एक बड़ा वर्ग मुगल संघर्ष को निरंतर रखने रखने के पक्ष में था भले ही इसके लिए कोई भी कीमत अदा करनी पड़ी।

---

1 Annal and Antiquities of Rajasthan Vol.1 P. No. 123

2 टॉड कृत सामंतवाद, पृ. 79

3 हम्मीर महाकाव्य, पृ. 35

4 हरविलास शारदा, महाराणा सांगा, पृ. 96

5 राणा रासो, पृ. 406

6 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 426

सिसोदिया कुल के सामंतों का भी प्रताप को पूर्ण सहयोग मिला। इन प्रमुख सहयोगियो में कृष्णदास चूंडावत (सलूम्बर), सांगा चूंडावत (देवगढ़),[1] नेतसिंह सारगंदेवोत,[2] रामसिंह खंगारोत,[3] प्रतापसिंह खंगारोत,[4] प्रताप के दो भाई कान्हा और कल्ला हल्दीघाटी के युद्ध में काम आए।[5] वीरमदेव, सहसमल, कल्याणदास, केसरीसिंह आदि प्रताप के भाईयों का सहयोग न केवल प्रताप को मिला अपितु अमरसिंह के काल में भी संघर्ष में साथी रहें।[6] शक्तिसिंह के पुत्र भाण, अचलदास एवं बल्लु का भी इस संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका रही।[7]

इसके अतिरिक्त प्रवासी सामंत के रूप में प्रताप से पूर्व ही मेवाड़ में बस चुके थे। इन सामंतों का बलिदान मेवाड़ के लिए अति महत्वपूर्ण रहा। इनमें प्रमुख सामंत में चोहान बदनोर के मेड़तिया राठौड़, केलवा के जेतमालोत राठौड़, डोडियां और सादड़ी व देलवाड़ा के झाला थे। उपर्युक्त वे परिवार थे जिन्होंने प्रताप से पूर्व तथा प्रताप के बाद भी अपना सर्वस्व बलिदान करने हेतु पीछे नहीं रहे। प्रताप के प्रमुख सहयोगी रहे भीमसिंह डोडिया, इन डोडिया राजपूतों की छः पीढ़ियां मेवाड़ के लिए काम आई।[8] डोडिया के समान चौहान, राठौड़ों एवं झालाओं का योगदान भी कम न था। झालाओं की भी छः पीढ़ियां इस संघर्ष में काम आई तथा मेवाड़ महाराणा को बचाने में झाला अज्जा एवं झाला बीदा मानसिंह का योगदान मेवाड़ राजवंश के लिए महत्वपूर्ण रहा। अन्य सामंतों के समान संग्रामसिंह चौहान ने युद्ध में वीरता का प्रदर्शन किया।[9] सांगा के काल से चौहान मेवाड़ की सेवा में थे तथा

1 रावत सांगा, देवगढ़ की चूंडावत शाखा का मूल पुरुष का

2 रावत नेतसिंह (कानोड़ वालों का पूर्वज) , रावत जोगा इसके पितामह थे जो खानवा की लड़ाई में काम आये तथा इनके पिता रावत नरबद जो मेवाड़ के दूसरे शाके के दौरान बहादुरशाह की चित्तौड़ की चढ़ाई में पांडल पोल में मारे गये।

3 चूंड़ावत शाखा के खंगार का पुत्र प्रतापसिंह था जो बांसवाड़ा में काम आया था। रामसिंह के चूंडा के बेटे रत्नसिंह का प्रपौत्र था रत्नसिंह का पुत्र खंगार व खंगार का पुत्र कृष्णदास था।

4 बांसवाड़ा राज्य का इतिहास, पृ. 84

5 बांकीदास री ख्यात, पृ. 92

6 नैणसी री ख्यात, भाग-1, पृ. 92

7 वही, पृ. 89

8 दीपंग कुल प्रकाश, पृ. 98

9 राणा रासो, पृ. 327

विभिन्न अवसरों पर अपने प्राण देकर मेवाड़ की रक्षा की थी।[1] इन सामंतों में बिजोलिया के पंवार भी थे। हल्दीघाटी युद्ध में उपर्युक्त सामंती परिवार के झाला बीदा (मानसिंह), झाला मान अज्जावत राठौड़ रामदास (बदनोर), किशनदास राठौड़ (बदनोर),[2] केलवा के राठौड़ जो जैतमालोत राठौड़ कहलाते हैं, शंकरदास उसके दो भाई केनदास और रामदास तथा शंकरदास का बेटा नरहरदास,[3] भीम सिंह डोडिया आदि हल्दीघाटी युद्ध में काम आए। गोपालसिंह मेड़तिया (घाणेराव), आदि कई सरदार हल्दीघाटी के बाद भी सक्रिय रहें।[4]

तीसरी श्रेणी में शरणागत सामंत थे जिन्होंने पूर्ण स्वामी भक्ति से संघर्ष में साथ दिया। इन शरणागत सामंतों में तंवर रामशाह एवं हकीम खां सूर मुख्य थे। इन दोनों को हल्दीघाटी युद्ध में महत्वपूर्ण जिम्मेदारी दी गई थी। हकीम खां सूर को सेना के हरावल का नेतृत्व सौंपा गया तथा रामशाह तंवर को सेना के दांए पार्श्व की जिम्मेदारी सौंपी गई थी।[5] रामशाह तंवर हल्दीघाटी युद्ध में अपने दोनों पुत्रों व 350 सैनिकों सहित काम आए।[6] चूंकि रामशाह के पास एक बड़ी सेना थी अत: प्रताप द्वारा रामशाह को 800 रू प्रतिदिन खर्च हेतु मिलते थे जिसके सेना का सार संभाल हो सकें।[7]

उपर्युक्त तीन श्रेणियों के अतिरिक्त एक ओर श्रेणी भी है चतुर्थ श्रेणी जिन्होंने प्रताप के मुगल संघर्ष में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। इस श्रेणी में कुछ ऐसे सामंत है, जिनका प्रताप से वैवाहिक संबंध थे तो कुछ ऐसे थे जो मेवाड़ की सीमा में स्थित थे। इन सामंतों का अपने राज्य से जागीर संबंधी विवाद होने से वे प्रताप की शरण में आ गए। वैवाहिक संबंधों से बंधे सामंतों में सबसे महत्वपूर्ण सेवा देने वाले सोनगरा चौहान थे। मानसिंह सोनगरा अपने ग्यारह साथियों के

---

1 चौहान प्रकाश, पृ. 143

2 देवीलाल पालीवाल, झाला राजवंश, पृ. 82 ; उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 421

3 विक्रमसिंह भाटी, जैतमालोत राठौड़ों का इतिहास, पृ. 178

4 देवीलाल पालीवाल, घाणेराव के मेड़तिया राठौड़, पृ. 41

5 Muntakhabha- T- Tawarikh- Vol. II, P. No. 241

6 महेन्द्रसिंह खेतासर, राजा रामशाह तंवर ग्वालियर, पृ. 107

7 राणा प्रताप की बात, महाराणा स्मृति ग्रंथ, द्वितीय खण्ड, पृ. 11

साथ हल्दीघाटी में काम आया। मानसिंह सोनगरा के बाद भाण सोनगरा शाहबाज खाँ के आक्रमण के समय दुर्ग की रक्षा करते हुए सींघल सूजा सीहावत, सींघल कूपो भाडावत, महता नर्बद तथा मांगलिया जैता के साथ वीरगति को प्राप्त हुए।[1] मानसिंह सोनगरा की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जसवंतसिंह प्रताप की सेवा में रहा। जोधपुर के मोटा राजा उदयसिंह द्वारा आमंत्रित किए जाने पर 1587 ई. में पाली का पट्टा जो पूर्व में गोपालदास चंपावत को दिया गया था किंतु कारणवश उसे मारवाड़ छोड़ना पड़ा अब वह जसवंतसिंह सोनगरा को दे दिया गया। जोधपुर महाराज शूरसिंह के काल में संभवत: उसकी मेवाड़ विरोधी गतिविधियों के कारण 1599 ई. में जसवंतसिंह पुन: मेवाड़ आ गया।[2]

चतुर्थ श्रेणी में दूसरे प्रकार के ये सामंत एवं प्रशासक थे जिनके स्वार्थ एवं हितों की पूर्ती उनका गृह राज्य न कर सका तो वे प्रताप की शरण में आ गए। इनका आगमन प्रताप के शांतिकाल में ही हुआ था। मारवाड़ के सामंतों द्वारा वतन जागीर प्राप्त करने हेतु सदैव प्रयासरत थे जिस वजह से बहुधा इनमें आंतरिक संघर्ष होता रहता था। वे सामंती जागीरे जो मारवाड़ एवं मेवाड़ की सीमा पर थी वे मेवाड़ की शरण में भी आ जाते थे। सोजत के अंतर्गत बगड़ी जागीर जब आसकरण जैतावत राठौड़ से छिन ली गई तब वह 1593 ई. में प्रताप की शरण में आ गया।[3] सोजत एवं जैतारण का क्षेत्र पहले मेवाड़ के ही अधिकार में था किंतु बाद में मारवाड़ में मिला दिया गया। चूंकि यह सोजत एवं बगड़ी का क्षेत्र सामरिक, व्यापारिक एवं आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था अत: मेवाड़ भी इन जागीरदारों के विवाद में सहयोग कर इन क्षेत्रों में अपना प्रभाव बनाए रखना चाहता था।[4] मेवाड़ के विद्रोही दबाव पड़ने पर सोजत में एवं उसके आस-पास शरण ले लेते थे। अमरसिंह के समय अब्दुल्ला खाँ ने सोजत को अपने अधिकार में लेकर शाही थाना स्थापित किया जिससे मेवाड़ को मारवाड़ की ओर से सहायता न मिल सकें। आसकरण जैतावतों के समान दूसरे प्रशासनिक अधिकारी

1 बांकीदास की ख्यात, पृ. 93

2 हुकुमसिंह भाटी, सोनगरा साँचोरा चौहानों का वृहत् इतिहास, पृ. 169

3 राव उदैभाण चंपावत री ख्यात, भाग-2, पृ. 37

4 हुकुमसिंह भाटी, जैतावत राठौड़ों का इतिहास, पृ. 25

भी थे जिनके स्वामी को दबा दिया गया तो उन्होंने मेवाड़ की शरण ली। रायसिंह चंद्रसेनोत का कुशल प्रशासक भण्डारी माना ने 1594 ई. में प्रताप के पास चावंड में आकर शरण ली। भण्डारी माना के महत्व एवं कार्यो को देखकर सूरसिंह ने जोधपुर का शासक बनने के बाद भण्डारी लूणा को भेजकर माना को फिर जोधपुर बुलाया तथा राज्य की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी सौंपी।[1] इस प्रकार प्रताप को भिन्न सामंतों का पूर्ण सहयोग मिलता रहा जिसके बल पर प्रताप मुगलों से संघर्ष करता रहा।

प्रताप के सहयोगियों में प्रताप के पुत्र भी थे जिनका भी सहयोग प्रताप को मिला। नैणसी प्रताप के पन्द्रह पुत्र बताता है किंतु केवल एक पुत्र शेखा का पुत्र चतुर्भुज 1612 ई. में जोधपुर जाने का उल्लेख मिलता है। जहाँ सिवाणा परगने का करमवास गाँव 6 गांवों के साथ पट्टे में दिया गया। ये भी अमरसिंह के काल में गया था। इसके अतिरिक्त किसी के पलायन का उल्लेख नहीं मिलता है। सभी पुत्रों ने प्रताप के साथ कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष किया।[2]

भीलों का सहयोग

छापामार युद्ध पद्धति में पर्वतीय, वनीय एवं दुर्गम क्षेत्र के साथ स्थानीय का समर्थन आवश्यक था। अत: प्रताप का संघर्ष क्षेत्र भले ही राजधानी कुंभलगढ़ हो या आवरगढ़, चांवड, भोमट का क्षेत्र प्रताप के संघर्ष में भीलों की भूमिका सदैव महत्त्वपूर्ण रही। चूंकि यह क्षेत्र भील बाहुल्य होने से एवं भील लोगों का पहाड़ी युद्ध में निपूण होने से प्रताप के संघर्ष में साथी रहें। भोमट क्षेत्र का कुल विस्तार 1550 वर्ग मील है। इस भोमट क्षेत्र कें अंतगर्त कोटड़ा, जूड़ा, पानरवा, ओगणा, खैरवाड़ा, जवास, पहाड़ा, मादड़ी, छानी और थाना इस क्षेत्र के प्रमुख केंद्र थे, जिनका प्रयोग ब्रिटिश काल में भीलों को नियंत्रित रखने के लिए किया गया।[3] ये सघन पहाड़ी क्षेत्र है जहाँ कई छोटे-बड़े पहाड़ एवं पर्वत स्थित है। नाहेसर एवं भाडेर पहाड़ों से मेवाड़ के भोमट की पश्चिमी सीमा शुरू होती है। इन दोनों पहाड़ों के बीच जूड़ा परगना है। भांडेर के पहाड़ करीब 30 कि.मी लंबा और 6 कि.मी.

1 मारवाड़ रा परगना री विगत, भाग-3, ग्रंथाक 121, पृ. 22

2 नैणसी री ख्यात, भाग-1, पृ. 92

3 Pinehy. History of Mewar. P.No 109

चौड़ा है। नाहेसर का पर्वत् 36 कि.मी. लंबा और 6 कि.मी. चौड़ा है। संघर्षकाल में विपत्ति के समय यह क्षेत्र प्रताप का आश्रय स्थल रहा तथा प्रताप के बाद के शासकों ने भी यहाँ शरण प्राप्त की थी। भाडेर पर्वत के पूर्व और दक्षिण-पूर्व की ओर आवर पर्वत स्थित है जो कमलनाथ की पहाड़ी के नाम से जाना जाता है।[1] आवर की पहाड़ियां एक विस्तृत क्षेत्र में फैली सघन पहाड़ियों का समूह है। जिसकी सबसे ऊंची चोटी 1005 मी. है जो आवरगढ़ के समीप है। संपूर्ण क्षेत्र में भील बस्ती की बहुलता है।

भील इस क्षेत्र के आदि निवासी है जो बहादुर एवं लड़ाका होने के कारण राजपूत राजाओं के युद्ध में सहयोगी रहे। विशेषकर पहाड़ी एवं वनीय युद्ध में। पूर्व में निषाद कहलाने वाले 'भील' नाम का कारण भी इसकी युद्ध प्रियता ही रही है। भील शब्द बील से बना है जिसका अर्थ धनुष है। चूंकि इनका मुख्य अस्त्र धनुष ही था अत: इससे भी ये भील कहलाएं। कुछ भील शब्द की उत्पत्ति 'भीड़' से बताते हैं जिसका अर्थ मारना, भेदना है जो भी इनके युद्ध कौशल में निपुणता का घोतक है।[2] इन भीलों का सहयोग मेवाड़ महाराणाओं को समय-समय पर मिलता रहा। महाराणा हंमीर के समय इन भीलों का दमन कर इन्हें अपना सहयोगी बना दिया गया था।[3] हमीर के संघर्ष काल में ओगणा एवं पानरवा के 500 धनुधारियों ने सहायता की थी।[4] इन भीलों का महत्व पहाड़ी युद्ध के साथ संचार एवं मार्ग निर्देशन में था। इन घने पर्वतीय एवं वनीय क्षेत्र में जहां वर्षा काल के बाद तो सूर्य दर्शन भी मुश्किल था वहां के मार्ग भटकना तो सामान्य बात है। इस स्थिति में भीलों का अत्यधिक महत्व था। भील इन दुर्गम मार्गो से पूर्ण परिचित थे अत: मार्गदर्शक की भूमिका अच्छे से निभा रहे थे। भील लोग को कर देकर भी इस घने जंगलों से निकलने वाले इन भीलों को अपना मार्गदर्शक बना लेते थे जिसे 'बोलावा' कहा जाता था।[5] इसी प्रकार का उल्लेख जैन ग्रंथों में भी मिलता है। जैन

---

1 नैणसी री ख्यात, भाग-1, पृ. 45

2 नीरजा भट्ट, राजस्थान का भील समाज , पृ. 1 ; Bhil ed. N.N. Vyas, R.S. Mann, N. D. Chaudhary, P. No. 13

3 चेलाख्यं पुरमग्रहीदरिगणाथभिल्लानुगुहागोहकान्भित्वा, श्रृंगीऋषि का लेख

4 Annal And Antiquities of Rajasthan Vol. 1 P.No. 219

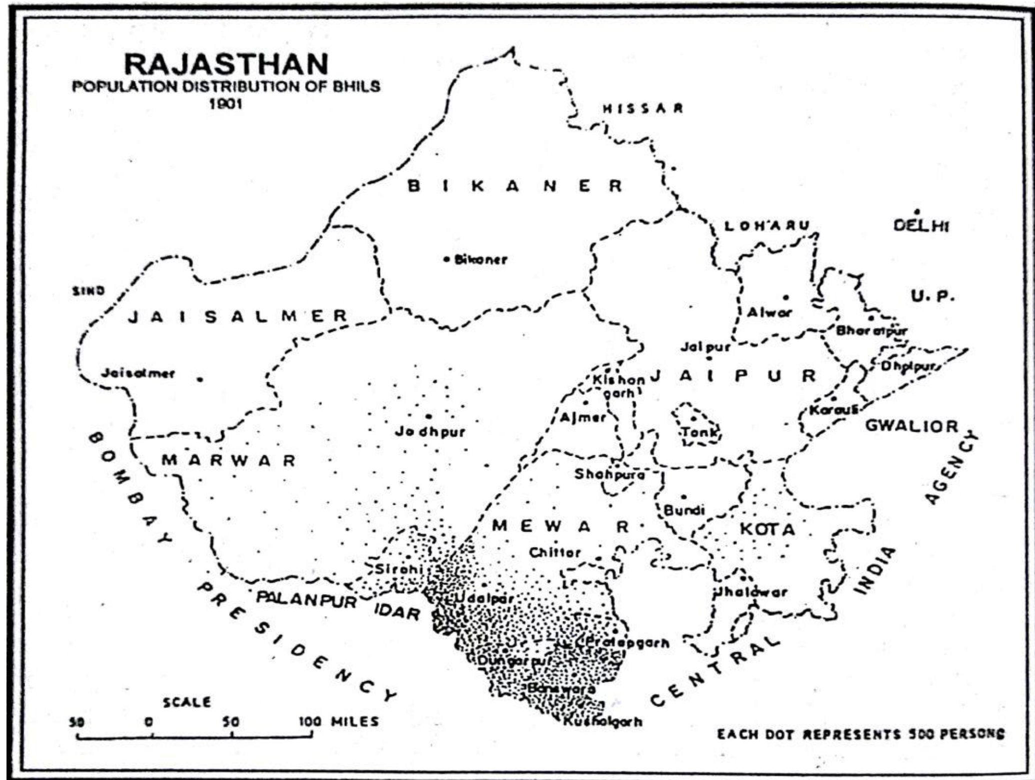
5 वीर विनोद, भाग-1, पृ. 192

ग्रंथ 'प्रद्युम्न चरित' एवं 'श्रावक चार व्रत' कथा में भीलों द्वारा तीर बाण लेकर कर वसूलने की जानकारी मिलती है।[1] मुगलों के प्रताप विरूद्ध अभियान में आवेग एवं तीव्रता की सदैव कमी रही जिसका महत्वपूर्ण कारण मार्ग की अनभिज्ञता रही। मुगल प्रताप की घेराबंदी का प्रयास भी करते तो प्रताप के पास उस स्थल से निकलने के अनेक संभावित मार्ग होते जिन्हे बंद करवा किसी भी सेना के बस में न था। स्थानीय पथ-प्रदर्शक के अभाव में सेनाएं मार्ग से भटक जाती थी तथा अनहोनी या अकस्मात् आक्रमण का खतरा बना रहता था। मुगल सेनाएं इस प्रकार की दुर्घटनाओं से परिचित थी अत: वह अपनी सेनाओं में सदैव स्थानीय पथप्रदर्शक रखते थे किंतु मेवाड़ में उन्हे स्थानीय स्तर पर सहायता न मिलने से वे प्रताप के विरूद्ध चले दीर्घकालीन संघर्ष में कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि हासिल न कर सकें।[2]

1 रामवल्लभ सोमानी, महाराणा प्रताप एक अध्ययन, पृ. 43

2 मध्यकालीन में लंबी अनजान स्थलों की यात्रा सदैव चुनौती पूर्ण रहती थी। सामान्यत: यात्रा हेतु नदी का अवलंबन किया जाता था जो गंतव्य तक पहुँचने में एक स्थायी भू-चिहन का कार्य करता था साथ ही सेना ही पानी की जरूरत भी पूरी करता था। इसके अतिरिक्त मार्ग में सहायता हेतु स्थानीय व्यक्ति की सहायता ली जाती थी जिस प्रकार भील एवं जनजातियां पैसे लेकर मार्ग पदर्शक का कार्य करती उसी प्रकार अन्य व्यक्ति भी लिए जाते थे। ऐसे उल्लेख अकबरनामा एवं वंश भास्कर में मिलते है। अकबर ने कश्मीर अभियान के दौरान मार्ग में कोई समस्या का सामना न करना पड़े अत: आदेश दिया कि हर मंजिल पर पथ प्रदर्शक या अनुभवी व्यक्ति नियुक्त किया जाए। इस प्रकार सेना के मार्ग की पूर्व सुरक्षा का ध्यान रखा जाता था। कश्मीर अभियान के दौरान ही ख्वाजगी फतह उल्ला ने मार्ग की देख-रेख भली भाँति नहीं की जिससे अचानक हुए हमले में शहजादा सलीम का नौकर मारा गया। जिसके लिए फतह उल्ला को जिम्मेदार माना गया। इसी प्रकार का उदाहरण पृथ्वीराज चौहान के संदर्भ में मिलता है। पृथ्वीराज चौहान जब नाहरराज के विरूद्ध युद्ध हेतु जंगल में प्रवेश करता है तो उसे मंत्रीगण सलाह देते है कि वे अपने साथकिसी पथ प्रदर्शक को ले लें। रात्रि अभियान के दौरान सेना के मार्ग की सहायता हेतु तारे, नक्षत्रों की सहायता से चलते थे। इसी प्रकार पृथ्वीराज चौहान के कन्नौज अभियान के दौरान पृथ्वीराज चौहान की सेनाएं भटक जाती है। जब सूर्योदय होता है तब उन्हें ज्ञान होता है कि उसे उत्तर दिशा में जाना था और वह पूर्व दिशा में आ गया।

मानचित्र संख्या 3.3 : मेवाड़ में भील बाहुल्य क्षेत्र



भीलों ने यौद्धा, मार्गदर्शक के साथ-साथ सूचनावाहन के रूप में भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। युद्ध में ओर विशेषकर छापामार युद्ध में संचार का विशेष महत्व है। संचार अर्थात् सूचना के अभाव में समस्त युद्ध क्रिया पंगु बन जाती। सूचना का प्रवाह सैनिकों को सजग रखता तथा उसके अनुरूप निर्णय लेने सहायता करता। शत्रु की स्थिति एवं कार्यो की जानकारी का पूर्व में ही ज्ञान होने से प्रताप एवं इनके सैनिक लाभ की स्थिति में रहते थे। प्रताप के लिए इन सूचनाओं का उतना ही महत्व था जितना कि शरीर में रक्त प्रवाह का होता है। सूचना प्रवाह के लिए भील इसलिए भी महत्वपूर्ण थे क्योंकि इनके घर एक ही स्थान पर संकीर्ण न होकर के भिन्न-भिन्न पहाड़ियां पर छितरे हुए थे। अत: ये संकट की अवस्था में सहायता हेतु पाल पर खड़े होकर फाइरे-फाइरे की किलकारी मारते और कुछ ही समय में ये लोग हथियारबंद होकर युद्ध हेतु उपस्थित हो जाते।[1] इस प्रकार इनमें अनौपचारिक संचार की सुदृढ़ व्यवस्था पूर्व व्यवस्था में ही

1 वीर विनोद, भाग-1, पृ. 193

अंतर्निहित थी, जिसे प्रताप को विकसित करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। मदद हेतु एक की किलकारी सुन दूसरा किलकारी करता इस प्रकार वह सूचना कई कि.मी. दूर तक कुछ ही क्षण में पहुँच जाती। यह केवल मदद हेतु नहीं अपितु अन्य सूचना पहुँचाने में भी प्रयुक्त होता था। एक बार जब मुगल सेना प्रताप का पिछा कर रही थी तो एक ही दिन में प्रताप को सात बार स्थन बदलने पड़े किंतु फिर भी प्रताप दुश्मन की पकड़ में नहीं आया[1] इसका सबसे महत्वपूर्ण श्रेय सूचना देने वाले भीलों को है जिनकी वजह से प्रताप को शत्रु के आगमन से पूर्व उसकी जानकारी लग जाती थी।

यहाँ के आदिवासी मेवाड़ के राजपरिवार की महिलाओं की सुरक्षा का कार्य भी देखते थे। जावर के औदिच्य ब्राह्मणों की पोथी से जानकारी मिलती है कि खराड़ी जाति के लोगों ने चित्तौड़ के शाके के समय प्रताप के परिवार को सुरक्षित पहाड़ी क्षेत्रों से निकाला था। अत: महाराणा की रानी ने इन्हे धर्म का भाई माना था, इस कारण खराड़ी मीणा को महाराणा ने मामा कहकर संबोधित किया। आमजन में ये आज भी मामा कहकर पुकारे जाते हैं। आदिवासियों का प्रताप को संघर्ष काल में पूर्ण सहयोग मिला था।[2]

मारो-भागो एवं भूमि ध्वंस की नीति

हल्दीघाटी के मैदानी युद्ध ने दोनों सेनाओं को एक-दूसरे की ताकत से भली-भांति परिचित करा दिया था। प्रताप इस तथ्य से पूर्ण अवगत थे कि धन एवं सैन्य बल में स्वयं से कई गुना प्रबल मुगल साम्राज्य से सीधी लड़ाई में पार पाना संभव नहीं है। प्रताप ने युद्ध नीति में परिवर्तन किया व छापामार युद्ध नीति को अपनाया। प्रताप द्वारा छापामार युद्ध अपनाने की वजह यह थी कि इन पहाड़ी क्षेत्रों में सैन्य अधिकता का कोई महत्व नहीं रह जाता था। छापामार युद्ध के संदर्भ में प्रताप की नीति कब्जा करने, मारो-भागों एवं भूमि ध्वंस की नीति रही।

1 वीर विनोद, भाग-2 पृ. 163

2 अरविंद कुमार, जावर का इतिहास, पृ. 17

प्रताप ने उपर्युक्त तीन नीतियों पर चलते हुए कभी-भी मुगलों को इन पर्वतीय क्षेत्र में आक्रमक स्थिति में नहीं आने दिया। ईडर, गोगुंदा, चावंड एवं कुंभलगढ़ का क्षेत्र मुगलों से चले इन दस वर्षीय संघर्ष में जब भी मुगलों के कब्जे में गए प्रताप ने इन क्षेत्रों को पुन: प्राप्त करने हेतु त्वरित कार्यवाही की। मानसिंह के गोगुंदा से निकलते ही प्रताप पहाड़ों से बाहर आकर गोगुंदा पर अधिकार कर लिया तथा मांडण कुंपावत को गोगुंदा में नियुक्त किया व कुंभलगढ़ का किलेदार महता नर्बद को बनाया।[1] जब ईडर पर मुगल सेनाओं का अधिकार हो गया किंतु मुगल सेना का एक भाग हज यात्रियों को छोड़ने गुजरात की ओर गया तभी प्रताप, रावल आशा, नारायणदास व अन्य सहयोगियों को लेकर ईडर पर पुन: अधिकार हेतु चढ़ गया।[2] दिवेर विजय बाद कुंभलगढ़[3] तथा जगन्नाथ कच्छवाह के हमले के बाद चावंड को पुर्नविजित किया।[4] प्रताप की शक्ति को तोड़ने तथा पर्वतों की मुगल नीति को प्रताप ने सफल नहीं होने दिया। भारत में जहां कहीं भी मुगलों के विरूद्ध ऐसा पहाड़ी संघर्ष चल रहा था वहाँ मुगलों की मुख्य नीति पहाड़ी शासकों के सामंतों को तोड़ने तथा दूसरा उसके पहाड़ी केन्द्रों को जीतकर उसे घेरकर समर्पण के लिए मजबूर करने की रहीं किंतु यह नीति मेवाड़ में सफल न हो सकी।

प्रताप को पहाड़ों में घेरने की नीति

प्रताप को पहाड़ों में घेरने की नीति के तहत मेवाड़ में कई मुगल थाने स्थापित किए गए। मुख्य मुगल थाने मांडलगढ़, मदारिया, मोही, व ऊंटाला, चित्तौड़, मांडल, जहाजपुर और मन्दसौर में बड़े मुगल थाने थे।[5] कुल 36 मुगल थाने स्थापित किए गए थे।[6] मुगलों के लिए सबसे बड़ी चुनौती मेवाड़ के दुर्गम पर्वतों एवं घाटियों में थाने स्थापित करना व उसे वहाँ बनाए रखना था। मुगलों के

1 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 155
2 Muntakhabha- T- Tawarikh- Vol. II, P. No. 249
3 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 164
4 AkbarNama Vol. III P. No. 661
5 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 163
6 उदयपुर री ख्यात, महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ, पृ. 6

अधिकतर थाने मेवाड़ के मैदानी इलाकों में थे। पर्वतों में थाने स्थापित करना स्वयं में एक गंभीर चुनौती थी क्योंकि इसके लिए मुगलों को एक बहुत बड़ी सेना की आवश्यकता होती। चूंकि यह क्षेत्र बेहद विस्तृत था और चारों दिशा से शत्रु के आक्रमण का संभावित खतरा था अत: थाने कम दूरी पर की स्थापित करने पड़ते अगर यह दूरी ज्यादा होती तो शत्रु आसानी से थाने को समाप्त कर जाते। प्रताप द्वारा मुगल अधिकृत मेवाड़ के मैदानी क्षेत्र में स्थित मुख्य मुगल थाना मोही पर आक्रमण कर मुजाहिद बेग की हत्या कर दी[1] गई तो प्रताप के प्रभाव क्षेत्र पहाडों में मुगल थानों का बना रहना असंभव सा था। इन पर्वतीय क्षेत्रों में प्रताप द्वारा किसी प्रकार के संरचनात्मक ढांचे का निर्माण नहीं किया गया। यहाँ स्थित पूर्ववर्ती इमारतों एवं प्राकृतिक स्थलों का ही ज्यादा से ज्यादा सैन्य चौकियों के रूप में प्रयोग किया गया। पहाडों में प्रताप के मुख्य सैन्य केन्द्र कुंभलगढ़, मचींद, गोगुंदा, आवरगढ़, जावर तथा चावण्ड मुख्य थे। इसके अतिरिक्त कुछ प्राकृतिक केन्द्र भी थे जो दुश्मन की नजर में भी नहीं आते थे और वहाँ एक बड़ी सेना शत्रु अचानक किए जाने वाले हमले के लिए मौजुद रहती थी। इन प्राकृतिक स्थलों में मायरा की गुफा[2] रानी-माल्या[3] पहाड़ तथा जावर की प्रताप गुफा[4] मुख्य है।

मेवाड़ के आस-पास स्थित अरावली की इन पर्वत श्रृंखलाओं में चूना-पत्थर की प्रधानता है। यहाँ पर इन पर्वतों से कई स्थलों पर लगातार वर्ष भर झरने चलते रहते हैं। चूंकि ये चूना-पत्थर की पहाड़ियां होने से पानी में सम्पर्क में आने से वे खोखली हो जाती है अत: इस क्षेत्र में कई गुफाएं बन गयी है। उपर्युक्त वर्णित गुफाएं सघन पहाड़ियों के बीच में होने से किसी को यहाँ की जानकारी भी नहीं होती थी। प्रताप की सेनाएं इस प्रकार विस्तृत क्षेत्र में इन प्राकृतिक स्थलों में फैली हुई थी। यहाँ संरचनात्मक ढांचा भी न होने से मुगलों का स्थायी निवास भी असंभव था। प्रताप ने कब्जे की नीति के बाद मारो और भागों की नीति अपनाई। उदयपुर-चित्तौड़ पाटनामा में प्रताप एवं मुगलों की बीच 33 दफा झगड़ा होने की

---

1 AkbarNama. Vol. III P. No. 305

2 महाराणा महान्, पृ. 109

3 गोगुन्दा की ख्यात, पृ. 83

4 Kharakwal, J.S. Indian Zinc Technology. P. No. 151

जानकारी मिलती है जिसमें 19 बड़े व 14 छोटे थे।[1] मुगल-मेवाड का जो दस वर्षीय संघर्ष काल था उसमें मेवाड़ी सेना द्वारा जो भी मुगल थानो के विरूद्ध कार्यवाही की गई थी वे मुख्य बड़ी मुठभेड़ रही जिसमें मैदानी मुगल थाने मुख्य थे जैसे-देवगढ़ मदारिया, ऊंटाला, मावली, ईटाली, थाणा, सादड़ी तथा खंडेल हुए संघर्ष चूंकि मुगल सेनाएं पहाड़ों में कम ही रही अत: यहाँ होने वाली मुठमेड़ कम ही थी। मानसिंह के जाने के बाद गोगुंदा पर अधिकार,[2] अकबर के जाने के बाद भगवानदास के गोगुंदा छोड़ते ही प्रताप द्वारा गोगुंदा पर[3] अधिकार तथा शाहबाज खाँ के कुंभलगढ़ पर आक्रमण से पूर्व प्रताप ने सैनिकों द्वारा मुगलों पर हमला कर उनके चार हाथी छिन लिये।[4] इस प्रकार के मारो और भागों की नीति के तहत किए जाने वाले आक्रमण ने न केवल शत्रु को हानि पहुँचाई अपितु मानसिक अशांति उत्पन्न कर मनोवैज्ञानिक दबाव भी बनाया।

दीर्घकालीन चलने वाले संघर्ष में सेना को जीवित रखने हेतु मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति को बनाए रखना आवश्यक तो था ही किंतु चुनौतीपूर्ण भी होता है। सामान्तय: सेनाएं आवश्यक खाद्य सामग्री एवं जल साथ में ले के चलती है किंतु यही संघर्ष दीर्घकाल तक चलता है तब उसे स्थानीय स्तर पे ही इनकी पूर्ति करनी होती है। प्रताप की कब्जा करने, मारो और भागों की नीति के बाद जो सबसे महत्वपूर्ण नीति जिसने मुगलों के मेवाड़ में पैर नहीं जमने दिए वह भूमि ध्वंस की नीति तथा रसद आपूर्ति की रेखा को काटने की नीति मुख्य थी। प्रताप ने भूमि ध्वंस की नीति के तहत स्थानीय रसद आपूर्ति को समाप्त कर दिया अत: मुगल सेनाएं अजमेर से आने वाली संचार रेखा के माध्यम से रसद पूर्ति संभव हो रही थी।[5] प्रताप के मोही आक्रमण का एक कारण वहां हो रही खेती को तबाह करना भी था जिससे मुगल खाद्य आवश्यकताओं में स्वनिर्भर न हो सकें। इसके अतिरिक्त ऊंटाला में भी मुगल थानेदार द्वारा कराई जा रही

1 उदयपुर-चित्तौड़ पाटनामा, भाग-1, पृ. 297
2 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 155
3 AkbarNama. Vol. III P. No. 272
4 वीर विनोद, भाग-2, पृ. 157
5 वही, पृ. 159

खेती को नष्ट करने हेतु अकस्मात् किया गया आक्रमण महत्वपूर्ण था। प्रताप द्वारा खेती करने वाले किसान का सर काटने का कार्य यह एक गंभीर चेतावनी उन सभी लोगों के लिए थी जो मुगलों के कहने पर खेती कर रहे थे। प्रताप के इन हमलों ने स्थानीय लोगों के मन में डर कायम कर दिया। जब मुगल सेनाएं मैदानों से आगे बढ़कर पहाड़ों में प्रवेश कर गई तब इनकी रसद आपूर्ति रेखा को काट दिया गया जिससे मुगलों के मुख्य सैन्य केन्द्र से रसद पहुंचाना असंभव हो गया अत: सेना को मजबूर होकर अपने पॉव पीछे खींचने पड़ते थे।

हल्दीघाटी युद्ध के बाद जब मुगल सेनाएं गोगुंदा पहुंची किंतु उस समय उनकी रसद आपूर्ति को काट दिया गया था। अत: मुगल सेनाएं प्रताप का पीछा न कर सकीं और सर्वप्रथम अपनी खाद्यपूर्ति की आवश्यकता में लग गई। इस समय मुगल सेना के हालात इतने खराब हो चुके थे कि उन्हें अपने घोड़ों को मारकर उनका मांस खाना पड़ा तथा यहाँ होने वाले आम मुगलों का मुख्य खाद्य बन गया था।[1] प्रताप की भूमि ध्वंस नीति ने मुगलों की इस क्षेत्र में उत्तर जीविता को खतरे में डाल दिया था। टॉड प्रताप की भूमि ध्वंस की नीति के प्रभाव को बताते हुए कहा था कि इसने 'राजपूताना के बाग को उजाड़ दिया था।[2] प्रताप ने जब आवरगढ़ को अपना सामरिक केन्द्र बनाया तो वहां तालाब का निर्माण कराया[3] जिससे की वहां रह रहे सैन्य एवं प्रशासनिक अधिकारियों के साथ राजपरिवार एवं सेवकों की दैनिक आवश्यकता की पूर्ति हो सकें। मुगल सेनाएं जब गोगुंदा में थी वहां पर उन्होंने बावड़ी का निर्माण करवाया जो बादशाह बावड़ी के नाम से जानी जाती है।[4] अन्न और जल दोनों सेनाओं की महती आवश्यकता थी जिसके बिना किसी का जीवित रहना संभव नहीं था। जब तक इस क्षेत्र में मुगल संघर्ष चल रहा था तब तक ये मार्ग अवरूद्ध हो गया था अत: अनाज व्यापारी बंजारे भी इस मार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग से अजमेर एवं गुजरात की ओर जा रहे थे। इससे खाद्य आपूर्ति भी अवरूद्ध हो गई। संघर्ष दौर में न केवल बंजारे

1 Muntakhabha- T- Tawarikh. Vol. II, P. No. 241

2 Annals And Antiquities of Rajasthan. Vol. I. P.No. 275

3 राजस्थान के जल संसाधन, पृ. 145

4 गोगुन्दा की ख्यात, पृ. 80

अपितु बंदायूनी को भी दिपालपुर जाते समय मालवा का मार्ग चुनना पड़ा क्योंकि यह क्षेत्र अशांत था।[1] इस प्रकार प्रताप इस क्षेत्र में मुगलों में दशहत फैलाने में सफल रहा।

गुप्तचर

छापामार युद्ध-पद्धति में सूचना बहुत महत्वपूर्ण रहती है अत: यहाँ गुप्तचर का महत्व बढ़ जाता है। गुप्तचर राज्य की तीसरी नैत्र होता है। अत: कौटिल्य भी राज्य की जानकारी एवं अधिकारियों के व्यक्तित्व परिक्षण हेतु गुप्तचर के प्रयोग की बात कहता है।[2]

प्राचीन काल के अतिरिक्त मध्यकाल में भी गुप्तचर का प्रयोग किए जाने का उल्लेख मिलता है। चाहे युद्धकाल हो या शांतिकाल मुगलों का खुफिया विभाग सदैव सक्रिय रहता था। जासूस जो खबर लेकर आते थे उनकी खबरों को महत्व दिया जाता था, भले ही उनकी खबरें अफवाहों और निरर्थक बातों पर आधारित हों। दानिशमन्द खाँ लिखता है कि शाही खिदमत में कुल लगभग चार हजार जासूस (या हरकारे) नियुक्त थे जो मुगल साम्राज्य के कोने-कोने में फैले हुए थे। जब सेनाएं युद्ध क्षेत्र में होती यहाँ तो इन जासूसों और हरकारों को सभी दिशाओं में फैला दिया जाता था।[3] राजपूत राज्यों में भी इसी तरह जासूसों को सक्रिय कर रखा था। युद्ध के दौर में इनका महत्व बढ़ जाता था। ये शत्रु पक्ष की सभी प्रकार की जानकारी उपलब्ध करवाते थे। राणा कुंभा के दरबार में नापा सांखला रहता था जो जोधा का गुप्तचर था।[4] वह कुंभा के दरबार की जानकारी जोधा को पहुँचाता था। इसी तरह शेरशाह सूरी और मालदेव के मध्य हुए सुमेल गिरी के युद्ध में शत्रु सेना का पता लगाने हेतु राठौड़ों ने हेरू (गुप्तचर) भेजे थे।[5] गुप्तचर को सूचना देने पर पुरस्कृत भी किया जाता था।[6]

---

1 Muntakhabha- T- Tawarikh. Vol. II, P. No. 250

2 कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ. 25

3 भारतीय मुगल सैन्य व्यवस्था, पृ. 198

4 नैणसी री ख्यात, भाग-1, पृ. 62

5 सोहन कृष्ण पुरोहित, मध्यकालीन मारवाड़ में गुप्तचर व्यवस्था कतिपय संदर्भ ; Rajasthan History Congres, Proceeding Vol. 25, 2005. P.No. 297

6 राठौड़ा री ख्यात, पृ. 81

प्रताप की गुप्तचर व्यवस्था बेहद सुदृढ़ थी। शत्रु की प्रत्येक गतिविधि पर सूक्ष्म दृष्टि गढ़ाएं हुए थे। मानसिंह के मेवाड़ में अकबर के दूत के रूप में आगमन पर प्रताप द्वारा मनसिंह के संबंध में जानकारी प्राप्त करने हेतु रावत खंगार को भेजा गया था। जिसने उक्त जानकारी जुटा कर प्रताप को मानसिंह से नहीं मिलने का सुझाव दिया था।[1] हल्दीघाटी युद्ध से पूर्व प्रताप ने शत्रु पक्ष की समस्त गतिविधियों की जानकारी रखने हेतु अपने गुप्तचरों को मुस्तैद कर रखा था।



चित्र संख्या 3.4 : आवरगढ़ से प्राप्त जोगी जगन रावल का लेख

मुगल सेना का पड़ाव मोलेला में था तथा प्रताप की सेना हल्दीघाटी में थी तब भी मुगल सेना की प्रत्येक जानकारी प्रताप तक पहुँच रही थी। इसके विपरीत मुगल सेना के गुप्तचर निष्क्रिय बने हुए थे। उनकी निष्क्रियता का कारण मेवाड़ की दुर्गम घाटियां एवं सघन वनीय क्षेत्र होना था। मानसिंह शिकार करता हुआ मोलेला से आगे बढ़ता हुआ प्रताप की सेना के करीब पहुँच गया। मानसिंह एवं

1 नैणसी री ख्यात, भाग-1, पृ. 91

प्रताप के मध्य उस समय लगभग तीन कि.मी. का ही अंतर रह गया था तथा मानसिंह के पास कुल हजार सवार ही थे। प्रताप को मानसिंह की स्थिति की जानकारी उसके गुप्तचर पुरबिया परबसिहोत एवं सिसोदिया नेता भाखरोत के माध्यम से मिल रही थी।[1] प्रताप ने धर्म युद्ध के मूल्यों एवं झाला बीदा की सलाह पर मानसिंह पर कोई हमला नहीं किया।

प्रताप की गुप्तचर एवं संचार व्यवस्था बेहद सुदृढ़ एवं मजबूत होने से कभी-भी-मुगल प्रताप को नहीं पकड़ सकें न ही प्रताप के परिवार के किसी सदस्य तक पहुँच सकें। प्रताप के गुप्तचरों में भील, राजपूत सरदार एवं जोगी व संन्यासी प्रमुख थे। गुप्तचरों के रूप में जोगी, नाथ या संन्यासी का प्रयोग होता था। जोगी एवं नाथों का प्रयोग सैनिकों के रूप में भी किया जाता रहा है। इसी तरह मुस्लिम भी खानकाह का प्रयोग सैन्य गतिविधियों के रूप में भी करते रहे है।[2] मेवाड़ में नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव गुहिल वंश के प्रारंभ से ही यहाँ दिखाई देता है। एकलिंग जी मंदिर में नाथ प्रशस्ति[3] नवीं एवं दसवीं शताब्दी से ही मेवाड़ में नाथ सम्प्रदाय के प्रभाव को बताते हैं। मेवाड़ में 176 नाथ मंदिर है।[4] जासूसी के लिए साधु-सतों का प्रयोग आम था। इन पर संदेह भी कम होता तथा ये बेराक-टोक सामान्यत: कहीं भी आ जा सकते थे। मुहम्मद गोरी ने भी पृथ्वीराज की जासूसी हेतु साधुवेश में गुप्तचर को भेजा था।[5] अकबरनामा में भी कुंभलगढ़ में एक मुस्लिम द्वारा साधु का वेश धारण कर दुर्ग में उपस्थित होने की जानकारी मिलती है।[6] प्रताप के काल में भी कुंभलगढ़ में जोगी रूपनाथ[7] एवं आवरगढ़ में जोगी जगल रावल के साक्ष्य मिलते हैं। डब्ल्यू. जी. ओर इस बात पर जोर देकर कहते हैं कि भारत में इस्लाम के आगमन के बाद जिस प्रकार सूफी संत, फकीर

1 नैणसी री ख्यात, भाग-1, पृ. 91

2 W. G. Orr इस बात पर जोर देते हुए कहते है कि इस्लामिक सेना के साथ आए हथियारबंद दरवेशों ने हिन्दू साधुओं को भी सैन्य रूप ग्रहण करने के लिए मजबूर किया

3 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 53

4 प्रकाशनाथ चौहान, नाथ इतिहास, पृ. 122

5 पृथ्वीराज रासो, पृ. 199

6 Akabarnama. Vol. III. P.No. 340

7 राणा प्रताप री वात, महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ, पृ. 10

एवं दरवेश सेना में हथियार लेकर लश्कर-ए-इस्लाम के सिपाही बनते थे उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप हिंदुओं में जोगी और नाथ साधु भी हथियार धारण कर धर्म की रक्षार्थ सैनिक बन गए।[1] यद्यपि नाथ और जोगी इससे पूर्व भी सैन्य गतिविधियों में संलग्न थे फिर भी इनका बड़े पैमाने पर सैनिकों के रूप में प्रयोग बाद में हुआ था किंतु गुप्तचर के रूप में इनके मठ का प्रयोग निरंतर होता रहा था।

***

---

1 Hinduism and the Ehics of Warfare in south Asia: From Antiquity to present. P. No. 172

अध्याय चतुर्थ

महाराणा प्रताप कालीन मेवाड़ की प्रशासनिक व्यवस्था

अध्याय चतुर्थ

महाराणा प्रताप कालीन मेवाड़ की प्रशासनिक व्यवस्था

मानव की उत्पत्ति के बाद मानव ने जब से घुमक्कड़ जीवन छोड़कर समूह में निवास करना प्रारंभ किया तथा कृषि करने लगा तभी से उसे समाज में एक व्यवस्था तथा कबीले के मुखिया की जरूरत महसूस हुई। मुखिया की आवश्यकता इसलिए थी जिससे समाज को उसमें उत्पन्न होने वाली अराजकता से बचाया जा सके। प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों ने इसी रूप में मत्स्य न्याय की कल्पना की है। प्रारंभ में जिस मुखिया की आवश्यकता को महसूस किया गया था। उसका कार्य तत् समय युद्ध एवं शांति के समय उनका नेतृत्व करना था। यह व्यवस्था वैदिक कालीन समाज जैसी थी। युद्ध आदि क्रियाओं से कालांतर में जैसे ही जनसंख्या एवं भू-भाग में वृद्धि हुई तब कबीले के मुखिया की भूमिका में बदलाव आ गया था। इस समय राज्य का विस्तार हो रहा था वह जन से जनपद और फिर महाजनपद के रूप में स्थापित हो रहे थे। इसका प्रभाव मुखिया की स्थिति पर परिलक्षित हो रहा था, जो कि उसके द्वारा धारण किए जाने वाले विरुद में भी दिखाई देता है। मुखिया, राजा, महाराजा तथा सम्राट जैसे विरुद धारण करने लगा।[1] इस राजा की सत्ता को वैधता दिलाने हेतु प्राचीन संस्कृत एवं पाली ग्रंथों में राजत्व सिद्धांत का उल्लेख मिलता है।

यद्यपि कुछ यूरोपियन इतिहासकारों का मानना है कि भारतीय में राजनैतिक दर्शन का अभाव था। यहां राजनैतिक विषयों का जो थोड़ा-बहुत विचार हुआ भी है, वह भी धर्म के एक अंग के रूप में विकसित हुआ। यहां विशुद्ध राजनैतिक सिद्धांतों के अनुसार इसका विकास नहीं हुआ। इस प्रकार के विचारकों में मैक्स-मूलर प्रमुख थे।[2] यूरोपियन इतिहासकारों के उपर्युक्त विचार यूरोपियन दृष्टिकोण पर आधारित थे जबकि भारतीय की राज्य एवं उसे देखने की अपनी

1 Ghoshal. V. A. History of Hindu Political Theories, P. No. 25

2 भगवान दास केला, कौटिल्य की शासन पद्धति, पृ. 3

एक भिन्न दृष्टि थी। इस संदर्भ में ए.एल. बाशम भी उपर्युक्त विचार के समर्थक है। फिर भी वे लिखते है कि जो समस्याएं यूरोप के राजनीतिक दर्शनशास्त्रियों के समक्ष विवादग्रस्त बनी हुई थीं, भारतीय ग्रंथों में उनका समाधान मिलता है। बाशम लिखते हैं कि भारत में राज-व्यवस्था शास्त्र के दर्शन एक परिपक्व विषय के रूप में होते हैं जिस पर अनेक ग्रंथों की रचना हुई थी। यहाँ 'दण्डनीति' अर्थात् शक्ति का शासन अथवा 'राजनीति' अर्थात् राजा का आचरण एक व्यावहारिक विज्ञान था। इन ग्रंथों में राजनीति के दार्शनिक पक्ष की अपेक्षा, राज्य के संगठन तथा शासकीय कार्यों के संचालन पर अधिक लिखा गया था।[1] हिंदू, जैन एवं बौद्ध धर्म में राजनीतिक सिद्धांत संबंधी कई ग्रंथों की रचना का उल्लेख मिलता है। हिंदू ग्रंथों में वेदों से ही राज्य व्यवस्था के दर्शन होते हैं। वैदिक वाड्मय में राजा की उत्पत्ति, राजा, सभा, समिति, युद्ध कला, न्याय-व्यवस्था आदि की जानकारी प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, मनु-स्मृति, पंच-तंत्र, रघुवंश, हितोपदेश, दश-कुमारचरित, धनुर्वेद, युक्ति-कल्पतरु कामदंक नीतिसार, शुक्रनीति आदि ग्रंथों में उल्लेख मिलता है।[2] जैन ग्रंथों में सोमदेव सूरी कृत 'नीतिवाक्यामृत' तथा 'आचरांग सूत्र' तथा 'उत्तराध्याय सूत्र' में भी राजनीति और आचारशास्त्र के परस्पर संबंधों की जानकारी मिलती है। बौद्ध ग्रंथ निकाय एवं जातक ग्रंथों में तत्कालीन राजनीतिक सिद्धांत एवं गणराज्यों का उल्लेख मिलता है।[3]

राज्य की उत्पत्ति

प्राचीन भारत में राज्य संस्था की उत्पत्ति के संबंध में कई प्रकार के सिद्धांत प्रचलित थे। राज्याधिकार के उदय के संबंध में प्राचीनम आख्यान ऐतरेय ब्राहमण में वर्णित है। यहां राजत्व की अवधारणा के उदय के पीछे मुख्य प्रेरक तत्व सैन्य आवश्यकता से प्रेरित था। ऐतरेय बाहमण में उल्लेख मिलता है कि

---

1 ए. एल. बाशम. अद्भुत भारत. पृ. 54

2 Sarkar, Bauray Kumar. "Hindu Published philosophy. political Science our artarly. New York. P.No. 486 Vol. XXXIII, 140.4

3 अवस्थी एवं अवस्थी, भारत में लोक प्रशासन, पृ. 476

देव व दानवों के बीच चल रहे संघर्ष में जब देवताओं को निरंतर पराजय का सामना करना पड़ा अत: एकत्र होकर हार के कारणों पर मंथन किया गया तो राजा की आवश्यकता महसूस हुई जो युद्ध में उन्हें नेतृत्व प्रदान कर सकें। प्रजापति सहित सभी देवों ने इन्द्र को जो देवताओं में सर्वाधिक ओज वाला, साहसी, तथा कामों को अच्छे से करने वाला वाला है अत: उसे राजा नियुक्त किया।[1]

उपर्युक्त आख्यान राजत्व की मानवीय आवश्यकताओं और सैनिक मांग से प्रभावित था। जिसमें राजा का कर्त्तव्य युद्ध में प्रजा का नेतृत्व करना था। कुछ समय पश्चात् तैतरेय उपनिषद में इस कथा की पुनरावृत्ति हुई, परन्तु एक अत्यंत परिवर्तित रूप में। युद्ध में पराजित देवताओं ने इन्द्र का यहाँ निर्वाचन नहीं किया अपितु प्रजापति का यज्ञ किया जिसने अपने पुत्र इन्द्र को उनका राजा बनने हेतु भेजा। इस आख्यान में भी राजा का प्राथमिक कार्य युद्ध में नेतृत्व करना ही था। तैतरेय उपनिषद में तो यहां तक कहा है कि, "वे जिनका राजा नहीं है, युद्ध नहीं कर सकते" यहां राजा को दैवीय स्वीकृति प्राप्त की।[2]

राजा की उत्पत्ति का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत दैवीय उत्पत्ति का सिद्धांत है। इसके अनुसार भगवान ने विभिन्न देवताओं के अंश लेकर राजा का निर्माण प्रजा के कल्याण के लिए किया। मनु स्मृति में राजा के दैवीय सिद्धांत को स्वीकारा है। मनु कहता है कि अगर राजा बालक है तो भी उसका अपमान न करे क्योंकि उसमें देवता का निवास होता है।[3] राज्य की उत्पत्ति के संदर्भ में तीसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत मत्स्य न्याय का है। यह एक समझौतावादी सिद्धांत है। कौटिल्य कहता है कि दण्ड व्यवस्था के अभाव में सर्वत्र अराजकता फैल जाती है जिसका परिणाम मत्स्य न्याय के रूप में सामने आता है जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही बलवान व्यक्ति, निर्बल व्यक्ति का रहना दूभर

---

1 ऐतेरेय ब्राह्मण, अनु. गंगाप्रसाद उपाध्याय, पृ. 476

2 एल. बाशम. अद्भुत भारत पृ. 56

3 बालऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिप:।
महती देवता ह्येषा नररुपेण तिष्ठति।।7.8।। मनुस्मृति

कर देता है। सक्षम राजा की उपस्थिति में एक दुर्बल व्यक्ति भी स्वयं को सुरक्षित महसूस करता है।[1] इस अराजकतापूर्ण मत्स्य न्याय की स्थिति का समाधान स्वरूप एक समझौते के तहत मनुष्यों ने सक्षम पौराणिक राजा मनु वेवस्त को अपना राजा निर्वाचित किया। मनु और प्रजा के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार प्रजा ने राजा को राज्य शासन चलाने के लिए, अन्न की उपज का छठा भाग, व्यापार द्वारा प्राप्त धन का दसवां भाग और हरण्य की आय का कुछ भाग कर रूप में देने का निश्चय किया।[2] महाभारत के शांतिपर्व में भी इसी प्रकार अव्यवस्था को समाप्त करने हेतु राज्य एवं राजा की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है।[3] बौद्ध धर्म में राजा के दैवी सिद्धांत की अपेक्षा समझौता वादी सिद्धांत को स्थान दिया गया था।[4] बौद्ध धर्म में गणतंत्र को विशेष स्थान दिया गया है। महात्मा बुद्ध तो राजाओं के मित्र थे तथापि उनका गणतंत्रीय राज्यों के प्रति अधिक झुकाव था। बुद्ध ने अपने निर्वाण के कुछ समय पूर्व वृज्जियों को चेतावनी दी थी कि उनकी सुरक्षा अपनी परम्पराओं को बनाये रखने तथा नियमित एवं भली प्रकार उपस्थित जन-साधारण सभाओं के आयोजन पर ही निर्भर थी।[5] किंतु इस प्राचीन काल में गणतंत्रीय व्यवस्था को ज्यादा अच्छा नहीं माना गया। जैन ग्रंथों में जो जैन साधुओं को तो यहां तक चेतावनी दी है कि वे उन प्रदेशों की यात्रा न करें जहा पर कोई राजा न हो या जहां पर गण का शासन हो।[6]

प्राचीन काल के धार्मिक और राजनीतिक ग्रंथों में सत्ताधिकार के सामान्यत: दो प्रकार के सिद्धांत प्रचलित थे- रहस्यवादी और समझौतावादी इन्हीं सिद्धांतों का प्रभाव पूर्वमध्यकालीन एवं मध्यकालीन शासकों पर दृष्टिगत होता है।

---

1 दुष्प्रणीत: कामक्रोधाभ्याम्-ज्ञानादान-प्रस्थापरिव्राजकानपि कोपयति, किमङ्ग, पुनर्गृहस्थान्। अप्रणीता हि मात्स्यन्माय-मुदाव्यति। बलीयानबलं हि ग्रसते दण्ड-धराभावे। तेन गुप्त: प्रभवतीति।। प्र.1 अ.3,1।। अर्थशास्त्र

2 अवस्थी एवं अवस्थी भारत में लोक प्रशासन, पृ. 13

3 महाभारत, शांति पर्व, संपा. रीपाद दामोदर सातवलेकर, भा.2 पृ. सं. 699

4 A History of Hindu Political Theories. P.No. 57

5 अद्भुत भारत, पृ. सं. 67

6 Attokar. A S. State and Government in Anicient India. P.No. 57

राजा

प्राचीन और मध्यकाल में सामान्यत: शासन की बहुप्रचलित प्रणाली राजतंत्र ही थी। यहां शासकों ने केंद्रीय राज्यों का निर्माण किया।[1] प्राचीन राजनीतिक विचारकों ने राज्य के सात अंग माने है। जिसमें लगभग सभी विचारकों ने राजा को प्रथम स्थान दिया है।[2] राजा राजतंत्रीय व्यवस्था का केंद्रीय बिंदु है अत: इसकी तुलना मानवीय शरीर के शिरोभाग से की गई है।[3] "राजन्" शब्द और उसके मूल रूप राज का शब्दार्थ "शासक" है। लैटिन भाषा के (Rex) शब्द के साथ इसका संबंध है। हिंदू राजनीतिक शास्त्रों में 'राजन्' शब्द की दार्शनिक व्युत्पत्ति बताई गई है। उनके अनुसार शासक को राजा इसलिए कहते हे कि उसका कर्त्तव्य अच्छे शासन के द्वारा अपनी प्रजा का रंजन करना अर्थात् उसे प्रसन्न रखना है। समस्त संस्कृत साहित्य में यही दार्शनिक व्युत्पत्ति एक निश्चित सिद्धांत के रूप में मानी गई है।

शासक के लिए राजा शब्द का अर्थ उनके कर्त्तव्य बोध का भी द्योतक था अत: वे इसी के अनुसार कार्य भी करते थे। कलिंग सम्राट खारवेल जो एक जैन था, अपने शिलालेख में कहता है कि "मैं अपनी प्रजा का रंजन करता हूँ जिसकी संख्या 35 लाख है।" बौद्ध ग्रंथ दीर्घ निकाय में भी राजा शब्द की यही सैद्धांतिक व्याख्या पाई जाती है।[4] राज के समक्ष प्रजा का कल्याण सर्वप्रमुख आदर्श था राजा के कर्त्तव्यों में बाह्य आक्रमणों से केवल अपने राज्य की सुरक्षा ही नहीं, वरन् आंतरिक शत्रुओं से जीवन, सम्पत्ति तथा परम्परागत रीतियों की सुरक्षा भी सम्मिलित थी। कौटिल्य कहता है कि जो राजा प्रजा के हित में कार्य करता है और प्रजा के शासन तथा शिक्षण में तत्पर रहता है, वह दीर्घकाल तक बिना व्यवधान के शासन करता है।[5] महाभारत के शांतिपर्व में भी राजा के कार्यो एवं

---

1 Discovery of India. P. No. 143

2 स्वाम्यमात्यजनपददुर्ग-कोशदण्ड मित्राणि प्रकृत्य:।। प्र. 96, अ.1, 11 ।। अर्थशास्त्र
Kamandakiya Nitisar, P. No. 5

3 अद्भुत भारत, पृ.सं. 61

4 हिंदू राज्य तंत्र, भा. 2 पृ. 1

5 विद्याविनीतों राजा हि प्रजानां विनये रत:।
अनन्यां पृथिनी भुडक्ते सर्वभूतहिते रत:।। 2.4.3।। अर्थशास्त्र।

उसके कर्त्तव्यों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है- राजा विधवाओं और अनाथों की रक्षा करें, धनिकों के धन की रक्षा करें, निर्बलों को शोषण से बचाएं, योग्य ब्राह्मणों और मंदिरों को दान देकर धर्म की रक्षा करें।[1] इसके अतिरिक्त वर्ण-व्यवस्था को बचाएं रखना भी उसका एक प्रमुख कार्य था।[2]

उत्तराधिकार के संदर्भ में सामान्यत: योग्य व्यक्ति को ही राजपद पर प्रतिष्ठित करने की बात कही गई है। धूर्त पुत्र इकलौता ही क्यों न हो अर्थशास्त्र के अनुसार राजसिंहासन पर कदापि आरुढ़ नहीं हो सकता था।[3] उत्तराधिकार के संदर्भ में वंश परम्परागत अधिकार प्राचीन प्रथा न होते हुए भी महाभारतकालीन समाज में वंशगत अधिकार प्रतिष्ठित हो गया था।[4] जहां तक राजा के आवश्यक गुणों का संबंध था तो मनु संहिता में विभिन्न देवताओं, द्वारा उसमें देवत्व के आरोपण का उल्लेख मिलता है, जिसमें राजा देवता की श्रेणी में आ जाता है।[5] परवर्ती काल में क्षत्रिय वर्ण को शासक वर्ग के रूप में स्थापित कर दिया गया।[6]

पुरोहित

राजतंत्र में राजा के बाद पुरोहित का विशेष स्थान होता था। राजा के लिए पुरोहित की नियुक्ति भी आवश्यक थी। पुरोहित वेदों का विद्ववान ब्राह्मण होता था। ऐतेरेय ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि बिना पुरोहित वाले राजा का अन्न देव ग्रहण नहीं करते है। इसलिए राजा यज्ञ करने वाले ब्राह्मण को पुरोहित बनावे जिससे देवता उसका अन्न ग्रहण कर सकें। इसी प्रकार एतेरेय ब्राह्मण में पुरोहित के महत्त्व को स्थापित करते हुए कहा है कि, "अग्नि पुरोहित है और पृथ्वी पुरोधाता है, वायु पुरोहित है, अंतरिक्ष पुरोधाता है, आदित्य पुरोहित है, द्यौ पुरोधाता है। इसे जो जानता है वहीं पुरोहित है, जो नहीं जानता वह तिरोहित है।''

---

1 महाभारत, शांतिपर्व, भा. 2 पृ. 704

2 चतुवर्णाश्रमों राजा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकमभिरतो वर्तते स्वेषु वेश्मसु।। 1.3.2।। अर्थशास्त्र।

3 अद्भुत भारत, पृ. 63

4 सुखमय भट्टाचार्य. महाभारत कालीन समाज. अनु. पुष्पा जैन, पृ. सं. 364

5 गिरिजा प्रसाद द्विवेदी, मनुस्मृति, पृ. 208

6 रोमिला थापर, पूर्वकालीन भारत, अनु. आदित्य नारायण सिंह, पृ. 161

जिस प्रकार पृथ्वी आदि पिण्डों में पुरोहित अग्नि आदि का प्राधान्य रहता है उसी प्रकार राजा के यहां पुरोहित ब्राह्मण का प्रभाव रहता है। उपर्युक्त दृष्टव्य में इसी तथ्य को स्थापित करने का प्रयास किया गया है। अग्नि, वायु और रवि से क्रमश: ऋगवेद, यर्जुवेद एवं सामवेद तीनों वेदों का संबंध है, अत: इससे यह संकेत भी स्पष्ट है कि पुरोहित वेदों का विद्वान हो। बृहस्पति देवों के पुरोहित थे इसी के अनुसार मनुष्य राजाओं के पुरोहित होते है।[1]

राजा की स्थिति का सुदृढ़ करने में पुरोहित की भी महत्वपूर्ण भूमिका रहती थी। इस समय ऐसे विशेष यज्ञों का विकास हुआ जिनके माध्यम से पुरोहित जिन्हें देवताओं और मनुष्यों के मध्य कड़ी माना गया था, जो राजा में देवत्व का आरोपण कर सकते थे। राजा के परामर्शदाता के रूप में पुरोहित की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। पुरोहित एवं परामर्शदाता के साथ ज्योतिषी का कार्य भी करता था।[2]

मंत्रिपरिषद्

राजतंत्र की धूरी राजा ही होता है किंतु राज्य के विस्तृत एवं जटिल कार्य राजा द्वारा संपादन संभव नहीं है। राजा को राज्य के कार्य में सहायता एवं सलाह के लिए योग्य अधिकारियों एवं कर्मचारियों की एक परिषद् हुआ करती थी। अत: प्रशासन को सुव्यवस्थति रूप से संचालित करने हेतु कौटिल्य कहता है , जिस प्रकार एक पहिये की गाड़ी को नहीं चलाया जा सकता हैं अत: राजा को चाहिए की वह सुयोग्य आमात्यों की नियुक्ति करें तथा उनके परामर्शों पर ध्यान दें। [3] मनु भी कहता है गृहस्थ का एक छोटा-सा भी काम पुरुष को स्वयं करना कठिन पड़ता है तब राजकार्य जैसा पेचिदा कार्य बिना सहायता के राजा केसे कर सकता है।[4] इस मंत्रिपरिषद् में सर्वोच्च स्थान बुद्ध काल तक पुरोहित का ही होता था। वह वह धर्माधिकारी एवं शासकीय मामलों में राजा का प्रमुख परामर्शदाता होता था

---

1 आद्यादन्त ठाकुर, वेदों में भारतीय संस्कृति, पृ. 294

2 पूर्वकालीन भारत, पृ. 159

3 सहायसाध्यं राजत्व चक्रमेकं न वर्तते।
कर्वीत सचिवास्तस्मातेषां च श्रृणुयान्मतम्।। प्र.3, अ. 6, 3।। अर्थशास्त्र

4 अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम्।। 7.55 ।। मनुस्मृति

संकट काल में वह राजा के साथ ही रहकर उसे कूटनीतिक परामर्श देता था। मंत्रिपरिषद् जैसी संस्थाओं का उल्लेख वैदिक काल से मिलता है। वैदिक साहित्य में तीन संस्थाओं का उल्लेख मिलता है- सभा , समिति एवं विदथ। सभा एवं समिति को अथर्ववेद में प्रजापति की दो पुत्रियाँ कहा गया है। [1] अल्तेकर का मानना है कि इसे प्रजापति से संबंधित करने का करण इसकी वैधता को स्थापित करना था। समिति केन्द्रिय विधानसभा के समान होती थी।[2]

आधुनिक अर्थ के अनुसार परिषद् का तात्पर्य एक मंत्रिमण्डल नहीं अपितु एक परामर्शदात्री सभा थी जिसके कुछ संश्लिष्ट कर्त्तव्य थे। इस प्रकार से एक स्थान पर राजा को अपनी अधिकतर गुप्त योजनाओं को भेद खुल जाने के भय से उन्हें परिषद् के केवल एक सदस्य के सम्मुख रखने की सलाह दी गयी है। इस परिषद् का मुख्य रूप से कर्त्तव्य राजा को परामर्श तथा सहायता प्रदान करना था, शासन करना नहीं, परन्तु यह केवल स्वीकृति प्रदात्री समिति ही नहीं थी, क्योंकि समस्त विशेषज्ञ इस पर बल देते हैं कि सभासदों को स्वतंत्रता तथा स्पष्टता से अपने विचार प्रकट करना चाहिए और राजा को उनके परामर्श पर भलीभाँति ध्यान देना चाहिए। परिषद् अपनी शक्तियों का प्रयोग करती थी। वह राजा की अनुपस्थिति में कार्य-संचालन कर सकती थी तथा अशोक के शिलालेखों से पता चलता है कि यह छोटे-छोटे निर्णय राजा से परामर्श किए बिना लेने मे सक्षम थी। परिषद् के अधिकार तथा उसके परामर्श की बाध्यता का प्रमुख उदाहरण शक क्षत्रप रूद्रदामन के शासनकाल में मिलता है। रूद्रदाम ने जब गिरनार बाँध के पुनर्निर्माण के प्रश्न को अपने सभासदों के समक्ष रखा, जिन्होंने इसके प्रतिकूल परामर्श दिया जिससे रूद्रदमन को उनके परामर्श के विरुद्ध जब-धन के स्थान पर अपने निजी कोष के व्यय से पुनर्निर्माण का कार्य करने को बाध्य होना पड़ा। इसी प्रकार से परिषद् की शक्ति का उल्लेख कश्मीर के इतिहास में भी मिलता है जहां मंत्रिपरिषद् द्वारा राजा को सिंहासनच्यूत करने तथा अन्य राजा को अपने उत्तराधिकारी के नामांकन को परिषद् द्वारा रद्द करने की जानकारी मिलती है।[3]

---

1 ईश्वरी, प्रसाद प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म तथा दर्शन, पृ. 123

2 The Theory Of Government in Ancient India. P.No. 17

3 State And Government in Ancient India. P.No. 95

राज्य प्रशासन की कुशलता राजा और उसके कर्मचारियों के गुणों पर निर्भर थी अत: प्राचीन नीतिशास्त्रों में राज्य कर्मचारियों की नियुक्ति उसकी योग्यता देखकर तथा उसके गुणों की परीक्षा कर उसका चयन करना चाहिए। उन मंत्री को जिन्हें वह आमात्य कहता है उनके परीक्षण हेतु अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में एक संपूर्ण अध्याय में केवल इसी बात पर विचार किया है कि आमात्यों के गुप्त आचरण की परीक्षा किन-किन उपायों से कि जाये। कौटिल्य इसे उपधा परीक्षण कहता है आमात्यों के चरित्र एवं गुणों के परीक्षण हेतु भिन्न-भिन्न प्रकार प्रलोभन रखे जाते है। कौटिल्य इस परीक्षण के अनुरूप ही मंत्री पद सौंपने की अनुशंसा भी करता है कौटिल्य कहता है जो धर्मोपदा (अर्थात् धर्म के द्वारा) परीक्षा किया गया जाय। जो अर्थोपधा शुरु हो, उन्हें समाहर्ता (कर वसूल करने वाला) सन्निधाता (कोषाध्यक्षय) आदि पदों पर नियुक्त किया जाय)। जो कामोपधा हो उन्हें बाहर भीतर के क्रीड़ा-स्थानों तथा स्त्रियों की रक्षा हेतु नियुक्त किया जाय। भयोपधा शुद्ध आमात्यों को राजा अपने समीप ही किन्हीं कार्यो पर नियुक्त करने हेतु कहता है। कौटिल्य भिन्न-भिन्न आमात्यों की नियुक्ति के विषय में लिखकर कहता है कि "जो आमात्य सर्वोपधा शुद्ध" अर्थात् वो सब तरह से परीक्षा किये जाने पर योग्य प्रमाणित हो, उन्हें मंत्री बनाया जाए।[1]

कौटिल्य के समान मनु भी कहता है कि परीक्षा के उपरांत ही मंत्री पद सौंपना चाहिए।[2] मंत्री पद की परीक्षा के अतिरिक्त इसके लिए कुछ वांछित गुणों की भी अभिशंषा की गई हैं कौटिल्य प्रधानमंत्री पद के लिए आवश्यक गुणों के संदर्भ में लिखता हैं कि वह स्वेदशोतपन्न, कुलीन, निपुण सवार, ललित कलाओं का ज्ञाता, अर्थशास्त्र का विद्वान, बुद्धिमान, चतुर, वाक्पटु, सहिष्णु, उत्साही, प्रतिवाद तथा प्रतिकार करने में समर्थ तथा निराभिमानी होना चाहिए। जिनमें इसके एक-चौथाई या आधी योग्यताएं हो उन्हें मध्यम या निकृष्ट समझना चाहिए।[3] मनु पवित्र, बुद्धिमान, स्थिर स्वभाव और संमार्ग से धन लानेवाले को

---

1 कौटिल्य की शासन पद्धति, पृ. 75

2 मनुस्मृति, पृ. 217

3 वाचस्पति गैरोला, कौटिल्यीय अर्थशास्त्रम् पृ. 23

मंत्री पद के योग्य मानता है।[1] मंत्रिपरिषद् की संख्या या आकार भिन्न-भिन्न रहता था। प्राचीन राजनीतिक शास्त्रों में इनकी संख्या सात से लेकर सैंतीस तक मिलती है। मनु सात से आठ मंत्री रखने की सलाह देता है।[2] बृहस्पति 'सोलह' तथा शुक्राचार्य 'बीस' मंत्रियों को राजकार्य हेतु उपर्युक्त मानता है। इस संदर्भ में कौटिल्य का मत भिन्न है, उसका मानना है कि 'कार्य करने वाले मनुष्यों के सामर्थ्य के अनुसार ही उनकी संख्या नीयत होनी चाहिए।[3] कौटिल्य का मत उपर्युक्त प्रतीत होता है। क्योंकि देश, काल एवं कार्य की आवश्यकता मंत्री पद की संख्या निर्धारण का प्रमुखत: आधार था जिस वजह से भिन्न-भिन्न राजवंश एवं काल में मंत्रिपरिषद् की संख्या भिन्न-भिन्न रही। ए. एल. बाशम का मानना है कि मंत्रिपरिषद् का आकार विस्तृत न होकर के छोटा ही होता था।[4]

मंत्रियों के पद नाम भी महत्वपूर्ण होता है किंतु सभी कालों में इनमें समानता नहीं दिखाई देती है। भिन्न-भिन्न विभागों के पद नाम समय-समय पर बदलते रहे हैं। मनु मंत्रियों के लिए सचिव शब्द का प्रयोग करता है, जिसका अर्थ होता है-सहायक या साथी। अर्थशास्त्र में मंत्री के लिये साधारणत: अमात्य शब्द आया है (जिसका अर्थ है एक साथ रहने वाला) रामायण में भी साधारणत: अमात्य शब्द का ही व्यवहार हुआ है; परतु सचिव लोग मंत्रियों से भिन्न बतलाए गए है।[5] सामान्यत: मंत्री के लिए सचिव एवं अमात्य शब्द का ही प्रयोग होता था। इन मंत्रियों में युवराज, पुरोहित एवं सेनापति सबसे प्रमुख माने जाते थे यद्यपि कुछ विचारक युवराज व पुरोहित को मंत्रिपरिषद् का अंग नहीं मानते थे। गुप्त मंत्रिमण्डल में पुरोहित के रूप में आमात्य का उल्लेख नहीं मिलता है। तथापि पुरोहित के स्थान पर एक पदाधिकारी की नियुक्ति का उल्लेख मिलता है। जो धार्मिक तथा आचरण संबंधी बातों का निरीक्षण करता था उसे 'विनयस्थिति

1 अद्भुत भारत, पृ. 68
2 मनुस्मृति, पृ. 216
3 कौटिल्यीय अर्थशास्त्रम्, पृ. 47
4 अद्भुत भारत, पृ. 68
5 हिंदू राज्य तंत्र, पृ. 245

संस्थापक' कहा गया था।[1] शुक्रनीति में जिन आठ मंत्रियों का उल्लेख मिलता हैं उनके नाम आचार्यों के निम्न बताएं है-

1. सुंमत्र या अर्थ मंत्री
2. पंडितामात्य या धर्मशास्त्र का ज्ञाता मंत्री
3. मंत्री या गृह विभाग का मंत्री
4. प्रधान या मंत्रिपरिषद् का सभापति
5. सचिव या युद्ध मंत्री
6. अमात्य या भूकर ओर कृषि विभाग का मंत्री
7. प्राडविवाक या न्याय विभाग का मंत्री और प्रधान न्यायधीश
8. प्रतिनिधि[2]

उपर्युक्त के अतिरिक्त दो और मंत्री की श्रेणी में रखे गये है-

9. पुरोहित या धार्मिक कृत्यो का मंत्री
10. दूत या राजनीतिक विभाग का मंत्री

काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार शिवाजी ने शुक्रनीति में वर्णित आठ मंत्रियों की संख्या के अनुरूप अष्ट-प्रधान मंत्रीमण्डल का गठन किया था।[3] उपर्युक्त पदों के बौद्ध ग्रंथों में भिन्न नाम मिलते है जैसे- महामंत्री, महापात्र, दोषमापक, सत्थी, बोहरिक, हिरण्यक आदि।[4] मंत्री पद की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता ये वंशानुगत भी होते थे। गुप्त काल में उदयगिरी के गुहालेख से जानकारी मिलती है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के मंत्री वीरसेन ने मंत्र पद वंशानुगत रूप से प्राप्त किया था। दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता एक व्यक्ति के पास एक से अधिक पद भी होते थे। प्रयाग प्रशस्ति का उल्लेख हरिषेण महादंडनायक, सन्धिविग्रहक एवं कुमारामात्य के पद पर प्रतिष्ठित था।[5]

---

1 वासुदेव उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ. 9

2 प्रतिनिधि का कार्य निश्चित नही हो पाया है।

3 हिंदू राज्य तंत्र, पृ. 239

4 प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला राजनीति, धर्म तथा दर्शन, पृ. 126

5 गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भा. 2, पृ.8

प्रांतीय एवं स्थानीय प्रशासन

प्राचीन भारतीय राज्य प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से विभिन्न छोटी प्रशासनिक इकाईयों में बंटे हुए थे इनका विभाजन राज्य, प्रदेश, जिलों, तालुका तथा गाँवों में विभाजन था। राज्य की विभिन्न प्रशासनिक इकाईयों का उल्लेख वैदिक ग्रंथों में भी मिलता है। जहाँ राज्य का विभाजन-: कुल, ग्राम, विश, जन, के रूप में मिलता है। कहीं-कहीं राष्ट्र का भी उल्लेख मिलता हैं। कुल या परिवार राज्य की सबसे छोटी इकाई का एक प्रमुख होता था जैसे कुल का प्रमुख 'कुलप', ग्राम का 'ग्रामणि', विश: का 'विशपति' तथा जन का प्रमुख 'जनस्य गोपा' कहलाता था।[1] समय के साथ या लौहे के प्रयोग के बाद साम्राज्य विस्तार की प्रक्रिया प्रारंभ हुई जन से जनपद और महाजनपदों का निर्माण हुआ। बड़े-बड़े साम्राज्यों के निर्माण से प्रांतीय एवं स्थानीय अधिकारियों की शक्ति में वृद्धि की। प्रातीय प्रशासन मौर्य काल में अधिक परिष्कृत हुआ।[2] मौर्य साम्राज्य चार प्रांतों में विभाजित था। इन प्रांतों का प्रशासन सामान्यत: राजकुमारों को सौंपा जाता था जो कि 'कुमार' कहलाते थे। राजपरिवार के अतिरिक्त भी अन्य व्यक्तियों को भी प्रांतों के राज्यपाल के रूप में नियुक्त करने की परंपरा थी। इसकी जानकारी रूद्रदामन के जुनागढ़ लेख में मिलती है। कठियावाड़ (सौराष्ट्र) प्रान्त में चन्द्रगुप्त के समय वैश्य पुष्यगुप्त का और अशोक के समय यवन राजा तुशास्प का शासन था।[3] मौर्यो के समान गुप्त काल में भी सुव्यवस्थित प्रांतीय प्रशासन प्रचलित था, जिसके लिए देश 'शब्द का प्रयोग मिलता है। दामोदर ताम्र पत्र में प्रांतीय शासक को 'उपरिक महाराज' कहा जाता था। इसके अतिरिक्त प्रांतीय शासक की राष्ट्रीय भोगिक, भोगपति तथा गोप्ता आदि पदवियां मिलती हैं। उपरिक महाराज का पद राजकुमारों को ही मिलता था। वैशाली की मुहरों से ज्ञात होता हैं कि तीराभुक्ति का शासक चंद्रगुप्त द्वितीय का पुत्र गोविन्दगुप्त था। प्रांतीय प्रशासन में भी केंद्रीय शासन के समान राज्यपाल की सलाह एवं सहायता के लिए मंत्रिमण्डल होता था।[4] मौर्य प्रांतीय प्रशासन में भी कुमार अपने शासनाधीन प्रान्त में पूर्ण

1 प्राचीन भारतीय धर्म, दर्शन, कला एवं राजनीति, पृ. 44

2 पूर्वकालीन भारती, पृ. 294

3 डी. आर. भण्डारकर; अशोक, पृ. 43

4 गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भा. 2, पृ. 32

स्वायत्त नहीं था अपितु वह मंत्री मण्डल की सहायता से कार्य करता था। अशोक जब प्रांतीय सरकारो को संबोधित करता है तो वह सिर्फ कुमार को संबोधित नहीं करता था अपितु धौलि और जौगड़ के शिलालेखों से पता चलता है कि वह कुमार और उसके महामात्रों को सम्मिलित रूप से आज्ञाएं जारी करता है।[1] प्रांतों का विभाजन संभाग में था जिसका निर्माण तीन या चार जिलों को मिलाकर किया जाता था। गुप्त एवं प्रतिहार काल में यह 'भुक्ति' राष्ट्रकूट के काल में 'राष्ट्र' तथा चोल व चालुक्यों के शासन काल में इसे 'मण्डल' कहा जाता था। अल्तेकर अशोक के अभिलेखों में वर्णित राजुका की तुलना वर्तमान के संभागीय आयुक्त से करते है।[2]

संभाग जिलों में विभाजित था। जिले का उल्लेख सामान्यत: प्राचीन काल के प्रशासन में 'विषय' के रूप में मिलता है। 'विषय' के अतिरिक्त ये 'आहार' एवं 'दक्षिण' में 'नाडू' के रूप में जाना जाता था। विषय का प्रमुख 'विषयपति' कहलाता था। जिलाधीशों की नियुक्ति में सभी काल एवं वंश में समानता नहीं थी। इनकी नियुक्ति केन्द्र एवं प्रादेशिक राज्यपालों के द्वारा की जाती थी। वे वर्तमान की भारतीय प्रशासनिक सेवा के समान न्याय एवं शासन संबंधी कार्यो को संयुक्त रूप से करते थे। जिलाधिकारी की सहायता हेतु भी एक समिति होती थी विशेषकर गुप्तकाल में उल्लेख मिलता है कि जिला अधिकारियों के निर्णय प्रतिष्ठित नागरिकों की एक सभा के परामर्श द्वारा किये जाते थे जिसमें मुख्य महाजन, मुख्य कारवाँ नेता, मुख्य शिल्पकार तथा मुख्य कायस्थ सम्मिलित होते थे। परिवार के ये सदस्य अपने-अपने संघ के अध्यक्ष होते थे इसी तरह की मिलती-जुलती परिषद् चोल शासन में विद्यमान थी जिन्हें स्थानीय करों को लगाने तथा केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधियों की सहमति से न्याय संबंधी कर्त्तव्यों का पालन करने संबंधी विस्तृत अधिकार प्राप्त थे।[3]

---

1 अशोक, पृ. 47

2 State and government in Ancient India. P.No. 160
राजबली पाण्डे, अशोक के अभिलेख पृ. 24

3 अद्भुत भारत, पृ. 71; State and Government in Ancient India, P.No. 162 ; अशोक, पृ. 47

प्राचीन काल में स्थानीय संस्थाएं केन्द्रीय शासन और नियंत्रण से मुक्त थी और लगभग पूर्ण स्वतंत्रता का उपभोग करती थी। जैसे-जैसे राज्यों का विस्तार होता गया, स्थानीय प्रबंध कार्य हेतु पृथक् व्यवस्था की आवश्यकता होने लगी।[1] शहरी प्रशाषन का अधिकारियों का अपना अलग सोपान था। नगर-अधीक्षक कानून और व्यवस्था के लिए जिम्मेदार था और नगर की स्वच्छता का ध्यान रखता था। उसकी सहायता के लिए एक लेखाकार और एक कर-संग्राहकर करता था, जिसके कार्य अपने ग्रामीण प्रतिरूपों के समान थे। मेगस्थनीज ने पाटलीपुत्र के प्रशासन का तो वर्णन किया वह कौटिल्य की वर्णित शासन पद्धति से भिन्न हैं। मेगस्थनीज तीस सदस्यों की एक संस्था द्वारा नगर प्रशासन संचालित होने की जानकारी देते हैं। मेगस्थनीज के अनुसार नगर का प्रशासन पांच-पांच सदस्यों की छः समितियों में संगठित तीस अधिकारी चलाते थे। प्रत्येक समिति निम्न लिखित में से एक-एक दायित्व का निर्वाह करती थी औद्योगिक कलाओं से संबंधित प्रश्न, दूरस्थ स्थानों से आने वाले का कल्याण, जन्म-मृत्यु का पंजीकरण, वाणिज्य-व्यापार से संबंधित मामले, तैयार माल की सार्वजनिक बिक्री की देख-रेख, और बेची गई वस्तुओं पर करों की वसूली (कर विक्रय-मूल्य का दस प्रतिशत होता था)। कौटिल्य नगर के प्रमुख अधिकारियों के रूप में समाहर्ता, नागरक, गोप, स्थानिक एवं प्रदेष्टा का उल्लेख करता है।[2] गुप्त काल में नगरीय प्रशासन में गिल्ड की महत्वपूर्ण भूमिका थी। शहरी प्रशासन में संगठित व्यावसायिक संस्थाएं पर्याप्त स्वायत्तता का उपभोग कर रही थी। उन्होंने अपनी सत्ता दर्शाने के लिए अपने सिक्के भी जारी कर दिये थे। जिससे पता चलता है कि शासन प्रबंध उन्हीं के हाथ में था यद्यपि संघों (गिल्डों) का उल्लेख पूर्व-गुप्तकाल की विधि पुस्तकों में भी मिलता हैं, परंतु उनके कामकाज और व्यापार सहयोग के संबंध में विस्तृत कानून गुप्तकाल के विधि-विशेषज्ञों ने ही बनाएं। निगमित संस्थाओं की न्याय-प्रशासन में भी भूमिका थी। कानून-संहिता में न्यायालयों की तीन श्रेणियों का उल्लेख है जिनसे होकर ही अंतिम अपील सम्राट

1 कौटिल्य की शासन पद्धति, पृ. 113

2 कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ. 244 ; पूर्वकालीन भारत, पृ. 249

के सम्मुख पहुँच सकती थी। इसलिए स्पष्ट है कि गुप्तकाल में गिल्डें न केवल अपने सदस्यों के मामलों को देखती थी अपितु अपने नगरों के मामलो में भी दखल रखती थी। परिणामस्वरूप शासन नगरों के प्रशासन से अंशत: मुक्त था और शिलालेखो में ऐसे शासकीय अधिकारियों का जिक्र नहीं है। जिन्हें विशेष रूप से इस कार्य के लिए नियुक्त किया गया हो।[1] नगर एवं जिलों में कानून एवं व्यवस्था को बनाएं रखने हेतु पुलिस अधिकारियों का भी वर्णन मिलता है। पुलिस अधिकारियों के रूप में दण्डपाशिक, दाण्डिक, चौरद्वारणिक, चाट एवं भाट प्रमुख थे।[2]

ग्राम प्रशासन

स्थानीय स्वशासन के रूप में ग्राम संस्थाओं का भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रहा हैं इन ग्राम संस्थाओं ने विभिन्न राजनीतिक उथल-पुथल के दौर में भी अपनी स्वतंत्रता, समग्रता तथा विशिष्टता को युगों तक बनाएं रखा। ग्राम संस्थाओं की इन्हीं विशेषताओं की प्रशंसा ब्रिटिश इतिहासकार सर जार्ज बर्डबुक एवं चार्ल्स मेटकॉफ ने की हैं। सर जार्ज बर्डबुड लिखते है कि "भारत विश्व के किसी अन्य देश की तुलना में कई राजनैतिक एवं धार्मिक क्रांतियों से गुजरा जो कई परिवर्तनों का कारक बना किंतु संपूर्ण प्रायद्वीप में ग्रामीण समाज ने अस्तित्व को इन परिवर्तनों से सुरक्षित बनाएं रखा। शक, ग्रीक, अफगान, मुगल एवं मराठे पहाड़ों से निकलकर तथा पुर्तगाल, डच अंग्रेज, फ्रांस एवं डेनमार्क आदि देश समुद्र से आकर भारतीय भूमि पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल रहे किंतु गाँवों के इन धार्मिक श्रमिक-संघ पर केवल नगण्य सा प्रभाव डालने में सफल रहें। यह प्रभाव भी बस उतना ही था जितना की ज्वार के समय पानी के चढ़ते और उतरते समय किसी चट्टान पर पड़ता हैं। सर चार्ल्स मेटकॉफ ने उन्हें 'लघु गणराज्य' की संज्ञा प्रदान की।[3]

---

1 कुणाल चक्रवर्ती, "गुप्तकालीन प्रशासन: एक समीक्षा" प्राचीन भारत, पृ. 127

2 The state in Ancient India, P.No. 299

3 Mookerji, Radhakamal, Local Government in Ancient India. P.No. 2

समस्त युगों में ग्राम सरकार की एक इकाई रही है। दक्षिण में कभी-कभी उत्तर में जिलों का वर्गीकरण उतने ग्रामों की संख्या के अनुसार हुआ करता था जो उनमें होने चाहिए, जैसे की गंगावादी में 96,000 अथवा निदगुनदीघ में 12 ग्राम थे। पूर्व मौर्यकाल से ग्राम के समूहों पर लेखपालों की नियुक्ति होती थी और स्वयं ग्रामों में दो तत्व जो आज तक विद्यमान हैं। सरकारी नियंत्रण की श्रृंखला की अंतिम कड़ी के प्रतिनिधि थे गाँव के मुखिया और ग्राम परिषद्। ग्राम परिषद् के मुखिया के संदर्भ में दो प्रकार की व्यवस्था दिखाई देती है एक ये वंशानुगत भी था तो चुनाव द्वारा भी चुना जाता था। मुखिया का पद सामान्यत पैतृक था, यद्यपि वह राजा का प्रतिनिधि समझा जाता था, जो उसकी इच्छा पर हटाया जा सकता था। वह साधारण रूप से अधिक सम्पन्न कृषकों में से होता था उसको कर-मुक्त भूमि पारिश्रमिक के रूप में, वस्तु के रूप में अथवा दोनों दी जाती थी। बड़े ग्रामों में उसका उत्तरदायित्व महत्वपूर्ण होता था। उसके पास ग्राम के कुछ कर्मचारी जैसे अंकक, प्रतिहारी तथा एक कर-संग्रहक रहता था। ये पद बहुधा पिता से पुत्र को हस्तांतरित होते रहते थे तथा मुखिया की भांति उनको भी उसी प्रकार से पारितोषिक दिया जाता था।[1]

ग्राम-शासन को बेहतरीन नमूना शासन के अंतर्गत दिखाई देता हैं। इसके संबंध में विस्तृत जानकारी उत्तरमेरूर से प्राप्त 919 तथा 929 ई. के दो लेखों से मिलती है। चोल शासन की सबसे उल्लेखनीय विशेषता स्वायत्तशासी ग्रामीण संस्थाओं की असाधारण शक्ति तथा क्षमता में दिखती है। प्रत्येक ग्राम की अपनी एक सभा होती थी जो प्राय: केन्द्रीय नियंत्रण से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से ग्राम-शासन का संचालन करती थी। ग्रामों में मुख्यत: से प्रकार की संस्थाए कार्यरत थी- उर एवं सभा। उर, ग्राम के सभी मनुष्यों की संस्था थी जबकि सभा केवल अग्रहार (ब्राह्मणों को दान में दिए गए) ग्रामों में होती थी। ये संस्थाएं समितियों के माध्यम से कार्य करती थी जिसे 'वारियम' कहा जाता था। 'वारियम' के सदस्यों को मनोनित या नियुक्त नहीं किया जाता था अपितु इसका चुनाव होता था जो लॉटरी पद्धति (कुडवोलै पद्धति) पर आधारित थी।[2]

---

1 अद्भुत भारत, पृ. 73

2 A.K. Nilakant Sastri. History of South India. P.No. 103 के. सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ. 173

हर्ष के बाद की स्थिति

हर्ष की मृत्यु के बाद राजनीतिक एकता खंडित हो गई विशेषकर की उत्तर भारत की। जिस प्रकार छठी शताब्दी के अंतिम चरण में गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ भारतीय इतिहास के महान युग का अंत हो गया। गुप्त साम्राज्य के पतन का सबसे बड़ा परिवर्तन भारतीय राजनीतिक शक्ति के केन्द्र का परिवर्तन था। मगध जो करीब एक हजार वर्ष से अधिक भारतीय राजनीति का केन्द्र बिंदु रहा था, परंतु गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ ही मगध का वह महत्त्व हमेशा के लिए समाप्त हो गया तथा मगध का स्थान कन्नौज ने ले लिया था। हर्ष की मृत्यु के बाद स्वतंत्र सत्ता के विविध केंद्र उठ खड़े हुए थे। इन्हें राज्यों के बीच कन्नौज के आधिपत्य को लेकर दीर्घकाल तक संघर्ष चला था।[1] हर्ष की मृत्यु के बाद जिन क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना हुई उनमें एक महत्वपूर्ण साम्यता थी कि वे 'राजपूत' राज्य थे। सर विंसेट स्मिथ लिखते है कि सातवीं शताब्दी ई. के लगभग 'राजपूत' हिंदूस्तान के इतिहास के रंगमच पर अवतीर्ण होते है। चूंकि इन नवोदित प्रांतीय राज्यों में अधिकांश राजपूत राजवंश राज्य कर रहे थे अत: इस काल खंड को राजपूत युग की भी संज्ञा प्रदान की जाती हैं भारत का मध्यकालीन इतिहास इन्हीं राजपूत राजाओं एवं मुस्लिम शासकों के सहयोग एवं संघर्ष का इतिहास है।[2]

मेवाड़ में गुहिल वंश की स्थापना

मेवाड़ राज्य वंश सूर्यवंशी है जिसका संबंध रामचंद्र के ज्येष्ठ पुत्र कुश के वंश से है। कुश के वंश के अंतिम राजा सुमित्र तक की वंशावली पुराणों में दी हुई है, फिर उस वंश में 568 ई. के आसपास मेवाड़ में गुहिल नाम का शासक हुआ , जिसके नाम पर उसका वंश 'गुहिल वंश' कहलाया। समरसिंह के लेख में गुहिल , भेराघाट के लेख में गोभिलपुत्र , हांसी के लेख में गुहिलोत तथा चित्तौड़ की प्रशस्ति में गौहिल्य नाम मिलते है। इस वंश की एक शाखा सीसोदा गांव में रही , जिससे यहां की शाखा सीसोदिया कहलाई।[3]

---

1 हरीश चंद्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, भा. 1, पृ. 1

2 बी. एल. लुणिया, पूर्व मध्यकालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 9, चिंतामणि विनायक वैद्य, हिन्दू भारत का उत्कर्ष, पृ. 6

3 उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1 पृ.83

राजस्थान में गुहिलों विस्तार

गुहिल वंश की कई शाखाओं का उल्लेख मिलता है किंतु इनमें मुख्य आहड़ के गुहिल ही थे। गुहिल वंशीय शासकों ने पहले स्वंय को मेवाड़ में मजबूत किया तत्पश्चात् इस वंश के अन्य प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने अन्य स्थानों पर जा कर अपना भाग्य आजमाया। चूंकि इन सबमें गुहिल ही सबसे अधिक शक्तिशाली थे, अतः इनके वंशज जहाँ-जहाँ जाकर बसे और जहाँ-जहाँ भी उन्होंने अपने राज्य स्थापित किये, उन्होंने अपने आप को गुहिल वंशीय ही माना। इन सभी शासकों ने अपनी शाखाओं के वंशक्रम को भी गुहिल से ही आरंभ किया। गुहिल वंश की विभिन्न शाखाओं की जानकारी 7वीं शताब्दी से लेकर 15वीं शताब्दी तक मिलने वाले शिलालोखों और ताम्रपत्रों से मिलती है। रावल समरसिंह के समय वि. सं. 1331 (ई. सं. 1274) की चित्तौड़ की प्रशस्ति में गुहिलवंश की अनेक शाखाओं का उल्लेख मिलता है। मुहणोत नैणसी ने भी अपनी ख्यात में गुहिलों की 24 शाखाओं की जानकारी दी है। टॉड ने भी गुहिलों की 24 शाखाओं के बारे में बताया है। यद्यपि नैणसी और टॉड की नामावली में थोड़ी भिन्नता है। गुहिल वंश की 24 शाखाओं में कल्याणपुर के गुहिल, वागड़ के गुहिल, चाटसू के गुहिल, मारवाड़ के गुहिल, धोड़ के गुहिल, काठियावाड़ के गुहिल, मेवाड़ के गुहिल आदि प्रसिद्ध है।[1]

मेवाड़ का प्रशासन

किसी राज्य को सुव्यस्थित रूप से संचालित करने हेतु एक सुदृढ़ प्रशासनिक व्यवस्था की आवश्यकता होती है। अतः प्राचीन राजनीतिक विचारकों ने राज्य एवं प्रशासन पर बहुत लिखा है जो कि परवर्ती राज्य एवं वंश के लिए एक मार्गदर्शक बना। मध्यकालीन राजपूत प्रशासनिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले महत्वपूर्ण स्त्रोतों का अभाव है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, शुक्रनीतिसार तथा आईन-ए-अकबरी जिस प्रकार तत् समय की प्रशासनिक स्थिति पर विस्तृत

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास भा. 1, पृ. 98; वीर विनोद भा. 1, पृ. 187; नैणसी की ख्यात भा. 1, पृ. 98; Annals and Antiquities of Rajasthan Vol. 1 P. No. 71; E.I. Vol. 34, P. No. 167

जानकारी प्रदान करते है उस प्रकार की जानकारी देने वाले कोई महत्वपूर्ण स्त्रोत राजपूत प्रशासन पर नहीं मिलते है।[1]

अतः मेवाड़ के मुगल पूर्व प्रशासन को समझने के लिए मेवाड़ के पड़ोसी राज्यों के प्रशासन एवं शिलालेख, दानपत्रों के सुक्ष्म अनुसंधान द्वारा प्रचलित प्रशासनिक व्यवस्था को समझा जा सकता है। मेवाड़ का प्रशासन युगों तक अनवरत बिना परिवर्तन एक सा नहीं रहा बल्कि समय एवं परिस्थितियों के साथ इसमें परिवर्तन होते गए। मेवाड़ की प्रशासनिक व्यवस्था को राज्य के निर्माण काल से लेकर आजादी तक के इतिहास को देखें तो इसे मोटे तौर पर तीन भागों में बांट सकते है। पहला भाग प्रारंभ से लेकर के मुगल संधि तक का काल, दूसरा मेवाड़-मुगल संधि से ब्रिटिश संधि तक का समय, तीसरा भाग ब्रिटिश संधि से लेकर आजादी तक का समय। ई. सन् 1615 के बाद में मेवाड़ का प्रशासन साम्राज्यवादी ताकत मुगल तथा बाद में ब्रिटिश के संपर्क में आने के बाद उनकी शासन पद्धति का प्रभाव मेवाड़ में भी दिखाई देता है। प्रथम भाग में मेवाड़ का प्रशासन कौटिल्य एवं उसके बाद चली आ रही परंपरा से प्रभावित था तथा इसका सर्वाधिक प्रभाव मेवाड़ के आस-पास तथा पूर्ववती राज्यों में प्रचलित शासन प्रणाली से दिखाई देता है। मुगल एवं ब्रिटिश काल की प्रशासनिक व्यवस्था पर जानकारी देने हेतु विस्तृत पुरालेखीय साम्रगी उपलब्ध है किंतु मुगल पूर्व प्रशासनिक व्यवस्था की जानकारी के स्त्रोत बेहद समीति है। शिलालेखों, दानपत्रों तथा परवानों से ही कुछ जानकारी प्राप्त होती है जिसके आधार पर पूर्व प्रचलित प्रशासनिक व्यवस्था की रूपरेखा खींची जा सकती है।[2]

मध्यकालीन शासक और उनके आदर्श

हर्ष की मृत्यु के बाद उत्तर भारत में गुर्जर-प्रतिहार एवं पूर्वी भारत में पाल ये दो महत्वपूर्ण शक्तियों के रूप में उभरे। कन्नौज को लेकर इन शक्तियों में

1 Early Chauhan Dynasty, P. no. 193

2 G. N. Sharma, 'Administrative System in Rajasthan 1200-1900A.D.' Krishna Gopal Sharma. Ed. History and Culture of Rajasthan, Centre of Rajasthan Studies. P. No. 447

दीर्घकाल तक संघर्ष चलता रहा। राजस्थान एवं उसके समीपवर्ती क्षेत्र में गुर्जर-प्रतिहार एवं परमार प्रमुख शक्ति थे जिन्होंने एक वृहद् साम्राज्य का निर्माण किया। गुर्जर-प्रतिहार एवं परमार शासकों के अधीन कई छोटे-छोटे राज्य थे जो इनके सामंत थे। गुर्जर-प्रतिहार एवं परमारों की शक्ति क्षीण होने के बाद इन छोटे-छोटे राज्यों ने स्वंय को स्वतंत्र घोषित कर दिया तथा स्वंय को प्रभुतासम्पन्न शासक के रूप में स्थापित कर दिया। स्वतंत्र हुए इन छोटे-छोटे राज्यों के शासकों ने स्वंय को अन्य शासकों से अधिक प्रभावशाली तथा महत्वपूर्ण बताने हेतु भारी-भारी विरूद धारण किए जैसे- महाराजाधिराज, राजराजेश्वर, नृपेन्द्र आदि। शासकों के आश्रित कवि या लेखक इन्हें इसी प्रकार के विरूद से सम्बोधित करते थे।[1]

मेवाड़ में तत् समय के अनुरूप ही राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था प्रचलित थी। राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था का केन्द्र बिंदु राजा होता था। मेवाड़ के शासन की धुरी इसके प्रशासन के सर्वोच्च पर स्थित राजा होता था जिसकी उपाधि पूर्व में रावल तथा बाद में महाराणा होती थी। राजा के सभी अधिकार वंशानुगत प्राप्त होते थे किंतु शासक बनने में सामंतों की स्वीकृति की अप्रत्यक्ष महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। उत्तराधिकार के संदर्भ में सामान्य परंपरागत नियम था कि राजा का ज्येष्ठ पुत्र राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी माना जाता था। फिर भी ऐसे कई उदाहरण मिलते है जब शासक बनने में ज्येष्ठाधिकार का उल्लंघन किया गया तब सामंतों ने हस्तक्षेप किया। मेवाड़ में महारणा प्रताप[2] एवं जोधपुर में भीम सिंह[3] के शासक बनने में क्रमशः मेवाड़ एवं मारवाड़ के सामंतों की भूमिका मुख्य थी। सामान्यतः ज्येष्ठाधिकार के नियम का कठोरता से पालन किया जाता था किंतु ऐसे भी उदाहरण मिलते है जब ज्येष्ठ भाई द्वारा स्वेच्छा से छोटे भाई के पक्ष में अपना राज्याधिकार छोड़ दिया हो। महाराणा लाखा के समय उसके ज्येष्ठ पुत्र चूंडा द्वारा स्वेच्छा से छोटे भाई मोकल के पक्ष में अपना राज्याधिकार छोड़ दिया था।[4]

---

1 गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 500

2 उदयपुर राज्य का इतिहास भा. 1, पृ. सं. 366

3 जोधपुर राज्य इतिहास भा. 2, पृ. सं. 763

4 वीर विनोद, भा. 1, पृ. सं.310, नैणसी की ख्यात, भा. 1, पृ. सं. 85

शासक बनाने में सामंतों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रहती थी राव जोधा के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी चयन में भी सामन्तों की विशेष भूमिका रही। सामन्तों ने जोगा को अयोग्य जानकर उसके स्थान पर सातल को शासक बनाया था।[1]

अतः एक बार सामंतों के द्वारा जब किसी को शासक के रूप में स्वीकार कर लिया जाता तब उस राजा को सामंतों, राज्य एवं प्रजा से सभी प्रकार का पूर्ण सहयोग मिलता था।

प्राचीन एवं मध्यकालीन शासन व्यवस्था के अनुरूप ही महाराणा भी प्रशासनिक, न्यायिक, दण्ड व्यवस्था का प्रमुख तथा सेना का सर्वोच्च सेनापति होता था। राज्य के सभी प्रमुख पदों पर जिनमें दीवान एवं प्रधान जैसे प्रमुख पद भी होते थे उन्हें न केवल राजा के द्वारा ही नियुक्त किया जाता अपितु वे राजा की इच्छा तक ही अपने पद पर रह सकते थे। मध्यकाल के राजपूत शासक पूर्व प्रचलित परंपरागत आदर्शों के अनुरूप राजा का यह विशेष कर्तव्य था कि वह राज्य की सुरक्षा के साथ गाय एवं ब्राह्मणों की भी सुरक्षा करें। राजा द्वारा इसी अनुरूप गौ, ब्राह्मण प्रतिपालक की उपाधि भी धारण करते थे। वर्ण व्यवस्था को बनाएं रखने का दायित्व भी राजा का था। राजा को वर्णव्यवस्था का रक्षक कहा गया। प्राचीन काल में प्रचलित यह आदर्श उसी के रूप में मध्यकाल में भी प्रचलित रहें। शासक के यहीं कार्य उन्हें सतत् उद्बोधित करने के लिए प्रजा प्रायः उन्हें 'धर्मावतार' तथा 'माई-बाप' कहती थी। उनसे रामराज्य की अपेक्षा की जाती थी और उन्हें 'रामावतार' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। देश की रक्षा का भार उनके ऊपर होने से विशेष रूप से उन्हें खुम्माण पद से विभूषित किया जाता था।[2]

राजपद राज्य रूपी धुरी का केन्द्रबिन्दु था अतः राजा का शक्तिसम्पन्न होने के साथ ही उस शक्ति की सत्ता एवं अधिकारिता का वैधानिक होना आवश्यक था। राजपद में शक्ति एवं सत्ता को प्रतिष्ठित करने हेतु प्राचीन एवं

1 जितेन्द्र सिंह भाटी, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 190

2 राजस्थान का इतिहास, पृ. 501

मध्यकाल में राजत्व सिद्धांत की भिन्न-भिन्न व्याख्याएं दिखाई देती है। प्राचीन काल में सामान्यतः दो प्रकार के राजत्व सिद्धांत दिखाई देते है- रहस्यवादी एवं समझौतावादी। रहस्यवादी राजत्व सिद्धांत का प्रचलन प्राचीन हिंदू ग्रंथों में तथा मध्यकाल में मुस्लिम ग्रंथों में भी दिखाई देता है तथा समझौतावादी राजत्व सिद्धांत जैन एवं बौद्ध धर्म में प्रचलित था। प्राचीन एवं मध्यकाल में राजत्व का दैवीय सिद्धांत सर्वाधिक मान्य रहा। राजत्व के दैवीय सिद्धांत के अनुसार राजा में देवता का अंश होता है तथा यह पृथ्वी पर देवता का प्रतिनिधि है। बहुधा मध्यकालीन ग्रंथों में तो राजा की तुलना देवता के साथ की गई है तथा कई ग्रंथों में तो उसे देवता का अवतार ही घोषित किया गया है। पृथ्वीराजविजय में पृथ्वीराज तृतीय को राम का अवतार बताया गया है।[1]

शिवालिक लेख में इसी प्रकार का विवरण विग्रहराज चतुर्थ के लिए मिलता है।[2] एकलिंग महात्म्य व एकलिंग पुराण[3] तथा राजप्रशस्ति[4] में बापा को शिव के गण नंदी का अवतार बताया है तथा बाद में उसके पुत्र को विष्णु का अवतार बताया है। यह राजपद को प्रतिष्ठित करने हेतु किया जाता था। दैवीय सिद्धांत के माध्यम से यह स्थापित किया जाता कि राजा में दैवीय शक्तियां अंतर्निहित होती थी तथा उसके द्वारा किए गए कार्य किसी अन्य की सीमा से बाहर थे। मध्यकाल की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इस समय अपने वंश परंपरा एवं रक्त की शुद्धता पर अत्यधिक बल दिया जाता था। मध्यकाल के न केवल हिंदू शासक अपितु मुस्लिम शासक अपने को प्रतिष्ठित करने हेतु प्राचीन काल के प्रसिद्ध वंशों से अपना संबंध जोड़ते थे। सामान्यत: वंश थे जिनसे शासक वर्ग स्वंय को पुराणों में प्रचलित वंशावलियों के माध्यम से अपना संबंध स्थापित करते थे, जो निम्न थे- सूर्य वंश, चंद्र वंश, भोज वंश (ब्रहमा से), मनु वंश तथा अग्नि वंश।[5]

---

1 पृथ्वीराज विजय पृ. 139

2 Prithviraj Chauhan and his times, P. No. 83

3 श्रीकृष्ण जुगनू, भँवर शर्मा, श्रीमद् एकलिंगपुराणम्, पृ.67

4 राजप्रशस्तिः महाकाव्यम्, पृ. 30

5 The List of Kshatraya Rajput caste, P. No. 33

मेवाड़ के शासक स्वंय को सूर्य वंशीय राजपूत मानते है। मेवाड़ के शासकों का एक विरूद तो 'हिंदूआ सूरज' ही था, जो इन्हें सभी सूर्य वंशीय शासकों में सर्वाधिक प्रतिष्ठित वंश बताता है। मेवाड़ राजवंश के शासक परंपरा को सूर्य वंश से जोड़ने हेतु राजप्रशस्ति का द्वितीय सर्ग पूर्णतः इसी वंशावली से जुड़ा हुआ है जिसमें जलप्लावित पृथ्वी के बाद ब्रह्मा से प्रारंभ कर उसके पुत्र मनु एवं इक्ष्वांकु से होते हुए मेवाड़ की शासक परंपरा को जोड़ा है।[1]

राजस्थान में भाटी वंश को छोड़कर लगभग सभी वंश स्वंय को सूर्य वंश का बताते है जबकि भाटी राजपूत स्वंय को चन्द्र वंशी राजपूत होने का दावा करते है। राजा सभी शक्तियों का स्त्रोत था फिर भी वह निरंकुश नहीं था। राजा पर परंपरागत विधि एवं प्रथाओं का बंधन रहता था। वह सामान्यतः पूर्वजों द्वारा स्थापित परंपराओं एवं प्रथाओं का पालन एवं सम्मान करता था। इसके अतिरिक्त सामंत एवं नैतिक नियम भी राजा के कार्यों एवं नीतियों पर अंकुश रखते थे। राजा सामान्यतः किसी भी महत्वपूर्ण कार्य को करने से पूर्व सामंतों को अपने विश्वास में लेता था।[2]

महाराणा के गुण, कार्य एवं कर्तव्य

राजतंत्र शासन प्रणाली में राजा का पद राज्य रूपी धुरी का केन्द्र होता है। अतः शासन की कुशलता राजा की योग्यता पर निर्भर करती है। अतः राजनीतिक विचारक एवं धर्मशास्त्रों में राजा के लिए आवश्यक गुणों तथा उसके चारित्रिक विशेषताओं पर विस्तार से चर्चा कि है इनमें कौटिल्य, शुक्रनीतिसार, कामंदक नीतिसार, मनुस्मृति आदि कई ग्रंथ प्रमुख है। उपर्युक्त ग्रंथों में एक आदर्श राजा का चित्रण किया है जो कि प्रजा हित में कार्य करने वाला तथा भिन्न-भिन्न गुणों से सुसज्जित शासक हों तथा इसी प्रकार की कल्पना पूर्व मध्यकाल एवं मध्यकाल में लिखें गए ग्रंथों में भी हुई है। इन विचारकों ने इस पर विस्तार से लिखा है कि

1 राजप्रशस्ति महाकाव्य, पृ. 21

2 G.N. Sharma, 'Administrative System in Rajasthan 1200-1900 A.D.', Krishna Gopal Sharma. Ed. History and Culture of Rajasthan, Center of Rajasthan Studies. P. No. 447

एक आदर्श शासक कैसा हो सकता है तथा मध्यकाल में दरबारी रचनाकारों की रचनाओं में इन्हीं आदर्श शासक का चित्रण संरक्षक शासक का होता है।

राज्य की नीतियों का प्रतिबिंब राजा के चरित्र में होता है। जिस प्रकार कौटिल्य आमात्यों के लिए विशेष गुणों का होना आवश्यक मानता है अत: राजा जो शासन की धुरी है उसके लिए भी कौटिल्य ने एक अच्छे शासक में निम्न गुणों का होना आवश्यक माना है। कौटिल्य कहता है कि, "राज को महाकुलीन, धार्मिक, शास्त्रों के अनुरूप आचरण करने वाला, कृतज्ञ, दृढ़ निश्चयी, विचारशील, दुष्ट पक्ष को त्याग देने वाला, धान्य आदि का उचित विनियोग करने वाला, दूरदर्शी, उत्साही, संधि के प्रयोग को समझनेवाला, युद्ध करने में चतुर, सुपात्र को दान देने वाला, प्रजा को कष्ट न पहुंचाते हुए कोष को बढ़ानेवाला, काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलाता और चुगलखोरी से अलग रहने वाला, प्रियभाषी, वृद्धों के उपदेश तथा आचार को माननेवाला होना चाहिए।" इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने नैतिक गुणों पर विशेष जोर दिया।[1]

कामंदक के नीतिसार में भी कुशल प्रशासन हेतु राजा में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक माना हे। कामंदक के अनुसार एक अच्छे शासक में साहस के साथ राजनीति एवं अर्थशास्त्र का अच्छा ज्ञान होना चाहिए तथा वह उत्साह से पूर्ण हो। राजा को समृद्धि पाने हेतु निरंतर प्रयासरत रहना चाहिए। राजा में विनम्रता का गुण अति-आवश्यक है अगर उसमें विनम्रता है तभी वह शास्त्रोचित ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। वह उच्च कुलीन हो तथा अच्छा आचरण करने वाला हो, वाग्मिता हो, दृढ़ निश्चयी हो, धैर्यशील हो इन गुणों से युक्त शासक समृद्धि को प्राप्त कर सकता है।[2]

प्राचीन नीतिशास्त्रों में उद्धत विचार मध्यकालीन ग्रंथों में भी दिखाई देते है। महाराणा कुंभा एवं महाराणा रायमल के समय रचित एकलिंग पुराण के राजवर्णन अध्याय में राजा एवं उसमें अपेक्षित गुणों पर चर्चा की गई है। वेद मार्ग पर चलने वाला, जितेंद्रिय, विनम्र, ब्राह्मणों एवं श्रमणों का आदर करने वाला हो,

1 कौटिल्य कालीन शासन पद्धति, पृ. 57

2 Kamandak nitisar, P. No. 6

दया का भाव रखने वाला, धार्मिक, ईर्ष्या न रखने वाला हो, यज्ञकर्त्ता, विष्णु की भांति धर्मात्मा हो, दृढ़ प्रतिज्ञ हों।[1]

इसी प्रकार राजप्रशस्ति महाकाव्य में भी राजा के गुण एवं कार्य को बताया गया है। राजा ब्राह्मणों को दान देने वाला हों[2] तथा वह धर्म-कार्य में जिसकी रूचि हो तथा युद्ध-भूमि में शत्रुओं का संहार करने वाला हो।[3]

महाराणा तेजसिंह के गुणों का विशद वर्णन एक आदर्श शासक के चित्रण के रूप में दिखाई देता है। तेजसिंह को शास्त्रों का ज्ञाता एक बुद्धिमान शासक बताया है जो कि गुरू एवं ब्राह्मणों का आदर करता। योग्य व्यक्तियों को दान देता। युद्ध में शत्रुओं का विनाश करने वाला एक सहिष्णु एवं नीतिपालक शासक था। इसी तरह से समरसिंह की प्रशंसा भी एकलिंग महात्म्य में मिलती है। समरसिंह की तुलना देवताओं से करते हुए उसके चरित्र का का चित्रण किया गया है। जो शासक के गुणों के साथ उसमें दैवत्व के विचार को भी स्थापित करता है। समरसिंह के संदर्भ में एकलिंग महात्म्य में मिलता है कि, "वह परशुराम के समान दुष्टों का विनाशकर्त्ता, बृहस्पति के समान शाश्वत नीति का पालन करने वाला तथा राजा शिवि की तरह सत्पुरूषों के कष्टों को दूर करने वाला शासक समरसिंह था। समरसिंह किसी भी प्रकार के लोभ एवं व्यसन से दूर जन कल्याण करने वाला शासक था। परस्त्री के संसर्ग से दूर रहने वाला एक चरित्रवान शासक था।[4]

जीवंधर कृत अमरसार में भी राजा के गुण एवं कार्यों पर प्रकाश डाला है। लेखक ने राजा को सभी समस्त लोक का संरक्षणकर्त्ता माना है, क्योंकि राजा ही सब कार्य करने वाला होता है। राजा शासन की धुरी। गुहिल शासकों की विशेषता बताते हुए कहा है कि वे दान एवं बल में अन्य राजाओं से बढ़कर थे यह उनका

---

1 एकलिंग महात्म्य, पृ. 286-290

2 राज प्रशस्ति, पृ. 63

3 धर्मकार्ये मतेर्धरर्त्ता शत्रोर्हर्त्ता सदा रणे।
यदा राज्यस्य कर्त्ता भुवो भर्त्ताभवत्तदा।।9.8।। राज प्रशस्ति

4 एकलिंग महात्म्य पृ. 69

विरूद भी था।[1] एकलिंग पुराण के समान अमरकाव्यम् में भी एक पत्नीव्रत पर बल दिया गया है। राजा शत्रु का विनाश तथा ब्राह्मण का सत्कार करने वाला हो।[2] राजा समृद्ध हो।[3]

अमरसार में महाराणा अमरसिंह में अंतर्निहित गुणों पर प्रकाश डाला गया है। अमरसिंह के बारे में कहा गया है कि, "सबको आनन्द देने वाली राजनीति के कारण जो भगवान रामचन्द्र के समान आचरण करता है। भयंकर शत्रुओं के मदमत्त हाथियों को मारने में जो सिंह के समान हमेशा आचरण करता है वह महाराणा अमरसिंह मेवाड़ की भूमि पर अपने स्वामित्व में इन्द्र के समान आचरण करता है।"[4]

हिंसा, झूठ, चोरी, पराया धन और मर्यादा का उल्लंघन स्वंय को दुःख देने वाले हैं अतः अधर्म के इस मार्ग पर न जाकर धर्म के मार्ग पर चलना चाहिए। एक यशस्वी क्षत्रिय राजा का कत्तव्र्य है कि वह कुमार्ग पर चलने की बुद्धि के कारण अच्छे मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को रोकने वाले को, तथा गलत रास्ते पर जाने से रोके। एक आदर्श राजा वहीं है जो कभी निरपराध व्यक्ति को न मारें।[5]

एक आदर्श राजा के लिए निम्न गुणों का होना आवश्यक माना है-

- उच्च कुलीन, धैर्यशील।
- नीति का जानकार हो जिससे धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि हो सके।
- विकट परिस्थितियों में निर्णय लेने में सक्षम हों।

---

1 अमरकाव्यम्, पृ. 98

2 एकप्रिया वा हृतशत्रुमानः श्रीविप्रपूजासु गताभिमानः।।4.3।। अमरकाव्यम

3 अमरकाव्यम्, पृ. 110

4 सर्वानन्दद रानीतिवशतो यो रामचन्द्रायते, दुर्वाररिमदद्वि पौघ-हनने सिंहायते नित्यशः।
दानैरर्थिजनेप्सितार्थकरणे यः कल्पवृक्षायते, सन्मेवाड़ महीतलेऽमरपतिःस्वैशात् सुरेंद्रायते।।176।।
अमरसार

5 कुमार्ग-वुद्धया सुपथ-प्रबाधकं, विनिग्रहेदुत्पथयायिनं नृपः।
यः क्षत्रियः सोत्रयशोनिधिः भवेत्, विनापराधापहतौ न दक्षता।।107।। अमरसार

- राजा को दान देने वाला होना चाहिए।[1]
- प्रजा के सुख-समृद्धि का ध्यान रखने वाला हो।
- योग्यता को सम्मान देने वाला हो।
- साहसी किंतु विनयशील हो।
- राजा को सदैव उद्यमशील और उत्साही होना चाहिए।[2]

मेवाड़ में शासक परंपरा में गुण, कार्य एवं कर्त्तव्य में कुछ मामलों में सामान्य परिवर्तन के अतिरिक्त प्राचीन राजनीतिक शास्त्रों एवं नीतिकारों ने जिन योग्यताओं का वर्णन किया है सामान्यतः उन्हीं गुणों का उल्लेख मध्यकाल के मेवाड़ व अन्य ग्रंथों में मिलता है। मेवाड़ के शासन परंपरा में एक विशेष बात है जो कि उसे अन्य राज्यों के राजत्व सिद्धांत से अलग करती हैं वह है उसका 'एकलिंगनाथ' को मेवाड़ का शासक मानना। ऐतरेय ब्राह्मण में प्रचलित शासन पद्धति के अनुसार इस प्रकार के शासन को जिसमें मानव के स्थान पर देवता को राजा मानकर शासन कार्य सम्पादित किया जाता है उसे परमेष्ठी प्रकार का शासन कहा जाता है। इसी प्रकार देवता को शासक मानने की प्रथा विजयनगर साम्राज्य एवं उड़ीसा में पुरी में प्रचलित थी। जिस प्रकार मेवाड़ में एकलिंगनाथ को राज्य का शासक माना गया था उसी प्रकार विजयनगर साम्राज्य में विरूपाक्ष को राज्य का प्रमुख माना जाता था तथा पुरी में भगवान जगन्नाथ को। मेवाड़ के शासक स्वंय को शासक न मानकर भगवान एकलिंगनाथ का दीवान मानते थे। जब कभी वे एकलिंगनाथ के मंदिर में उपस्थित होते तो राजचिह्न को त्यागकर छड़ी धारण कर दीवान के रूप में एकलिंगनाथ के समक्ष उपस्थित होते थे।[3]

महाराणा द्वारा प्रसारित आदेश-पत्रों, दानपत्रों, शिलालेखों आदि में 'एकलिंग प्रसादातु' और 'दीवानजी आदेशातु' लिखा जाता था। यह महाराणा द्वारा अपने इष्टदेव को सम्मान था।[4]

---

1 अमरसार, पृ. 78

2 वही, पृ. 83

3 एकलिंग पुराण पृ. 287

4 मेवाड़ का राज्य प्रबंध, राजेन्द्र शंकर भट्ट, पृ. 21

मंत्रिपरिषद्

राजा को सहायता एवं सलाह के लिए ऐसे विश्वसनीय एवं योग्य व्यक्तियों की सदैव आवश्यकता रहती थी जो कि राज्य की सुरक्षा एवं उसके हित के लिए नीति निर्माण में सहायता करें। मुगल शासन की स्थापना के बाद विभिन्न पुरालेखीय सामग्री एवं ऐतिहासिक ग्रंथों में मेवाड़ प्रशासन एवं उससे जुड़े अधिकारी व उनके पदनाम की विस्तृत जानकारी मिलती है। मुगलों के आगमन से पूर्व के प्रशासन एवं उससे जुड़े अधिकारियों के बारे में जानकारी के स्त्रोत बेहद कम है मुख्यतः शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों से ही यह जानकारी प्राप्त होती है। सामंतसिंह के शिलालेख एवं एकलिंगजी से प्राप्त शिलालेख मुगल पूर्व मेवाड़ में प्रचलित प्रशासनिक अधिकारी के पदनाम एवं कार्यों की जानकारी प्राप्त होती है।[1]

प्राचीन राजनीतिक विचारकों ने भी सफल प्रशासन हेतु राजा के पास अच्छे मंत्रियों का होनो आवश्यक माना है। अतः प्राचीन राजनीतिक ग्रंथों में राज्य के लिए जिन सात अंगों को आवश्यक माना है उनमें आमात्य, मंत्री या दीवान की सबसे महत्वपूर्ण थे। यह राजा को प्रशासन के महत्वपूर्ण मामलों में सहायता एवं सलाह देता था। ऐसा कहा जाता है कि सबसे समझदार राजा भी सब कुछ नहीं जानता है, उसे भी सहायता की आवश्यकता रहती है। अतः प्रमुख एवं विश्वसनीय व्यक्तियों का समुह उसकी सहयता हेतु होता था। मंत्रियों का यह समूह मंत्री परिषद् या मंत्री मण्डल के नाम से जाना जाता। मंत्रियों को माहामात्य या सचिव या राजमंत्री भी कहा जाता था। मंत्रियों की संख्या के संदर्भ में शिलालेखों से विशेष जानकारी नहीं मिलती है। कौटिल्य ने भी संख्या के स्थान पर आवश्यकता पर अधिक जोर दिया। सोमदेव के नीति वाक्यामृत में मंत्रीपरिषद् में तीन, पांच या सात सदस्यों की अनुशंसा की गई है। मंत्रिपरिषद् के विस्तृत होने की अपेक्षा छोटे होने पर राजा का प्रभाव अधिक होता था तथा मंत्रणा की गोपनीयता भी तभी संभव थी। मंत्रीपरिषद् के प्रमुख मंत्रियों में सेनापति, संधि-विग्रह एवं पुरोहित मुख्य थे।[2]

---

1 G.N. Sharma, 'Administrative System in Rajasthan 1200-1900A.D.' Krishna Gopal Sharma.ed. History and Culture of Rajasthan Centre of Rajasthan Studies. P. No. 447

2 Jain Inscriptions of Rajasthan, P. No. 42

राजेन्द्र प्रकाश भटनागर का मानना है कि मेवाड़ के राजा धर्म-शास्त्रों के आधार पर शासन करते थे। अतः उन्होंने महाभारत में वर्णित पदों को प्रायः व्यवस्था का अंग बनाया। महाभारत में 'अष्टकौशल' नाम से आठ मुख्य मंत्रियों का उल्लेख मिलता है, इनके नाम निम्न थे- 1. प्रधान, 2. सेनापति, 3. पुरोहित, 4. गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष, 5. दुर्गाध्यक्ष, 6. न्यायधीश, 7. अक्षपटलिक और 8. महासंधि-विग्रहक।[1]

मेवाड़ के मुगल पूर्व के ऐतिहासिक ग्रंथों के अभाव में प्रशासनिक पदों की जानकारी शिलालेखों में वर्णित अधिकारीगण तक ही सीमित है। अल्लट के समय सारणेश्वर मंदिर के शिलालेख से मुगल पूर्व प्रशासन तंत्र के प्रमुख अधिकारियों के पदनाम एवं कार्यों की जानकारी मिलती है। इसमें आमात्य, संधिविग्रहक, अक्षपटलिक, बंदिपति और भिषगाधिराज नामक अधिकारियों का उल्लेख मिलता है।[2]

चीरवा के लेख से तलारक्ष नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है। उपर्युक्त प्रशासनिक पद नाम गुप्तकाल एवं पूर्व मध्यकाल चालुक्य एवं चैहानों के शासनकाल में प्रचलित अधिकारियों के सदृश्य है।

आमात्य

मंत्री परिषद् में सबसे महत्वपूर्ण पद आमात्य या महामंत्री का माना जाता था। आमात्य पद का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र से लेकर चौहन एवं चालुक्य शासकों के शिलालेखों में भी मिलता है। इस पद के स्वरूप के संबंध में विद्वानों के अलग-अलग विचार हैं। महामात्य का शाब्दिक अर्थ हैं 'महामंत्री', जिसके आधार पर इसका अर्थ 'राजा का प्रधान मंत्री' दिया गया है। इसका समर्थन मोनियर-विलियम्स के कोष से होता है। इसमें कामंदकीय-नीतिशास्त्र और राजतरंगिणी के आधार पर माहामात्य का अर्थ 'राजा का प्रधानमंत्री' दिया गया है। के. एम. मुंशी तथा पी. वी. काणे ने चालुक्य सरकार के माहामात्य का अर्थ क्रमशः 'मुख्यमंत्री' और 'प्रधानमंत्री' लगाया।[3]

---

1 राजेन्द्र प्रकाश भटनागर, मेवाड़ का राज्य प्रबंध, पृ. 29

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 126

3 द्विजेंद्रनारायण झा, भारतीय सामंतवाद: राज्य समाज और विचारधारा, अनु. आदिनारायण सिंह, पृ. 220

महामात्य के विभाग का नाम 'श्रीकरण' था। जैत्रसिंह के नांदेसमा गांव के चारभुजा मंदिर के समीप स्थित सूर्य मंदिर से एक लेख मिला जिसमें 'श्रीकरण' अंकित है। 'श्रीकरण' का अर्थ सामान्यतः यह माना जाता है कि श्री के चिह्नवाली मुद्रा या मोहर रखने वाला मंत्री।[1]

राता-महावीर के 1288 ई. के शिलालेख में मंत्री के विभाग का नाम 'श्रीकरण' अंकित है तथा इसका विस्तृत नाम 'श्रीकरण-मुद्रा-व्यापार-प्रतियंपति' भी मिलता है। सामान्यतः इसका कार्य सभी विभागों का निरीक्षण करना होता था।[2]

ए.के. मजुमदार का मानना है कि प्रत्येक करण एक महामात्य के अधीन था। 'इन महामात्यों में से जो श्रीकरण और सामान्यतः पासपोर्ट तथा विदेश व्यापार (श्रीकरणादिसमस्तमुद्राव्यापार) का भी प्रभारी होता था, वह उनमें प्रधान हुआ करता था।' इसके अलावा ए.के. मजुमदार का यह भी कहना है कि इस महामात्य को (प्रधान मंत्री के बजाए) 'चांसलर' और श्रीकरण को 'चांसलरी' कहना अधिक उपयुक्त होगा। अन्य महामात्यों के अधीनस्थ अन्य करणों से संबंधित साक्ष्य जयसिंह के गाला अभिलेख में प्राप्त होते हैं जिसमें अंबाप्रसाद नामक एक व्यय-करण-महामात्य का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त इसी प्रकार के साक्ष्य कुमारपाल के गाला अभिलेख में मिलते हैं जिसमें 'चांसलर' महादेव के अतिरिक्त दो अन्य महामात्यों का उल्लेख हुआ है।[3]

मोनियर-विलियम्स ने अपने कोश में श्रीकरणादि को एक ऐसे शब्द के रूप में सामविष्ट कर लिया है जो अभिलेखों में प्रयुक्त हुआ है और जिसका अर्थ 'मुख्य सचिव' है। श्रीकरणादि के साथ जो मुद्रा जुड़ा हुआ है कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मुद्रा का अर्थ पासपोर्ट से है।[4]

चालुक्य दरबार में किसी भी एक समय में एकाधिक महामात्य होते थे। कुमारपाल के गाला अभिलेख में एक-के-बाद-एक नहीं, बल्कि एक ही समय में

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 159

2 Jain Inscriptions of Rajasthan, P. No. 42

3 द्विजेंद्रनारायण झा, भारतीय सामंतवाद, पृ. 221

4 कौटिल्य का अर्थशास्त्र पृ. 239

अलग-अलग हैसियतों से कार्यरत तीन महामात्यों का उल्लेख हुआ है। एक साथ कई महामात्यों को रखने का प्रचलन चालुक्यों के पड़ोसी राज्यों में भी था। पृथ्वीराजविजय में सपादलक्ष राज्य में महामात्यों के द्वारा भावी राजा के संबंध में निर्णय लिए जाने का उल्लेख मिलता है।[1]

ललितविग्रहराज नाटक में भी विग्रहराज चतुर्थ के दो मुख्यमंत्री का उल्लेख मिलता है।[2]

श्रीकरण महामात्य अन्य महामात्यों से किस प्रकार भिन्न था यह समझना महत्वपूर्ण है। जिन अभिलेखों में स्वंय राजा ने भूमिदानपत्र जारी नहीं किया है उन सब में राजा के शासनकाल (राज्य, कल्याण-विजय-राज्य, आदि) का उल्लेख हुआ है, जिसके शीघ्र बाद सामान्यतः (न कि निरपवाद रूप से) उस महामात्य का नाम आता है, जो कि श्रीकरण तथा अन्य करणों में मुद्राओं का कामकाज संभालता था। इसी प्रकार का उल्लेख महाराणा तेजसिंह के समय आहाड़ में रचित पुस्तक 'श्रावकप्रतिक्रमसूत्रचूर्णि' में भी मिलता है। जिसमें महाराणा तेजसिंह के तुरंत बाद 'विजय-राज्ये' तत्पश्चात् 'महामात्य श्रीसमुद्धर मुद्रा व्यापार' का उल्लेख है।[3]

इसके आगे यह घोषित किया जाता था कि इसी स्थिति के विद्यमान रहते हुए इस अभिलेख में उल्लिखित कार्यकलाप संपन्न हुए। जिस क्षेत्र में ये कार्यकलाप होते थे उस पर व्यक्ति/संस्था के क्षेत्राधिकार (प्रतिपत्ति) का उल्लेख करने का भी आम प्रचलन था, जिससे मालूम होता है कि संबंधित महामात्य के कार्यकलाप अणहिलपाटन के श्रीकरण तथा अन्य करणों तक सीमित थे, और उनकी व्याप्ति मंडल-करणों तक नहीं थी।

साहित्यिक उल्लेखों में भी श्रीकरण आदि की मुद्राओं का कामकाज संभालने वाले महामात्य के महत्व की पुष्टि होती है। यहां मुद्रा का आशय केवल पासपोर्ट से ही नहीं था मुद्रा के सभी कामकाज से था। इससे निष्कर्ष निकलता है

---

1 सपादलक्षमानिन्ये महामात्यैर्महीपतिः ।।58।। अष्टमः सर्गः पृथ्वीराज विजय

2 दशरथ शर्मा, चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, पृ. 46

3 द्विजेंद्रनारायण झा, भारतीय सामंतवाद; पृ. 224; उदयपुर राज्य का इतिहास भा. 1, पृ. 161

कि मुद्राओं से संबंधित कामकाज सभी प्रशासनिक प्रक्रियाओं में से सबसे अधिक महत्वपूर्ण था, सभी करणों में श्रीकरण सबसे ज्यादा अहमियत रखता था, और जो महामात्य मुद्राओं के कामकाज के लिए जिम्मेदार था उसका प्रशासनिक महत्व राज्य के उसके अन्य सहयोगियों के बजाए सत्तारूढ़ राजा के प्रशासनिक महत्व से तुलनीय था। अतः उसे 'प्रधानमंत्री' या 'चासंलर' या मुख्य प्रशासक कहा जा सकता है।[1]

महाराणा जैत्रसिंह के नांदेसमा के लेख तथा आहाड़ में रचित पुस्तके 'ओघनिर्युक्ति' एवं 'पाक्षिकवृत्ति' में क्रमशः 'श्रीकरण', महामात्य, 'श्रीकरणाधिकारी' का उल्लेख किया गया है। तेजसिंह के समय की पुस्तक श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णि में महामात्य का उल्लेख हुआ है।[2]

कुंभा काल तक इस पदनाम में कुछ परिवर्तन हुआ अब यह श्रीकरणाधिकारी, महामात्य आदि नामों के स्थान पर कुंभाकालीन ग्रंथ संगीतराज, राज वल्लभ में उपर्युक्त नामों के स्थान पर 'मुख्यमंत्री' का उल्लेख मिलता है तथा आदिनाथ स्तवन में कुंभा के मुख्यमंत्री सहणपाल नवलखां के लिए 'प्रधान' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इसे सहणपाल नवलखां को "राजमंत्री धुराधौरयः" का विरूद दिया गया। रामदेव नवलखां खेता, लाखा, मोकल के समय भी मंत्री रहा था।[3]

प्रमुख मंत्री के पदनाम में समय के साथ बदलाव भी दिखाई देता है। कुंभा, सांगा, उदयसिंह एवं प्रताप के काल में इसे 'प्रधान' कहा गया तो कुंभा काल में संगीतराज एवं राजवल्लभ में प्रचलित नाम 'मुख्यमंत्री' अमरसिंह के समय फिर दिखाई देता है। राजसिंह के समय रचित राजविलास में प्रधान को 'मंत्रिप्रवर' कहा गया।[4]

---

1 द्विजेंद्रनारायण झा, भारतीय सामंतवाद पृ. 224

2 उदयपुर राज्य का इतिहास भा. 1, पृ. 161

3 रामवल्लभ सोमानी, महाराणा कुंभा, पृ. 159

4 राजस्थान का इतिहास, पृ. 505

पृथ्वीराज विजय में कदम्बवास के लिए लिए मंत्री[1] दोनों का प्रयोग हुआ है। अमरसार में अमरसिंह के काल में डूंगरसिंह के पद के लिए 'मुख्यमंत्री'[2] एवं 'प्रधान' का प्रयोग हुआ।[3] समय के साथ प्रशासनिक पद नाम में थोड़ा परिवर्तन होता रहा किंतु मुगलों के आगमन तथा उनसे सन्धि के बाद संपर्क स्थापित होने से पूर्व तक जो पद प्राचीन परम्परा के अनुसार बनें उनमें प्रधान पद बड़े महत्व का था। विशेषकर कुंभा के काल से प्रधान पद मंत्री पदों में महत्वपूर्ण हो गया था। यह राजा के बाद प्रशासनिक पद क्रम में दूसरे स्तर पर था जो शासन, सैनिक और न्याय सम्बन्धी कार्यों के उसकी सहायता करता था।[4]

मेवाड़ के इतिहास में प्रमुख 'प्रधान' के नाम मिलते है जिनमें प्रमुख निम्न है- पंचोली हिम्मत महाराणा रायमल के समय प्रधान था। गिरधर पंचोली महाराणा सांगा के समय प्रधान था। विक्रमादित्य का शाह माधू, उदयसिंह का प्रधान शाह आशा था। प्रताप के समय रामा एवं बाद में भामशाह प्रधान बना।[5]

नाड़ोल के शिलालेख (1629 ई.) में सभी विभागों के प्रमुख के रूप में 'सकल-राज्य-व्यापारधिकरण' नामक विभाग का उल्लेख मिलता है।[6]

जोधपुर राज्य में प्रधान का पद आउवा ठिकानेदार का वंश परम्परागत था जो बाद के काल में बदलता गया। मारवाड़ में भी प्रधान पद प्रचलित था किंतु मुगलों के आगमन के बाद उसकी प्रशासनिक व्यवस्था एवं पदनाम पर मुगल प्रभाव पड़ा। सवाई राजा शूर सिंह के समय गोविन्ददास जो प्रधान था उसने मुगल प्रशासनिक व्यवस्था के प्रारूप को मारवाड़ में लागू किया।[7]

---

1 स कदम्बवास इति वासवादिभिः, स्पृहणीयधीव्रयसनमध्यपातिभिः।
अवगाहते सहचरस्मुमन्त्रितां, परिरक्षितुं क्षितिधरस्य सद्गुणान् ।।सर्ग 9, पद्य 37।।
पृथ्वीराजविजय एवं सचिव सचिवेन तेन सकलासु युक्तिषु।
प्रवणेन तत्किमपि कर्म निर्ममे।।सर्ग 9, पद्य 37।। पृथ्वीराजविजय

2 अमरसार, पृ. 84

3 वही, पृ. 107

4 राजस्थान का इतिहास, पृ. 505

5 History and Culture of Rajasthan, P. No. 448

6 Jain Inscriptions of Rajasthan, P. No. 43

7 विक्रमसिंह भाटी, मूंदियाड़ री ख्यात, पृ. 63

गोविन्ददास भाटी ने नए पद सृजित किए जिसमें प्रधान का स्थान 'मुख्तार मुसाहब' ने ले लिया। 'मुख्तार मुसाहब' राजा का प्रमुख प्रतिनिधि जो प्रशासनिक कार्यों के लिए अधिकृत व्यक्ति था। मारवाड़ का प्रशासनिक प्रबन्ध इसके हाथ में था।[1]

मुगलों से पूर्व तक राजा के बाद का प्रमुख प्रशासनिक पद महामात्य, सचिव या प्रधान रहा था। राज्य एवं काल में संदर्भ में इन पदों के कार्य क्षेत्र एवं शक्तियों में थोड़ी बहुत भिन्नता अवश्य थी किंतु प्रशासनिक व्यवस्था में ये सर्वोच्च स्तर पर स्थित थे। प्रधान एवं माहमात्य को नागरिक कार्य के साथ सैनिक कार्य भी करने पड़ते थे। यहां सैनिक एवं नागरिक कार्यों में किसी प्रकार का विभाजन नहीं था। मेवाड़ के शासकों को दीर्घकाल तक सैन्य संघर्ष में संलग्न रहना पड़ा था। अतः मन्त्री साधारण शासन की व्यवस्था के साथ-साथ सैनिक व्यवस्था भी देखते थे और युद्ध स्थल में सेना का नेतृत्व भी करते थे। भामाशाह के रूप में एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। भामाशाह ने गुजरात और मालवा की ओर अभियान का नेतृत्व किया था।[2]

कौटिल्य आमात्य पद हेतु योग्य व्यक्ति तथा उसकी योग्यता परिक्षण के उपरांत नियुक्त करने को कहता है।[3]

पृथ्वीराज विजय में एक अच्छे मंत्री में छः गुण माने है।[4] प्रधानमंत्री की भी परीक्षा कि माध्यम से योग्यता के आधार पर नियुक्त किया जाता था।[5] भामाशाह की नियुक्ति उसकी योग्यता के आधार पर ही हुई थी।[6]

---

1 जितेन्द्र सिंह भाटी, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था : मारवाड़ के विशेष संदर्भ में 1300-1800, पृ.191

2 मेवाड़-मुगल संबंध, पृ.137

3 सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च शृणयान्मतम्।।3.6।। अर्थशास्त्र

4 पृथ्वीराज विजय, पृ. 141

5 वही, पृ. 200

6 उदयपुर राज्य का इतिहास, भा. 2, पृ. 810

सैद्धांतिक रूप से प्रधान पद वंशक्रम पर आधारित वंशानुगत नहीं होता था उसकी नियुक्ति हेतु योग्यता को आधार माना जाता था। व्यवहार में कई बार एक ही परिवार के व्यक्ति वंशानुगत इस पद पर भी दिखाई देते है। गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार भामाशाह प्रताप एवं अमरसिंह के समय प्रधान के पद पर रहा। 1600 ई. में भामाशाह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जीवाशाह को प्रधान बनाया गया, जो भामाशाह द्वारा लिखी हुई बही के अनुसार जगह-जगह से खजाना निकालकर राज्य का खर्च चलाता रहा। जीवाशाह की मृत्यु के बाद महाराणा कर्णसिंह ने उसके पुत्र अक्षयराज को मन्त्री नियत किया। इस प्रकार तीन पीढ़ियों तक स्वामिभक्त भामाशाह के घराने के प्रधान रहे।[1] यद्यपि अमरसिंह के समय रचित ग्रंथ अमरसार में प्रधान के रूप में डूंगरसिंह का नाम मिलता है।[2]

संभवतः मेवाड़-मुगल संधि के बाद डूंगरसिंह को प्रधान आमात्य का पद दिया गया हो। अमरसार में डूंगरसिंह की स्वामीभक्ति, नीति-निपुण, धर्मात्मा और अपने कार्य के प्रति सजग बताया है। अतः इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर अमरसिंह ने डूंगरसिंह को प्रधान के पद पर नियुक्त किया हो।[3]

जिस प्रकार भामशाह अपनी योग्यता के बल पर प्रधान बना उसी प्रकार डूंगरसिंह भी अपनी योग्यता के आधार पर प्रधान नियुक्त किया गया।

नियुक्ति तथा पदच्युति दोनों में राजा की इच्छा सर्वोपरि होती थी। नियुक्ति के अनुरूप राजा अपनी इच्छा से प्रधान को हटा भी सकता था। महाराणा प्रताप ने महासहानी रामा को हटा कर भमाशाह को प्रधान बनाया था।[4]

राजा सामान्यतः प्रधान या महामात्य को विश्वास में लेकर ही कार्य करता था तथा महत्वपूर्ण मामलों में परामर्श भी करता था। ऐसे कई उदाहरण मिलते है

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भा. 2, पृ. 411

2 वरचित्रकूट दुर्गौं नगरं नागौरम वनिपोऽमरपः।
मन्त्रीडुङ्ग्रसींहो धात्र्या रत्नानि चत्वारि।। यश खण्ड 203।। अमरसार

3 महाराणा अमरसिंह प्रथम और उनका समय, पृ. 75

4 भामो परधानो करे, रामो कीधो रद्द, प्राचीन पद्य उदयपुर राज्य का इतिहास भा. 1, पृ. 373

जब शासक अपने मंत्रियों से महत्वपूर्ण मामलों में मंत्रणा ली। पृथ्वीराज विजय में कदम्बवास द्वारा पृथ्वीराज तृतीय को परामर्श देने का उल्लेख मिलता है।[1]

1567 ई. में चित्तौड़ आक्रमण अपने मंत्रियों एवं सामंतों की सलाह पर उदयसिंह अपने परिवार के साथ चित्तौड़ छोड़कर सुरक्षित निकल गए। इसी प्रकार हल्दीघाटी युद्ध के दौरान जब मुगल सेनाएं मेवाड़ की ओर बढ़ रही थी तब प्रताप मंत्रियों एवं सामंतों से मंत्रणा हेतु रामशाह के आवास पर गए तथा अन्य मंत्रियों को भी मंत्रणा हेतु वहीं बुलाया।[2]

राजा अपने मंत्रियों से परामर्श करता था अंत में उचित परामर्श के बाद किसी सलाह को मानना या न मानना राजा के अधिकार की बात थी। राजा उनके परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं होता था।[3]

शासक अपने स्वविवेक से निर्णय करता था। मानसिंह के डूंगरपुर से मेवाड़ आगमन के दौरान रावत खंगार ने प्रताप को मानसिंह के न मिलने का सुझाव दिया।[4] किंतु प्रताप ने स्वविवेक अनुरूप मानसिंह के मिले तथा उसका स्वागत किया।

मेवाड़ राज्य में प्रधान के संदर्भ में यह उल्लेखनीय रहा कि यह पद कभी किसी राजपूत सरदार या रिश्तेदार को नहीं सौपां गया। इस पद पर सामान्यतः किसी कायस्थ (पंचोली), या वैश्य (माहेश्वरी या जैन ओसवाल) व्यक्ति की ही नियुक्ति की गई जो महाराणा की दृष्टि में योग्यतम हो।[5]

सेनापति

सेनापति का पद बेहद महत्वपूर्ण था। मंत्री मण्डल के प्रमुख मंत्रियों में इसकी गणना होती थी। प्रशासनिक स्तर में यह माहमात्य के बाद दूसरा महत्वपूर्ण पद था। इसकी पुष्टि ललित विग्रहराज नामक नाटक से होती है जहाँ

1 पृथ्वीराज विजय, पृ. 230

2 राणा रासो, पृ. 367

3 चौहन सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, पृ. 47

4 नैणसी री ख्यात, भाग-1, पृ. 91

5 मेवाड़ का राज्य-प्रबंध पृ. 31

विग्रहराज चतुर्थ के दो मुख्यमंत्री बताये है श्रीधर और सिंहबल। श्रीबल उसका मंत्रसचिव तथा सिंहबल उसका सेनापति था।[1]

कौटिल्य ने राज्य के प्रमुख 18 अधिकारियों में सेनापति को भी शामिल किया है। यहां सेनापति के अर्थ को समझना आवश्यक है। सेनापति से तात्पर्य युद्ध में सेना का नेतृत्व करने वाले योद्ध से नहीं है। यह सेनापति युद्ध एवं रक्षा सम्बन्धी मामलों में राजा को परामर्श देता था। कौटिल्य ने युद्ध संचालक को 'नायक' कहा है। सेनापति सेना के समस्त अंगों एवं उसके कार्यों का निरीक्षण करता था। सेनापति के अधीन रथाध्यक्ष, पत्याध्यक्ष, नवाध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, हस्त्याध्यक्ष आदि प्रमुख पदाधिकारी होते थे।[2]

सेनापति का कार्यक्षेत्र बेहद विस्तृत होता था अतः उसे सहायता प्रदान करने हेतु उसके अधीन भी कई अधिकारी होते थे। गुप्त काल में सैन्य व्यवस्था के पद क्रम का विशद विवरण मिलता है। सैन्य व्यवस्था का विस्तृत पदसोपान सेना के कार्य क्षेत्र की विविधता का ज्ञान कराता है। गुप्त सेना का सबसे बड़ा पदाधिकारी को महासेनापति कहलाता था। सेनापति का पद इससे छोटा होता था। हाथियों का नायक 'कटुक', घुड़सवारों का प्रधान 'भटाश्वपति' कहलाता था।[3]

गुप्त एवं हर्ष के काल मे प्रचलित व्यवस्था पूर्व मध्यकाल एवं मध्यकाल में मुगलों के आगमन विशेषकर अकबर के काल से पूर्व तक प्रचलित शासन व्यवस्था में कई पदाधिकारियों के नाम लगभग समान ही मिलते है। इसका एक कारण मानवीय स्वभाव भी था जो सफलतापूर्वक कार्यरत सक्रिय संस्थाओं को ही एक से दूसरे राज्यों में अपना लिया गया बिना किसी विशेष प्रयोग या बदलाव के।[4]

हर्ष के बाद उत्तर भारत में कई छोटे-बड़े राज्य अस्तित्व में आएं उनमें सबसे प्रमुख गुर्जर-प्रतिहार थे। गुर्जर-प्रतिहार शासन में भी महासेनापति प्रमुख पद

1 चौहन सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, पृ. 47

2 कौटिल्य कालीन शासन पद्धति, पृ. 87

3 गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ. 10

4 The States in Ancient India P. No. 387

था जो गुप्त साम्राज्य में प्रचलित पद के समान ही सेना के प्रमुख था। गुप्त साम्राज्य में महासेनापति के उपरांत सेनापति का पद था इसी के सदृश्य महाबलाधिकृत या महाबलाध्यक्ष भी थे।[1]

पूर्व मध्यकाल एवं मध्यकाल में महासेनापति के पद का उल्लेख नहीं मिलता है। गुर्जर-प्रतिहार एवं राजस्थान से प्राप्त शिलालेखों में सेनापति को महाबलाधिकृत और दण्डनायक भी कहा गया है। गुर्जर-प्रतिहार शिलालेखों में सेनापति या महाबलाधिकृत के अधीनस्थ अधिकारी के रूप में 'बलाधिकृत' का उल्लेख मिलता है।[2]

12वीं शताब्दी में महासेनापति के स्थान पर अब सेनापति ही प्रमुख सैन्य पद के रूप में स्थापित हो गया था। सेनापति के प्रमुख सहायक अधिकारी के रूप में साधनिक, दुस्साध्य, बलाधिक तथा अन्य नाम शिलालेखों में मिलते है। सेना जिससे सामान्य रूप से तीन भागों में विभाजित कर रखा था- पदाति, हस्ति तथा अश्व सेना। राजनीति विचारकों ने सेना के तीनों अंगों में से अश्व सेना सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना। संभवतः साधनिक या दुस्साध्य अश्व सेना का प्रधान होता था। इन्हीं के अधीन अश्व सेना को रखा जाता था। राज्य की सीमाओं से बाहर स्थित सेना का प्रमुख बलाधिप होता था। 1115 ई. के सेवाड़ी शिलालेख में यशोवीर नामक बलाधिप का उल्लेख मिलता है। रक्षा सम्बन्धी इस विभाग का नाम 'बलाधिकरण' था।[3]

एकलिंग प्रशस्ति में राणा क्षेत्रसिंह और मोकल के समय दो सैनिक पद-दुर्गाधिराज और स्कंधावारिक दुर्ग और सेना के अधिकारियों के लिए मिलते है।[4] स्कंधावारिक को सेनापति के रूप में ही चिह्नित किया गया है।[5]

1 गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ. 10

2 The Gurjara-Parathiras and their times, P. No. 60

3 Jain Inscription of Rajasthan, P.no. 44, Early Chauhan Dyansty P. No. 198

4 भावनगर इंस्क्रिपशन, पृ. 117

5 मेवाड़ का राज्य-प्रबंध, पृ. 29

समुचित साक्ष्यों के अभाव में राणा सांगा से प्रताप के समय तक वैसे तो दुर्गाधिराज तथा स्कंधावारिक पद का उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु इन पदाधिकारियों की विद्यमानता में संदेह नहीं हो सकता। क्योंकि इन राणाओं के समय में निरन्तर युद्ध चलते रहते थे।[1]

अमरसिंह के सेनापति के रूप में हरिदास झाला का नाम आता है। जिसके लिए सेनापति एवं दलाधिकारी या दलपति का संबोधन अमरसार में मिलता है।[2]

दलपति सेना का मुख्य अधिकारी होता था। जो सेना के सब अंगों का निरीक्षण, वेतननिर्धारण आदि कार्य करता था तथा महाराणा के आदेशानुसार सैनिक प्रबंध का कार्य करता था।[3]

मेवाड़ में दिल्ली-सल्तनत की स्थापना के बाद के काल में सेना के विस्तृत पदधिकारियों का उल्लेख न मिलने का एक कारण सामंती प्रथा भी थी। राजा के पास एक बड़ी केन्द्रीय सेना के अभाव में भी शासक को ज्यादा सैन्य अधिकारियों की आवश्यकता भी नहीं रहती थी। मुगल के विस्तृत राज्य को बनाए रखने हेतु एक विशाल सेना की आवश्यकता थी अतः अकबर ने मनसबदारी व्यवस्था के माध्यम से इस समस्या का हल किया। इस मनसबदारी व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता की सभी अधिकारी जिसमें उच्च पदों से लेकर के एक सामान्य लिपिक तक का व्यक्ति मनसबदार होता था। यहां तक कि गायक एवं कलाकारों को भी मनसब प्रदान की जाती थी। इन सभी लोगों को आवश्यकता पड़ने पर सैन्य कार्य हेतु अपनी सेवाएं देनी पड़ती थी।[4]

इस प्रकार मेवाड़ में भी सामंतों को जागीरें प्रदान की जाती थी जिसके बदले उन्हें सेना रखनी पड़ती तथा आवश्यकता के समय वे राजा को सेना उपलब्ध करवाते थे। अमरकाव्यम् में जयमल, पत्ता एवं ईश्वरदास को उदयसिंह

---

1 मेवाड़-मुगल संबंध, पृ. 137

2 अमरसार, पृ. 99

3 मेवाड़ का राज्य प्रबंध, पृ. 33

4 Sarkar, Jadhunath. Mughal Administration. M.C. Sarkar & sons, Culcutta, Publication, 1920, P. No. 11

के सेनापति बताया है।[1] (चूंकि सामंत सेना के मूल थे तथा प्रत्येक सामंत के पास अपनी स्वंय की एक सेना होती थी जिसका नेतृत्व वे स्वंय करते थे अतः इस आधार पर वह सभी सेनापति ठहरते है) कौटिल्य युवराज को सेनापति के पद नियुक्त करने को कहता है।[2]

महाराणा सेनापति को योग्यता के आधार पर नियुक्त करता था। सेनापति पद के इतर युद्ध में सेना के संचालन की जिम्मेदारी महाराणा के द्वारा ही दी जाती थी, कई अभियानों का नेतृत्व महाराणा स्वंय ही करता था विशेषकर महत्वपूर्ण या बड़े युद्धों का जैसे- खानवा के युद्ध में राणा सांगा द्वारा[3], मावली के युद्ध में उदयसिंह द्वारा[4] तथा हल्दीघाटी के युद्ध में प्रताप द्वारा। कई बार महाराणा युवराज को भी महत्वपूर्ण अभियानों की जिम्मेदारी सौंपता था जैसे महाराणा उदयसिंह ने छप्पन एवं गोडवाड के अभियान का नेतृत्व प्रताप को सौंपा था।[5]

दिवरे विजय के बाद अन्य मुगल थानों को नष्ट करने हेतु अमरसिंह के नेतृत्व में सेना भेजी गई। बहुधा सेना की कमान प्रधान या किसी मंत्री या सरदार को भी दी जाती थी।[6] प्रताप के संघर्ष के दौर में मालवा पर हमला ताराचंद एवं भामाशाह ने किया था।[7] सलूम्बर पर अधिकार करने हेतु रावत कृष्णदास को सेना सेना का नेतृत्व सौंपा तथा उसकी सहायता के लिए रावत जेतसिंह सारंगदेवोत को भेजा।[8]

जहां तक यह प्रश्न है कि प्रताप के काल में सेनापति के पद पर कौन सुशोभित था ? प्रताप कालीन स्थिति को देखते हुए प्रतित होता है कि इस संघर्ष

---

1 अमरकाव्यम्, पृ. 233

2 कौटिल्य कालीन शासन पद्धति, पृ. 87

3 बाबरनामा, पृ. 379

4 अमरकाव्यम्, पृ. 200

5 वही, पृ. 238

6 मेवाड़ का राज्य-प्रबंध, पृ. 33

7 वीर विनोद, भा. 2, पृ. 158

8 विमला भण्डारी, सलूम्बर का इतिहास, पृ. 57

के विकट दौर में प्रताप ने यह महत्वपूर्ण पद किसी अन्य व्यक्ति को देने की बाजएं स्वंय के पास ही रखा। निरंतर चल रहे संघर्ष के काल में त्वरित निर्णय लेने की आवश्यकता थी। ऐसी स्थिति में प्रताप किसी व्यक्ति विशेष पर ही निर्भर नहीं रहना चाहता था। हल्दीघाटी युद्ध से पूर्व सैन्य व्यवस्था के लिए प्रताप ने ही पूना जोशी को जागीर दी।[1] दूसरा 13वीं शताब्दी तक मेवाड़ में सामंतों की स्थिति मजबूत हो चुकी थी जिसका कारण मेवाड़ में सैनिक गतिविधियों में इस समय तेजी आ रही थी।[2]

सामंत की भूमिका भी शासन में महत्वपूर्ण हो चुकी थी। शासक सैन्य सहायता हेतु इन सामंतों पर निर्भर था। अतः सामंतों निर्णय प्रक्रिया में भी शामिल करना आवश्यक था। अकबर के मेवाड़ पर आक्रमण बंद होने के बाद प्रताप ने शांति काल में प्रशासनिक व्यवस्था की और ध्यान देना प्रारंभ किया। प्रशासन के विस्तृत क्षेत्र को देखन हेतु प्रशासनिक अधिकारियों की आवश्यकता भी थी। प्रताप ने सैन्य प्रबंध हेतु अधिकारी की नियुक्ति की जो 'दलाधिकारी' या 'दलपति' (मुख्य सेनापति) कहलाता था। दलाधिकारी के रूप में हरिदास झाला का उल्लेख महराणा अमरसिंह के समय मिलता।[3]

दलपति या दलाधिकारी सेना का मुख्य अधिकारी होता था जो सेना के सब अंगों का निरीक्षण, वेतन निर्धारण आदि कार्य करता तथा महाराणा के आदेशानुसार सैनिक प्रबंध करता था।[4]

मुगलों से संपर्क में आने के बाद जयपुर, जोधपुर एवं बीकानेर में मुख्य सेनापति को बख्शी कहा जाता था तथा जिसकी सहायता के लिए कई बख्शी होते थे।[5]

---

1 राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत, पृ. 254

2 State formation in Rajasthan, P. No. 173

3 अमरसार, पृ. 99

4 मेवाड़ का राज्य प्रबंध, पृ. 33

5 History and Culture of Rajasthan, P. No. 451

मुगल संधि के बाद जगतसिंह के समय मेवाड़ का पुनर्निर्माण और पुनर्गठन हुआ। इस समय प्रशासन में भी कई मौलिक परिवर्तन किए गए। जिसका विवरण मान कवि कृत राजविलास में मिलता है। राजविलास में भी सेनापति के लिए 'दलपति' का ही प्रयोग किया है।[1]

पुरोहित

राज-व्यवस्था में पुरोहित का उतना ही महत्व था जितना की शासक का। वैदिकाल से लेकर ब्रिटिश और वर्तमान काल यह पद उतना ही महत्वपूर्ण रहा जितना की शासक और सेनापति का। कौटिल्य पुरोहित को शासन प्रणाली का अभिन्न अंग मानता है तथा योग्य व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त करने की अनुशंसा करता है। कौटिल्य कहता है कि, "उच्च कुल में उत्पन्न, शील गुण सम्पन्न, वेद-वेदांगों का ज्ञाता, ज्योतिषशास्त्र, शकुनशास्त्र, दण्डनीति में पारंगत, अथर्ववेद में निर्दिष्ट उपायों द्वारा दैवी तथा मानुषी विपत्तियों का प्रतिकार करने में सक्षम व्यक्ति को ही पुरोहित पद पर नियुक्त करना चाहिए।"[2]

एक योग्य पुरोहित की आवश्यकता इसलिए थी कि प्राचीन शासनपद्धति में धर्म की रक्षा का उत्तरदायित्व राजा पर होता था, और राजा को इस विषय में उचित परामर्श देने का काम पुरोहित करता था।[3] कौटिल्य राजा को पुरोहित का उसी प्रकार अनुगामी बनने को कहता है, जिस प्रकार आचार्य के पीछे शिष्य, पिता के पीछे पुत्र और स्वामी के पीछे सेवक चलता है।[4]

पुरोहित मुख्यतः राज्य के धार्मिक पक्ष से जुड़ा हुआ होता था।[5]

चौहान शासकों के काल में तो इसे एक पृथक् विभाग के रूप में ही स्थापित किया गया था। जो धर्म एवं संस्कृति से जुड़ा हुआ था, जिसका प्रमुख पुरोहित होता था। संभवतः माना जाता है कि अजमेर के चौहन शासकों के समय

---

1 राजविलास, मेवाड़ का राज्य-प्रबंध, पृ. 30

2 कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ. 24

3 कौटिल्य कालीन शासन पद्धति, पृ. 86

4 कौटिल्य, पृ. 24

5 The Gurjara-Parathiras and their times, P. No. 60

पहली बार राज्य के शासक ने कवियों और पंडितों से संबंधित कोई एक स्वतंत्र विभाग की स्थापना की हो। इस विभाग के मंत्री के रूप में पद्मनाभ को नियुक्त किया गया। रणथम्भौर के शासक हम्मीर देव के एक शिलालेख से पौराणिक नामक आमात्य की जानकारी मिलती है। इसे धार्मिक कार्य संबंधी अधिकारी माना है।[1]

मेवाड़ में हारीत राशि के आशीर्वाद से चित्तौड़ का राज्य मिलने का आख्यान प्रसीद्ध है। अतः एकलिंगनाथ के मंदिर में हारित राशि की मूर्ति को प्रतिष्ठित करवाया।[2] शासक के गुरू का पद बेहद महत्वपूर्ण होता था। गौरीशंकर हीराचंद ओझा का मानना है कि शासक अपने गुरू का ही गोत्र धारण करता था। गुरू या पुरोहित का परामर्श शासक के मार्गदर्शन का कार्य करता तथा शासक उनके परामर्श को महत्व भी देते थे। खुम्मान के गुरू 'वेदगर्भ' नामक ब्राह्मण थे। इन्होंने वाजपेय यज्ञ करवाया था। [3] वेदगर्भ ऋषि का उल्लेख एकलिंगपुराण में भी मिलता है।[4] राहप का गुरू शरशल्य नामक ब्राह्मण था जिसके परामर्श पर ही राहप ने 'सीसोदा' गांव को अपना आवास बनाया।[5] महाराणा रायमल के गुरू 'गोपाल भट्ट' थे। जिसके बारे में एकलिंगजी मंदिर की दक्षिण द्वार प्रशस्ति में कहा गया है कि वह अपने ज्ञान एवं बुद्धि से महाराणा रायमल के समस्त कार्य के सम्पन्न करने का सामर्थ्य रखता है। उनके परामर्श राज्य के लिए लाभकारी है।[6] एकलिंगजी दक्षिण द्वार प्रशस्ति) राजरत्नाकर में उदयसिंह के समय पुरोहित पद का उल्लेख मिलता है, जिसे बृहस्पति के समान बताया है।[7] उदयसिंह के समय 'चरायण' पुरोहित का उल्लेख मिलता है।[8]

---

1 भारतेश्वर पृथ्वीराज चौहन (तृतीय) और उनका युग, पृ. 422

2 हारीतबाप्पोत्तममूर्तियुक्तं, अद्यापि तद्दृश्यत एव युक्तम्।।3.51।। अमरकाव्यम्

3 अमरकाव्यम् पृ. 105

4 एकलिंगपुराण, पृ. 422

5 अमरकाव्यम् पृ. 115

6 वाग्मिर्निर्मलयामले कृतमतिस्तन्त्रे विचित्रे विधौ, काम्ये राजति राजमल्लनृपतेर्गोपालभट्टो गुरूः। यस्य स्वस्त्ययनैरमुष्य विषये सर्वर्द्धिता सम्पदो राज्यप्राज्यमभूदपायमभजन्नुच्चैररातिश्रियः॥81।। एकलिंग जी की दक्षिण द्वार प्रशस्ति।

7 राजरत्नाकर, पृ. 265

8 अमरकाव्यम् पृ. 202

प्रताप से पूर्व एवं प्रताप के बाद के काल में मेवाड़ की प्रशासनिक व्यवस्था में पुरोहित पद की जानकारी मिलती है। अतः निश्चित ही प्रताप के समय भी यह पद अस्तित्व में रहा। महाराणा प्रताप के समय हल्दीघाटी युद्ध में लड़ने वाले दो व्यक्तियों के नाम मिलते है जिन्हें पुरोहित कहा गया है- पुरोहित जगन्नाथ एवं पुरोहित गोपिनाथ।[1] संभव है कि ये पुरोहित संबंधी कार्यों से ही जुड्त्रे हुए हो। प्रताप के पुरोहित का नाम रामनाम था।

पुरोहित धार्मिक कृत्य के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र भी धारणा कर युद्ध में भी भाग लेता था। प्रताप के राज्य कल में पुरोहित रामनाथ थे। अमरसिंह के समय पालीवाल ब्राह्मण काशीदास पुरोहित था। अमरसार में उसे काशी के समान पवित्र तथा वेदशास्त्र एवं षड्दर्शन का ज्ञाता एक विद्वान ब्राह्मण है जिसका सभी सम्मान करते है। धार्मिक क्रियाओं के साथ-साथ यह युद्ध भूमि में शत्रुओं को परास्त करने में भी सक्षम था।[2]

पुरोहित काशीनाथ के छोटे भाई विट्ठलदास ने रणपुर के युद्ध में जहांगीर की सेना के सेनापति अब्दुल्ला खाँ के विरूद्ध वीरतापूर्वक लड़ा था।[3] काशीनाथ के पूर्वज हमीर के समय से ही मेवाड़ राजवंश को अपनी प्रशंसनीय सेवाएं दे रहे थे। राजसिंह के समय काशीनाथ का पौत्र गरीबदास पुरोहित के पद पर शोभायमान था।[4] पुरोहित एवं गुरू का पद भिन्न-भिन्न था। श्रीपति व्यास अमरसिंह के गुरू थे जबकि पुरोहित काशीदास पुरोहित था। श्रीपति अमरसिंह के गुरू थे वह चारों वेदों में पारंगत, तर्कशास्त्र, आगमशास्त्र, पुराणों का ज्ञात तथा शीलवान था।[5]

---

1 ओझा, पृ. 373

2 अमरसार पृ. 110

3 इतने कटि भये, खेत हेत खुम्मान।
वीठलु लरत लख्यो तहाँ, लोह लाठि दुजु पान ।।705।। राणा रासो

4 पल्लीवालकुलावर्णद्विजपतेः पौत्रः प्रभावोन्नतः, काशीदासपुरोहितस्य सुमतेः श्रीरामरायात्मजः। जिष्णोर्जीव इव प्रधानपुरूषः श्रीराजसिंहस्य सन्नाम्ना, भाति गरीबदास इति तत्तुल्यस्य तत्साम्यभृत्।।9.7।। राजरत्नाकर।

5 शब्दतर्कपरामागमवेत्ता, वेदसिन्धुतटगाद्विराजः।
सत्यशीलसहितोमरभत्र्तुः श्रीपतीतिसुपुरणानिवेदी।।330।। अमरसार

काशीदास पुरोहित के वंशज हमीर के समय से ही गुहिल वंश की सेवा में थे। इसी वंश में जन्मे रामनाथ प्रताप के पुरोहित थे जो उदयसिंघ की सेवा में भी रहे थे।[1] पुरोहित ही राज्य के धार्मिक कार्यों का प्रमुख होता था। महाराणा पुरोहित का बड़ा सम्मान करता था। महाराणा के साथ-साथ अन्य पदाधिकारी और प्रजा भी पुरोहित को आदर की दृष्टि से देखते थे। पुरोहित उत्सवों, पर्वों, समरोहों, राज्याभिषेक, प्रतिष्ठा आदि कार्यों का अयोजन और सम्पादन करता था। पुरोहित महाराणा को प्रशासन, सुलह और युद्ध के सम्बन्ध में परामर्श भी देता था।[2]

युवराज

मेवाड़ में सामान्यतः उत्तराधिकारी नियम में ज्येष्ठाधिकार को मान्यता दि गई थी। शासक का बड़ा बेटा ही राजा बनता था। कई उदाहरण ऐसे भी मिलते है जब ज्येष्ठाधिकार उल्लंघन किया गया। युवराज के शासक बनने में सामंतों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। महाराणा उदयसिंह को गद्दी पर बिठाने में सामंतों की भूमिका मुख्य रही। प्रताप को गद्दी पर बिठाने में भी सामंतों ने भूमिका प्रमुख थी। युवराज जो भावी शासक होता था उसे राजपुत्र, नृपपुत्र तथा महाराजकुमार भी कहा जाता था। लारलाई शिलालेख (1233 वि.सं.) में युवराज के लिए राजपुत्र का उल्लेख मिलता है। युवराज का राज्य व्यवस्था में भी महत्वपूर्ण स्थान होता था। अतः दरबार-स्थल में बड़ी ओल (दरबार-स्थल के मध्य में महाराणा बैठते थे।) महाराणा के दायें तथा बायें उमराव अर्थात् प्रथम श्रेणी के सरदार बैठते थे। दायीं ओर की बैठक को 'बड़ी ओल' कहा जाता था। बायीं ओर की बैठक को 'मूंडा-बरोबर' कहा जाता था। बड़ी ओल में सर्वप्रथम महाराजकुमार अथवा युवराज तत्पश्चात् प्रथम श्रेणी के सरदार क्रम-बद्ध बैठते थे। युवराज की बैठक क्रम में प्रथम श्रेणी के सरदारों से भी पूर्व स्थिति उसके राज्य-प्रशासन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने का द्योतक है। 1615 ई. में महाराणा अमर सिंह तथा जहांगीर के मध्य हुई संधि के तहत महराणा के स्थान पर युवराज को मुगल दरबार में उपस्थित होना था। मेवाड़-मुगल संधि के बाद से महाराणा अमरसिंह प्रथम ने ज्येष्ठ कुंवर का दर्जा सरदारों से निम्न कर दिया, जिसके अनुसार प्रथम श्रेणी के

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भा. 2, पृ. 835 ; राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत पृ. 255

2 मेवाड़ का राज्य-प्रबंध, पृ. 32

सरदारों के पश्चात् युवराज को बैठक प्राप्त हुई। यह व्यवथा महाराणा फतहसिंह के समय तक प्रचलित रही।[1]

प्रताप के काल में भी युवराज अमरसिंह की राज्य-प्रशासन एवं युद्ध में प्रभावी भूमिका रही थी। प्रताप के शासनकाल का एक महत्वपूर्ण दौर युद्ध में ही बीता था। राजप्रशस्ति[2], अमरकाव्यम[3] तथा राजरत्नाकर[4] आदि ग्रंथों में अमरसिंह की प्रशंसा की गई है विशेषकर उसके युद्ध नीति की। खानखाना की स्त्रियों को अमरसिंह द्वारा शत्रु के क्षेत्र में आक्रमण कर घुसकर पकड़ लाना तथा दीवरे युद्ध में उसका प्रदर्शन उसकी रणकौशल को प्रदर्शित करता है। वह दौर युद्ध एवं संघर्ष का होने से अमरसिंह के यौद्धिक गुणों पर अधिक जोर दिया गया है।[5]

युवराज युद्ध अभियानों में सेना का नेतृत्व करने के साथ बहुधा प्रांतीय शासन को भी संभालता था। मौर्य एवं गुप्त काल में तो युवराज को प्रांतीय प्रशासन के प्रमुख के रूप में उल्लेख तो मिलता ही है। अशोक को उज्जैन का गर्वनर बनाया अतः वह उज्जैनकरमोली कहलाया था। पूर्व मध्यकाल में भी यह परंपरा बनी रही। सेवाड़ी (वि.सं. 1176) शिलालेख में चौहन वंश के युवराज द्वारा भुक्ति पर प्रशासन का उल्लेख मिलता है।[6] मेवाड़ में भी युवराज को प्रांतीय प्रशासन की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी सौंपी जाती थी। 1500 ई. के नाड़लाई के जैन मंदिर पर उत्कीर्ण लेख से पता चलता है कि महाराणा रायमल के समय राजकुमार पृथ्वीराज के अधीन गोड़वाड़ का प्रदेश था।[7]

प्रताप के शासन का एक महत्वपूर्ण दौर संघर्ष में बीता था अतः तत् समय युवराज अमरसिंह को प्रताप ने किसी क्षेत्र विशेष की जिम्मेदारी देने के अपेक्षा अपने साथ रखा। अमरसिंह की प्रशासन में भूमिका पर रघुवीरसिंह का मानना है

---

1 राजेन्द्रनाथ पुरोहित, मेवाड़ के दरीखाने के रीति-रिवाज तथा संस्कार, पृ. 49

2 राजप्रशस्ति, पृ. 45

3 अमरकाव्यम् पृ. 257

4 राजरज्नाकर, पृ.273

5 तत्पुत्रोऽमरसिंह इत्यरिमृगव्याघ्रप्रभावो गुणख्यातो, युद्धविशारदोऽक्षतयशा दिग्देवसारांशभाक्। लीलाक्षिप्तविसारिकेतनतनुच्छायोंविशालेक्षणो, भास्वद्रत्नविभूषणो रविरिव क्षोणीश्वरोऽजायत।8.2।। राजरत्नाकर

6 E.I. Vol. XI P.no.30

7 नैणसी की ख्यात, पृ. 71

कि, "प्रताप ने चावण्ड को अपनी राजधानी बनाने के बाद नगर में विस्थापित तथा युद्धों से पीड़ित लोगों को बसाया। नये सिरे से समुचित शासन व्यवस्था को स्थापित कर कृषि और उद्योगों के विकास की ओर पर्याप्त ध्यान दिया। इस महत्वपूर्ण कार्य में प्रताप को अमरसिंह का सहयोग प्राप्त हुआ। अमरसिंह ने पिता के समय में प्रशासन में सक्रिय भागीदारी निभाई जिससे उसे राजकीय शासन कार्यों का अच्छा अनुभव प्राप्त हुआ।"[1]

महारानी

राज्याधिकार के प्रमुख के रूप में शासक की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। राजस्थान में रानी द्वारा शासन करने का उल्लेख बहुत कम है। इसके बावजूद रानियां अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष शासन को प्रभावित करती थी। रानियां राज्य-कार्य में भाग लेती थीं और विशेष रूप से युद्ध के अवसर पर अपने पति और परिवार के लिए प्रेरणा स्त्रोत बनती थी। रानियां शासन से जुड़ी होती थी अतः कई राजओं द्वारा रानियों के नाम के भी सिक्के जारी किएं। चौहन शासक अजयराज ने रानी सोमलदेवी के नाम के सिक्के जारी किए।[2]

रानी की भूमिका सामान्यतः राजा की मृत्यु होने के समय राज्य का उत्तराधिकारी अल्पवयस्क हो तब शासन में बढ़ जाती है। रानी राजकुमार की संरक्षक होती है जो उसके शासन कार्य संभालने तक मुख्य भूमिका में रहती है। मेवाड़ में मोकल की मृत्यु के समय कुंभा अल्पवयस्क था उस समय रणमल राठौड़ का शासन पर प्रभाव अधिक था। इस समय हंसाबाई ने भी शासन में सक्रिय भाग लिया तथा चूण्डा के आगमन के बाद मेवाड़-राठौड़ संघर्ष के दौर में जोधा व कुंभा के मध्य संधि में हंसाबाई की प्रमुख भूमिका रही।[3]

राणा सांगा की मृत्यु के बाद जब कुछ ही समय में महाराणा रत्नसिंह की मृत्यु हो गई तब विक्रमादित्य एवं उदयसिंह दोनों अल्पवयस्क थे तत् समय कर्मावती ने शासन तंत्र को अपने हाथों में रखा।[4] गुजरात के बहादुरशाह के

1 महाराणा अमरसिंह तथा उनका काल, पृ. 20

2 The Currencies of The Hindu States of Rajputana, P. no.

3 वीर विनोद, भा. 1, पृ. 323

4 वीर विनोद, भा. 2 , पृ. 25 उदयपुर राज्य इतिहास भा. 1, पृ. 337

आक्रमण के समय कर्मावती ने बड़ी सूझबूझ से कार्य लेते हुए नाराज सामंतों को मेवाड़ की रक्षा के लिए तैयार किया।[1]

रानियों शासन में भागदारी की अपेक्षा निर्माण कार्य में अधिक सक्रिय रही। इन्होंने जनहितार्थ कुएं, बावड़िया, सराएं तथा मंदिर के निर्माण करवाएं। महाराणा तेजसिंह की रानी जयतल्ल देवी ने चित्तौड़ में श्याम-पार्श्वनाथ नामक जैन मंदिर बनवाया था।[2] उदयपुर नगर की स्थापना के समय उदयसागर की पाल पर रानी सज्जाबाई ने जो कि शक्ति सिंह की माता थी, ने प्रह्लादराय का मंदिर बनवाया।[3] कई बार रानियां अपने प्रभाव से भी शासकों के निर्णय को भी प्रभावित करती थी। उत्तराधिकार के मामले उनका हस्तक्षेप रहता था विशेषकर भाटी वंशीय रानियों को दखल अधिक रहा है। लाखा के विवाह के समय भी हंसाबाई से विवाह की शर्त में ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार की अपेक्षा हंसाबाई से उत्पन्न पुत्र को शासक बनाने की शर्त रखी गई थी। उदयसिंह की भी भटियाणी रानी धीरकंवर ने ज्येष्ठाधिकार का उल्लंघन कर जगमाल को महाराणा बनाने का प्रयास किया था।

अन्य महत्वपूर्ण अधिकारी एवं कर्मचारी

सारणेश्वर मंदिर में लगे हुए अल्लट कालीन शिलालेख में संधिविग्रहक, अक्षपटलिक, बंदिपति तथा भिषगाधिराज का उल्लेख मिलता है। उपर्युक्त पदों का उल्लेख गुप्कालीन लेखों में भी हुआ है। 13वीं शताब्दी के बाद के शिलालेखों में इन पदों का उल्लेख नहीं होता है। वास्तव में परवर्ती काल में शासन के मुख्य पदाधिकारी और उनके कार्यों का विभाजन लगभग पहले ही तरह ही रहा, परन्तु भाषा के अधार पर उनके नाम बदल गये। कुंभा ने शासन को बहुत व्यवस्थित और संगठित किया था। वह परम्परा सांगा पर्यन्त यथवत् चली। सांगा के काल से अमरसिंह के शासन काल तक आंतरिक और बाहरी विप्लवों के कारण शासन की व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी थी, फिर भी, इस काल में प्रधान मंत्री, सेनापति, किलेदार आदि पद उसी रूप में रहे।[4]

---

1 उदयपुर राज्य इतिहास भा. 1, पृ. 345

2 वही, पृ. 161

3 मेवाड़ के राजाओं की राणियों, कुंवरों और कुँवरियों का हाल, पृ. 10

4 मेवाड़ का राज्य-प्रबंध पृ.29

उपर्युक्त में से कुछ पदों का उल्लेख महाराणा अमरसिंह प्रथम के समय मिलता है। इनमें भिषगाधिराज अर्थात् मुख्य चिकित्सक का पद प्रमुख है। महाराणा अमरसिंह के समय इस पद पर धन्वन्तरी नामक वैद्य था।[1] जिसने मेवाड़ी भाषा में 'अमरविनोद' नामक चिकित्साशास्त्र की रचना की थी।[2] यह ग्रंथ हाथियों की बीमारी एवं उसके निदान से संबंधित है। यह धन्वन्तरि वैद्य बालाचार्य का पुत्र था।[3]

प्रताप के समय में बालाचार्य वैद्य पद पर सुशोभित थे। बालाचार्य ने "सुश्रुतसार" नामक ग्रन्थ की रचना की किन्तु किसी कारण वश वह अधूरी रहा गई थी।[4] राजवंश के साथ गुप्त[5] एवं मध्यकाल में कई महत्वपूर्ण पदों पर अधिकारी भी वंशानुगत थे जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उस पद पर सुशोभित रहते थे। चीरवा के लेख में एक ही परिवार के कई पीढ़ी तक इसी पद पर रहते है। इसी प्रकार भामाशाह के परिवार के लोग भी करीब तीन पीढ़ी तक प्रधान पद पर रहे। अक्षपटलिक नामक अधिकारी राजस्व या लेख सम्बन्धी विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था।[6] यह भूमि दान में दिये गये ताम्र पत्रों का भी पूरा विवरण रखता था तथा इसका सम्बन्ध लेखा विभाग से भी था। यह आय-व्यय के आंकड़े भी बनाता था।[7] इस पद का उल्लेख मेवाड़ एवं गुजरात में मिलता है किंतु चौहन राज्य में नहीं मिलता है। चौहन राज्य में अक्षपटलिक के स्थान पर 'बहिकाधिकृत' नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है।[8]

इन अधिकारियों की सहायता के लिए कई छोटे अधिकारी भी होते थे। जगह-जगह पर कर एकत्र करने हेतु भी कर्मचारी नियुक्त होते थे जिन्हें कुंभा के काल में भंडारी कहा गया है इनका उल्लेख आबू के लेख में मिलता है। आबू के

---

1 विदग्धवैद्यागमसिन्धुचन्द्रो, धन्वन्तरिन्नामचिकित्सकोस्ति।।313।। अमरसार

2 उदयपुर राज्य का इतिहास भा. 1, पृ. 437

3 अमरसार, पृ. 32

4 राजेंद्र प्रकाश भटनागर : *मेवाड़ का आयुर्वेद वाङ्ग्मय,* मझमिका, संपा. वि. व्यास, वर्ष 1979-80, पृ. 129

5 गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ. 9

6 गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ. 14; कौटिल्य का अर्थशास्त्र पृ. 103

7 रामवल्लभ सोमानी, महाराणा कुंभा, पृ. 162

8 Early chauhan dynasty P. No. 200

लेख में कुंभा के काल में डूंगर मोजा नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है जिसे संबोधित कर स्थानीय करों में छूट दी गई है।[1]

उदयसिंह के काल से मेवाड़ एक दीर्घकालीन संघर्ष में उलझ गया था। उदयसिंह से अमरसिंह के काल तक चले मेवाड़-मुगल संघर्ष की वजह से ऐतिहासिक अध्ययन की सामग्री का अभाव है। प्रत्यक्ष जानकारी के अभाव में तत् समय पद पर प्रतिष्ठित अधिकारी का नाम तो नहीं मिलता किंतु इतना अवश्य था कि ये पद उस समय भी मौजूद थे। कर एवं लेख राज्य प्रशासन के मूल आधार है। उदयसिंह एवं प्रताप के समय भी भूमिदान दिए गए थे। अतः यह निश्चित है कि उस समय उपर्युक्त पदों पर कर्मचारी कार्यरत थे।

प्रांतीय शासन

प्रशासन की सुगमता हेतु राज्य को प्रांतों एवं जिलों में विभाजित किया गया था। राजस्थान में मुगल पूर्व प्रांतीय प्रशासन में एकरूपता नहीं दिखाई देती है। यहां प्रांतीय प्रशासन के स्थान पर सामान्यतः जिला एवं तहसील प्रशासनिक ईकाइयों का वर्णन शिलालेखों में मिलता है। भिन्न-भिन्न समय में तथा अलग-अलग राजवंश के शासनकाल में इन इकाइयों के नाम में भी भिन्नता मिलती है। अभिलेखों एवं साहित्य में विषय, भुक्ति, प्रतिगण तथा चैरासी नामक इकाइयों का उल्लेख मिलता है। मौर्य एवं गुप्त कालीन प्रशासन के समान पूर्व मध्यकालीन राजस्थान से प्राप्त होने वाले अभिलेखों में भी प्रांतीय प्रशासन की ईकाई के रूप में विषय एवं भुक्ति का उल्लेख मिलता है जैसे कि 12वीं शताब्दी के चैहानों के नाड़ोल के शिलालेख में भुक्ति का प्रयोग हुआ है। यहां भुक्ति का प्रयोग गुप्तकाल के प्रांतीय प्रशासन के समान न होकर के ये जागीर के संदर्भ में है।[2]

वि.सं. 1233 के लारलाई शिलालेख में महाराजपुत्र लखनपाल और अभयपाल के पास सिवाणा की भुक्ति थी। जो कि उनकी जागीर थी। जिस प्रकार राजकुमारों को जागीर प्रदान कि जाती थी उसी प्रकार रानियों को भी जागीर दी जाती थी। वि.सं. 1236 के साण्डेराव शिलालेख में कल्हण की चौहन रानी अल्हणदेवी को साण्डेराव की भुक्ति (जागीर) प्रदान की गई थी। भुक्ति के

---

1 रामवल्लभ सोमानी, महाराणा कुंभा, पृ. 163

2 E.I. Vol. 11 P. No. 31

अतिरिक्त प्रतिगण नामक शासन इकाई भी थी। रेवासा एवं बिजोलिया[1] शिलालेख में 'प्रतिगण' नामक ईकाई का उल्लेख मिलता है जो कि वर्तमान की तहसील के समान थी। 15वीं शताब्दी की परगना नामक ईकाई के रूप में यह प्रचलित थी।

मेवाड़ का प्रांतीय प्रशासन अनुपस्थित था। सामान्यतः राज्य जागीर एवं खालसा के रूप में विभाजित था। खालसा प्रदेश पर केन्द्र का प्रत्यक्ष नियंत्रण होता था। शेष क्षेत्र पर जागीरों के माध्यम से शासक शासन करता था। प्रांत के स्थान पर वर्तमान के परगना समान प्रशासनिक इकाई अस्तित्वमान थी। मेवाड़ स्वंय में एक बृहत् इकाई था और 'देश' कहलाता था। जावर के लेख तथा अमरसार में मेवाड़ को 'देश' कहा गया है। गोपीनाथ शर्मा का मानना है कि, "मेवाड़ देश के अन्तर्गत ग्राम, जनपद अर्थात् नगर तथा दुर्ग सम्मिलित थे। मुगलों के सम्पर्क के पूर्व 'देश' और 'ग्राम', 'नगर' और 'दुर्ग' के बीच की कोई इकाई नहीं थी। केन्द्रीय शासन, ग्राम से सीधा संबंधित था, इसलिए राणा को 'ग्रामणी' अर्थात् ग्राम का प्रमुख भी कहते थे।"[2] राजेन्द्र प्रकाश भटनागर का मानना है कि अकबर से पूर्व मेवाड़ में परगना व्यवस्था प्रचलित नहीं थी अपितु इसका विभाजन क्षेत्र के आधार पर किया गया था जैसे- भोमट, मगरा, मेरवाड़ा, मेवल, ऊपरमाल, गोड़वाड़, मेवाड़ तथा छप्पन आदि। ये ही राज्य की प्रशासनिक इकाइयों के रूप में विद्यमान थे।[3] परगनों की व्यवस्था मुगलों की देन है जो महाराण उदयसिंह के काल से प्रारंभ हुई। अकबर ने राजस्थान के अधिकांश भाग को 'अजमेर' सूबे के अधीन रखा था। इसके अन्तर्गत 7 सरकारें (जिले) थीं। चित्तौड़ तथा रणथम्भौर विजय के बाद मेवाड़ का विजित प्रदेश अजमेर सूबे के अन्तर्गत 'चित्तौड़" सरकार के नाम से पृथक किया गया। इसकी भूमि की पैमाइश करवा कर इस 'सरकार' में कई 'परगने' कायम किये गए। [4]

1615 ई. की मेवाड़-मुगल संधि के तहत जहांगीर के द्वारा कर्णसिंह को पांच हजार का मनसब देने का जो फरमान जारी हुआ उसमें मेवाड़ के परगनों का

---

1 E.I. Vol. 11 P. No. 95

2 मेवाड़ मुगल संबंध, पृ. 138

3 वही, पृ. 14

4 Ain-i -Akbari Vol. 2, P.no. 273

उल्लेख मिलता है। जिसमें मालवा सूबे के उज्जैन सरकार (जिला) के रतलाम एवं मन्दसौर सरकार के बसार[1] मिले शेष अजमेर सूबे के चित्तौड़ सरकार से थे- बदनोर, मांडलगढ़, फूलिया, जीरण[2], बागोर, भैंसरोड़, हमीरपुर, ऊपरमाल, नीमच,[3] उदयपुर, गयासपुर, कपासन, बेंगू, भीलवाड़ा, कोस्मान(सोस्मान), अरनोद, मदारिया, सादड़, इस्लामपुर (रामपुरा), जहाजपुर, कुभलगढ़ और गोगुंदा।[4] 1615 ई. के बाद संपूर्ण मेवाड़-राज्य में प्रशासनिक व्यवस्था के रूप में परगने स्थापित कर दिए गए थे।[5]

परगने की स्थापना से पूर्व मेवाड़ में 'चैरासियां' अर्थात् चैरासी गांवों का समूह का उल्लेख मिलता है। परवर्ती काल में भी चैरासियां की अधिक संख्या होने से टॉड ने तो यह मत स्थापित कर दिया था कि चैरासी गांवों का ही परगना होता था। वह जहाजपुर एवं कुंभलगढ़ के चैरासा के उदाहरण देता है।[6] इन चैरासियों का उल्लेख कुंभा काल से मिलता है। चैरासी गांवो की इकाई का उल्लेख नवीं शताब्दी से मिलता है।[7]

मेवाड़ में कुंभा कालीन ग्रंथ राजवल्लभमण्डन में 'चैरासी के धनी" का उल्लेख हुआ है। प्राचीन काल में भी अनके चैरासियों विद्यमान थी जैसे- काछोला की चैरासी, पुर की चैरासी तथा रतनपुर की चैरासी[8] प्रताप का काल परगना प्रशासन की दृष्टि से संक्रमण का काल है। उदयसिंह के समय से ही मेवाड़ में परगना प्रशासन की नींव पड़ चुकी थी। प्रताप शासित क्षेत्र में परगना को प्रशासनिक इकाई के रूप में स्थापित नहीं किया गया था। प्रताप ने मेवाड़ में पूर्व प्रचलित प्रशासनिक व्यवस्था को ही अपनाया था इसमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किए। इसका कारण एक कारण प्रताप के शासन का एक महत्वपूर्ण दौर

---

1 वीर विनोद, भा. 2, पृ. 246

2 वही, पृ. 245

3 वही, पृ. 246

4 वही, पृ. 249

5 Patta Bahi of Maharana Rajsingh, P. No. 140

6 Annals and Antiquities of Rajasthan, Vol. 1, P.no. 389

7 पूर्वकालीन भारत, पृ. 501

8 प्रोक्तः प्रवीणैक्चतुराशिकोसौ।
ग्रामाहियस्यैव सहस्त्रमेकं।। राजवल्लभ 5 /6, नैणसी की ख्यात, भा. 1 पृ. 43 ।

संघर्ष में ही बीत गया था जिसमें प्रशासनिक नवाचार या संशोधन का समयाभाव रहा। दूसरा शांति काल में भी प्रताप ने अपने शासित क्षेत्र में मुगल व्यवस्था को नहीं अपनाया जिसके साक्ष्य जहांगीर के फरमान में दिखाई देते है। जहांगीर केवल मुगल शासित क्षेत्र के परगनों का ही उल्लेख करता है तथा मेवाड़ महाराणा शासित क्षेत्र के बारे में विशेष कुछ नहीं कहता है बस महाराणा के संघर्ष काल में मुख्य केन्द्र रहे कुम्भलगढ़ एवं गोगुंदा का उल्लेख करता है। प्रताप एवं अकबर के संघर्ष के दौर में कुंभलगढ़, गोगुंदा, झाड़ोल एवं चावंड मुख्य केन्द्र रहे थे। इन चारों केन्द्र में से कुम्भलगढ़ एवं गोगुंदा मेवाड़ के सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण केन्द्र थे अतः पूर्व में भी गोड़वाड़ और मारवाड़ प्रदेश पर निगरानी हेतु इनका महत्व अधिक था। अतः प्राचीन काल से ही प्रमुख प्रशासनिक केन्द्र के रूप में स्थापित थे। प्रताप को लगभग 12 साल का संक्षिप्त शांतिकाल रहा जिसमें भी प्रताप के समक्ष मेवाड़ के उजड़े क्षेत्र को फिर से बसाना, अर्थव्यवस्था को संतुलित करना एवं शासन के सर्वांगीण विकास हेतु कला को प्रोत्साहन देना आदि कार्य थे। अतः प्रताप ने पूर्व प्रचलित व्यवस्था में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया।

तलारक्ष

मेवाड़ के अभिलेखों में तलारक्ष नामक एक महत्वपूर्ण अधिकारी का उल्लेख मिलता है। तलार या तलारक्ष का कार्य सुरक्षा से सम्बन्धित था। हेमचन्द ने देशीनामाला में तलारक्ष को नगर रक्षक कहा है। श्री भंडारकर ने इसे कोतवाल बताया। कुंभा के समकालीन सोमसुन्दर सूरि द्वारा विरचित 'योगशास्त्र, 'बालावबोध' में तलारक्ष का कार्य चोरी किए गए सामान को ढूंढना तथा नगर में अवांछित गतिविधियों को रोकना था। तलार एक महत्वपूर्ण पद था इसका उल्लेख कान्हड़देव प्रबन्ध में भी आया है।[1]

चीरवा प्रशस्ति में राजा मथनसिंह से लेकर तेजसिंह तक के मेवाड़ शासको के काल में तलारक्ष की हुई विभिन्न पीढ़ियों का उल्लेख मिलता है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इन तलारक्ष को कोतवाल बताया है।[2] कोतवाल (कोतवाल शब्द संस्कृत के 'कोटपाल' से बना है। 'कोट' का अर्थ किला या चारदिवारी से घिरा

---

1 रामवल्लभ सोमानी, महाराणा कुंभा, पृ. 164

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भा. 1, पृ.151

नगर, राजधानी। उसका पालक अर्थात् उसकी रक्षा करने वाला।) का कार्य राजधानी एवं राज्य के बड़े नगरों, किलों में शांति, सुरक्षा और व्यवस्था बनाये रखने के लिए कोतवाल की नियुक्ति की जाती थी। [1]

गोपीनाथ शर्मा ने तलारक्ष दुर्ग का प्रबन्ध करने वाला माना है।[2] दशरथ शर्मा ने भी तलारक्ष के कार्य को वर्तमान की पुलिस के समान माना है।[3] चीरवे के लेख में तलारक्ष का कार्य अपराधी को दण्ड देने वाला एवं नागरिकों का रक्षक बताया है।[4]

शासक एवं सामन्त

पूर्व मध्यकाल एवं मध्यकालीन राजतंत्रात्मक शासन का एक महत्वपूर्ण अवयव सामंत या जागीरदार भी थे। गुप्त राजाओं और हर्ष के समय में भूमि-अनुदान देने की प्रथा ने एक व्यवस्थित रूप ग्रहण कर लिया था। यद्यपि भूमि अनुदान देने के उदाहरण सातवाहन शासकों के काल से ही मिलते है किंतु गुप्त तथा बाद में हर्षवर्द्धन के समय में इन अनुदानों में बहुत अंतर आ गया था। गुप्त राजाओं और हर्ष के समय में भूमि-अनुदानों के ग्रहीताओं को प्रशासनिक और राजस्व-विषयक अधिकार देने की प्रथा का भी प्रारंभ हो गया था। सातवाहन राजाओं के द्वारा दिए गए अनुदानों में केवल दान दिए गए थे किसी प्रकार के प्रशासनिक एवं राजस्व संबंधी अधिकार दान ग्रहिताओं को नहीं दिए जाते थे। हर्ष के समय भूमि के साथ अधिकार देने की जो प्रथा प्रारंभ हुई वह बाद के पूर्व मध्यकालीन एवं मध्यकालीन राजाओं के समय भी चलती रही।[5]

मेवाड़ के शासन तंत्र में सामन्तों या जागीरदारों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। राज्य के प्रशासनिक, आर्थिक एवं सैनिक कार्य में सहायता के बदले इन्हें जागीरे प्रदान की जाती थी। राज्य की आधे से अधिक जागीरें या भूमि इन्ही के पास थी। सामंत सामान्यतः राणा के परिवार, सम्बन्धि या उनके सहायक होते थे

---

1 मेवाड़ का राज्य प्रबन्ध, पृ. 32

2 मेवाड़-मुगल संबंध पृ.138

3 Early chauhan dynasty P.no. 206

4 यं दुष्टशिष्टशिक्षणादक्षत्वतस्तालारंक्ष। चीरवे का शिलालेख

5 भारतीय सामंतवाद, पृ. 74

अतः महाराणा द्वारा इन्हें पर्याप्त सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्रदान की जाती थी। जागीरदारों को अपने अधीन जागीरों के प्रशासन हेतु पूर्ण स्वायत्ता प्रदान की जाती थी। ये अपने आंतरिक मामलों में निर्णय लेने में कुछ हद तक स्वतंत्र होते थे। इसके बावजूद उन्हें महाराणा के आदेश एवं निर्देशों का पालन करना पड़ता था तथा राज्य की पूर्व चली आ रही परंपरा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। सामंतों से अपेक्षा की जाती थी की वे विकट समय में राज्य की रक्षा हेतु अपने सैन्यबल सहित महाराणा की सहायतार्थ उपस्थित होंगे तथा आवश्यकता पड़ने पर प्राणों का बलिदान करने में पीछे नहीं रहेंगे। मेवाड़ के इतिहास में अनेक ऐसे अवसर उपस्थित हुए जब यहां के सामंतों ने राज्य एवं शासक की रक्षा हेतु अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया।[1] उस समय की संस्कृति में ऐसे विचारों का प्राधन्य था कि युद्ध भूमि से हार कर जाने के कि अपेक्षा लड़ते हुए मरना श्रेयस्कर है।

हर्ष एवं गुर्जर-प्रतिहारों के पतन के बाद भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में महतवपूर्ण परिवर्तन हो रहा था। इन परिवर्तनों में से एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि इस समय नए राज्यों की स्थापना हो रही थी किंतु उनके नाम अतीत की अपेक्षा संस्थापक कुलों के नाम पर कम दिए जा रहे थे और स्थान अर्थात् प्रदेशों के अनुसार उनका नामकरण अधिक किया जा रहा था। ये नवीन राज्य किसी पूर्ववर्ती राज्य का हिस्सा होता था या कुछ प्रदेश जोड़कर सृजित किया जाता था। दूसरा ये सामाजिक वर्ग के रूप में या कुलगत पहचान को कायम रखना चाहते थे।[2]

हर्ष एवं गुर्जर-प्रतिहार शासकों के राज्य काल में ऐसे उदाहरण मिलते है जब शासक या उसके अधीनस्थ स्वभोग के रूप में एक ही कुल के व्यक्ति जमीन व संपति का उपभोग करते थे। प्रारंभिक गुहिल एवं अन्य शासकों के संबंध में एक ही कुल या परिवार के संबंधियों में जमीन का वितरण कर उसका उपभोग किया जाता था। यहां रक्त संबंध महत्वपूर्ण होते थे।[3]

1 मेवाड़ का राज्य प्रबंध, पृ. 69

2 पूर्वकालीन भारत, पृ. 539

3 Making of early medieval India.p.76, Cambridge medieval history, P. No. 630

ऐसे में सामंतों की दो श्रेणियों उभर कर सामने आती है। पहला वर्ग उन सामंतों का था जिसकी उत्पत्ति राजकुल से हुई थी। दूसरे वर्ग में समकक्ष अन्य राजपूत सामंत सम्मिलित थे। स्वकूलीय सामन्तों का राजा के साथ बन्धुत्व व रक्त का सम्बन्ध होता था। स्वकुलिय संबंधि सामन्त घरेलू और राजनैतिक मामलों में सामाजिक समानता का दावा करते थे। राज्य को वे पैतृक सम्पत्ति मानते थे। अतः वे राज्य की भूमि में अपने को अधिकारी मानते थे। सामन्त का मुख्य कर्त्तव्य युद्ध में राजा की सहायता करना था। उनमें यह भावना निहित थी कि वे अपनी पैतृक सम्पत्ति की सामूहिक रूप से रक्षा करने हेतु ऐसा कर रहे है।[1]

राजस्थान में स्वकुल वंशीय सामन्त बड़े शक्तिशाली थे। मारवाड़ में राजवंशीय राठौड़ सामन्त प्रारंभ से ही बड़े शक्तिशाली थे। मारवाड़ में राठौड़ सामंतों का प्रभाव वहाँ प्रचलित कहावत से भी होता है कि, "रिड्मलां थापिया तिके राजा" अर्थात् राव रणमल के पुत्रों के वंशज की सहमति से ही मारवाड़ के राजसिंहासन पर कोई आरूढ़ हो सकेगा। मारवाड़ में प्रथम श्रेणी के सामन्त राठौड़ ही थे।[2]

जोधपुर राजवंश से जुड़े सामंतों में पोकरण ठाकुर, आउवा, निमाज, रीयां, आसोपा, कुचामन, रास, खैरवा, भद्राजुन व रायपुर के ठाकुर अथवा चंपावत, उदावत, मेड़तियां, कूंपावत, करनोत तथा करमसोत शाखाओं के प्रमुखों को राजवंश के उत्तराधिकारी मामले में एवं कठिन समय में महाराज को परामर्श देने का विशेषाधिकार प्राप्त था। इनकी शक्ति अत्यधिक थी एवं बहुत कम शासक उनकी उपेक्षा करते थे।[3] कछवाहों में भी स्वजातीय सामंतों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। कछवाहों में प्रचलित 'बारह-कोटड़ी' शासकों के भाई एवं संबंधियों को दी गई जागीरों को कहा जाता है।[4] मेवाड़ में भी स्व-जातीय सामंतों का शासन एवं प्रशासनिक कार्यों में हस्तक्षेप रहता था। मेवाड़ में 'भांजगड़' (राज्य प्रबन्ध) का

---

1 महाराणा राजसिंह, पृ. 101

2 Role of Nobility in Marwar P.no. 9, महाराणा राजसिंह, पृ. 101

3 राठौड़ राजवंश के रीति-रिवाज, वसुमति शर्मा, पृ. 20

4 Shyam singh ratanawat, Rajput Nobility: with special reference to the Kachhawaha Nobility of Jaipur during 1700-1858 A.D. P. No. 39

कार्य चुण्डावतों के पास था तथा राज्य की ओर से पट्टों, परवानों आदि पर भालों का चिन्ह चुण्डा और उसके मुख्य वंशधर को दिए गए। चुण्डावतों को यह विशेषाधिकार महाराणा लाखा के समय चुण्डा के द्वारा राज्य के सिहांसन के किए गए त्याग लिए मिला था। चुण्डा के यहीं वंशज चुण्डावत कहलाएं।[1] मेवाड़ राज्य के विस्तार के साथ ही इसके सामंतों की संख्या में भी वृद्धि हुई। इन सामंतों के कार्य, प्रभाव, प्रतिष्ठा एवं रक्त संबंधों के आधार पर इनका श्रेणी निर्धारण किया गया था।[2]

मेवाड़ के सामंत तीन श्रेणियों में विभाजित है- प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी के सामंत। श्यामलदास एवं गौरीशंकर हीराचंद ओझा[3] का मानना है कि महाराणा अमरसिंह द्वितीय ने मेवाड़ के सरदारों का प्रचलित श्रेणी निर्धारण किया। कर्नल जेम्स टॉड एवं गोपीनाथ शर्मा का मानना है कि महाराणा अमरसिंह प्रथम ने सरदारों को श्रेणी-निर्धारण का कार्य किया था। प्रथम श्रेणी के सरदारों को सोला कहते थे क्योंकि इनकी संख्या प्रारंभ में सोलह हुआ करती थी।[4]

सामान्यरूप से ये 'उमराव' कहलाते थे।[5] परवर्ती काल में प्रथम श्रेणी में सरदारों की संख्या 25 तक पहुंच गई। इस संदर्भ में निम्नलिखित दोहा मिलता है-[6]

दोय राजा, त्रिण राजवी, चुण्डावत फैर चार।
जमादार सुलतान है, डोडिया गढ सरदार।।

संख्या में बढ़ोतरी के बावजूद सोलह सरदारों की नियत बैठक होने से जो सरदार नये बढ़ाये गये हैं वे उपर्युक्त सोलह में से किसी की अनुपस्थिति में ही दरबार में उपस्थित होते थे।[7]

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ. 730
2 विक्रमसिंह भाटी, मध्यकालीन राजस्थान में ठिकाना व्यवस्था, पृ. 26
3 उदयपुर राज्य का इतिहास, भा.2, पृ.723
4 मध्यकालीन राजस्थान में ठिकाना व्यवस्था, पृ.25
5 उदयपुर राज्य का इतिहास, भा.2, पृ.722
6 मेवाड़ दरीखाने के रीति-रिवाज तथा संस्कार, पृ. 46
7 उदयपुर राज्य का इतिहास, भा. 2, पृ. 723

द्वितीय श्रेणी के सरदारों की संख्या 32 थीं अतः ये 'बत्तीसा' कहलाये। इनकी संख्या सदैव एक-सीं नहीं रही। इनकी योग्यता व कार्यनिष्ठा के आधार पर महाराणा इन्हें प्रथम या तृतीय श्रेणी में भी रख सकता था। तीसरी श्रेणी के सरदारों को 'गोल के सरदार' कहते थे। इस श्रेणी के सरदारों की संख्या निश्चित नहीं थी।[1] मेवाड़ के सरदार एवं शासक संबंधों को समझने हेतु सामंतों के जातिगत या वंश विवरण का विश्लेषण आवश्यक है। मेवाड़ के सामंतों को दी गई जागीरों में सामान्यतः कुछ वंश ही प्रमुख थे। बाद में इन्हीं वंश कुल में जन्मे सामंतों को नई जागीरे मिली। इस तरह कई छोटी-बड़ी नवीन जागीरे स्थापित हुई। प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी के सरदार एक ही वंश कुल से जुड़े हुए थे। प्रथम श्रेणी के ठिकानों के उमराव में मुख्य सात राजपूत-जातियां थी- चूण्डावत, शक्तावत, सारंगदेवोत, झाला, चौहान, राठौड़ एवं पंवार। चूण्डावत के पास चार ठिकाने थे सलूम्बर, आमेट, देवगढ़, बेगूं। शक्तावतों के पास दो ठिकाने थे भींडर तथा बान्सी। सारंगदेवोत के पास कनोड़ था। झाला के पास तीन ठिकाने थे सादड़ी, गोगुंदा तथा देलवाड़ा। चौहान के पास भी तीन ठिकाने थे बेदला, पारसोली तथा कोठारिया। राठौडों के पास बदनोर तथा घाणेराव। पंवार (परमार) के पास बिजोलिया ठिकाना था। उपर्युक्त सात राजपूत जातियों में से प्रथम तीन चूण्डावत, शक्तावत तथा सारंगदेवोत महारणा के परिवार से सम्बन्धित थे तथा अंतीम चार झाला, चौहान, राठौड़ तथा पंवार मेवाड़ के बाहर से महाराणा की सेवा में आएं थे तथा युद्धों में महाराणा की सेवा एवं बलिदान के बदले इन्हें ये जागीरें मिली थी[2]

द्वितीय श्रेणी में बत्तीस सरदार थे। ये सभी भी राजपूत कुलों से सम्बन्धित थे। इन बत्तीस सरदारों में से 21 महाराणा के रक्त संबंधी थे तथा 10 अन्य राजपूत कुलों से संबंधित थे। 21 सरदार जो महाराणा के रक्त संबंधी थे इनमें से भी 9 राणावत, 5 चूण्डावत, 4 शक्तावत, 2 सांगावत तथा 1 कहावत थे। शेष अन्य राजपूत कुलों से संबंधित थे जिनमें 1 झाला, 1 पंवार, 2 चौहान, 2 चावड़ा तथा 4 राठौड़ थे।[3]

---

1 मध्यकालीन राजस्थान में ठिकाना व्यवस्था, पृ.42, उदयपुर राज्य का इतिहास भा. 2, पृ.723

2 उदयपुर राज्य का इतिहास,भा. 2, पृ.722, मेवाड़ दरीखाने के रीति-रिवाज तथा संस्कार, पृ.46

3 राजपूतों का सामाजीक जीवन, पृ. 30

तृतीय श्रेणी के सामंत जिनकी संख्या निश्चित नहीं थी बाद में इनकी संख्या 320 तक पहुँच गई थी। तृतीय श्रेणी के सरदारों में महाराणा के रक्त संबंधी सामंतों के पास निम्न ठिकाने थे- 71 राणावत, 50 चूण्डावत, 38 शक्तावत, 16 पूरावत, 13 कान्हावत, 7 सांगावत, 5 इलावत, 3 लूणावत, 3 भाकरोत, 2 कुंभारत तथा 1 माँजावत। महाराणा के रक्त संबंधी सरदारों के इतर अन्य राजपूत कुल भी तृतीय श्रेणी के ठिकानों में सम्मिलित थे जिनकी संख्या निम्न थी- 53 राठौड़, 23 सोलंकी, 19 चौहन, 11 भाटी, 5 झाला, 4 पंवार, 2 हाड़ा चौहान, 1 पड़िहार तथा 1 यादव थे।[1]

मेवाड़ में स्थापित ठिकानों के अधिपति कुलों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि यहां पर मुख्य रूप से सात राजपूत वंशीय कुल जो कि प्रथम श्रेणी के सरदार थे वे ही सामंती व्यवस्था में मुख्य रूप से प्रभावशाली थे। बहुधा द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी के सरदार इन्हीं प्रथम श्रेणी के सामंतों या महारणा के वंश परंपरा से संबंधित थे। मेवाड़ में भाटी एवं यादव सरदार तृतीय श्रेणी के सरदारों में ही थे। प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के सरदारों में इन्हें स्थान प्राप्त नहीं था। प्रताप को प्रमुख रूप से प्रथम श्रेणी के इन सात जातिय सामंतों का ही सहयोग मिला था। महराणा अरिसिंह द्वितीय ने सिन्धियों के जमादार मिर्जा आदिलबेग के लड़के अब्दुल रहीम बेग को उमराव में शामिल किया था।[2] यह मेवाड़ के सामंतों में एकमात्र मुस्लिम था।

प्रताप के समय सामंतों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो गई थी। प्रताप को संघर्ष विरासत में मिला था। उसके अकबर जैसे शक्तिशाली शत्रु का समाना करना था, इस हेतु उसे विश्वसनीय सहयोगी तथा एक मजबूत सैन्य संगठन की आवश्यकता थी। ऐसे विकट समय में प्रताप के मजबूत आधार स्तंभ उसके सामंत ही थे। अमरसिंह के काल तक मेवाड़ के सामंतों योगदान का विश्लेषण करते है तो सामंत व्यवस्था मेवाड़ के लिए सकारात्मक दिखाई देती है।[3] महाराणा मोकल की हत्या के बाद तथा कुंभा के शासन के प्रारंभिक काल में सामंतों ने विशेषकर

---

1 राजपूतों का सामाजिक जीवन, पृ. 31, नीलम कौशिक, बेगूं का इतिहास, पृ. 11

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भा. 2, पृ. 554, वीर विनोद भा. 4, पृ. 156

3 Annal and Antiquities of Rajasthan, Vol. 1, P.no.275, मेवाड़-मुगल संबंध पृ. 135

राठौड़ों एवं चूण्डा ने इस विकट दौर में मेवाड़ बचाया।[1] सामंतों के साथ शिष्टतापूर्ण व्यवहार नहीं करने से यहीं सामंत महाराणा विक्रमादित्य के समय नाराज हो गए तथा शासन से दूरी बना ली थी।[2]

कालांतर में इन्हीं सामंतों की सहायता से ही महाराणा उदयसिंह चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठ सके। इस समय महाराणा उदयसिंह की सहायता करने वालों में[3] कोठारिया के रावत खान, रावत सांईदास चूंण्डावत (यह रावत चूंडा का मुख्य वंशधर और सलूंबर वालों का पूर्वज), केलवे से जग्गा (यह रावत चूंडा के पुत्र कांधल का पौत्र, आमेटवालों का पूर्वज और सुप्रसिद्ध पत्ता का पिता था।), बागोर से रावत सांगा (यह जग्गा का भाई और देवगढ़ वालों का पूर्वज था।) आदि ने उदयसिंह की शासक बनने में सहायता की थी। उदयसिंह ने जगमाल को राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया तब प्रताप के सिंहासनारूढ़ होने में भी इन्हीं सामंतों की मुख्य भूमिका रही थी। प्रताप को जिस प्रकार मुगलों से संघर्ष विरासत में मिला था उसी प्रकार से उनका सामना करने हेतु स्वामीभक्त एवं विश्वसनीय सामंत विरासत में ही प्राप्त हुए थे। इन सामंतों में स्व-कुलीय एवं बाहर से आएं दोनों प्रकार के सामंत थे जिनका संघर्ष में पूर्ण सहयोग मिला। बाहर से आएं सामंतों में डोडिया, मेड़तिया राठौड़, जैतमालोत राठौड़ सींधल राठौड़, झाला, सोनगरा चौहन, पुरबिया चौहन, बागड़िया चौहन, खिंची चौहन, पंवार प्रमुख थे। स्व-कुलीय सामंतों में सीसोदिया, सारंगदेवोत, शक्तावत आदि सामंतों ने प्रताप को पूरा सहयोग दिया।

मध्यकाल में राजा की शक्ति के आधार उसके सामंत हुआ करते थे क्योंकि यहीं उसे युद्ध या विकट परिस्थिति में सैन्य संसाधन उपलब्ध करवाते थे। अतः शासकों के सामंतों की संख्या उसकी शक्ति की द्योतक होती थी। संयोगिता के अपहरण के दौरान पृथ्वीराज घोषणा करता है कि उसके साथ सौ सामन्त है।[4]

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भा. 2 पृ. 256, वीर विनोद, भा. 1 पृ. 319

2 वीर विनोद, भा. 2, पृ. 27

3 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 349

4 महाकवि चन्द बरदाई कृत पृथ्वीराज रासो, संपा. मनोहरसिंह राणावत, कविराव मोहनसिंह, पृ. 200

मेवाड़ की शक्ति के उत्कर्ष काल में महाराणा सांगा के अधीन सात राजा, नौ राव तथा 104 रावत थे। [1]

सांगा की मृत्यु के बाद मेवाड़ को आंतरिक एवं बाह्य संघर्ष में उलझना रहा जिसका प्रतिकूल प्रभाव उसकी शक्ति पर दिखाई देता है। अकबर की साम्राज्यवादी नीति के तहत 1567 ई. के आक्रमण के बाद सैन्य शक्ति अपेक्षाकृत कमजोर हुई जो प्रताप के शासन काल में दिखाई देती है।वंशावली संख्या 1, वंशावली संख्या 2, वंशावली संख्या 4, उदयपुर री ख्यात आदि से जानकारी प्राप्त होती है[2] की प्रताप के अधीन एक राजा, तीन राव तथा सात रावत थे यद्यपि प्रताप के समय तक सामंतों का स्तरीकरण नहीं हुआ था। प्रताप से पूर्व प्राप्त अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों में भी इस प्रकार का स्तरीकरण नहीं दिखाई देता है। महाराणा अमरसिंह द्वितीय के समय में इन सामंतों को सोलह, बत्तीस एवं गोल में बांटा गया। [3] फिर भी प्रताप के समय रामशाह तंवर जो कि ग्वालियर के विस्थापित राजा थे। जिन्होंने उदयसिंह के समय मेवाड़ में शरण ली थी। उदयसिंह द्वारा इन्हें वारा एवं दसोर (मंदसोर) की जागीर दी गई।[4]

तीन राव एवं सात रावत ये जो दस सामंत प्रताप की सेवा में थे वे प्रताप के सबसे विश्वसनीय सहयोगी एवं बड़े सामंत थे जिन्हें बाद में भी मेंवाड़ में बड़ी-बड़ी जागीरें उनकी महत्ती सेवाओं के बदले मिली थी। ये निम्न थे- सोनगरा, पूरबिया चौहन, झाला सादड़ी, झाला देलवाड़ा, चूण्डावत, शक्तावत, मेड़तिया राठौड़, जैतमालोत राठौड़, डोडिया, सारंगदेवोत। इसके अतिरिक्त प्रताप के प्रमुख सहयोगियों में सींधल, वागड़िया चौहन, खींची चौहन तथा पंवार भी थे जिन्होंने प्रताप के संघर्ष में सहायता की थी।

प्रताप ने संकटकाल का सामना करने हेतु मेवाड़ की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप प्रचलित परंपरागत तरीकों में बदलाव किया था। मेवाड़ का मैदानी क्षेत्र निकल जाने के कारण भी कई जागीरें मुगल क्षेत्रों में चली गई थी, जिसका प्रतिकूल प्रभाव सैन्य व्यवस्था पर पड़ा। परम्परागत जागीरदारी प्रथा के अनुसार

---

1 Annal and Antiquities of Rajasthan, Vol. 1, P. No. 240

2 महाराणा स्मृति ग्रन्थ, पृ. 21

3 Fedual polity in mewar, P.no.14

4 अमरकाव्यम् पृ. 207, राजा रामशाह तंवर ग्वालियर, पृ. 66

राज्य की आरे से जागीरदारों को राज्य की सैनिक सेवा के एवज में जागीरें दी जाती थी। जागीर की आय के अनुरूप जागीरदार राज्य की सुरक्षा एवं प्रशासनिक व्यवस्था के लिए सैनिक रखते थे। जागीरदारों की सैनिक टुकड़ियों से मिलकर ही राज्य की प्रधान सेना का निर्माण होता था।[1]

प्रताप के राज्याभिषेक के चार वर्ष पूर्व ही मेवाड़ का मैदानी क्षेत्र महाराणा के हाथों में से निकल गया था। अतः मेवाड़ के प्रशासनिक क्षेत्र में परिवर्तन कुछ हद तक महाराणा उदयसिंह के समय तक ही हो गए थे। प्रताप ने कुछ जागीरें पहाड़ों एवं अपने प्रभाव क्षेत्र में भी दी थी। शक्तिसिंह के पुत्र भाण को भींडर की जागीर दी गई। सलूम्बर किशनदास चूण्डावत के अधिकार में था। सादड़ी में ताराचंद को प्रशासनिक अधिकारी के रूप में नियुक्त कर रखा था। राठौड़ मुकुनदास के पास देलवाड़ा की जागीर थी। भोमट के सरदार विशेषकर पानरवा, ओगणा, झाड़ोल आदि प्रताप के अधीन सामंतों के पास ही थे। पानरवा में राणा पूंजा बाद में उसका पुत्र प्रताप एवं अमरसिंह के लिए लड़े थे। मेवाड़ का मैदानी क्षेत्र मुगलों के पास जाने से कुछ जागीरदार भुमिविहीन हो गए थे ऐसे में उनकी सेना एवं परिवार के रख-रखाव के लिए नकद वेतन की व्यवस्था थी। रामशाह तंवर को मंदसोर की जागीर दी गई थी किंतु वह मुगलों के पास चली गई तब प्रताप द्वारा रामशाह को प्रतिदिन 800 रू. नकद दिए जाते थे। मेवाड़ में रेख के अनुसार जागीरे आवंटित की जाती थी बहुधा जागीर रेख की लागत से कम होती तो राज्य द्वारा वह शेष राशि जागीरदार को नकद प्रदान की जाती थी।[2]

***

1 महाराणा प्रताप महान् पृ. 142

2 हुकुम सिंह भाटी, महाराणा राजसिंह पट्टाबही पट्टेदारां री विगत, भा.1, पृ. 58

अध्याय पंचम

महाराणा प्रताप कालीन आर्थिक स्थिति

अध्याय पंचम

महाराणा प्रताप कालीन आर्थिक स्थिति

समृद्ध एवं स्थायी राज्य हेतु शासन की सुदृढ़ अर्थव्यवस्था का होना अत्यंत आवश्यक है। राज्य और अर्थ के अनुकूल आनुपातिक संबंधों पर राजनीतिक विचारक प्राचीन काल से ही बल देते आएं है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों को यह मानना था कि एक अच्छे शासक को सदैव अपने राजकोष को भरा रखना चाहिए तथा साथ ही पर्याप्त सुरक्षित भण्डार की व्यवस्था रखनी चाहिए। राजकोष में होने वाला कोई भी प्रतिकूल आनुपातिक बदलाव उनकी नजर में राष्ट्रीय आपदा से किसी भी प्रकार से कमतर नहीं था।[1]

भारतीय राजनीतिक ग्रंथों में राज्य के सात अंग माने गए है, जिसे 'सप्तांग' सिद्धांत कहा जाता है। अर्थात् राज्य का निर्माण इन सात अंगों से हुआ है जो निम्न है - स्वामी (राजा) आमात्य (मंत्री), राष्ट्र (भूमि), दुर्ग (किला), बल (सेना) तथा कोष (खजाना)।[2] प्राचीन विचारकों ने उपर्युक्त तत्वों की तुलना मानव-अंग से की है। निश्चय ही इस तुलना का तात्पर्य इन सात अंगों में पारस्परिक महत्व को बताना। इनमें से कौनसा अंग राज्य के लिए अधिक महत्वपूर्ण है। इसी का दूसरा पक्ष यह इंगित करता है कि मानव शरीर के सभी अंग समान रूप से उतने ही महत्वपूर्ण है जितना की दूसरा अंग अर्थात् यहां यह नहीं कहा जा सकता है कि शरीर का अमुक अंग महत्वपूर्ण नहीं है जिसके बिना कार्य चल जाएंगा। सात अंगों में से स्वामी तथा आमात्य राज्य के केन्द्रिय भाग हैं जो संप्रभुता का उपभोग करते है। राष्ट्र, दुर्ग, कोष एवं बल राज्य के लिए

---

1 कोषमूला: कोषपूर्वा: सर्वारम्भा:।
तस्मात्पूर्ण कोषमवेक्षेत।।2.8.2।। अर्थशास्त्र
कोषमूला: हि राजान: कोशो वृद्धिकरो भवेत्।।211.119.16।। महाभारत
कोषमूलों हि राजेति प्रवाद: सार्वलौकिक:।।XIII.33।। कामंदक नीतिसार

2 Dutt, M.M. Kameandakiya Nitisara. P. No. 5

संसाधन उपलब्ध करवाते है जिसके बल पर संप्रभुता का उपभोग संभव हो पाता है।[1]

अत: राज्य संचालन कला के समस्त प्राचीन भारतीय विद्वानों ने सफल सरकार के लिए भरपूर कोष के महत्व पर बल दिया। भारत में मौर्यकाल से पूर्व ही कर लगाने की नियमित प्रणाली विकसित हो चुकी थी।[2] सैद्धांतिक रूप से राजा द्वारा प्रदान की गई सुरक्षा के प्रतिदानस्वरूप 'कर' आरोपण का वह अधिकारी हुआ। प्रारम्भिक राजा मनु की कथा में उल्लेख मिलता है कि ब्रह्मा द्वारा राजा के पद पर मनु की नियुक्ति किये जाने पर ब्रह्मा को यह शंका एवं भय उत्पन्न हुआ कि मनु प्रजा के पापों का उत्तरदायी बनेगा, परन्तु जन-साधारण को राज्य की इतनी आर्थिक आवश्यकता थी कि उन्होंने यह वचन दिया कि वे अपने पापों के स्वंय भागी होंगे तथा उन्होंने मनु को अपनी उपज तथा भेड़-बकरियों में से एक भाग देने की उस दशा में प्रतिज्ञा की कि वे उनकी रक्षा करेंगे। बौद्ध ग्रंथों में भी प्रथम राजा को समझौते के तहत राशि का एक अंश देने के वचन का उल्लेख मिलता है।[3] स्मृति ग्रंथों में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।[4]

महाभारत के शांति पर्व में कोष व सेना को राजा का मूल बताया है। खजाना सेना का मूल है, सेना सब धर्म का मूल है, धर्म प्रजा समूह का मूल है और इन सब की जड़ कोष वृद्धि है।[6] कौटिल्य भी उपर्युक्त मत का समर्थन करता है। धर्म, दर्शन, काव्य, कला और अर्थ आदि साहित्य है जितने भी अंश है, उनमें धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्ष इस वर्ग चतुष्टय की उपयोगिता पर अनेक प्रकार से विचार किया गया है। अर्थशास्त्र, क्योंकि ऐहिक जीवन से संबंद्ध क्रिया व्यापारों की ही विवेचना प्रस्तुत करता है अत: उसमें मोक्ष को छोड़कर त्रिवर्ग के संबंद्ध में ही प्रकाश डाला गया है। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का पारस्परिक संबंध बताते

1 Altekar, A.S. State and Government in Ancient India. P. No. 20

2 हिंदू राज्य तंत्र, भाग-2, पृ. 13; अद्भुत भारत, पृ. 74

3 अद्भुत भारत, पृ. 76; मनुस्मृति, पृ. 208

4 राज्ञ: कोषबलं मूंल कोशंमूलं पुनर्बलम्।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलं: पुन: प्रजा।।XII.130.35।। महाभारत

हुए कौटिल्य ने यह स्वीकार किया है कि उनमें प्रमुखता अर्थ की है और शेष दोनों धर्म तथा काम, अर्थ पर ही निर्भर हैं। इसीलिए त्रिवर्ग की समुचित उपलब्धि के लिए अर्थ की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है।[1] कोषदण्ड ही राज्य के कोष का आधार है, बल का कारण कोष है, औरों को पराजित करने में कोष, बल तथा नीति ये तीनों ही राज्य दृढ़ता को आधार प्रदान करते है।

कोष और राज्य के बल को विचारकों ने इनके आनुपातिक संबंधों का विश्लेषण किया है। कोष ज्य की सुदृढ़ता का आधार था जिसका मुख्य स्त्रोत कृषक था। प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत की अर्थव्यवस्था ग्रामीण थी अत: कृषि एवं कृषक ही कोष के आधार स्तंभ थे। कृषक एवं व्यापारियों के बारे में कहा गया है कि वे ही राजा और प्रजा की रक्षा करते है तथा राष्ट्र को शक्तिशाली बनाते है। अतएव वे करभार या किसी दूसरे कारण से पीड़ित न हो, इस ओर राजा को तीक्ष्ण दृष्टि रखनी चाहिये। देवता, पितर, मनुष्य, राक्षस, सरीसृप, पशु-पक्षी आदि सब कृषक व वणिक के श्रम पर निर्भरशील होते हे, इस कारण सहृदयता के साथ उनके अभावादि पूर्ण करने के लिए राजा को बार-बार सतर्क किया गया है।[2]

कोष का राज्य की सुरक्षा एवं प्रजा के जीवन-स्तर पर गहरा प्रभाव पड़ता है अत: कौटिल्य भी मानता है कि सारे कार्य कोष पर निर्भर है। इसलिए राजा को चाहिए कि सबसे पहले कोष पर ध्यान दें।[3] कौटिल्य राष्ट्र की समुन्नति और सुरक्षा के निमित्त जितने भी उपाय तथा साधन बताता हैं, उनमें कोष को प्रमुख स्थान देता है। इसी हेतु कोष-विभाग के कर्मचारियों से लेकर कोष की सुरक्षा, उसकी वृद्धि के उपाय, उसकी आय के साधन और उसके भय के कारणों पर कौटिल्य बड़ी सूक्ष्मता से विचार करता है।[4]

---

1 कौटिल्य अर्थशास्त्रम् पृ. 55

2 सुखमय भट्टाचार्य, महाभारत कालीन समाज, पृ. 162

3 कोशमूल: कोषपूर्वा समारम्भा।
तस्मात्पूर्वा कोषमवेक्षेत।।2.8.2।। अर्थशास्त्र

4 कौटिल्य अर्थशास्त्रम्, पृ. 55

मेवाड़ के समक्ष आर्थिक प्रबंध का संकट

राज्य एवं अर्थ का आपस में घनिष्ट संबंध है या इन ये दोनों को एक-दूसरे के पूरक कहें तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। एक सुदृढ़ राज्य के लिए एक मजबूत स्थायी अर्थव्यवस्था होना एक आवश्यक शर्त है। बाबर के आगमन के बाद से मेवाड़ को कई गंभीर संकटों का सामना करना पड़ा। अकबर के 1567 ई. में चितौड़ पर आक्रमण के बाद तो चित्तौड का परित्याग ही करना पड़ा था। मेवाड़ राज्य की स्थिति पूर्णत: बदल गई थी। ऐसे विकट समय में ही प्रताप को मेवाड़ राज्य की बागडोर संभालनी पड़ी। राज्य के सुव्यवस्थित संचालन के लिये राणा प्रताप के सन्मुख आर्थिक समस्या प्रधान रही। राजधानी चित्तौड़ के विस्थापन से संचित सामग्री बिखर गई। राज्य का मैदानी भाग मुगल अधीनता में चले जाने के कारण कृषि एवं व्यापार से होने वाली आय का अधिकांश भाग हाथ से चला गया था। चारों ओर से मुगल-राज्य प्रभावित क्षेत्रों से घिर जाने के कारण पर्वतीय भू-भाग में व्यापार और व्यापार से होने वाली आय लगभग बन्द हो गयी। मैदानी भाग हाथ से निकल जाने के कारण मेवाड़ की बड़ी-बड़ी जागीरें समाप्त हो गई जो तत् समय के प्रशासन की रीढ़ कहीं जाने वाली सामंती-प्रथा का मुख्य आधार तथा राज्य की सैन्य व्यवस्था का मुख्य साधन थी। जागीरदारों ने भी स्वजनों के साथ दुर्गम पहाड़ों की ओर रूख किया। इन जागीरदारों को अपने भरण-पोषण के लिए पहाडों में यत्र-तत्र नई जागीरें दी गई। अतएव संकट के इस समय में प्रताप को केन्द्रीय स्तर पर राज्य की सेना का गठन करना पड़ा, जिसका व्यय राज्य के कोष से किया गया। इस समय जब राज्य की पुराने आय के साधन बंद हो गये और राज्य पर व्यय का भार बढ़ गया। ऐसे संकट में यदि प्रशासन और सैनिक वर्ग पर होने वाले व्यय के लिये आय की निश्चित व्यवस्था नहीं की जाती और आय के नवीन स्त्रोत नहीं प्राप्त किये जाते तो प्रताप के लिए सुरक्षात्मक युद्ध जारी रखना कठिन हो जाता और संभवत: मेवाड़ के कई एक जागीरदार और राजपूत सैनिक सरदार भी मुगल सेवा के लिए आगरा की राह पकड़ते। किन्तु राणा प्रताप और मेवाड़ का सामंत वर्ग एक ओर अपने उद्देश्यों पर

एकताबद्ध और दृढ़ रहा और उनके लिए अभावों से झूझने के लिये तत्पर रहा, दूसरी ओर राज्य के लिये आय की निश्चित योजना बनाई गई। राज्य की संपूर्ण आर्थिक गतिविधियों का मुख्य आधार और केन्द्र-बिन्दु सैन्य व्यवस्था का सुचारू संचालन रखा।" [1]

डॉ. देवीलाल पालीवाल द्वारा प्रताप कालीन आर्थिक स्थिति का उपर्युक्त चित्रण यह बताता है कि मुगलों के आगमन विशेषकर अकबर के आक्रमण ने मेवाड़ की अर्थव्यवस्था को गंभीर आघात पहुँचाया था। प्रताप ने अपनी सुझ-बुझ से पुन: अर्थतंत्र को अपने पैरों पर खड़ा कर दिया। प्रतापकालीन अर्थव्यवस्था का गहन विश्लेषण इसीलिए आवश्यक हो जाता है कि टॉड ने प्रताप के संघर्षकालीन जीवन की रूपरेखा को इस प्रकार खींचा है जिसमें प्रताप की स्थिति को बेहद दयनीय बताया है। मेवाड़ का उपजाऊ मैदानी भाग के प्रताप के हाथों से चले जाने पर आर्थिक संसाधनों की बेहद कमी हो गई थी। यहां तक की प्रताप के परिवार जन घास की रोटी खाकर निर्वाह कर रहे थे। उनके निवास हेतु अब आवास की बेहतर सुविधाएं भी नहीं थी। ऐसे ही अभावों के दौर में प्रताप का धैर्य उस समय टूट गया जब जंगल में प्रताप के पुत्र से घास की रोटी भी एक जंगली बिल्ली ले भागी।[2] टॉड के उपर्युक्त कथन का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। किसी भी ख्यात, वंशावली, राजप्रशस्ति, अमरकाव्यम्, राजविलास आदि ग्रंथों में इस प्रकार की किसी भी घटना का उल्लेख नहीं है।[3] आधुनिक इतिहासकार गौरीशंकर हीराचंद ओझा[4] व गोपीनाथ शर्मा[5] जैसे प्रबुद्ध इतिहासकारों ने टॉड के उपर्युक्त घटनाक्रम को अतिश्योक्तिपूर्ण कपोल कल्पना कहकर अस्वीकार कर दिया है। निश्चय ही टॉड के कथन में अतिशयता है किंतु उसके उपर्युक्त कथन ने प्रताप कालीन इतिहास को देखने की दृष्टि को बदल दिया। प्रताप कालीन आर्थिक पक्ष पर जिस

---

1 देवीलाल पालीवाल : *महाराणा प्रताप महान्*, पृ. 145

2 Annals and antiquites of Rajasthan. Vol. 1, P. No. 273

3 राजेंद्र शंकर भट्ट, महाराणा प्रताप, पृ. 61

4 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 394

5 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़ मुगल संबंध, पृ. 73

पर समकालीन स्त्रोतों में बहुत ही कम स्थान दिया गया उस पर आज और शोध करने की आवश्यकता हैं।

प्रताप से पूर्व मेवाड़ की आर्थिक दशा

अर्थव्यवस्था का विकास एक दीर्घकालीन प्रक्रिया है। विकासशील से विकसित अर्थव्यवस्था के रूप में स्थापित होने में समय लगता है। अर्थव्यवस्था कई कारकों से प्रभावित होती है। प्राचीन काल में अर्थव्यवस्था के प्रारंभिक बिंदु से देखें तो वह एक कबिलाई अर्थव्यवस्था के रूप में थी जिसे नगरीय अर्थव्यवस्था के रूप में स्थापित होने में सैंकड़ों या हजारों वर्षो का समय लगा। अत: प्रताप कालीन अर्थव्यवस्था को समझने के लिए प्रताप के पूर्व की आर्थिक् गतिविधियों को देखना अति-आवश्यक है। मेवाड जो राजस्थान के दक्षिण भाग में स्थित है यह प्राचीन काल से या पूर्व ऐतिहासिक काल से ही कई समृद्ध सभ्यताओं का केन्द्र रहा है। यहां पुरापाषाण काल से लेकर मध्यकाल तक निरंतर कई प्राचीन ऐतिहासिक स्थल मिलते है जो कि इस क्षेत्र की समृद्ध अवस्था के द्योतक है। पाषण काल के बाद धातुगत सभ्यताओं में 'आहाड़' या 'ताम्र-पाषाण' कालीन सभ्यता इस क्षेत्र में विकसित हुई। राजस्थान में ताम्र-पाषाण कालीन सभ्यता का जो विकास हुआ उसका मुख्य संकेन्द्रण दक्षिण राजस्थान ही रहा। आहाड सभ्यता के करीब 111 स्थल मिले चुके है जिनमें से 80 प्रतिशत तीन जिलों में ही केन्द्रित है- चित्तौड़, भीलवाड़ा तथा उदयपुर।[1] ऐतिहासिक काल में 'नगरी' यहां का प्रमुख केन्द्र रहा।[2] पतंजलि के महाभाष्य'' के अनुसार मध्यमिका पर यवन शासक मिनेंडर ने आक्रमण किया था।[3] परवर्ती काल में गणराज्यों के शासन काल में भी यह क्षेत्र निरंतर विकासमान रहा। प्रताप के शासन के एक लगभग एक हजार वर्ष पूर्व गुहिलवंश की स्थापना हो चुकी थी। इन एक-हजार वर्षों में गुहिल वंश के

1 Hooja, Rima. A history of Rajasthan. P. No. 58

2 E. I. Vol. 16, P. No. 25

3 Ibid. P.No. 198

शासको ने कई गंभीर आघात एवं चुनौतियों का सामना कर स्वंय को इस क्षेत्र में एक परिपक्व शासन के रूप में स्थापित कर लिया था।

मेवाड़ की आर्थिक दशा के ज्ञान हेतु शिलालेखीय सामग्री बहुत महत्वपूर्ण है। मेवाड़ का गुहिलवंश का ज्ञात प्राचीनतम शिलालेख सामोली जो शिलादित्य नामक शासक का है बहुत महत्वपूर्ण है। यहां के श्रेष्ठी एवं व्यापारी वर्ग का इस शिलालेख में वर्णन है जिन्होंने यहां पर मंदिर का निर्माण करवाया था।[1] 646 ई. का सामोली का लेखक आर्थिक गतिविधियां तत् समय की बताता है। शिलालेख के अतिरिक्त सिक्के भी आर्थिक स्थिति के सूचक है। राजस्थान में सबसे पुराने लेखवाले सिक्के मध्यमिका नामक प्राचीन नगर से मिलते है।[2] ये तांबे के सिक्के है जिन पर 'मझमिकाय शिबिजनपदस' लेख उत्कीर्ण है। कनिंघगम ने इसे भारत के प्राचीनतम आहत सिक्कों में से एक माना है।[3] सिक्के मुख्यत: सोने, चांदी तथा तांबे के होते थे। ई. स. की छठी शताब्दी से अजमेर पर मुस्लिमों के अधिकार होने तक के 600 वर्षों में राजपूताने पर राज्य करने वाले हिंदू राजवंशों में से केवल तीन ही वंशो अर्थात् मेवाड़ के गुहिल, अजमेर के चौहान और कन्नौज के प्रतिहारों के चांदी और तांबे के सिक्के मिलते है।[4] चौहान शासकों के शिलालेखों एवं साहित्य से भी मुद्रा व्यवस्था का जानकारी होती है। द्रम्म, विंशोपक, लोहड़िया रूपक, रौप्यटंक, जीतल, सुवर्ण, दीनार, कार्षापण, काकिणी या कन्विट्टका आदि मुद्राओं का वर्णन मिलता है।[5]

गुहिल वंशीय शासकों में सर्वप्रथम मुद्रा के महत्वपूर्ण भंडार गुहिल के ही प्राप्त हुए है। गुहिल के 2000 से अधिक चांदी के सिक्के आगरा से मिले जिन्हें कालाईल और कनिंघम ने मेवाड़ के शासक गुहिल के ही माने है। गुहिल के परवर्ती शासकों में जिनके सिक्के मिले है उनमें शीलादित्य राणा कुंभा, राणा

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग.1, पृ. 73

2 नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक-1, पृ. 321 ; नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक 1, पृ. 244

3 ASI Report vol. 6. P. No 200

4 नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक 1, पृ. 245

5 E. I. vol. 11 P.No.110 ; पृथ्वीराज विजय, पृ. 110

सांगा, विक्रमादित्य एवं बणवीर प्रमुख है। उपर्युक्त सभी शासकों के सिक्के तांबे के है। साहित्य में तो सोने एवं चांदी के सिक्कों का उल्लेख मिलता है। बापा रावल से पहले किसी भी शासक का सोने का सिक्का नहीं मिला। बापा रावल के सोने के सिक्कों का महत्व और अधिक तब बढ़ जाता है जब यह ज्ञात होता है कि छठी से बारहवीं शताब्दी ई. के काल में राजस्थान में शासन करने वाले राजाओं में से किसी का भी सोने का सिक्का नहीं मिला। बापा रावल का यह सिक्का उक्त काल का पहला ही सोने का सिक्का था।[1] मुद्रा विनिमय का एक प्रबल, सशक्त माध्यम है जो कि नगरीय अर्थव्यवस्था की प्रधान आवश्यकता होती है। राजपूताना के अन्य राज्यों की मुद्रा की स्थिति को देखते है तो मेवाड़ की स्थिति सुदृढ़ दिखाई देती है। वेब के अनुसार मारवाड़ से प्राप्त पहली मुद्रा महाराज अजित सिंह की है। उससे पूर्व मारवाड़ के किसी भी शासक की मुद्रा प्राप्त नहीं होती है।[2] बीकानेर ने तो राज्य की स्थापना से लेकर औरंगजेब की मृत्यु तक कोई मुद्रा नहीं मिलती है।[3] उक्त तथ्य यह बताते हैं कि राजपुताना की इन उपर्युक्त रियासतों की अपेक्षा मेवाड़ राज्य बेहतर अवस्था में था।

किसी भी राज्य के आर्थिक विकास में वहां के भूगोल का बड़ा महत्व होता है। पृथ्वी पर भौगोलिक परिस्थितियां सर्वत्र एक समान नहीं है अत: राष्ट्र की भिन्नताओं में भौगोलिक दशा की महत्ती भूमिका रहती है, जो एकाधिक कारकों से प्रभावित होती है। किसी भी राष्ट्र की महानता निम्न कारकों से प्रभावित होती है मिट्टी की प्रकृति, उर्वरता, खनिज संसाधन, सामारिक अवस्थिति तथा वातावरणीय दशाएं आदि। इतिहास में कोई भी राष्ट्र अपने को शिखर पर तभी तक बनाए रख सका है जब तक कि उसने भौगोलिक लाभ को संरक्षित करने तथा उसका समुचित उपयोग करने में सफल रहा। समय के साथ भूमि की उर्वरता

---

1 Prinsep, James. Essays on Indian Antiquities. Vol. 1 P.No. 298 Web, Willians wilfrid. The currencies of The Hindu states of Rajputana. P. no. 6 ; नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक-1, पृ. 245; उदयपुर राज्य का इतिहास, भा. 1, पृ. 108

2 W.W. Webb The currencies of The Hindu states of Rajputana. P. 40

3 Ibid, P.56

में हो रही कमी भविष्य में विनाशकारी परिणाम का कारण बन जाता है। यह सामान्य सा दिखने वाला कारण बड़े-बड़े साम्राज्यों के विनाश का कारण बना है। प्रो. सिनकोविच ने अपने शोध कार्य से यह सिद्ध किया है कि विशाल रोमन साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण भुमध्यसागरीय क्षेत्र में उत्पादन में हो रही उत्तरोत्तर कमी थी।[1] मेवाड़ के शासकों ने प्रारंभ से ही यहां के संसाधनों का आदर्श तरीके से उपभोग का प्रयास किया है। प्रताप के समय रचित 'विश्ववल्लभ' नामक ग्रंथ इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।[2] मेवाड़ पर गुहिल वंश को शासन करते हुए करीब हजार वर्ष हो चुका था। इतने लंबे काल खंड में यहां के शासकों के द्वारा अर्थव्यवस्था को मजबूत करने के जो प्रयास किए थे वे अब पूर्ण रूप से सुस्थापित हो गये थे। मध्यकालीन राज्य की आय के महत्वपूर्ण स्त्रोत कृषि तथा कृषि आधारित उद्योग मुख्य थे। अत: कृषि का विकास प्रत्येक शासक की प्राथमिकता में रही। मेवाड़ की भूमि पहाड़ी होने तथा वर्षा मानसुन पर निर्भरता होने से उत्पादन की कमी एक ज्वलंत समस्या थी। अत: भूमि की उर्वरता बढ़ाना व सिंचाई के साधनों का पर्याप्त प्रबंध करना यहाँ के शासकों की प्राथमिकता में रहा। इसी का परिणाम है कि मेवाड़ में छोटे-बड़े कई तालाबों का निर्माण किया गया। अन्न और जल मानव की दो मूलभूत आवश्यकताएं हैं। मानव अधिवास वहीं पनपे जहां इन शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से हो सकें। नागदा जो मेवाड़ की प्रारंभिक राजधानी थी उसका कारण भी यहां विस्तृत जल संसाधनों की उपलब्धता थी, जो एक विशाल जनसंख्या की आवश्यकता की पूर्ति कर सके।[3] राजा भूमिदान एवं अन्य उपायों से भूमि के विकास तथा खेती को प्रोत्साहन देता था।[4] खेती ने एक समुचित कर व्यवस्था को भी स्थापित किया जिसका उल्लेख सारणेश्वर मंदिर के लेख में भी मिलता है।[5] मेवाड़ का अपने पड़ोसी राज्यों से

---

1 Panikkar, K.M. Geographical factors in Indian History, P. no. 35

2 शिवचरण लाल चौधरी (अनु.), विश्ववल्लभ, पृ. 32

3 Bhadani, B.L. Water Harvesting, conservation and Irrigation in Mewar. P.No. 27

4 कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, पृ.77; गोपाल वल्लभ व्यास, मेवाड़ का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, पृ. 63

5 उदयपुर राज्य का इतिहास, भा. 1, पृ. 126

व्यापारिक संबंध भी थे। चूंकि ये दिल्ली, गुजरात के व्यापारिक मार्ग पर स्थित था अत: यहां का व्यापार भी समृद्ध था।

प्रताप के शासन से पूर्व मेवाड़ ने एक राज्य के रूप में पूर्ण स्थायित्व को प्राप्त कर लिया था। कृषि, उद्योग, व्यापार, खनन, कर व मुद्रा व्यवस्था ने राज्य को सुगठित प्रशासनिक एवं आर्थिक ढांचे में ढाल दिया था। बाबर के आगमन के समय मेवाड़ की गणना समकालीन भारत के प्रमुख छः राज्यों में हो रही थी।[1] मेवाड़ राज्य की सीमाएं बयाना तक पहुंच गई थी। रणथंभोर मेवाड़ के अधीन था।

उपर्युक्त दशाएं यह सिद्ध करती है कि मेवाड़ एक समृद्ध प्रांत था। महाराणा सांगा की मृत्यु के बाद मेवाड़ को आंतरिक एवं बाह्य स्तर पर कुछ गंभीर आघातों का सामना करना पड़ा किंतु महाराणा उदयसिंह ने अपनी कुशलता से मेवाड़ को पुन: संभाल लिया। उदयसिंह द्वारा उदयपुर नगर की स्थापना करना तथा उदयसागर के निर्माण पर कुल 3,11,097 रू. लागत आयीं उसे पूर्ण करवाया। उदयसिंह के कार्य यह सिद्ध करते है कि मेवाड़ के पास संसाधनों का अभाव नहीं था।[2]

प्रताप कालीन आर्थिक स्थिति

प्रताप कालीन आर्थिक जीवन में 1585 ई. को एक विभाजक वर्ष के रूप में स्वीकार कर इसे दो भागों में बांट सकते है। पहला भाग 1576 से 1585 का था दूसरा भाग 1585 से 1597 ई. का रहा। सामान्य रूप से इसे क्रमश: सैन्य आक्रमणों का उग्र-युग तथा शिथिल क्रम युग के रूप में देख सकते है।[3] इसमें भी राज्यारोहण से हल्दीघाटी के युद्ध के चार वर्ष का समय भी रहा था। इन चार वर्षों में करीब डेढ़ वर्ष कूटनीतिक कार्य को ही समर्पित रहा जिसे शांति एवं सुलह के प्रयासों के रूप में तो इसे सशक्त शांति का काल कहा गया।[4]

---

1 बाबरनामा, पृ. 318

2 ईश्वरी सिंह राणावत, राजस्थान के जल संसाधन, पृ. 99

3 देव कोठारी और ललित पाण्डेय, संपा. महाराणा प्रताप और उनका युग, "प्रताकालीन मेवाड़ का आर्थिक जीवन"- गोपाल व्यास, 1991, पृ. 49

4 महाराणा प्रताप महान्, पृ. 35

अत: प्रताप के शासनकाल का विश्लेषण करें तो उसका संघर्ष एवं शांति काल लगभग समान रहा। मेवाड़ का कुल क्षेत्रफल 16,970 वर्ग मील था[1] जिसमें से प्रताप के पास 90 मील लम्बा, जो कि उत्तर में कुंभलगढ़ से लेकर दक्षिण में ऋषभदेव से आगे तक का क्षेत्र था 70 मील चौड़ा जो कि पूर्व में देबारी से लगाकर पश्चिम में सिरोही की सीमा तक विस्तृत था।[2] प्रताप के पास मेवाड़ की पहाड़ी भूमि का ही अधिकांश भाग स्वामित्व में था जबकि उपजाऊ भाग प्रताप के पास न होने तथा प्रताप की छापामार युद्ध नीति के तहत अपनाई गई स्वभूमिध्वंस नीति के आधार पर ही टॉड ने प्रताप के जीवन का चित्रण इस प्रकार किया है जिससे प्रतित होता है कि प्रताप को गंभीर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा था।

प्रताप एवं उसके परिवार का जीवन अभावों में गुजरा। इतिहासकार रघुवीर सिंह भी टॉड के के समर्थक रहे। उन्होंने हल्दीघाटी युद्ध के बाद के काल के संदर्भ में मत है कि, "हल्दीघाटी युद्ध के बाद प्रताप के जीवन का संकटकाल प्रारंभ होता जो लगभग दस वर्ष तक चलता गया और बीतते समय के साथ वह अधिकाधिक विषम ही होता गया।" [3]

प्रताप का जीवन संघर्षमय अवश्य रहा किंतु आर्थिक विपन्नता का उसे सामाना नहीं करना पड़ा था। गौरीशंकर हीराचंद ओझा तथा गोपीनाथ शर्मा का मानना है कि प्रताप कालीन आर्थिक स्थिति को समझने के लिए उस समय की कृषि, उद्योग, व्यापार-वाणिज्य, मुद्रा व्यवस्था, कर, खनन उद्योग तथा सामाजिक स्तर का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है। किसी भी राज्य की आर्थिक स्थिति एकाधिक कारकों पर निर्भर करती थी अत: आलोच्य अवधि के समग्र कारकों का अध्ययन कर ही आर्थिक अवस्था का निर्धारण किया जा सकता है।

---

1 Erskine, K.D. A Gazettear of Udaipur state. P. No. 5

2 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 394

3 महाराणा प्रताप: जीवन, महत्व व देन, पृ. 28

समकालीन स्त्रोत के रूप में आईन-ए-अकबरी

16वीं सदी के उत्तरार्द्ध का इतिहास विशेषकर आर्थिक इतिहास की जानकारी का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत अकबर के दरबारी इतिहासकार अबुल फजल कृत आईन-ए-अकबरी है। आईन-ए-अकबरी मध्यकालीन लेखन की विशिष्ट शैली है जो राजनीतिक इतिहास से इतर अन्य विषयों परविस्तार से चर्चा करता है। अबुल-फजल कृत आईन-ए-अकबरी की वी.ए. स्मिथ ने भी प्रशंसा की है।[1] आईन-ए-अकबरी कुल पांच भागों में विभाजित है। इस पुस्तक में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, प्रशासनिक, सैन्य एवं साम्राज्यीक साज-सामान का विस्तृत वर्णन है। प्रताप कालीन आर्थिक स्थिति को जानने में आईन-ए-अकबरी का द्वितीय भाग महत्वपूर्ण है। 16 वी सदी उत्तरार्द्ध के मुगल सूबों तथा सरकार की भूमि का माप, वहां पर होने वाली फसलों के नाम, उसकी तत्कालीन कीमतों तथा उस क्षेत्र का कुल राजस्व् आदि की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है। उस सरकार की सैन्य संख्या भी इसमें इंगित है।[2]

1567-68 ई. में अकबर के चित्तौड़ पर आक्रमण के बाद मेवाड़ का मैदानी इलाका जिसमें उस समय की राजधानी नगर चित्तौड़ तथा अन्य कई महत्वपूर्ण मेवाड़ के प्रशासनिक एवं आर्थिक केन्द्र मुगल नियंत्रण में चले गये। मुगल आक्रमण के बावजुद प्रताप के पास करीब 37 प्रतिशत क्षेत्र स्वामित्व में था जिसमें कुंभलगढ़ जैसा सृदृढ़ दुर्ग भी था। मेवाड़ का प्रदेश जो मुगलों के अधीन था उसे अकबर ने केन्द्रिय प्रशासनिक ढांचे में सम्मिलित कर दिया। मुगल अधीन मेवाड़ के क्षेत्र को अजमेर सूबे के नियंत्रण में ला दिया गया तथा चित्तौड़ के नाम से पृथक् सरकार बना दी गई। सरकार को परगना में बांटा गया। चित्तौड़ सरकार में 26 परगने थे।[3]

---

1 Nizami, Khaliq Ahmead. On History and Histarian of Medieval, India. P.No 148

2 Mukhia, Harbans. Historians and Histariography During the Reign of Akbar P.No. 64

3 Ain-I-Akbari. Vo. II, P.No. 273

चित्तौड़ सरकार के भूमि एवं राजस्व आय को निम्न सारणी के द्वारा समझा जा सकता है।[1]

क्र. स.	परगना	बीघा	राजस्व् दाम	सरयूगल 8 दाम
1.	इस्लामपुर (रामपुर)	101526	7000000	-
2.	उदयपुर	-	1120000	-
3.	उपरमाल	27805	280000	-
4.	अरनोद	44,720	2000000	-
5.	इस्लामपुर (मोहन)	-	126600	-
6.	बदनोर	113265	4311551	59815
7.	फूलिया	257481	2843470	43470
8.	बनेड़ा	58038	3296200	244000
9.	पुर	199209	2601041	13452
10.	भैंसरोड़गढ़	-	1200000	-
11.	बागोर	174417	39550	-
12.	बेगम (बेंगू)	234804	1175729	-
13.	बरसी (बस्सी)	35098	1375000	-
14.	चित्तौड़	451118	8000000	-
15.	जीरण	39,218	1985250	-
16.	सनवाड़ घाटी	-	470294	-
17.	सादड़ी	5991	400020	-
18.	सेम्बल (सनवाड़)	-	100000	-
19.	कोसीना (घोसुंडा)	52713	263012	-
20.	मांडलगढ़	18848	447090	-
21.	मदारिया	-	160000	-
22.	नीमच	21416	719202	-

1 Ain-I-Akbari. Vo. II, P.No. 278

सर्वप्रथम मेवाड़ की आर्थिक स्थिति को अजमेर सूबे की अन्य सरकारों के संदर्भ में देश तुलनात्मक रूप से विश्लेषित कर समझ सकते हे। अजमेर सूबा सात सरकारों में विभाजित था जो निम्न थे-अजमेर, चित्तौड़ रणथंभौर, जोधपुर, सिरोही, नागौर एवं बीकानेर। आईने में जोधपुर, सिरोही[1] एवं बीकानेर की राजस्व आय का वर्णन किया है किंतु भूमि का उल्लेख नहीं किया है। अजमेर सूबे की सातों सरकारों में से सर्वाधिव राजस्व आय रणथंभौर सरकार से हो रही थी।[2]

चित्तौड़ सरकार का स्थान राजस्व आय की दृष्टि से पांचवा था। यह केवल जोधपुर एवं बीकानेर सरकार से अधिक राजस्व उपार्जित कर रहा था। सारणी को दृष्टिगत करने पर चित्तौड़ सरकार के कृषकों की अवस्था दयनीय प्रतीत होती है। किंतु भूमि एवं आय के तथ्यों का विश्लेषण करने पर आंकड़े एकदम भिन्न व्याख्या प्रदर्शित करते है। सर्वाधिक राजस्व आय अर्जित करने वाली रणथंभौर सरकार जिसके सर्वाधिक क्षेत्र भी था। वह इसकी फसल उत्पादन के नकद प्राप्ती को देखते है तो वह प्रति बीघा 1.49 दाम था। यहाँ प्रति बीघा प्राप्त राजस्व सबसे कम था। प्रति बीघा सर्वाधिक राजस्व की प्राप्ति चित्तौड़ सरकार से हो रही थी। चित्तौड, सरकार में 17.89 दाम प्रति बीघा प्राप्त हो रहा था। दूसरा स्थान अजमेर का था जहां 11.09 दाम प्रति बीघा राजस्व मिल रहा था। अत: चित्तौड़ सरकार की आर्थिक एवं यहाँ के कृषकों की स्थिति बेहतर थी।

प्राचीन एवं मध्यकाल में कृषि ही लोगों का मुख्य पेशा था। राज्य की समस्त आय कृषि तथा कृषि आधारित उद्योगों पर निर्भर करती थी। अत: प्राचीन राजनीतिक विचारकों ने कृषि का अपने ग्रंथों में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान दिया है। कौटिल्य कृषि, पशुपालन तथा व्यापार को सम्मिलित रूप से 'वार्त्ता' कहता है। कौटिल्य के अनुसार राजा के लिए वार्त्ता का बड़ा महत्व है। यह वार्त्ता विद्या, धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्र आदि खनिज पदार्थ और नौकर-चाकर आदि को देने

1 सिरोही सरकार के अंतर्गत-आबू एवं सिरोही तथा बांसवाड़ा, डूंगरपुर, व जालौर सम्मिलित थे।

2 Ain-I-Akbari. Vol. II. P. No. 278-282

वाली है। इसी विद्या से उपार्जित कोष और सेना के बल पर राजा मित्रों तथा शत्रुओं पर नियंत्रण रख सकता है।[1]

अत: प्राचीन एवं मध्यकाल में कृषि का विकास शासक के मुख्य कार्यों में से एक माना गया है। मनु शासक के जो आठ कर्तव्य बताता है उसमें से एक कृषि का विकास भी है। सामान्यत: कृषि को वैश्य वर्ण का व्यवसाय माना है तथा ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्ण के लिए कृषि कार्य निषेध माना गया था। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय केवल आपद् स्थिति में ही कृषि कर्म को अपना सकते थे। इस परंपरागत विचार के विपरित कश्यप सभी जाति के लोगों को कृषि कार्य हेतु प्रोत्साहित करते है क्योंकि वह कृषि को एक उत्तम पेशा मानते है। व्यवहार में सभी वर्ण के लोग कृषि कार्यों से जुड़े हुए थे।[2]

पूर्व मध्यकाल का समय भारतीय इतिहास के परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण दौर रहा है। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद खंड़ित हुई राजनैतिक एकता के कारण उत्तर भारत में शक्ति के कई केन्द्र उभर गए थे। इन नवोदित शक्तियों के साथ ही एक नवीन अर्थव्यवस्था का विकास हुआ जो अभी तक किसी भी महत्वपूर्ण आर्थिक गतिविधि से जुड़े हुए नहीं थे। ऐसी ही शक्तियों में मेवाड़ भी एक था। मेवाड़ के शासकों ने राज्य की स्थापना के प्रारंभ से ही कृषि के विकास हेतु सिंचाई के साधनों के रूप में कुंए एवं तालाबों का निर्माण करवाया। मेवाड़ में सिंचाई के साधनों को विकसित करने की आवश्यकता इसलिए भी थी कि अरावली के दोनों छोर की भोगौलिक दशा इस प्रकार की है कि वे नदीमातृक एवं देवमातृक दोनों में ही पूर्णत: नहीं रखा जा सकता था।[3]

---

1 कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता।
धान्यपशुहिरण्यकुप्यविश्टिप्रदानादौपकारिकी।
तया स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति कोषदण्डाभ्याम्।।1.3।। अर्थशास्त्र

2 ब्राह्मणा: क्षत्रिया वापि विश: शुद्रास्तु वा पुन:।
दकार्गल प्रमाणज्ञ: कृषिशास्त्रविशारदा:।।1.47।। काश्पीकृषिसूक्त

3 Water Harvestivng and Irrigation in Mewar. P. No. 39



चित्र संख्या 5.1 : आवरगढ़ का तालाब

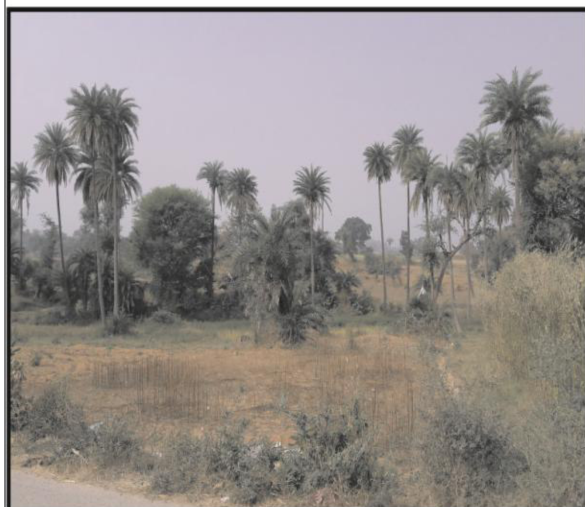


चित्र संख्या 5.2 : ओगणा (वाकल) की कृषि भूमि





चित्र संख्या 5.3 : गोगुन्दा (धोलिया जी 3880 फीट) कृषि भूमि



चित्र संख्या 5.4 : ओगणा (वाकल) में खजूर के वृक्ष



चित्र संख्या 5.5 : गौराणा में सीढ़ीनुमा कृषि

प्राकृतिक जल की कमी होने पर कृषि के विकास कृत्रिम सिंचाई पर निर्भर करता था। दूसरा मेवाड़ की भोगौलिक अवस्था इस प्रकार की थी कि इसके पश्चिम एवं दक्षिण-पश्चिम में पहाड़ी एवं पठारी भू-भाग है।[1]

बहुधा पहाड़ी एवं पठारी भूमि को देखकर यह मान लिया जाता है कि यह क्षेत्र कृषि के अनुकूल नहीं है। इतिहास में देखने पर इन्हीं पर्वतीय भू-भाग में ताम्र-पाषाण काल में आहाड़ जैसी समृद्ध अर्थव्यवस्था पनपी थी। 6 हजार वर्ष पूर्व ही यहां पर स्वतंत्र और समृद्ध बड़े-बड़े गांवों का निर्माण चुका था। यहां बढ़ती जनसंख्या और समृद्धि का परिणाम था कि आहाड़ प्रोटो-नगर के रूप में अस्तित्व में आ गया था।[2]

भोमठ एवं भोराठ का पहाड़ी एवं उबड़-खाबड़ क्षेत्र जो प्रताप के अधीन था। देखने में यह क्षेत्र बड़े-बड़े पहाड़ होने से कृषि के अनुकूल प्रतीत नहीं होता है क्योंकि यहां पर समतल नदियों के किनारे वाला मैदानी भाग नहीं था इसके बावजूद भी यहां कृषि की स्थिति बेहतर थी। इस पठारी भूमि वाले क्षेत्र में कई बीघा विस्तृत कृषि योग्य भूमि मौजुद थी तथा कई गांव आबाद थे। इसका प्रमाण नैणसी की ख्यात में मिलता है।

समीचा गांव में कुम्भावत सिसोदिया का निवास स्थान है। समीचा के आगे मछावला का मगरा सात कोस लम्बा है। जिसके आस-पास 9 गॉव बसते हैं- समीचा, मादरड़ा, बरहाड़ा, बरणा, गमण आदि। मछावले पर वृक्षावली और जल की बहुतायत है। उसके आगे बरवाड़ा जहां से बर और बनास नदियां निकलती है। आगे घासेर का पहाड़ एक कोस लम्बा और उसके परे पिण्डरझाप का पर्वत है। घासेर और पिण्डरझाप के बीच में बांसवाड़ा कोतारा और उसके आगे पूमण पहाड़ों के पास लोहसिंग नाम का गांव है, जिसके समीप छोटी नदी का निकास है। पूमण

1 Rajasthan District Gazetteers- Udaipur. P. No. 6

2 Vasant Shinde and Shweta Sinha Deshpande. "Crafts and Technologies of the Chalolithic People of South Asia : An overview." Indian Journal of History of Science. 50:1 (2015) P. No. 45

की लम्बाई उत्तर-दक्षिण 2 कोस और उसके आगे ईसवाल नामी मगरा और कड़ी नाम का गांव है। यह मगरा गिरवा की पहाड़ी से जा लगा है और उदयपुर से 5 कोस पश्चिम उत्तर की ओर है। घाणेराव, सादड़ी, रणकपुर, सेवाड़ी आदि कुंभलगढ़ के समीप है। सेवाड़ी गांव के आगे राहंग का मगरा है बहुत ही विकट, वहॉ जल पुश्कल और 25 गांव उसके आसपास बसते है। इस पहाड़ की लम्बाई 16 कोस है। यह सिरोही की सरणुवा पहाड़ियों से जा लगा है। निकट के गांवों में सिरवी, पटेल, कुनबी, ब्राह्मण और बनियों की बस्ती है। भाटोही, भूणोद, माल्हण, सुनाहणी, बहड़ी, पाद्रोड़, पिण्डवाड़ा सिरोही का, बेकरिये का घाटा जहां जुही नदी है। राहंग और बालिचों का वतन है। जरगा और राहंग के बीच के स्थल को देसहरो देश कहते है। वहां खरबड़, चन्देल, बोडाणा, चंदाणा राजपूत सासणीक के तौर पर बसते हैं परन्तु भोग दूसरी प्रजा की भांति देते है।

इस भूमि में आम के झाड़ हैं और चावल, गेहूं, चना, उड़द बहुतायत के साथ पैदा होते है। छप्पन, चावण्ड और जवास व जावर के बीच उदयपुर से 17 कोस पीपलदड़ी और सीरोड़ के पहाड़ है, जहां चावल और गेहूं पैदा होते और झाड़ पहाड़ की इतनी अधिकता है कि उनकी आड़ से रविबिम्ब के भी दर्शन दुर्लभ हो जाते है। बारा बराड़ा के खेतों में भी भील निवास करते और वहां भी साल, गेहूं की पैदाइश और आम्रवृक्ष व नाना प्रकार के जंगली पुष्पों की बहुतायता है।

जूड़ा परगने के नाहेसर पहाड़ में भील, कुनबी, बनिये और गुजर निवास करते है। एक-एक गांव में पांच सौ तथा सात सौ बीघे भूमि कृषि के योग्य और दूसरी सब पहाड़ों के तले दबी हुई है। बड़े वृक्षों में आम, रायण (खिरनी) और इमली के पेड़ बहुतायता के साथ है। खेती धान, साल, गेहूं, चणा, मक्का, उड़द की बहुत होती है, और बालणककड़ी भी बहुतायता में होती है। नाहेसर में नरसिंहदास के 200 गांव पानरवा में, राणक दयालदास भील के 94 गांव, गंगादास की सादड़ी में गंगादास के वंषजों के 140 गांव, झाड़ोली टंगरावटी में झाला का निवास जिनके 25 गांव छाली पूतली, ईडर, दलोल कलोल से लगते हुए और 25 गांव जवास के हैं जिनमें भील रहते है।

छप्पन का क्षेत्र जो कि बेहद उपजाऊ था। यह प्रताप के समय पूर्ण रूप से मेवाड़ के प्रभाव में आ गया था। यहां चार छप्पन में 224 गांव है जिनमें झाड़ोल के ताल्लुक 56, सलूम्बर के ताल्लुक 56, सेमारी के ताल्लुक 56, चावंड के ताल्लुक 56 है। [1]

नैणसी की ख्यात से यह तो सिद्ध होता है कि यहां पर्याप्त मात्रा में कृषिगत भूमि उपलब्ध थी जिस पर कृषि गतिविधियां संचालित की जा रही थी। बड़ी संख्या में आबाद गांव इस बात के द्योतक थे कि यहां राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन ने पूर्ण स्थायित्व आ गया था। इनका जीवन सुचारू रूप से चल रहा था।

उपर्युक्त क्षेत्र के विकास कार्य एक दीर्घ अवधि के प्रयासों के परिणाम थे। मेवाड़ की पर्वतीय व पठारी भूमि तथा गांवों का विकास का श्रेय बहुत हद तक मेवाड़ के शासकों की दूरदर्शी योजना को जाता है। चूंकि मेवाड़ की प्रारंभिक राजधानी एवं राज्य का मुख्य केन्द्र गिरवा एवं उसके आसपास का क्षेत्र ही रहा था। यहां की भूमि समतल कम तथा पहाड़ी एवं पथरीली अधिक थी। यहां के शासकों द्वारा राज्य की आय में वृद्धि हेतु सुनियोजित तरिके से सिंचाई, भूमिदान एवं प्रोत्साहन द्वारा आबादी का विस्तार कर कृषि भूमि के रूप में विकसित किया गया।

आय की वृद्धि हेतु किए गए उपायों में ब्राह्मणों को दिए गए भूमिदान बहुत महत्वपूर्ण रहे। वैसे ब्राह्मणों को दिए गए भूमिदान का उद्देश्य राजा द्वारा पुण्य अर्जित करना मुख्य ध्येय होता था। इन भूमिदानों से कृषि अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना हुई। भूमिदानों ने कृषि-उत्पादन की वृद्धि में सहायता देने का काम किया जो केवल सिंचाई आदि तकनीकी उपायों के जरिए ही नहीं बल्कि ग्रहिता की लगन भरी देखरेख के माध्यम से भी। कृषि अर्थव्यवस्था उनके हाथों में सौंप दी गई जो उसे सुधारने के ज्ञान से संपन्न होने का दावा करते थे- अर्थात् इन

1 नैणसी की ख्यात, भाग-1, पृ. 41

भूमिदानों के माध्यम से प्रशासन अधिकारियों तथा ब्राह्मणों के हाथों में थी। वैसे तो नीति ग्रंथों में ब्राह्मणों का कृषि-कर्म निषेध माना है यहां तक कि उसकी तकनीकि देखरेख करने की भी उपेक्षा नहीं कि जाती थी। तथापि कृषि से संबंधित रचनाओं से-जैसे कृषिपाराशर, वराहमिहिर कृत बृहत्संहिता तथा चक्रपाणि मिश्र की विश्ववल्लभ के अंशों से लगता है कि जिन विषयों में ब्राह्मण विशेषज्ञ माने जाते थे उनमें कृषि भी थी। चाहे नए क्षेत्रों में कृषि की शुरुआत करनी हो या पुराने कृषि क्षेत्रों में पैदावार बढ़ानी हो, कृषि-संबंधी संहिताएं नई बस्तियां बसाने वाले ब्राह्मणों के लिए प्राथमिक आवश्यकता की वस्तु रही।[1]

अत: भूमिदान के आधार पर इस संपूर्ण क्षेत्र में तीन प्रकार के गांव दिखाई देते है- पहले प्रकार के वे गांव जो संपूर्ण रूप से ब्राह्मणों को दान में दिए गए थे, दूसरे प्रकार के वे गांव जिनकी आय का कुछ हिस्सा ही ब्राह्मणों को दान में दिया गया था। तीसरे वे गांव थे जिसमें सभी जातियों के लोग निवास करते थे।

गिरवा एवं उसके आसपास के क्षेत्र में बढ़ी मात्रा में परती भूमि मौजुद थी। चूंकि राजनीतिक सत्ता का विस्तार मुख्य रूप से राजस्व में हुई वृद्धि पर आधारित होता था अत: शासकों की प्राथमिकता यह रहती थी कि वे परती भूमि पर खेती को प्रोत्साहन दे। यह प्रोत्साहन बहुधा ब्राह्मणों एवं मंदिरों को भूमिदान देकर दिया जाता था।[2]

कुंभलगढ़ से झाड़ोल एवं गिरवा तक के क्षेत्र जो मुख्यत: भोमठ एवं भोराठ के पठारी क्षेत्र में स्थित है मेवाड़ के शासकों के द्वारा ब्राह्मणों को कई गांव भूमिदान में दिए। इस क्षेत्र में भूमिदान का प्रारंभिक प्रमाणों में से एक विजयसिंह की कदमाल प्लेट प्रमुख है। नागदा के ब्राह्मण को भूमिदान दिया गया है।[3]

---

1 History of Early India. P. No. 55

2 Ibid. P. No. 337

3 E. I. vol. 31, P.no. 244

इसके बाद जैत्रसिंह, हंमीर, खेता, मोकल, कुंभा, रायमल एवं उदयसिंह के समय में भूमिदान हेतु ताम्रपत्र के अभिलेखिय साक्ष्यों प्राप्त होते है। उपर्युक्त शासकों के द्वारा श्रीमाली, जोशी, नागदा, पालीवाल, व्यास, मेनारिया आदि ब्राह्मणों को या तो संपूर्ण गांव या गांव की आय का एक हिस्सा दान में दिया। इसके अतिरिक्त आएस, गुंसाई, भोपा माली आदि जातियों को भी मंदिर के पुजनार्थ भूमिदान दिया गया। कई गांव एकलिंग जी मंदिर के व्यवस्था प्रबंध हेतु भी दान में दिए गए थे। कुंभलगढ़, झाड़ोल एवं गिरवा के पर्वतीय क्षेत्र में भूमिदान के माध्यम से बड़ी आबादी को बसाया गया। इस भूमिदान के धार्मिक पक्ष के अतिरिक्त एक मूल प्रोत्साहन जो कार्य कर रहा था वह परती भूमि का विकास था। उपर्युक्त धारण का आधार मेवाड़ के शासकों द्वारा जारी किए गए ताम्रपत्र है। ताम्रपत्रों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि बहुधा दान दी गई भूमि में पीवल भूमि (सिंचित एवं उपजाऊ) की अपेक्षा परती भूमि की अधिकता होती थी। शासक वर्ग द्वारा पीवल एवं परती भूमि के बीच संतुलन बनाने हेतु दान में कुंए भी दिए जाते थे। कुत्रिम सिंचाई के ये साधन परती भूमि के कृषिपयोगी बनाने में सहायक होता था। इस क्षेत्र में उपस्थित जागीरदारों तथा प्रशासनिक अधिकारियों को प्राप्त जागीर भूमि को विकसित करने हेतु भी प्रयास किए गए थे। चीरवा के तलारक्ष परिवार द्वारा निर्माण कार्य किए गए थे।[1]

प्रताप द्वारा भी पर्याप्त संख्या में भूमिदान दिए गए थे। राजस्थान राज्य अभिलेखागार, पश्चिमी वृत, उदयपुर में संग्रहित ताम्रपत्र रजिस्टरों से ज्ञात होता है कि प्रताप ने भूमिदान गिर्वा क्षेत्र में दिए थे।[2]

झाड़ोल, गोदयाणा (झाड़ोल), बलीचा, लाखोला, पंडेर (भीलवाड़ा), सथाणों (कुंभलगढ़), मोही (कांकरोली), पंडेर (जहाजपुर), डायलाणा (देसूरी),[3] आदि क्षेत्र में

---

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भा. 1, पृ. 165

2 मेवाड़ का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, पृ. 55

3 मोहब्बत सिंह राठौड, महाराणा प्रताप संबंधी ऐतिहासिक दस्तावेज, मीरांयन, वर्ष-2, अंक-2, जून-अगस्त 2008 पृ.89-100। मृगेश्वर, सूरखण्ड़ प्रशस्ति, राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत, पृ. 256,

प्रताप ने भूमिदान दिए थे। इसी पर्वतीय-जीवन काल में महाराणा ने उन स्थानों को जो उनके आदेश से खाली कर दिये गये थे, या जहाँ शत्रु सेना द्वारा बड़ी हानि पहुँचाई गई थी या जिन्हें अग्नि का ग्रास बना दिया गया था, फिर से प्रताप ने आबाद किया। उदाहरणार्थ- ढोल, पीपली, ओड़ा, टीकड़ आदि गांव जो उजड़ गये थे उन्हें फिर से बसाया गया। किसानों को नई जमीन दी गई जमीन के नए पट्टे बना दिये गये और पुराने पट्टों को जो जल गये थे या लुप्त हो गये थे, पुन: मान्यता दी गई। प्रताप के इन प्रयासों से मेवाड़ का जन-जीवन, व्यापार, वाणिज्य आदि साधारण स्थिति पर पहुँच आ गया था।[1]

प्रताप के भूमिदान की एक अन्य विशेषता यह केवल धार्मिक कृत्यों के संपादन या सैन्य प्रबंध हेतु ही नहीं दिए गए थे। प्रताप जो संकट काल में एक लौहार परिवार के घर में रूके तो उसके सौजन्य एवं आतिथ्य के सम्मान में खेती हेतु भूमिदान में भी दी थी।[2]

कृषि हेतु जल महत्ती आवश्यकता है। बिन पानी कृषि की कल्पना संभव नहीं है। अत: प्राचीन भारतीय विचारकों ने पानी की उपलब्धता के आधार पर भूमि को दो भागों में बांटा है- देवमातृक एवं अदेवमातृक। चूंकि मेवाड़ में दो फसल लेने के लिए वर्षा के जल के अतिरिक्त सिंचाई के साधनों की भी आवश्यकता थी। मेवाड़ में गुहिल वंश के शासन के प्रारंभिक राजाओं के काल से ही जलाशयों के निर्माण की परंपरा रही है- शासकों द्वारा तालाब, कुएं, बावड़ियां एवं कुण्ड का निर्माण करते रहे है। जलाशयों का निर्माण प्राचीन पौराणिक ग्रंथों में एक धार्मिक कृत्य माना गया है, जो कि पुण्य प्राप्ति का साधन था। अत: राजाओं के अतिरिक्त व्यापारियों, रानियों, सामंतों एवं आमजन के द्वारा भी जलाशयों के निर्माण की परंपरा रही है। आलोच्य अवधि में प्रताप अधिकृत क्षेत्र को दृष्टिगत करें तो यहां कई तालाब एवं बावड़ियां प्रताप के शासनकाल से पूर्व ही विकसित थी। बापा, हम्मीर, लाखा, खेता, मोकल, कुंभा एवं उदयसिंह के काल में कुंभलगढ़

1 मेवाड़ मुगल संबंध, पृ. 76

2 वही, पृ. 76

से गोगुंदा एवं उदयपुर (गिरवा का क्षेत्र) की सीमा में कई जलाशयों का निर्माण किया गया था। अत: प्रताप के शासन से पूर्व इस क्षेत्र में सिंचाई की पर्याप्त सुविधा ने कृषिगत उत्पादन में निश्चय ही वृद्धि की होगी।

प्रताप स्वंय भी कृषि एवं जीवन के लिए जल के महत्व को समझते थे। प्रताप के राज्य प्राप्ति के कुछ ही वर्षों में घटी दो महत्वपूर्ण घटनाओं ने भी जलाशयों के महत्व को ओर बढ़ा दिया था- पहली घटना 1574-75 ई. में गुजरात में पड़ा भयंकर अकाल जो संपूर्ण गुजरात में भयंकर रूप धारण कर चुका था। अहमदाबाद में स्थिति बेहद विकट थी। जहां औसतन प्रतिदिन सौ गाड़ियां भर शव शहर से दफनाने के लिए बाहर ले जाएं जा रहे थे।[1] दूसरा शाहबाज खां के आक्रमण के समय कुंभलगढ़ के पतन का भी महत्वपूर्ण कारण "नौ गुण'' बावड़ी के जल को दुषित कर देना था।[2]

उपर्युक्त दोनों ही घटनाएं प्रताप के लिए उदाहरण थे कि पानी का अभाव किस प्रकार एक भयंकर विपदा का रूप धारण कर सकता है। इस प्राकृतिक आपदा से निपटना आसान नहीं था। सर्वप्रथम प्रताप द्‌वारा मेवाड़ की इस विकट, उबड़-खाबड़ एवं पथरीली भूमि में भूजल खोजने, जलाशय का निर्माण करने तथा खेती करने हेतु एक आदर्श ग्रंथ की रचना करवाई। प्रताप के दरबारी माथुरेय ब्राह्मण चक्रपाणि मिश्र के द्‌वारा 'विश्ववल्लभ' नामक ग्रंथ की रचना 1577 ई. में की गई थी।[3]

'विश्ववल्लभ' ग्रंथ में मिट्टी की प्रकृति, वृक्षों के पोषण, विकास, उनमें पाएं जाने वाले रोग तथा उनके निदान की विधि भी बताई है। कृषि हेतु सिंचाई के लिए जलाशयों के प्रकार एवं उनके निर्माण के विधि का उल्लेख किय है। इसके अतिरिक्त जल हेतु पृथ्वी में मौजुद भू-जल की धाराओं के प्रवाह को समझने एवं

---

1 अकबर महान्, पृ. 166

2 मेवाड़ रावल राणा जी री बात, पृ. 68

3 Jawalia, B.M. "Chakrapani Mishra, a Court-Pandita of Maharana Pratap and his works." Maharana Pratap and his times. Ed. G.N. Shrama and M. N. Mathur. P. No. 107

भू-जल का पता लगाने हेतु कुछ लाक्षणिक आधार को चिह्नित किया है जिससे वृक्ष, मिट्टी तथा जीव-जंतु की गतिविधियों के माध्यम से भू-जल को खोजा जा सके।[1]

विश्ववल्लभ की रचना के पीछे प्रताप का मूल उद्देश्य अधिकतम लोगों तक इस ज्ञान को पहुंचाकर पानी एवं खाद्यान्न के अभाव द्वारा उत्पन्न होने वाली अकाल जैसी भयंकर विपदा से बचना था। दूसरा संघर्ष के दौर में अन्नाभाव को रोकने की पूर्ववत तैयारी भी थी। इस ग्रंथ की महत्ता इस समय इसलिए भी थी कि 14वीं एवं 15वीं शताब्दी में मौसम एवं पर्यावरणीय दशाओं में भी परिवर्तन हो रहा था जिसका सीधा प्रभाव फसल उत्पादन पर भी पड़ा। इस कालावधि में मोटे अनाज का उत्पादन अन्य फसलों की अपेक्षा बढ़ा। [2]

संक्रमण अवस्था के दौर में खाद्यान्न फसलों के नष्ट होने या अपेक्षित उत्पादन न होना भयंकर आपदा का रूप ले सकता था। अतः इस दौर में 'विश्ववल्लभ' जैसे ग्रंथ की आवश्यकता थी।

प्रताप ने न केवल ग्रंथ की रचना करवाई अपितु जलाशयों का निर्माण भी करवाया। कुंभलगढ़ के पतन के बाद प्रताप ने उदयपुर के पश्चिम में 65 कि.मी. दूर झाड़ोल में अरावली की सघन पर्वत श्रृखंलाओं के मध्य सबसे ऊंची चोटी पर स्थित आवारगढ़ को कुछ समय के लिए अपना अस्थायी आवास बनाया था। आवारगढ़ एक विस्तृत पठार है। यहीं पर प्रताप ने तालाब का निर्माण करवाया था। इस विस्तृत पठार पर पांच तालाब तथा एक बावड़ी बनी हुई है। एक सर्वे के आधार पर इन पांच तालाबों के जल भरण की क्षमता 1,51,34,59,000 लीटर थी। जिससे 25 लीटर प्रतिदिन के हिसाब से 1,65,858 व्यक्ति तथा पशु वर्ष भर पानी पी सकते है। इस क्षेत्र में प्रताप की सेना एवं प्रजा की इतनी बड़ी आबादी तो नहीं रही होगी किंतु इतनी अधिक मात्रा में पानी का भण्डारण दीर्घकालीन आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखकर किया गया था।[3]

---

1 विश्ववल्लभ, पृ. 49

2 साहित्य संस्थान के निदेशक जीवन सिंह खरकवाल ने साक्षात्कार के दौरान बताया कि चंद्रावती में खुदाई से पर्यावरण एवं फसल उत्पादन में हो रहे बदलाव की जानकारी मिलती है।

3 राजस्थान के जल-संसाधन, पृ. 145

पानी का प्रयोग दिन-प्रतिदिन के कार्यों के अतिरिक्त एक-दो वर्षों की आवश्यकता को ध्यान में रख किया गया था। अगर किसी वर्ष वर्षा कम भी हुई हो तो भण्डारण की अवस्था में अकाल जैसी विभिषिका के पैदा होने से बचा जा सकता था। यहां निर्मित तालाबों की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता जल संचयन का बखूबी ध्यान रखा गया था। जल व्यर्थ न हो अत: सभी तालाब एक-दूसरे से अन्तर्सबंधित है। बरसात का पानी एक तालाब भरने के बाद दूसरे तालाब में चला जाता है। जिससे पानी व्यर्थ नहीं होता है। आज भी आवरगढ़ के दुगर्म पहाड़ों पर गांव बसे हुए है जो यहां खेती कार्य में संलग्न है। लोयण ठिकाने के राव धवल यहां निवास के दौरान प्रताप ने वहां पर भी बावड़ी का निर्माण करवाया था।[1]

अमरसिंह की पत्नी द्वारा भी जावर में तालाब का निर्माण करवाया गया।[2] जलाशयों का निर्माण प्रताप के अधीन सामंतों ने भी करवाया। भामाशाह के भाई ताराचन्द ने छोटी सादड़ी में बावड़ी का निर्माण करवाया था।[3]

गैर कृषि उद्योग तथा कर

मानव जीवन में कृषि का बड़ा महत्व रहा है। यह वह पहली परिघटना थी जिसने संपूर्ण मानव जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया था प्रसिद्ध इतिहासकार विल डूरंट तो यहीं मानते है कि मानव जीवन में दो ही महत्वपूर्ण क्रांतियां हुई है जिसने मानव जीवन को पूर्णत: बदल दिया था- पहली कृषि क्रांति तथा दूसरी औद्योगिक क्रांति। यद्यपि कृषि एवं उद्योग को केवल मौद्रिक योगदान के संदर्भ में देखें तो यह कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में बड़े-बड़े कारखानों एवं उद्योगों की स्थापना से पूर्व राज्य की आय का महत्वपूर्ण स्त्रोत कृषि ही थी। उपर्युक्त दृष्टिकोण बेहद गहन एवं व्यापक प्रभाव वाले कृषि एवं गैर कृषि उद्योग को अत्यंत सीमित सीमा में देखने के समान है। प्राचीन एवं मध्यकालीन राज्य के लोगों का राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन व

1 आर.पी. व्यास महाराणा प्रताप, पृ. 200

2 सिसोदा वंशावली, पृ. 59

3 उदयपुर राज्य का इतिहास, भा. 2 पृ. 811

संस्कृति कृषि एवं उससे संबंधित गतिविधियों से ही प्रभावित थी। कृषि एवं जनसंख्या का भी घनिष्ठ संबंध रहा है। बढ़ते कृषि उत्पादन के साथ जनसंख्या के घनत्व में भी वृद्धि हुई जिसके प्रभाव स्वरूप नगरीकरण, श्रम विशेषीकरण, सामाजिक स्तरीकरण, लेखन तथा लंबी दूरी का व्यापार बढ़ा। कृषि धातु विज्ञान, अभियांत्रिकी, खगोल शास्त्र तथा गणित के विकास की प्रक्रिया को भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है।[1]

गांवों में कृषि के विकास ने श्रम विभाजन एवं सामाजिक स्तरीकरण को भी निश्चित किया जिससे कई समुदाय अस्तित्व में आएं।[2] कृषि की पैदावार ग्राम में सीमित स्तर पर पर ही सही किंतु कई शिल्प एवं उद्योग विकसित हुए थे। इन उद्योगों की महत्वपूर्ण विशेषता यहां काम करने वाले कारीगर वंशानुगत होते है अतः सभी गांवों में कुशल कारीगर पाएं जाते है। ये जातिगत आधार पर विशेषिकृत है।[3] पीढ़ी दर पीढ़ी कार्य करते रहने से कुशलता और क्षमता इन्हें उत्तराधिकार में मिलती थी अतः इनके द्वारा निर्मित वस्तुएं श्रेष्ठ दर्जे की होती तथा उनका कलात्मक मूल्य भी बहुत होता था।[4] कृषि के अधिशेष पर ही विभिन्न कृषि आधारित उद्योग विकसित हुए थे। इन जातियों में कुम्हार, लोहार, तेली, सुथार, जुलाहा, कलाल आदि प्रमुख थे जो गांव की गैर कृषिगत आवश्यकताओं को पूरा करते थे। इसके अतिरिक्त कई मुस्लिम कारीगर जातियां भी यहां निवास कर रही थी।[5] इनके आगमन से तकनीक का आदन-प्रदान भी हुआ, जिसका प्रभाव उत्पादन पर पड़ा। यहां इत्र, तेल, शराब, अफीम, वस्त्र, नील, आदि का उत्पादन हो रहा था।[6]

---

1 Agriculture history p.1

2 Land and Revenue system p.198

3 बाबरनामा, पृ. 200

4 हिंदुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियां, पृ. 125

5 तंवर परिवार की छतरी सिलावट द्वारा उत्कीर्ण है। मुस्लिम शासकों के शरण लेने के दौरान कई कारीगरों एवं कलाकारों का मेवाड़ में आगमन हुआ। जो बाद में यहीं बस गए।

6 Ain-i-Akbari Vol. 2, P.no. 278

संघर्ष का कोई भी बड़ा प्रभाव इन ग्रामीण उद्योगों पर पड़ने के कोई भी साक्ष्य नहीं मिलते है। नहीं कोई बड़ा स्थानांतरण प्रताप के संघर्ष काल में हुआ था। गांव अपनी गति से चल रहे थे। संघर्ष के दौर में जो थोड़ा बहुत नुकसान हुआ उसका भी प्रताप द्वारा पुन: गांव बसाने एवं सहायता करके स्थिति को सामान्य करने की जानकारी प्रताप द्वारा दिए गए ताम्रपत्रों में होती है।

प्रताप अधीन क्षेत्र समृद्ध था यहां पर कृषि पर जीवनयापन करने वाली जातियां निवास करती थी जो अपने कृषि कार्य से समृद्ध भी थी। यहां पर पटेल, कुनबी, खरबड़, बोडाणा, सीरवी, गुजर आदि कृषक जातियां निवास करती थी।[1] इनमें से कई जातियां समृद्ध भी थी। खरबड़ जाति के व्यक्ति के बारे में उल्लेख मिलता है कि उसने मेवाड़ के चारभुजानाथ मंदिर का जीर्णाद्धार करवाया था।[2] जनजातियों में भील एवं मेर थे जो कृषि एवं मजदूरी का कार्य करते थे। पहाड़ी एवं वनीय क्षेत्र में ऐसे कई स्थान भी थे जहां पर भीलों के पास बड़ी-बड़ी जागीरे थी।[3]

खनिज से आय

राज्य की आय के प्रमुख साधनों में कृषि एवं कृषि आधारित उद्योग तथा उनसे प्राप्त होने वाला कर तो था। राज्य की आय का सबसे महत्वपूर्ण स्त्रोत खान थी। कौटिल्य कहता है कि सारे कार्य कोष पर निर्भर है। इसलिए राजा को चाहिए कि सबसे पहले कोष पर ध्यान दे। वहीं कौटिल्य कहता है कि, "कोष की उन्नति खान पर निर्भर है, कोष की समृद्धि से शक्तिशाली सेना तैयार की जा सकती है। इस कोष गर्भा पृथ्वी को कोष और सेना से ही प्राप्त किया जा सकता है।"[4]

---

1 नैणसी की ख्यात, भा. 1 पृ. 43

2 राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत, पृ. 141

3 नैणसी की ख्यात, भा. 1, पृ. 45

4 अर्थशास्त्र, पृ. 12

कौटिल्य से दो हजार वर्ष बाद लिखते हुए अबुल फजल भी राज्य के आय के महत्व को इसी प्रकार से बताता है। अबुल फजल आईन-ए-अकबरी में लिखता है कि, "प्रत्येक दूरदर्शी और बुद्धिमान् मनुष्य जानता है कि ईश्वर की उपासना का श्रेष्ठ तरीका यहीं है कि प्रजा के कष्टों का निवारण किया जाएं तथा उनकी स्थिति को सुधारा जाएं। यह सब कृषि की उन्नति, महिलाओं की समृद्धि, राज्य के अधिकारियों की सक्रियता तथा सेना के अनुशासन पर निर्भर है। उपर्युक्त सभी बातें सम्राट के स्वंय उचित ध्यान देने और अपनी प्रजा का पालन-पोषण करने तथा बुद्धिमानी से धन संचय करने पर अवलम्बित है।"[1] प्राचीन काल रहा हो या मध्यकाल खजाना राज्य की शक्ति एवं राजा के सामर्थ्य का आधार था।

खान राज्य की आय का महत्वपूर्ण स्त्रोत थी अत: मौर्य काल में खान आधारित उद्योगों पर राज्य का स्वामित्व होता था। कुछ उद्योग पट्टे व लीज पर भी निश्चित समय के लिए दिए जाते थे। राज्य जो उद्योग पट्टे पर देता था उस पर भारी शुल्क आरोपित करता था। इससे होने वाली आय को 'मूल्य' कहा जाता था।[2]

खानों का अर्थ प्राप्ति के अन्य स्त्रोतों की अपेक्षा अधिक महत्व था, क्योंकि कई बहुमूल्य धातु प्राप्त होती थी जैसे- सोना व चांदी। इसके अतिरिक्त धातु का प्रयोग घरेलु उपकरण के सामान बनाने में प्रयोग किया जाता तथा इसका निर्यात भी किया जाता था। राज्य के लिए आय के महत्व को देखते हुए ही राज्य में खान की खोज हेतु एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। वह अधिकारी राख, धातुमल एवं अन्य लाक्षणिक अवशेषों को देखकर खान का पता लगाने में निपुण होता था।[3]

---

1 आईन अकबरी, पृ. 26

2 कौटिल्य की शासन पद्धति, पृ. 218

3 Studies in Ancient Hindu Polity- Based on Arthasastra, P.no. 6

मेवाड़ सौभाग्यशाली था कि इसके भौगोलिक अवस्थिति के महत्वपूर्ण भाग में विश्व की प्राचीनतम पर्वत श्रृंखला अरावली का विस्तार था। इसकी भूगर्भीय पुरातनता का संबंध प्री-अरावली, अरावली, रायलो तथा दिल्ली विस्तार से है। यहां के पर्वतीय संरचना में माइका, शिष्ट, क्वार्टजाइट, डोलोमाइट तथा हार्नब्लैंड शिष्ट पाया जाता है।[1]

अत: इन पर्वतों में कई धातु खनिज पाएं जाते है जिनमें टिन, जस्ता, तांबा, चांदी प्रमुख है। मेवाड़ की आय में इन खानों से निकलने वाले धात्विक खनिजों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यहां प्रताप के शासन से हजारों वर्षों पूर्व खनन गतिविधियां संचालित हो रही थी। यहां हो रहे खनन के पुरातात्विक एवं साहित्यिक दोनों प्रकार के साक्ष्य उपर्युक्त मत की पुष्टि करते है। मेवाड़ में खनन संबंधि गतिविधियों का प्रारंभिक साक्ष्य शिलादित्य के सातवीं शताब्दी के सामोली के लेख में मिलता है।[2]

यहां खनन कार्य बाद के वर्षों में भी सतत् रूप से चल रहा था। इस बात की पुष्टि समरसिंह एवं रत्नसिंह के राजपुरा-दरीबा के समीप स्थित मंदिर पर उत्कीर्ण लेख से होती है।[3]

प्रताप के काल में भी यहां स्थित खानों का समकालीन विवरण मिलता है। अबुल फजल कृत आईन-ए-अकबरी में मिलता है। अबुल फजल मेवाड़ में जावर, चैनपुर तथा इनके समीप जिंक एवं तांबे की खाने होना बताता है।[4]

---

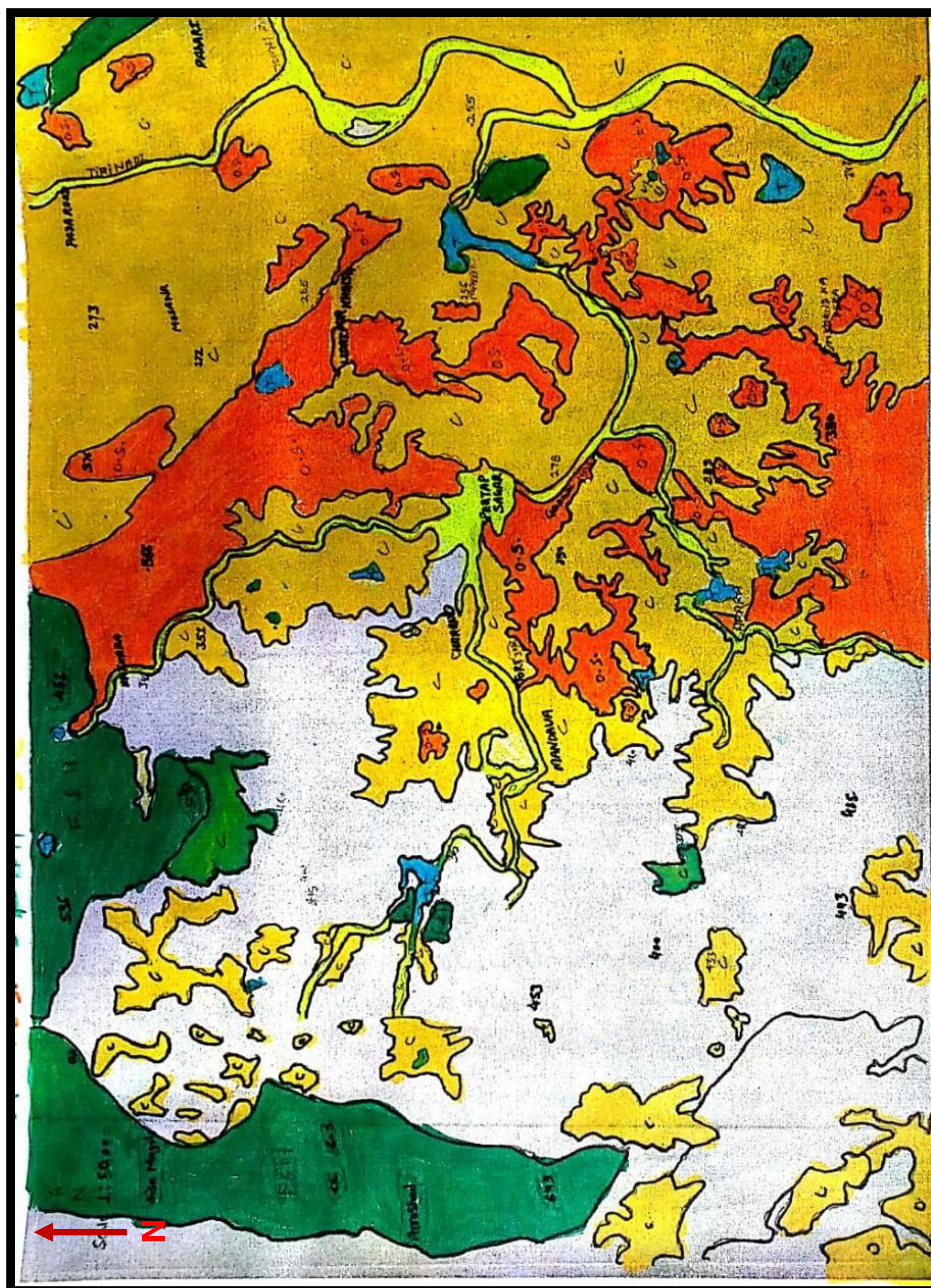
1 Human Geography of Mewar, P.no. 6

2 ना. प्र. प. अंक-1, 1920, पृ. 321

3 राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत, पृ. 125

4 Ain-i-Akbari Vol. 2, P.no. 278

MAP NO. 5.1 : CHAVAND TOPOGRAPHY MAP



Lake	Cultivated	Open Scrub	Green & Hilly	River	Hilly Area

इसके बारे में वह कहता है कि ये बेहद लाभप्रद थी। परवर्ती स्त्रोंतों में नैणसी जावर की खान से हो रही आय के बारे में बताता है। नैणसी ख्यात में लिखता है कि प्रतिदिन जावर की खान से 400 से 500 रू. की आय हो रही थी।[1] इस तथ्य की पुष्टि महाराणा राजसिंह की संवत 1713 की 'पट्टा-बही' से होती है। उक्त पट्टा-बही में जावर की खान से 1,75,002 रू. की आमदनी होना दर्ज है।[2]

राजसिंह पट्टा-बही पर नैणसी द्वारा प्रदत्त आंकड़ों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो दोनों में साम्यता दिखाई देती है। राजसिंह की पट्टा-बही में बताई गई आय को प्रतिदिन हो रही आय के संदर्भ में देखते है तो यह लगभग 480 रू. प्रतिदिन आय होना दर्शाता है। जो कि वर्ष का करीब 1,75,200 रू. आता है। जावर से हो रही आय में उतार-चढ़ाव संभव है। राजसिंह से पूर्व महाराणा जगतसिंह के काल की पंचोली शिवकरण की बही के अनुसार जावर से 2,50,000 रू. की आय हुई थी।[3]

जावर की खान के आर्थिक महत्व को देखते हुए ही टॉड ने इसे पुन: प्रारंभ करने का महत्वपूर्ण प्रयास किए किंतु वह ठोस सफलता प्राप्त न कर सका था।

जावर प्रताप के समय निश्चय ही आय का महत्वपूर्ण स्त्रोत रहा। यहां प्रताप के समय भी खनन गतिविधियां संचालित हो रही थी। जावर क्षेत्र में प्रताप के नाम से यहां एक 'प्रताप खान' भी मिलती है जो कि हिरन मगरा, जावर में स्थित है।[4]

प्रताप के काल में किसी प्रकार के दरबारी इतिहास लेखन नहीं हुआ अत: प्रामाणिक सूचना का अभाव है। स्थानीय लोगों के अनुसार चावण्ड को राजधानी बनाने से पूर्व प्रताप मुगल संघर्ष के दौरान यहीं रह रहे थे। ऐतिहासिक घटनाक्रम देखें तो जावर का यह क्षेत्र सुरक्षात्मक पहलु से कम तथा आर्थिक दृष्टि से ज्यादा

---

1 नैणसी की ख्यात, भा. 1 पृ. 40

2 महाराणा राजसिंह पट्टा बही पट्टेदारां री विगत, पृ. 14

3 वही, पृ. 321

4 Kharakwal, J.S Indian Zinc Technology: in a global perspective, P. No. 154

महत्वपूर्ण था। चावण्ड को राजधानी बनाने से पूर्व सत्त्ता के मुख्य केन्द्र कुंभलगढ़ तथा आवरगढ़ थे। इस दौरान कुछ समय सुंधा के पहाड़ों में भी षरण ली थी। जावर में जिस 'प्रताप खान' का उल्लेख मिलता है वह संभवत: प्रताप के समय ही खोजी गयी हो या प्रताप के राज्य काल में आमदनी का महत्वपूर्ण स्त्रोत रहा हों। मेवाड़ में बहुत सी खानें हैं किंतु किसी शासक के नाम पर एक भी नहीं है।

मेवाड़ में केवल जस्ते की ही खानें नहीं थी अपितु तांबें, एवं लौहे का भी खनन हो रहा था। मेवाड़ में देलवाड़ा, कारोली, अंजनी, उमरड़ा, मटून, भींडर, भदेसर तथा बड़ी-सादड़ी तांबे की खानें थी। लोहे का उत्पादन भूकिया, लोहारिया, नठरा की पाल, करनपुरा तथा ईसवाल में हो रहा था।[1]

मेवाड़ में खनन गतिविधियां ईस्वी पूर्व से चल रही थी। खनन की तिथि आठवीं शताब्दी ई. पू. तक जाती है जो कि 18वीं शताब्दी तक खनन की गतिविधियां चल रही थी। विलिस के अध्ययन के मुताबिक मध्यकाल में राजपुर-दरीबा में करीब 11 लाख टन इस्पात का उत्पादन हुआ था। करीब-करीब इतना ही उत्पादन जावर में जस्ते का हुआ था।[2]

केवल मध्यकाल में इतने बड़े पैमाने पर जो खनन हो रहा था वह उत्पादन निश्चय ही व्यावसायिक स्तर पर था। जिससे राज्य को अच्छी आय प्राप्त हो रही थी। इन खानों में खनन कार्य निर्बाध रूप से प्रताप के समय भी चल रहा था। संघर्ष के दौर को छोड़कर उसमें भी केवल वह समय जब शत्रु सेना प्रताप के विरूद्ध मेवाड़ की सीमाओं में अभियान पर थी सिर्फ वह कुछ कालावधि है जब खनन कार्य को प्रभावित किया गया होगा अन्यथा दिन-प्रतिदिन के जीवन पर या

---

1 Rajasthan District Gazetteers- Udaipur, P.no. 1 ; लालचन्द पटेल, मध्यकालीन धातु प्रगलन स्थल: मौकताफलां, शोध पत्रिका, अंक-3-4, वर्ष 55, जुलाई-दिसम्बर, 2004, पृ.93; कुलशेखर व्यास, पुरातात्विक स्थल ईसवाल से प्राप्त गणेश प्रतिमा, शोध पत्रिका, अंक 1-4, वर्ष 60, जनवरी-दिसम्बर, 2009, पृ. 313

2 Indian Zinc Technology: in a global perspective, P.no. 142

किसी बड़ी हानि के प्रतिकूल प्रभाव के कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं होते है। फारसी स्त्रोतों में भी ऐसी किसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता है।

मेवाड़ से प्राप्त हो रही धातुओं में जस्ता इसलिए महत्वपूर्ण था कि जस्ते का प्रयोग कई अन्य धातुओं के निर्माण में भी हो रहा था। जैसा कि अबुल फजल स्वंय लिखता है कि बरन्ज (पीतल) और अष्ट धातु के निर्माण मे अन्य धातुओं के साथ जस्ते का प्रयोग किया जाता था। यहां दिलचस्प तथ्य यह है कि अबुल फजल स्वंय आईन के तेरहवें अध्याय 'आइने-पैदाइशे-फिलिज्जात' शीर्षक वाले अध्याय में धातुओं की उत्पत्ति पर चर्चा करता है जिसमें विभिन्न धातुओं के गुण एवं विशेषताओं के बारे में इस अध्याय में लिखा गया है। किंतु अबुल फजल का व्यावहारिक मन इस बात को लेकर चिन्तित था कि जस्ता धातु का श्रेणीकरण कैसे किया जाएं। जस्ता जो जावर की खान से निकाला और शुद्ध किया जा रहा था, मगर उसे कहीं से भी इस धातु की प्रकृति के बारे में जानकारी प्राप्त नहीं हुई थी। जिसे वह लिखता है कि 'ज्ञान की पुस्तकों' (नामा-हा-ए-हिकमत) में इसका कोई जिक्र नहीं है। वह धातु का वर्णन स्थानीय नाम 'जस्त' और जस्ता के आक्साइड के लिए प्रयुक्त फारसी शब्द 'तूतिया' के सहारे करता है। अबुल फजल कहता है कि लोग इस धातु को 'तूतिया की रूह' कहते है।[1]

इकबाल गनी खान, अबुल फजल कृत आईने-अकबरी में वैज्ञानिक धारणाएँ,[2] अबुल फजल के ज्ञान की सीमा का कारण जस्ता जो कि एक महत्वपूर्ण धातु होते हुए भी इसकी खानों की संख्या बेहद सीमित होने से वह जस्ता से अनजान ही था। जस्ता के उत्पादन क्षेत्र कम होने से इसकी मांग थी अत: प्रताप के समय यह आय का महत्वपूर्ण स्त्रोत था। जावर खान की वजह से व्यापारिक नगर के रूप में भी स्थापित हो चुका था। यहां अन्य जातियों के साथ व्यापारिक वर्ग निवास कर रहा था[3]

---

1 Ain-i-Akbari. Vol. 2. P. No. 42

2 मध्यकालीन भारत, संपा. इरफान हबीब, पृ. 107

3 जावर की प्रशस्ति, राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत, पृ. 131

जिसके साक्ष्य यहां के मंदिरों एवं गढ़ियों के खंडहर के रूप में दिखाई देते है। उदयसिंह से पराजित होने के बाद राज्य को छोड़ते समय जब बनवीर को धन की आवश्यकता थी। तब उसने राजस्व प्राप्ति हेतु जावर को लूटा था[1] जो इस यह प्रमाणित करता है कि उस समय जावर एक समृद्ध नगर था जहां से धन प्राप्ति की आशा थी। अत: प्रताप द्वारा चावण्ड को राजधानी क्षेत्र चुनने के पीछे जावर जैसी महत्वपूर्ण खान का समीप होना भी एक प्रमुख कारण था।

लूट या शत्रु से प्राप्त सम्पति

प्राचीन एवं मध्यकाल में कृषि, व्यापार, खनन, चुंगी एवं कर के अतिरिक्त भी आय का एक प्रमुख साधन आक्रमण या शत्रु की सम्पति को लूट से मिली संपदा भी थी। शत्रु की सम्पति को हमले के दौरान छीनना, लूटना या कर के रूप में प्राप्त किया जाता था। यह भी राज्य की आय का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत होता था। मध्यकाल में विशेषकर सल्तनत काल में तो खम्स नामक एक कर ही था जो सीधे लूट में प्राप्त धन के बंटवारें से जुड़ा हुआ था। इससे प्राप्त राशि का बंटवारा इस प्रकार होता था कि शासक की अपेक्षा सैनिकों को अधिक राशि मिलती थी। जिसे अलाउद्दीन खिलजी एवं फिरोज शाह तुगलक के काल में बंटवारे को उल्ट दिया गया।[2]

मुगल काल में तो यह प्रथा समाप्त ही हो गई थी लूट का माल शासक का ही माना जाता था। यद्यपि लूट से प्राप्त सम्पत्ति स्थायी संपत्ति नहीं होने से इसका अर्थव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में उतन महत्व नहीं था जितना की कृषि एवं खान से प्राप्त आय का था। लूट या शत्रु की सम्पत्ति का महत्व संघर्ष या आपदा के समय अधिक महत्वपूर्ण होता है। दीर्घकालीन युद्ध में जब राज्य की आय के

1 नीतं जावरमध्येऽथ कृत्वा जावरलुण्ठनम्।
बनवीर: कलत्रेण सहित: स्वेच्छया गत:।।13.37।। अमरकाव्यम्

2 हरीशचन्द्र वर्मा, मध्यकालीन भारत, भा. 1 पृ.330

अन्य साधनों पर प्रतिकूल असर पड़ता है। इस विकट अवस्था में राज्य के आर्थिक साधनों पर दबाव रहता तब शत्रु की संपत्ति कई बार ऐसे समय में क्षतिपूर्ति में सहायक होती है। अलाउद्दीन खिलजी को जब निरतंर हो रहे मंगोल आक्रमणों का सामना करने हेतु एक विशाल स्थाई सेना की आवश्यकता थी तब दक्षिण के राज्यों से लूट में प्राप्त राशि के बल पर अलाउद्दीन खिलजी ने स्थाई सेना का निर्माण करने में सक्षम हो सका। इसी प्रकार शिवाजी को भी राज्याभिशेक के बाद जब राज्य की आर्थिक स्थिति डावांडोल हो गई थी तब इसकी क्षतिपूर्ति हेतु सूरत की समृद्धता को देखकर ही शिवाजी ने तीन बार सूरत को लूटा था।[1]

प्रताप के शासन काल में भी शत्रु की सम्पति को लूटने के कई उदाहरण मिलते है। लूटने या इस प्रकार के हमलों के पीछे दो मुख्य उद्देश्य होते थे। पहला शत्रु के मन में डर पैदा करना एवं दूसरा अपने आर्थिक संसाधनों को बढ़ाना। प्रताप के शासनकाल में मेवाड़ के आसपास के मुगल अधीन प्रदेषों पर निरंतर हमले होते रहते थे। इस बात की पृष्टि अबुल फजल के विवरण अकबरनामा से भी होती है। बहुधा अबुल फजल मेवाड़ अभियान का कारण प्रताप के द्वारा किए जा रहे निरतंर हमले का ही बताता है। प्रताप ने मुगलों के अधीन तथा उस समय का धनी क्षेत्र मोही को कई बार लूटा, अकबरनामा आमेर क्षेत्र के धनी प्रांत मालपुरा को लूटा।[2] अहमदाबाद[3] एवं मालवा[4] को भी लूटा था। खुम्माण रासो में वर्णन मिलता है कि अमरसिंह के समय भामाशाह ने अहमदाबाद को लूट कर वहां से दो करोड़ लेकर आएं। खुम्माण रासो ऐतिहासिक घटनाओं को देखें तो भामाशाह

1 Shivaji and his times, P.no. 253

2 Annals and Antiquities of Rajasthan. Vol. I. P.No. 276

3 खुम्माण रासो

4 वीर विनोद भा. 2 पृ.157

अमरसिंह के काल में केवल तीन वर्ष ही जीवित रहा था। 1600 ई. में उसका देहान्त हो गया था।[1]

नैणसी के द्वारा अमरंसिंह ने मालपुरा पर हमला करने का उल्लेख मिलता है।[2] खुम्माण रासो में ही प्रताप द्वारा जालौर पर दण्ड वसूल करने हेतु हमला करने का उल्लेख मिलता है। खुम्माण रासो अमरकाव्यम् में प्रताप के काल में ही अमरसिंह के द्वारा मालपुरा, टोडा, सांभर, मालवा एवं गुजरात को लूटने की जानकारी मिलती है। [3]

निश्चय ही प्रताप को शत्रु के क्षेत्र में किए गए धावों में उल्लेखनीय धन-सपंदा भी प्राप्त हुई थी। 1578 ई. में भामाशाह एवं उसके भाई ताराचन्द ने मालवा पर आक्रमण से 25 लाख रूपये और 20 हजार अशर्फियां प्राप्त की थी।[4]

संकट के काल में यह धनराशि दीर्घकाल तक चलने वाले सतत् संघर्ष के मजबूत आधार से कतीपय कम न थी। शत्रु की संपत्ति पर अधिकार करने के अतिरिक्त पड़ोसी राज्य के उत्तराधिकार मामले में आर्थिक सहायता के बदले सैनिक सहायता भी उपलब्ध करवाने का उल्लेख मिलता है। 1578 ई. में रावल आसकरण का पुत्र सेसमल ससमल (सहसमल) अपने पिता से विमुख होकर पिता का राज्य हड़पने का प्रयास कर रहा था। इसके लिए ससमल (सहसमल) ने प्रताप से सहायता मांगी जिसके बदले चार हजार मेमुदी देने का वादा किया गया था।[5] प्रताप सिरोही पर भी अपना प्रभाव बनाएं रखना चाहता था अत: इस हेतु वहां का शासक अपने भान्जे राव कल्ला मेहाजलोत को बनाने का प्रयास किया था।[6]

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 409

2 नैणसी भा.1, पृ. 93

3 अमरकाव्यम् पृ. 267

4 वीर विनोद भा. 2, पृ.157

5 राठौड़ा री ख्यात, पृ.110

6 वीर विनोद भा. 2, पृ.161

इसका एक कारण सिरोही मुख्य व्यापारिक मार्ग पर स्थित होने से यहां दाण (चुंगी का महसूल) की आय अच्छी थी। दाण से पचास से साठ हजार रूपये आय हो रही थी। [1]

इतिहासकारों ने प्रताप कालीन अर्थव्यवस्था का चित्रण आर्थिक संसाधनों से कमी वाले बेहद अभावग्रस्त शासक के रूप में किया गया है। इतिहासकारों में इस प्रकार की छवि बनाने वालों में जेम्स टॉड प्रमुख व्यक्ति रहा है। इसके बाद श्यामलदास ने भी प्रताप के जीवन को कुछ इसी प्रकार का बताया है। जब अकबर जैसे एक शक्तिशाली शासक से प्रताप के दस वर्षों के संघर्ष को देखते है तो यह स्पष्ट होता है कि एक संसाधनों से हीन शासक कतई अकबर जैसे शक्तिशाली शासक के समक्ष ठहर नहीं सकता। प्रताप के मेवाड़ के पर्वतीय क्षेत्र में आगमन से लगभग 500 से 600 वर्ष पूर्व ही गांवों का विकास प्रारंभ हो चुका था जो भी उस समय तक एक परिपक्व अर्थव्यवस्था का रूप ग्रहण कर चुके थे। ये गांव प्रताप की आय, खाद्य आवश्यकता एवं इसके अतिरिक्त मानवीय संसाधनों की पूर्ति के महत्वपूर्ण स्त्रोत थे। मेवाड़ में देलवाड़ा, गोगुन्दा एवं उदयपुर व्यापारिक मार्ग पर स्थित था। बंजारे जो व्यापारिक कांरवा को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में ले जाते थे। वे इस मार्ग से गुजरते थे। इसका प्रमाण महाराणा लाखा के समय एक बंजारे द्वारा पीछोला झील का निर्माण करवाया तो इसी प्रकार का एक और उल्लेख गोगुन्दा में बंजारे द्वारा झील निर्माण का उल्लेख मिलता है। भारतीय गांव को स्वंय में आत्मनिर्भर थे युद्ध के काल को छोड़कर इनके जन-जीवन में किसी प्रकार का बड़ा बदलाव नहीं आया था। मध्यकाल में दो शक्तियों के मध्य संघर्ष या युद्ध आम बात थी। जो उनके जीवन को प्रभावित तो करता था किंतु वे बहुत जल्द सामान्य जीवन जीने लगते थे। बाबर भी अपनी पुस्तक में लिखता है कि यहां गांव बहुत जल्द उजड़ जाते है किंतु उसी प्रकार से पुन: बहुत

1 नैणसी की ख्यात भाग-1, 129

जल्द बस भी जाते है। प्रताप के काल में भी मानवीय एवं आर्थिक गतिविधियां स्वतः स्र्फुत गतिमान थी। ये मुगल संघर्ष से प्रभावित तो हुई थी किंतु नष्ट नहीं हुई। इस बात का प्रमाण यह है कि प्रताप से पूर्व जो गांव जिन लोगों को दान में दिए गए थे वे आज भी उन्हीं के पास है। प्रताप का शासन काल अभावों का काल नहीं था।

***

अध्याय षष्ठम्

प्रताप कालीन साहित्य, कला एवं स्थापत्य

अध्याय षष्ठम्

प्रताप कालीन साहित्य, कला एवं स्थापत्य

16वीं सदी की राजनीतिक स्थिति

सोलहवीं शताब्दी भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण धुरी रही है। यह परिवर्तन का दौर था दिल्ली सलतनत को विस्थापित कर बाबर द्वारा मुगल साम्राज्य की नींव डाली गयी। मेवाड़ के राणा सांगा जिसने दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम लोदी को पराजित किया था, वह भविष्य में दिल्ली का शासक प्रतीत हो रहा था किंतु खानवा[1] के युद्ध में सांगा की हार ने इस आशा को सदैव के लिए समाप्त कर दिया। मुगल साम्राज्य भी स्थायी न रह सका। चौदह वर्षों के बाद हुँमायू को भारत छोड़ना पड़ा।[2] दिल्ली में एक नवीन सूर वंश की स्थापना हुई। सूर वंश भी सोलह वर्षों तक राज्य कर सका और 1556 ई. को इस वंश का अंत हो गया। ऐसा ही हाल क्षेत्रीय राजवंशों का भी रहा। राजवंशों के परिवर्तन एवं साम्राज्य के विस्तार की चाह ने कई क्षेत्रीय राजवंशों को अपने मूल स्थान से उखाड़ दिया तो कई नवीन क्षेत्रीय वंश भी अस्तित्व में आएं। अकबर के राज्यारोहण के बाद क्षेत्रीय राजवंश को सर्वाधिक चुनौती मिली। राजस्थान भी इस परिवर्तन से अछूता नहीं था। राजस्थान के राजवंशों के समक्ष भी यही चुनौती थी कि वे या तो वे मुगल अधीनता स्वीकार करें या समाप्त हो जाएं।

अकबर की साम्राज्य विस्तार की नीति के प्रारंभ के साथ ही मेवाड़-मुगल का एक दीर्घकालीन संघर्ष प्रारंभ हुआ। 1567 ई.[3] में अकबर के आक्रमण के साथ जो संघर्ष प्रारंभ हुआ वह बीच की कुछ अवधि को छोड़कर 1615 ई. की मेवाड़-मुगल संधि के साथ जहांगीर के काल में जाकर समाप्त हुआ। इस संघर्ष की सर्वाधिक अवधि प्रताप के काल में रही। प्रताप के राज्यारोहण से प्रताप की मृत्यु

1 बाबरनामा, पृ. 381

2 मुगलकालीन भारत (हुमायूँ), भा-2, पृ. 63

3 Akbarnama Vol.-2 P. No. 442.

तक यह संघर्ष चलता रहा, जो कुल सत्ताईस वर्षों तक चला। राज्य ग्रहण से प्रताप को एक संघर्षरत राज्य मिला था। प्रताप के राज्यकाल का एक महत्वपूर्ण दौर इसी संघर्ष में गुजर गया। इस लंबे चले संघर्ष ने राज्य की रचनात्मक गतिविधियों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। कला एवं साहित्य जैसी गतिविधियों के लिए शांति एवं समृद्धि को होना आवश्यक माना जाता है। युद्ध एवं संघर्ष में शासक के संसाधन विनाशात्मक गतिविधियां द्वारा अवशोषित हो जाते है, जो कि विद्वानों के संरक्षण एव बौद्धिक कार्य को अवरूद्ध कर देता है। युद्ध की विभिषिका से कला विशेषकर चित्रकला एवं स्थापत्य कला में भी गिरावट देखी जा सकती है। इसके इतर प्रताप का काल भीषण युद्ध एवं संक्षिप्त शांति का काल रहा है। अकबर जैसे शक्तिशाली शासक जिसके समक्ष करीब-करीब उत्तर भारत के सभी शासकों ने आत्मसमर्पण कर दिया था वहीं प्रताप दृढ़ता से संघर्षरत था।

प्रताप का जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य था वह कि प्रताप ने भीषण युद्ध में संघर्षरत रहते हुए भी रचनात्मक कार्य को प्रोत्साहन दिया था। प्रताप के समय केवल दरबारी लेखन, साहित्य एवं कला का ही विकास नहीं हुआ अपितु कला के कई छोटे-छोटे केन्द्र उभरे जहां प्रताप के राज्यकाल के बाद भी यहाँ के शासन के वर्षों में ये रचनात्मक गतिविधियां जारी रही। प्रताप के काल में दरबारी साहित्य, चित्रकला, एवं स्थापत्यकला तो विकसित हुई थी किंतु इसके अतिरिक्त सामंतों, धनी वर्ग एवं आमजन के द्वारा भी इन रचनात्मक कार्यों को प्रोत्साहन दिया था। संघर्ष के वर्षों में प्रताप जिसे मेवाड़ के मुख्य प्रशासनिक केन्द्रों में पहले चित्तौड़ फिर कुंभलगढ़ छोड़ने पर विवश होने पड़ा था। किंतु प्रताप एक शासक के कार्यों एवं उसके कर्तव्यों के प्रति सजग था। एक शासक का कार्य केवल युद्ध सेना का नेतृत्व करना तथा उनकी रक्षा करना ही नहीं है। एक अच्छा और पूर्ण शासक वही है जो प्रजा के सर्वांगीण विकास हेतु कार्य करें।

प्रताप कालीन साहित्य

साहित्य समाज और राज्य का अभिन्न अंग रहा है। शासक वर्ग द्वारा साहित्यकारों एवं विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया और राज्याश्रय में कई

कालजयी रचनाएं हुई। मेवाड़ में गुहिल वंश के विस्तृत शासनकाल में कई शासकों तथा उनके राज्याश्रितों ने महत्वपूर्ण साहित्य रचा। मेवाड़ के प्रमुख साहित्यकार सम्राटों में कुंभा का नाम अग्रणी है जिसने विभिन्न विषयों पर कई महत्वपूर्ण ग्रंथो की रचना की थी। मेवाड़ का साहित्य वैविध्यता से पूर्ण था। राजा एवं राज्याश्रित रचनाओ के अतिरिक्त कई क्षेत्रीय व्यापारिक एवं प्रशासनिक केन्द्र भी साहित्यकारों की शरण स्थली बनें। प्रताप के राज्य काल में भी साहित्य का अच्छा विकास दिखाई देता है। प्रताप के समय जो दरबारी साहित्य रचा गया वह जनपयोगी साहित्य था। यहाँ साहित्य मनोरंजन का साधन न होकर के आमजन के सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक विकास के माध्यम की भूमिका में था। प्रताप के संरक्षित प्रमुख विद्वानों में चक्रपाणि मिश्र सबसे प्रमुख था। चक्रपाणि मिश्र मथुरा का ब्राह्मण था तथा इसका संबंध नसावरे चौबे परिवार से था। इसके पितामह 'असानन्द' महाराणा कुंभा के दरबार में 'पुराण-वाचक' के रूप में कार्यरत थे। चक्रपाणि मिश्र का परिवार महाराणा कुंभा के काल से मेवाड़ के महाराणाओं से संबंधित था। चक्रपाणि के पिता उग्र मिश्र भी एक बड़े विद्वान थे। चक्रपाणि चारों वेदों तथा षड्दर्शन का ज्ञाता था। इसके अतिरिक्त चक्रपाणि को अन्य धर्म के धार्मिक ग्रंथों का भी ज्ञान था। धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में भी विशेषज्ञता हासिल थी जो कि उसके द्वारा रचित ग्रंथों में भी दृष्टिगत होता है।[1] विशेषकर 'विश्ववल्लभ' नामक ग्रंथ से। चक्रपाणि ने निम्न ग्रंथों की रचना की थी विश्ववल्लभ, मुहूर्तमाला, राज्याभिषेक पद्धति एवं व्यवहारदर्श।

विश्ववल्लभ

प्रताप काल में विभिन्न विषयों पर साहित्य रचा गया किंतु उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण और जनपयोगी 'विश्ववल्लभ' था। विश्ववल्लभ का संबंध कृषि एवं बागवानी से है। इस ग्रंथ की महत्ता का ज्ञान इसके नाम से ही होता है, 'विश्ववल्लभ' का अर्थ है "विश्वप्रिय"। चक्रपाणि मिश्र द्वारा इसका नाम

1 Maharan Pratap and his Times. P. No. 107.

"विश्ववल्लभ" रखने के पीछे मूल मंतव्य यह था कि वनस्पति पृथ्वी पर निवास करने वाले समस्त जीवधारियों के जीवन एवं प्राण का अनिवार्य तत्व है। वनस्पति की उपस्थिति के अभाव में पृथ्वी पर उपस्थित जीवधारियों का जीवन संकटमय हो जाएगा। वनस्पति एक ऐसा विषय है जो सभी धर्म, वर्ग, जाति के लोगों के लिए निरापद रूप से सभी के लिए प्रिय है अत: इसे 'विश्ववल्लभ' नाम दिया गया।[1]

प्राचीन एवं मध्यकाल में इस विषय पर पहले भी विद्वानों द्वारा लिखा गया। अपितु इसकी प्राचीनता वेदों तक जाती है। वैदिक ग्रंथों में वनस्पति, कृषि, बागवानी एवं जल पर बहुत कुछ लिखा गया। गिरीजा प्रसन्न मजुमदार ने उपवन-विनोद की भूमिका में लिखा है कि "भारत में वानिकी एवं बागवानी विज्ञान सभ्यता निर्माण के प्रारंभिक सदियों में ही ज्ञान के उच्च स्तर को प्राप्त पर पहुँच गई थी, जबकि उस समय तक यूरोपियन दर्शन के अग्रदूत सुकरात, प्लेटो एवं अरस्तु का जन्म ही नहीं हुआ था।"[2] भारत में वृक्षायुर्वेद की परंपरा के दर्शन सभ्यता निर्माण के उषाकाल से दिखाई देते है। वृक्षायुर्वेद की भारतीय परंपरा की प्राचीन समृद्धता पर श्रीकृष्ण जुगनू ने लिखा है कि, "भारतीय मनीषा ने सभ्यता के आदि काल से ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर विचार किया और अनेकानेक विषय-अनुशासनों का प्रवर्तन किया प्राचीन काल में चिकित्सा के आयुर्वेद के ग्रंथ की ही शाखा पशु चिकित्सा हेतु 'हस्त्यायुर्वेद', 'गजशास्त्र' का प्रणयन किया गया था।[3]

आयुर्वेद के ऐसे ही स्वतंत्र अनुशासनों, विषयों में वृक्षों, वनस्पती की चिकित्सा की परंपरा भी रही है और यह चिकित्सा विधान 'वृक्षायुर्वेद' के नाम से भारतीय वाङ्मय में अभिहित है। महर्षियों ने सभी चेतन प्राणियों की चिकित्सा, व्याधि निराकरण का प्रयास किया हैं। वृक्षों की गणना चलते-फिरते प्राणियों में नहीं, किंतु इन्हें अंतचेतना से ओत-प्रोत माना जाता रहा है। वृहदारण्यक उपनिषद्'

---

1 विश्ववल्लभ, पृ. 85

2 Upavana Vinoda, Preface. P.No. 3

3 श्रीकृष्ण जुगनू महाराणा प्रताप का दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य, पृ. 1

में महर्षि याज्ञवल्क्य ने मानव की तरह ही वृक्षों के चैतन्य गुणो का वर्णन किया है।"[1] वराहमिहिर, कश्यप[2], सुरपाल[3] आदि भारतीय ऋषियों ने कृषि एवं वनस्पति पर ग्रंथों की रचना की। चक्रपाणि से पूर्व राजस्थान में हम्मीर के दरबारी शांरगधर ने भी इस विषय पर कार्य किया। 'शारंगधर द्वारा रचित 'शारंगधर पद्धति" महत्वपूर्ण रचना है इसमें अर्थव्यवस्था, रसायन, वनस्पति, रहस्यवाद तथा युद्ध विज्ञान जैसे विषयों पर विस्तार से लिखा है। इसी पुस्तक का एक भाग 'उपवन विनोद' है। उपवन विनोद में वानिकी एवं बागवानी पर विस्तृत रूप से लिखा गया है।[4] मेवाड़ में बागवानी या वाटिका के प्रारंभिक साक्ष्य नगरी में मिलते है। नगरी के अभिलेख में 'नारायण वाटिका' के निर्माण तथा उसके चारों ओर प्राकार होने का उल्लेख मिलता है। प्रारंभिक साहित्यिक साक्ष्य वृक्षायुर्वेद के संबंध में महाराणा कुंभा के यशस्वी सूत्रधार मण्डन के 'राजवल्लभ' मण्डनम्' में मिलती है।[5]

महाराणा प्रताप कालीन रचित 'विश्ववल्लभ' कृषि एवं बागवानी के स्वतंत्र रचना है, जो कुल नौ भागों में विभक्त है। उपर्युक्त पुस्तक में रचित अध्यायों को उल्लास नाम दिया गया है। इनमें फसलों के संरक्षण, पोषण, विकास एवं रोगोपचार पर तो चर्चा कि है इसके अतिरिक्त जल संरक्षण व जल प्रबंधन भी रचना का मुख्य विषय रहा है। 'विश्व वल्लभ' के उल्लास (अध्याय) निम्न है[6]-

1. **प्रथम उल्लास-** उदर्गल निरूपण, उक्त उल्लास में भू-जल खोजने हेतु भूमि परिक्षण की विभिन्न विधियों की जानकारी दी गई है। भूजल को पता लगाने हेतु मिट्टी, चट्टान, वनस्पति तथा जीव-जंतुओं की गतिविधियों का सूक्ष्म निरीक्षण कर भू-गर्भ में प्रवाहित जलधारा का पता किया जा सकता है।

---

1 चक्रपारी मिश्र और उसका साहित्यए पृ. 2

2 श्रीकृष्ण जुगनू काश्यपीकृषिपद्धति, पृ.1

3 वृक्षायुर्वेद, पृ. 48

4 Upvane Vinoda, P. No.1

5 महाराणा प्रताप का दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य पृ. 22

6 महाराणा प्रताप का दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य पृ. 46, Maharana Pratap and his times. P. 107.

2. **द्वितीय उल्लास :-** वास्तुशास्त्रस्य संवादी जलाशय निरूपक, प्रथम उल्लास में भूजल का स्त्रोत पता लगाने के बाद द्वितीय उल्लास में जलाशयों के निर्माण करवाने तथा उनकी अनुकूल अवस्थिति, माप आदि का वर्णन देता हैं। कुंए, बावड़ी एवं तालाब के निर्माण की चर्चा की गई है।

3. **तृतीय उल्लास :-**भूमि परीक्षादुविहितस्य निरूपक, यह उल्लास भूमि परीक्षण तथा भू-उपयुक्ता से संबंधित है। चक्रपाणि मिट्टी की प्रकृति के अनुसार भूमि तीन प्रकार की होती है शुष्क, नम एवं सामान्य। वर्ण के आधार पर मिट्टी के छः भेद बताए गये हैं। दुर्ग एवं आवास में लगाए जाने वाले वृक्षों की भी जानकारी दी है।

4. **चतुर्थ उल्लास :-** संक्षिप्तकियता मुक्तों हुमाणां रोपणे विधि, चक्रपाणि का मानना था कि बीज बोनें तथा वृक्षों आदि का रोपण के समय एवं अनुकूल परिस्थितियों के समुचित ज्ञान के अभाव से फसलों को हानि का सामना करना पडता है। अतः उक्त अध्याय इस प्रकार से होने वाली हानि से बचाने हेतु बीजारोपण के लिए अनुकूल मौसम एवं भूमि के संबंध में ज्ञान में अभिवृद्धि करता है।

5. **पञ्चम उल्लास :-** सेचनादि विधि कालावस्थादि भेद, मौसम तथा स्थिति के अनुसार वृक्षों की सिंचाई पद्धति का वर्णन किया गया है।

6. **षष्ठ उल्लास :-** तरूरक्षा निरूपक चक्रपाणि मिश्र षष्ठ उल्लास में पेड़-पौधों को प्राकृतिक आपदा, कीटों एवं जीव-जंतुओं से बचाने के लिए विविध उपायों को बताता हैं। लेखक का मानना है कि वृक्षारोपण मात्र से कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं होती अपितु जब तक फसल के संरक्षण एवं देखभाल पर उचित ध्यान नहीं देंगे तब तक परिपक्व फसल प्राप्त नहीं हो सकती। फसल के समक्ष तूफान, पाला, धुआं, अग्नि, कीट, मकड़ी, तथा चूहे वृक्षों को नुकसान पहुंचाते है अतः फसल को उनसे बचाने हेतु कठोर प्रयत्न की आवश्यकता रहती है।

7. **सप्तम उल्लास :-** पौषणादि विधि, पौधों को नष्ट होने से बचाने के पश्चात् विशेष पोषाहार तथा औषधियों आदि का प्रयोग करके वृक्षों के स्वास्थ्यवर्द्धक विकास के लिए विशेष प्रयास करना चाहिए। उक्त अध्याय में पेड़-पौधों के विकास एवं पोषण हेतु पशु मांस के प्रयोग का बहुधा उल्लेख किया गया है। मांस के अतिरिक्त पोषण हेतु दूध, गुड़, घी, छाछ, तिल मिश्रित जल का भी पोषण के रूप में प्रयोग की अनुशंसा की है।

8. **अष्टम् उल्लास :-** द्रुमाणाम् चिकित्सा, रोग एवं उपचार संबंधी यह अध्याय 'विश्ववल्लभ' नामक इस पुस्तक का सबसे बड़ा अध्याय है। इसमें कुल अस्सी श्लोक है। पेड़-पौधों के विविध रोगों तथा उसके कारण एवं उपचार इस अध्याय में बताए गये है। रोग एवं उपचार की पद्धति आयुर्वेद के मूल सिद्धांतों पर ही आधारित है। चक्रपाणि लिखता है कि मनुष्यों की भाँति वृक्ष भी वायु, पित्त, कफ दोष एवं श्लेष्मा के असंतुलन के कारण रोगग्रस्त हो जाते हैं। वात, पित्त एवं कफ से जनित रोगग्रस्त वृक्षों के भिन्न-भिन्न लक्षण बताएं गए है जिनसे वृक्षों के रोगों की पहचान कर उसके अनुरूप उसका उपचार किया जा सकें।

9. **नवम उल्लास :-** चित्रीकरण, इस अध्याय में वे श्लोक हैं जो अप्रत्याशित परिणाम प्राप्त करने हेतु नुस्खों का वर्णन करते हैं। इसमें बताए गए उपायों के द्वारा बीज रहित फल, लंबे पौधे को बौना पौधा, और बौने पौधे को लंबा पौधा बनाया जा सकता है तथा वर्ष भर फल-फूल भी प्राप्त किए जा सकते है। उक्त अध्याय में बायो टेक्नोलॉजी के बीज तत्व देखें जा सकते है।

पुस्तक के नौ अध्याय में से तीन अध्याय भूजल, जलाशय एवं सिंचाई के है। एक अध्याय मिट्टी पर तथा एक बायो टेक्नोलॉजी तथा शेष चार अध्याय वृक्षारोपण, संरक्षण, पोषण तथा रोगोपचार पर लिखे गए है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या चक्रपाणि मिश्र रचित ग्रंथ 'विश्ववल्लभ' पूर्णत: मौलिक है? इसका उत्तर चक्रपाणि की रचना में ही मिल जाता है जहां

उसकी रचनाओं में विष्णु धर्मोत्तर पुराण से लेकर बराहमिहिर की वृहत्संहिता, सुरपाल का वृक्षायुर्वेद और शारंगधर के उपवन-विनोद में प्रयोग की गई सामग्री यहाँ प्रयुक्त हुई है। चक्रपाणि का महत्वपूर्ण योगदान यह था कि उस समय की मेवाड़ की स्थानीय आवश्यकता के अनुरूप लेखन को प्रधानता दी थी।[1] 'विश्ववल्लभ' की रचना हल्दीघाटी युद्ध के एक वर्ष बाद 1577 ई. में की गई थी।[2] ग्रंथ की मौलिकता एवं महत्व इस तथ्य पर आधारित है कि हल्दीघाटी के युद्ध के बाद प्रताप को यह स्पष्ट था कि अब संघर्ष दीर्घकाल तक चलने वाला है। अत: मुगलों की शक्तिशाली सेना को कड़ी टक्कर देने हेतु प्रताप ने मैदानी भागों में खेती को नष्ट करने की नीति प्रतिपादित की।[3] प्रताप की 'स्वभूमिध्वंस' की नीति की सफलता हेतु आवश्यक था कि पर्वतीय क्षेत्र में कृषि पूर्णत: विकसित हो जिससे प्रताप की सेना को खाद्यान्न एवं रसद के अभाव का सामना न करना पड़े। चक्रपाणि पुस्तक के प्रथम अध्याय में ही इस तथ्य की स्वीकारोक्ति करता है कि "यहाँ के शासक के कहने पर ही पाठकों को जल की उपलब्धता तथा वृक्षारोपण का ज्ञान उपलब्ध कराने के लिए वर्तमान ग्रंथ की रचना की है। इस पुस्तक में पूर्व वर्णित शास्त्रों के ज्ञान का विशद वर्णन करते समय साधारण और पर्वतीय प्रदेश का विशेष ध्यान रखा गया है।

आनूपे निकटे यथोक्तमतिभिनीरं भवेज्जा॰.ले
दूरे स्याच्च मरूस्थलेऽश्मनिकरे देशे सशैले पुन:।
पुतन्निश्चितमस्ति यद्यपि तथाप्याख्यामि भूपाग्रहात्
प्राक्शास्त्रोदितमार्गमात्र विशदं साधरणे पर्वते।।1.4।।[4]

उपर्युक्त ग्रंथ अन्य ग्रंथों से भिन्न इसलिए है कि इस ग्रंथ की विषय-वस्तु स्थानीय आवश्यकताओं से प्रेरित है। कृषि एवं बागवानी पर रचित ग्रंथों के लेखकगण ने भूजल एवं जलाशय के विषय को अन्त में अथवा मौसम तथा

---

1 विश्ववल्लभ भा. पृ. 88

2 Maharana Pratap and his times. P. No. 106

3 वीर विनोद, पृ. 159

4 विश्ववल्लभ, पृ. 32, महाराणा प्रताप का दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य , पृ. 50

विशिष्ट क्षेत्र में वर्षा जल की उपलब्धता पर चर्चा करने के पश्चात् उठाते है। चक्रपाणि इन विषयों पर चुप है तथा प्रारंभ में ही भूजल विषय को छूता है। इससे आभास होता है कि जल लेखक के लिए प्राथमिक चिन्ता है और वह उस क्षेत्र से संबंध रखता है जहां कम वर्षा होती है और पौधे आवश्यक रूप से भूजल पर निर्भर होते हैं। दूसरे अध्याय में कुओं, तालाबों, झीलों आदि के निर्माण पर विस्तृत अनुदेश भी यह आभास देते है कि लेखक ऐसे क्षेत्र से संबंध रखते हैं जहां वर्षा की अथवा नदी जल की अत्यंत कमी रही है और जलापूर्ति हेतु मानव निर्मित जलाशयों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।[1]

दूसरे अध्याय में लेखक ने कुओं तथा जलाशयों के निर्माण पर चर्चा की है। यह अध्याय इसलिए महत्वपूर्ण है कि जलाशयों के निर्माण के दौरान आने वाली व्यावहारिक समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया गया है। 1568 ई. चित्तौड़ छूटने के बाद प्रताप के अधीन मुख्य क्षेत्र पर्वतीय भू-भाग ही था। अत: अरावली की इन कठोर चट्टानों को तोड़कर निर्माण कार्य किसी चुनौती से कतई कम न था। चक्रपाणि सख्त चट्टानों को तोड़ने की पद्धति बताता है जिससे कि सरलता से चट्टान भी टूट जाएं और उपकरण भी न मुड़े और न ही कुंठित हो। चक्रपाणि लिखता है कि चट्टान को तोड़ने हेतु पहले लकड़ियां जलाकर उनसे गर्म करना चाहिए और तत्पश्चात् पलाश, जंबु, धव, सादर, शिरिष, वंजुलक, तिन्दुकी, भल्लात, चिंचा, खादिर और इसी प्रकार के अन्य पौधों की पत्तियों से मिश्रित जल छिड़कना चाहिए। जिससे शिला आसानी से टूट जाती है। इसके अतिरिक्त भी शिला को खण्डित करने के और भी उपाय बताएं गए है।[2]कुल्हाड़ी को पत्थर पर चलाने पर उसकी धार समाप्त हो जाती है तथा वह मुड़ भी जाती है। अत: लोह उपकरण खराब न हो अत: उसके उपाय भी बताए गए है। चक्रपाणि कहते है कि कुल्हाड़ी को कबूतर आदि की बीट से लेपन किया जाता है और तेल तथा छाछ में भी डुबोया जाता है तो उसे पत्थर पर चलाने पर भी उसका सिरा मुड़ता नहीं है।[3]

---

1 विश्ववल्लभ, पृ. 88

2 वही, पृ. 47

3 महाराणा प्रताप का दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य, पृ. 69

चक्रपाणि ने शिला को खण्डित करने के जो उपाय बताएं उनके वास्तविक दृष्टांत इन उपायों की प्रामाणिकता को पुष्ट करते है। निजामुद्दीन फरिश्ता बताता है कि जब मालवा के सुल्तान मुहम्मद खिलजी ने केलवाड़ा पर आक्रमण किया तब वह कुंभलगढ़ को जीतने में नाकाम रहा। खिलजी ने केलवाड़ा को बहुत हानि पहुँचाई तथा वहां स्थित बाणमाता मंदिर में आग लगा दी। अग्नि से तप्त प्रतिमाओं पर ठण्डा जल डाला तो इन मूर्तियों के टुकड़े-टुकड़े हो गए।[1]लेखक और फरिश्ता के कथन में साम्यता है।

चक्रपाणि की रचना में कुछ तथ्य कपोल कल्पना से प्रतीत होते हैं। इन तथ्यों में से बहुत कुछ उन्होने अपने पूर्ववर्ती मनीषियों से ग्रहण किया था, जैसे- चक्रपाणि विश्ववल्लभ के सातवें उल्लास वृक्षों के पोषण एवं विकास में लिखते है कि स्त्रियों के पदाघात से अशोक खिल उठता है।[2] प्रो. एम. आर. भट 'अपनी पुस्तक 'फर्टिलाइजर इन एंशेयन्ट इंडिया' में लिखते है कि स्त्री के पदाघात से अशोक में फूल खिलने की बात सतही तौर पर दृष्टिगत करने पर यह कवियों की कल्पना लगती है, लेकिन गहराई में जाएं तो इसकी वैज्ञानिक विधि स्पष्ट होने लगती हैं। प्रो. भट्ट का विचार है कि यहाँ स्त्रियों के नूपुरों की झंकार अर्थात् संगीत पर ध्यान देना होगा। भट पौधों पर संगीत के प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि अन्नामलाई विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान के प्रोफेसर टी.सी.एन. सिंह के अनुसार जब पौधे प्रकाश पर निर्भर हो सकते हैं, तो ध्वनि पर क्यों नहीं? डॉ. सिंह ने अपने प्रयोग द्वारा सिद्ध किया है कि कोशिकाओं के मेटाबोल्जिंम पर ध्वनि का प्रभाव पड़ता है। पौधों की वृद्धि पर 'चारूकेती' राग का सबसे अच्छा प्रभाव पाया गया। न केवल भारत अपितु अमरीका, कनाडा और रूस में भी विविध प्रकार के पौधों पर संगीत का प्रभाव परखा गया। वहाँ पर भी सकारात्मक परिणाम प्राप्त किए गए। पाश्चात्य संगीतकार बाख द्वारा रचित सॉनेट 'ए' और 'बी' का पौधों पर अच्छा प्रभाव पाया गया। डॉ. सिंह मानते थे कि प्राकृतिक वनों की अच्छी वृद्धि और विकास का रहस्य यह है कि वे हर रोज

---

1 रामवल्लभ सोमानी, महाराणा कुंभा, पृ. 125

2 विश्ववल्लभ, पृ. 32

असंख्य पंछियों की चहचहाहट का संगीत सुनते रहते है।[1]जगदीश चन्द्र बसु ने भी 'सिस्समो ग्राफ' उपकरण द्वारा वृक्षों की संवेदनशीलता को उजागर किया जिसके बारे में प्राचीन भारतीय ऋषि बहुत कह और लिख चुके है।

'विश्ववल्लभ' ग्रंथ की रचना संघर्ष काल के दिनों में हुई थी। इस विकट काल एवं परिस्थितियों का प्रभाव लेखक की रचना में प्रतिबिंबित होता है। लेखक शुभ-अशुभ पर विचार न करके संसाधनों की उपयोगिता को अधिक महत्व देता है। लेखक का वह कदम अपने पूर्ववर्ती विचारकों से भिन्न था। लेखक द्वारा मुर्हूतमाला जैसी पुस्तक लिखने के बावजूद वृक्षारोपण से संबंधित कोई क्रियाकलाप प्रारंभ करने हेतु कोई शुभ दिन, नक्षत्र आदि की अनुशंसा नहीं करते और न ही ग्रंथ में कहीं भी शुभ या अशुभ शकुन के कोई संदर्भ मिलते हैं। दूसरा ऐसे कम ही उदाहरण देखने को मिलते है जब वह वृक्ष की वृद्धि अथवा रोग के लिए कुछ रहस्यमय प्रकार के उपचार की अनुशंसा करते है। मारक कीटों जैसे चूहों आदि से छुटकारा पाने हेतु मंत्र की अनुशंसा करते है। मारक कीटों जैसे चूहों आदि से छुटकारा पाने हेतु मंत्र की अनुशंसा करते वक्त भी वह चूहों के बिलों से छुटकारा पाने और मारक कीटों को नष्ट करने हेतु औषधियों जैसे उपचार का परामर्श देते है। जल की आवश्यकता तथा महत्व को देखते हुए ही चक्रपाणि कहते है कि अशुभ-भू-भाग में स्थित कुंए के जल को सिंचाई हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है, वह दुर्भाग्यशाली नहीं होगा।[2] उपर्युक्त उदाहरण लेखक के तार्किक/बौद्धिक समझ तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बताते है।[3]

'विश्ववल्लभ' पर्यावरण को समर्पित ग्रंथ है जो कि तत्कालीन समय की जरूरत को ध्यान में रखकर स्थानीय आवश्यकतानुसार लिखा गया है। यह ग्रंथ भारतीय मनीषियों की समृद्ध ज्ञान परंपरा का प्रमाण है, उपर्युक्त उदाहरण में देख सकते है कि उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत आज भी प्रासंगिक है।

---

1 रमेश दत्त शर्मा, प्राचीन भारत में पेड़-पौधों का ज्ञान, पृ. 51

2 विश्ववल्लभ, पृ. 92

3 वही, पृ. 103

राज्याभिषेक पद्धति

प्रताप के विद्वान वेदज्ञ दरबारी चक्रपाणि की 'विश्ववल्लभ' के बाद दूसरी महत्वपूर्ण रचना 'राज्याभिषेक पद्धति' है जिसे चक्रपाणि ने इसका नाम भूपाभिषेक पद्धति' भी लिखा है। यह ग्रंथ राजाओं के सिंहासनारूढ़ होते समय किए जाने वाले विभिन्न अनुष्ठानों, कृत्यों पर आधारित कृति है। चक्रपाणि ने राज्याभिषेक जिस विषय पर लिखा है वह वैदिक कालीन है। इसके अंश आरंभिक ग्रंथों में ही दिखाई पड़ने लगते है। राजपद की स्थापना के बाद राज्य को शक्ति सम्पन्न करने हेतु विभिन्न यज्ञों का आयोजन किया जाता था जिसमें राजसूय यज्ञ प्रमुख था। वह ऐन्द्रिजालिक शक्ति जो राजसूय यज्ञ के समय राजा में परिव्याप्त होती थी, उसके शासन में और अधिक संस्कारों के द्वारा पुनर्गठित एवं संवर्द्धित की जाती थी। उत्तरकाल में राजसूय यज्ञ का स्थान राज्याभिषेक ने ग्रहण कर लिया। राज्याभिषेक के माध्यम से राजा में शक्ति स्थापित की जाती थी[1]

ब्राह्मण साहित्य के समय राज्याभिषेक बहुत ही विस्तृत हो गये थे और उसके साथ अनेक प्रकार के धार्मिक कृत्य जुड़ गए थे। इसे भव्यता प्रदान करने हेतु कई राजकीय कृत्य एवं रस्मों को इसमें शामील किया गया। किंतु वैदिककालीन विशेषताओं में कोई परिवर्तन नहीं आया। वैदिक काल से भारत में जितने हिंदू राजाओं का राज्याभिषेक हुआ है, उन सब में वैदिक कृत्य किए गए हैं; क्योंकि धर्म और परंपरा दोनों के अनुसार सनातनी विचार के बिना उन कृत्यों के कोई राजा राजत्व प्राप्त ही नहीं कर सकता। ये ही रस्में सत्रहवीं शताब्दी तक हिन्दू शासकों के राज्याभिषेक में होती गई।[2]प्रतापकालीन 'राज्याभिषेक पद्धति' भी पूर्वकालीन वैदिक प्रवृत्तियों पर आधारित है। चक्रपाणि की रचनापर 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण', बृहत्संहिता, अग्निपुराण का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। इसके अतिरिक्त ज्योतिष के ग्रंथ रत्नकोश, गर्गी संहिता, रत्नमाला व योगयात्रा का भी प्रभाव ग्रंथ की रचना के दौरान उद्धत हुआ है। स्थानीय रचना ग्रथों में सूधार मंडन व सूत्रधार नाथाकृत क्रमश: 'राजवल्लभ मंडन' और 'वास्तुमंजरी' का भी प्रभाव दृष्टिगोचर

1 अद्भुत भारत, पृ. 56

2 हिन्दू राज्य तंत्र भा. 2 पृ. 22

होता है।राज्याभिषेक पद्धति की रचना पुष्कर-श्रीराम (परशुराम) संवाद के रूप में हुई है।[1]

राज्याभिषेक की इस पद्धति से अभिषेक के मंत्रों का विशिष्ट महत्व है। ये मंत्र एक ओर राजा में दैवी संपदा के आरोपण करने में सहायता करते है तो दूसरी ओर दैवीय शक्तियों के प्रति समर्पण के भाव को प्रकट करते है। ये मंत्र बताते है कि आस्था एवं समर्पण से कई देवी-देवताओं का सहयोग मिलता है तथा तीर्थ, नक्षत्र, ग्रह आदि एकात्म् भाव से अभिषेक के अवसर पर प्रस्तुत होकर राजा की एक सामान्य मनुष्य से उसमें दैवीय शक्तियों को स्थापित कर उसे पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि बना देते है।[2] प्रतापकालीन रचित राज्याभिषेक पद्धति ग्रंथ की महत्ता इस बात में थी कि राजा पृथु से लेकर प्रताप के काल तक राज्याभिषेक पद्धति एवं मंत्रों में साम्यता थी।

राज्याभिषेक में मुर्हुत का बड़ा महत्व है। भारतीय पंरपरा में सभी मांगलिक कार्यों को करने हेतु शुभ और अशुभ मुर्हूत पर बहुत कुछ लिखा गया है। प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारंभ में नक्षत्र, तिथि, मास एंव ग्रह आदि पर विचार किया जाता है। राज्याभिषेक के संदर्भ में भी कहा गया है कि चैत्र मास, अधिक मास तथा देवशयन काल में राजा का अभिषेक नहीं किया जाना चाहिए।[3]लेखक मंगलवार, चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी तथा रिक्ता तिथियों को राज्याभिषेक के लिए शुभ नहीं मानता है।[4]द्वितीय तारा, षष्ठी, चतुर्थी, अष्टमी और नवमी तिथि और जब चन्द्रमा की स्थिति अनुकूल हों उक्त तिथयों को लेखक राजा के अभिषेक के लिए उपयुक्त बताता है।

राज्याभिषेक हेतु मुर्हूत एवं देवत्व के आरोपण के साथ-साथ सामाजिक मनोविज्ञान एवं धार्मिक पक्ष की भी जानकारी होती है। प्रस्तुत ग्रंथ में आशावादी जीवन की झलक मिलती है। यश, वैभव दीर्घायु, आरोग्य, पुत्र आदि की

1 महाराणा प्रताप का दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य, पृ. 237

2 वही, पृ. 243

3 वही, पृ. 248

4 वही. पृ. 249

मनोकामना की गई है।[1] राज्याभिषेक के दौरान इंद्र, वरूण, सोम,[2] सविता, अश्विनकुमार अग्निदेव एवं पूषादेव[3] आदि वैदिक देवताओं का आह्वान किया है। उपर्युक्त देवताओं के आह्वान का मूल मंतव्य यह था कि निर्वाचित होने वाले राजा को उन गुणों से युक्त करें जो उसके पद के लिए आवश्यक माने जाते है। बल के लिए सविता की, गार्हस्थ्य गुणों के लिए गार्हपत्य अग्नि की, वनों की रक्षा करने के लिए सोम की, वाक्शक्ति के लिए बृहस्पति की, शासन की योग्यता के लिए इन्द्र की, गो-धन की रक्षा करने की शक्ति के लिये रूद्र की, सत्यता के लिये मित्र की और अंत में धर्म या कानून की रक्षा के लिए वरूण की स्तुती की जाती थी।[4]

विभिन्न वैदिक देवताओं के अतिरिक्त 'जल' का बड़ा महत्व दिखाई देता है। सभी प्रमुख नदियों, सरोवरों, निर्झरों,[5] बावड़ियों व कूओं[6] आदि के जल से राजा को स्नान करावें। राज्याभिषेक पद्धति का मूल दर्शन यहाँ दिखाई देता है। इस जल संग्रह में देश की सभी बड़ी नदियों जिनमें गंगा, यमुना, सरस्वती, परूष्णी (रावी) शतुद्री (सतलज) तथा वितस्ता (झेलम)[7] का नाम दिया तथा समुद्र[8] समुद्र[8] से जल लाया जाता है। इस समस्त एकत्र किए हुए जल में उस स्थान की छोटी सी गढ़ी तक का जल मिलाया जाता है। उस छोटी सी गढ़ी से भी यह भव्य प्रार्थना की जाती है- "तुम राजत्व प्रदान करने वाली हो। अमुक व्यक्ति को राजत्व प्रदान करो।" ब्राह्मण ग्रंथों की इस पवित्र प्रार्थना पर बहुत विस्तृत टीका है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि, "वह (जल) प्रजा को स्थिर करता है (गढ़ी का जल स्थिर रहता है) और उसे राजा के प्रति निष्ठ बनाता है।" जल और शासन के प्रगाढ़ संबंध को रेखांकित किया है। जिस देश पर राजा को शासन करना होता है,

---

1 महाराणा प्रताप का दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य, पृ. 34
2 वही, पृ. 302
3 वही, पृ. 343
4 हिन्दू राज्यतंत्र भा. 2, पृ. 37
5 वही, पृ. 300
6 वही. पृ. 301
7 वही. पृ. 295
8 वही. पृ. 301

उस देश का एक साधारण और क्षुद्र जलाशय भी उसकी राजकीय शक्तियों का एक पवित्र साधन है। यहाँ 'जल' की देवता से भी उच्च स्थान प्रदान किया है। राजा में शासन की शक्ति उत्पन्न करने के लिए देवताओं से प्रार्थना की गई है किंतु 'राजत्व प्रदान करने वाला' जलाशयों को कहा और उनसे प्रार्थना की जाती है कि वे राजा को राजत्व की वास्तविक मर्यादा प्रदान करे देवता राजा में राष्ट्र का शासन करने की योग्यता या गुण उत्पन्न कर सकते हैं, परंतु वे उससे देश का राजत्व प्रदान नहीं कर सकते। यह अधिकार केवल देश के जलाशयों को प्राप्त है। और वह भी उस दशा में जब कि बड़े से बड़े और छोटे से छोटे जलाशय के जल को एकत्र हो।[1]

चक्रपाणि रचित 'राज्याभिषेक पद्धति' महत्वपूर्ण एवं राजतंत्र के युग में उपयोगी था। इस ग्रंथ का उपयोग मेवाड़ में राणा प्रताप के बाद भी होता रहा। भारत में राजाओं के राज्याभिषेक की वैदिक परम्परा है। मेवाड़ में राजा श्री एकलिंग एवं महाराणा दीवान होते है। अत: मेवाड़ में इस आयोजन को 'गादी उच्छब' कहा जाता है।[2] महाराणा अमरसिंह, कर्णसिंह और जगतसिंह का अभिषेक चक्रपाणि की 'राज्याभिषेक पद्धति' के अनुसार ही हुआ था। महाराणा कर्णसिंह और महाराणा जगतसिंह के काल में इस ग्रंथ की प्रतिलिपियां की गई जो कि इस ग्रंथ की महत्ता को सिद्ध करता है।[3] राज्याभिषेक की प्राचीन परंपरा महाराजा अरि सिंह तृतीय के राज्याभिषेक तक जारी रही, तत्पश्चात् यह प्रथा समाप्त हो गई।[4]

व्यवहारदर्श

चक्रपाणि मिश्र के विश्वल्लभ, मुहूर्तमाला व राज्याभिषेक पद्धति के अतिरिक्त एक ओर कृति व्यवहारदर्श का उल्लेख मिलता है जिसका उल्लेख चक्रपाणि ने मुहूर्तमाला में भी किया है। मुहूर्तमाला की रचना 1575 ई. में हुई थी तथा इसमें व्यवहारदर्श का उल्लेख आया है अत: संभव है कि व्यवहारदर्श

---

1 हिन्दू राज्यतंत्र, भा. 2 पृ. 40

2 मेवाड़ संस्कृति एवं परंपरा, पृ. 30

3 महाराणा प्रताप का दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य, पृ. 256

4 मेवाड़ दरीखाने के रीति-रिवाज एवं संस्कार, पृ. 41

चक्रपाणि की प्रारंभिक रचना हो। मिश्र की अन्य रचनाओं के समान यह भी जनपयोगी साहित्य है, जो आमजन को ध्यान में रख कर रचा गया। सोलह संस्कार जीवन के अभिन्न अंग माने गए है। मनु स्मृति में सोलह संस्कारों के बारे में कहा गया है कि जो वैदिक पुण्यकर्म हैं, उनमें गर्भाधानादि शरीर संस्कार करना चाहिये। जो कि दोनों ही लोकों में पवित्र करने वाले है। गर्भाधान संस्कार, जातकर्म, चूड़ाकर्म, मौजीबन्धन इन संस्कारों से शुक्र और गर्भ सम्बन्धि दोष निवृत्त होते है। वेदाध्ययन, व्रत, होम, पुत्रोत्पादन इन सब कर्मों के करने से यह शरीर ब्रह्मभाव पाने योग्य हो जाता है।[1]

मध्यकाल में भी यहीं परंपरा अनवरत चली आ रही थी। अत: चक्रपाणि ने पुत्र प्राप्ति, गर्भाधान, सीमन्तोन्यन, निष्क्रमण तथा विवाहित स्त्री के केश बांधने जैसे संस्कारों का उल्लेख उक्त ग्रंथ में किया गया है। लेखक ने केवल सोलह संस्कारों का ही उल्लेख नहीं किया अपितु लग्न एवं नक्षत्र का गर्भवती स्त्री पर पड़ने वाले प्रभाव पर लिखा है। चक्रपाणि एवं मनु स्मृति में संस्कारों की जो समयावधि बताई गई है वह लगभग समान है। चक्रपाणि जन्म के ग्यारहवें दिन शिशु का नामकरण करने को कहता है। चौथे मास में निष्क्रमण, छठे मास में अन्नप्राशन जैसे संस्कार करने चाहिए। संस्कार के समय के साथ तिथि, लग्न, नक्षत्र पर भी चक्रपाणि ने लिखा है। वह लिखता है कि-

आर्दैराधोमुखवर्जितानुपहतेष्वृक्षेष्वरिक्ते तिथौ
वारे भौमनिशाकरे घटतुलाकन्यालिसिंहोदये।
संहृष्टेथ चतुर्थमासि यदि वा मासे तृतीये शशिन्यक्षीणे
शुंभद शिशोरभिमुखं निष्क्रामनं कारयेत्।।

1 वैदिके: कर्मभि: पुण्यैर्निषेकादिर्दिवजन्मनाम्।
कार्य: शरीरसंसकार: पावन: प्रेत्य चेह च।।26।।
गार्भ्रहोमैर्जातकर्मचौडमौजीनिबन्धनै:।
वैजिकं गार्भिक चैनो द्विजानामपमृज्यते।।27।।
स्वाध्यायेन व्रतैर्मैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतै:।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनु:।।28।।व्यवहारदर्श

अर्थात्- आर्द्र और अधोमुख नक्षत्रों (मूल, कृतिका, मघा, विशाखा, भरणी, पूर्वाफाल्गनी, पूर्वाषाढ़ एवं पूर्वाभाद्रपद) को छोड़कर शेष नक्षत्रों में, रिक्ता तिथि को छोड़कर अन्य तिथियों में, मंगलवार व सोमवार (पाठान्तर से शनिवार) को छोड़कर, कुम्भ, तुला, कन्या, वृश्चिक व सिंह के लग्नों के उदयकाल में, जन्म से तीसरे या चौथे मास में जबकि चन्द्रमा प्रबल हो तब नवजात शिशु को पहली बार घर से बाहर निकालना शुभकारक होता है।

चूड़ाकर्म संस्कार के समय में मनु स्मृति एवं चक्रपाणि में भिन्नता है। चक्रपाणि कुल की मर्यादा अनुसार या छठे मास में चूड़ाकर्म करने को कहता है जबकि मनु पहले या तीसरे मास में चूड़ाकर्म के लिए उपयुक्त बताता है। वहीं आश्वलायनगृहसूत्र में तृतीय वर्ष या कुल के अनुसार चूड़ाकर्म करने को कहता है।[1]

लेखक की रचना का ध्येय आमजन में वैदिक विचारों का प्रसार करना रहा था। दिन-प्रतिदिन के कार्यों का जब उन्हें ज्ञान हो जिससे उन्हें निर्भर न रहना पड़े।

मुहूर्तमाला

मुहूर्त ज्योतिष का एक अंग है और ज्योतिष वैदिक साहित्य से ही भारतीय ज्ञान परंपरा का अभिन्न अंग रहा है। वेदांग में वेद के छः अंग माने गए है- शिक्षा, व्याकरण, निरूक्त, कल्प, छन्द और ज्योतिष। ज्योतिष भी इसका एक प्रमुख अंग है। वेदांग की महत्व को बताते हुए इसकी तुलना मानव अंग से की गई है। जिसमें ज्योतिष को नेत्र सदृश माना है। मुख्य रूप से ज्योतिष के दो भाग है। प्रथम गणित और दूसरा फलित। गणित में भूगोल, खगोल आदि का प्रत्यक्ष, परोक्ष विवरण होता है। जिसे विविध यंत्रों की सहायता से परखा भी जा सकता है जबकि दूसरा फलित वह है जिसे ऋषियों ने अपनी अनुभूतियों को भावी पीढ़ी को प्रस्तुत कर शाश्वत कर दिया है। इसमें जन्म के समय विद्‌यमान ग्रह, नक्षत्रादि की गतियों, स्थितियों के आधार पर भावी फलादि का विचार किया जाता है।

---

1 श्रीकृष्ण जुगनू ने व्यवहारदर्श जो उनकी प्रकाशाधीन रचना को उपलब्ध करवाया। उसी पाठ से लिया गया है।

ज्योतिष शास्त्र के सिद्धांत को स्वरूप देने वालों में प्रथम पुरूष आर्यभट्ट है। उन्होंने गणित-कालक्रिया और गोलक-प्रवचन जिस निबंध में हो, उस निबंध का नाम सिद्धांत (गणित) बताया है। यही आर्यभट्ट से अर्वाचीन सभी आचार्यों का मत है। अंग, बीज और रेखा- इन उपकरणों द्वारा पार्थिव और अंतरिक्ष-वस्तुओं के परिमाण, स्थिति और गुण का विवेचन तथा नियमन जिस निबंध में हो, उसका नाम गणित है। इस गणित की पारिमाणिक प्रतिक्रिया का प्रयोग जिस क्षेत्र में हो, वह फलित कहा गया है। [1]

फलित का विकास

चूंकि मानव भविष्य के प्रति सदा से ही उत्सुक रहा है, वह स्वंय अपने बारे में ही नहीं, परिजन, देश, कालादि के विषय में भी जानने को उत्सुक रहा है। फलित के बारे में सामान्य जन की रूचि अधिक रही अत: ज्योतिष के अंग के रूप में फलित को अधिक प्रतिष्ठा मिली। फलित का विकास पांच शाखाओं में हुआ है- संहिता, जातक, ताजिक, प्रश्न और मुहूर्त। इनमें भी मुहूर्त का महत्व सामान्य जन से लेकर विशिष्ट जन के लिए समान था। क्योंकि यह दैनिक जीवन का प्रधान अंग था। जीवन के साथ मुहूर्त इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि व्यक्ति ने प्रत्येक कार्य का आरंभ मुहूर्तानुसार करने पर ध्यान केन्द्रित रहता है। वह सामान्य कार्य से लेकर के जीवन के महत्वपूर्ण संस्कार तक सभी कार्य मुहूर्त के अनुसार करने पर जोर रहता है क्योंकि वह मुहूर्त को कार्य की सफलता के प्रारंभिक सोपान के रूप में देखता है।[2]

मेवाड़ में मुहूर्तमाला

मुहूर्त या शकुन एक सामान्य रूचि का विषय है जिससे मनुष्य भले ही वह किसी धर्म, जाति का व्यक्ति हो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संबंध रखता है। मेवाड़ में जगत, एकलिंग जी, नादेशमा आदि गांवों के शिलालेखों में दान-अर्पण आदि में भी मुर्हूत की जानकारी मिलती है। चक्रपाणि से पूर्व मंडन की पुस्तकों में

---

1 श्रीकृष्ण 'जुगनू' : महाराणा प्रताप का दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य, पृ. 124

2 वही, पृ. 125

मुर्हूत के बारे में जानकारी मिलती है। वास्तुमण्डनम् में मंडल गृह निर्माण के प्रारंभ किए जाने वाले मास के फल पर विचार करते हुए बताता है कि श्रावण में गृह-निर्माण के प्रारंभ करने से धन की वृद्धि होती है। भाद्रपद में गृहारम्भ होने से शून्य या सूनसान रहेगा। अश्विन मास में गृह निर्माण करने पर गृह में नित्य कलह होता है।[1]

मंडन के रचित ग्रंथों में मुहूर्त का ज्ञान तो होता किंतु मुर्हूत पर स्वतंत्र ग्रंथ की रचना प्रताप के शासन काल में चक्रपाणि मिश्र ने की थी। चक्रपाणि ने इस रचना का नाम 'मुहूर्तमाला' रखा था जिसकी रचना 1575 ई. में हुई थी। लेखक ने मुहूर्त जैसे विषय का चुनाव क्यों किया इसका उत्तर चक्रपाणि स्वंय रचना में ही देता है। लेखक की रचना का उद्देश्य ऐसे विषय पर लिखना था जो लोकहित में हो तथा सभी के लिए प्रिय एवं रूचिकर हो। अत: इसी लोकापकार के उद्देश्य के लिए मुहूर्तमाला जैसे ग्रंथ की रचना की।[2] ऐसे लोकोपचार ग्रंथ की रचना के पीछे की प्रेरणाशक्ति लेखक अपने गुरू राघवेंद्र तथा भगवान रामचद्र को बताता है।[3]

मुहूर्तमाला एक संक्षिप्त ग्रंथ है। इस ग्रंथ में दो विरचन अर्थात् अध्याय है। प्रथम विरचन का नाम संज्ञा निर्णयाध्याय दिया है जबकि द्वितीय विरचन का नाम नहीं दिया गया है किंतु इसके विषय देखकर इसे संस्कार नक्षत्र निर्णयाध्याय कहा जा सकता है। मुख्य रूप से जिन प्रकरणों को चुना गया उनमें मुख्य है-

1. त्याज्य प्रकरणम्
2. तिथि प्रकरणम्
3. काल होरा प्रकरणम्
4. नक्षत्र प्रकरणम्
5. योग प्रकरणम्

---

1 श्रीकृष्ण 'जुगनू' : वास्तुमण्डनम्, पृ. 17

2 चक्रपाणेश्र लिखनं कस्य नो भवति प्रियम्। जगद्यनीनं युक्तादय बोधयिष्यंति तद्विदान्।।114।।

3 श्रीकृष्ण 'जुगनू' : महाराणा प्रताप का दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य, पृ. 210

6. राशि प्रकरणम्

7. गृह प्रकरणम्

8. यात्रा प्रकरणम्

9. मिश्र प्रकरणम्

10. गोचर प्रकरणम्।[1]

चक्रपाणि की इस रचना के पीछे मूल मंतव्य आमजन तक मुहूर्त की समझ को विकसित करना था। अत: इस ग्रंथ की रचना सरल एवं संक्षिप्त रूप में की गई है। मुहूर्तमाला ग्रंथ का प्रथम विरचन जो संज्ञा निर्णय है, जिसमें पंचाग से परिचय कराया है। पंचाग जिसमें पांच अंग होते है- तिथि, वार, नक्षत्र, योग एवं करण। इन पांचों ही अंगों के फल एवं प्रभाव की सामान्य जानकारी दी गई है जिससे आमजन को मुहूर्त के भिन्न-भिन्न अंगों की सामान्य जानकारी हो सके। द्वितीय अध्याय में जीवन के विविध पक्षों के कार्यारंभ के शुभ एवं त्याज्य मुहूर्त पर विस्तृत चर्चा की है। जीवन के सोलह संस्कार से संबंधित कार्यों के अतिरिक्त जलाशय एवं उद्यान के निर्माण तथा कृषि कार्य का भी शुभ मुहूर्त बताया है। लेखक ने ऋण एवं आखेट जैसे कार्यों का भी मुहूर्त बताया है।[2]

चक्रपाणि ने मुहूर्तमाला में सर्वाधिक विवाह से संबंधित चर्चा की है। इसका कारण प्राचीन विचारकों ने सोलह संस्कारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विवाह को माना है। सबसे कम तारा प्रकरण पर लिखा गया है जो भी केवल एक उक्ति के रूप में लिखा गया।[3]

उक्त ग्रंथ के संदर्भ में चक्रपाणि का कार्य मौलिक नहीं है अपितु उसने पूर्व लेखकों जिनमें वराहमिहिर, लल्लाचार्य एवं श्रीपति मुख्य है, उन्हीं के कार्य को आगे बढ़ाया है। कहीं-कहीं पर चक्रपाणि एवं उसके पूर्ववर्ती आचार्यों के कथन में विरोधाभास भी है। चक्रपाणि कहते है कि गुरू को स्वक्षेत्र, एकादश स्थान, पंचम स्थान और नवम स्थान पर शुभ बताया है किंतु लल्लाचार्य एकादश, पंचम तथा

---

1 श्रीकृष्ण 'जुगनू' : महाराणा प्रताप का दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य, पृ. 152

2 वही, पृ. 202

3 वही, पृ. 164

नवम स्थान में गुरू को शुभ बताते है किंतु वे कहते है कि गुरू स्वक्षेत्र में अनुकूल नहीं होता है। जब गुरू अपनी राशि में होता है तो भय पैदा करता है।[1]

अयांश चक्रम् का प्रारंभ अश्विनी नक्षत्र से होता है किंतु चक्रपाणि ने इसे कृतिका नक्षत्र से प्रारंभ किया है। ज्योतिष में खगोलिय उत्पात जैसी घटनाओं और उनके फलाफल पर विचार किया गया है। चक्रपाणि ने खंडवृष्टि, छोटे ग्रह उत्पात एवं संक्रमणादि पर भी विचार किया किंतु बेहद संक्षिप्त में एक श्लोक में ही लिखा है। वह भी अन्य के समान इस अवधि को शुभ कार्य के लिए अनुचित मानता है। [2]

लेखक ने सोहल संस्कारों के साथ ही शिशुओं के प्रथम बार झुला झुलाने के लिए भी दोलारोहणं मुहूर्त की भी चर्चा की है तथा इसके संबंध मे लिखता है कि- बालक को जन्म के बारहवें दिन पालना में चढ़ाने की परंपरा है। [3]

चक्रपाणि रचित मुहूर्तमाला ग्रंथ ज्योतिष संबंधि ग्रंथ है किंतु यह विद्वानों को लक्षित करके नहीं लिखा गया है। अपितु इस ग्रंथ की सुंदरता एवं महत्ता इसमें है कि यह आमजन को दैनिक जीवन में उपयोगी मुहूर्त विज्ञान में दक्ष करने के उद्देश्य से रचा गया। यह ग्रंथ बेहद संक्षिप्त है जिसका कारण लेखक द्वारा केवल महत्वपूर्ण और मुहूर्त से संबंधित तथ्यों पर ही विशेष ध्यान दिया गया।

प्रताप कालीन जैन साहित्य

मेवाड़ में ब्राह्मण साहित्य के साथ-साथ जैन साहित्य भी फला-फूला इसका कारण मेवाड़ के प्रारंभिक शासकों के शासन काल से ही जैन विद्वानों को पर्याप्त संरक्षण मिला। मेवाड़ में जैन विद्वानों ने जैन संस्कृति के प्रचार कार्य एवं जैन स्थापत्य कला के विकास के साथ ही विविध प्रकार के संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी (डींगल) एवं जन भाषा में साहित्य का प्रचुर मात्रा में सृजन हुआ।[4] मेवाड़ के प्रारंभिक जैन साहित्यकारों में हरिषेण का नाम प्रमुख है। जिन्होंने

1 श्रीकृष्ण 'जुगनू' : महाराणा प्रताप का दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य, पृ. 163

2 वही, पृ. 166

3 वही, पृ. 192

4 ब्रजमोहन जावलिया, मेवाड़ का जैन साहित्य, पृ. 134 मझमिका, 1971

चित्तौड़ में धूर्ताख्यान एवं समराइच्छ कथा जैसे प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की। इनके बाद भी मेवाड़ में कई जैन साहित्यकार हुए या उन्हें राज्याश्रय मिला। जैन विद्वानों के राज्याश्रय के लिए मेवाड़ के शासकों में कुंभा का काल सबसे महत्वपूर्ण है। कुंभाकालीन श्वेताम्बर जैन साहित्य में पतागच्छ और खतरगच्छीय साहित्य का आधिक्य है क्योंकि इन दोनों ही वर्गों का समकालीन मेवाड़ में विशेष प्रभाव था। कुंभा कालीन जैन विद्वानों में हीरानन्द सुरी, सोमसुन्दर सूरी, मुनिसुन्दर, सोमदेव, जयशेखर सूरी, जिनहर्षगणि, रत्नशेखर और माणिक्य रत्नगणि मुख्य थे।[1] जैन साहित्य विरचन की यह परंपरा कुंभा के बाद भी जारी रही। रायमल के काल में चित्तौड़ में रहते हुए राजसुन्दर एवं राजशील ने क्रमश: महावीर स्तवन एवं विक्रमखापर चरित्र चौपाई की रचना हुई थी।[2] राणा सांगा के समय में गजेन्द्र प्रमोद ने "चित्तौड़ चैत्य परिपाटी" एवं धर्म समुद्रगुण ने "प्रभाकर गुणकर चौपाई" की रचना की थी।[3] राजसुन्दर कृत महावीर स्तवन की एक प्रतिलिपि महाराणा उदयसिंह के समय देलवाड़ा में तैयार हुई थी।[4] हरिषेण से प्रारंभ की यह परंपरा महाराणा प्रताप के काल में भी जारी रही। प्रताप कालीन साहित्य को समृद्ध करने में जैन विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। हेमरत्न सूरी एवं भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति प्रताप के समय के प्रमुख जैन साहित्यकार थे जिन्होंने प्रताप कालीन साहित्य को समृद्ध किया।

हेमरत्न एवं भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति रचित साहित्य मध्यकालीन जैन साहित्य परंपरा का ही अभिन्न हिस्सा था। मध्यकाल में जैन साहित्य के मुख्य अंग पौराणिक महाकाव्य एवं चरित काव्य थे। तत् समय साहित्य रचना का मुख्य उद्देश्य जनसाधारण को धर्म बोध देना था। अत: जैन कवियों ने पौराणिक आख्यानों के आधार पर चरितात्मक काव्यों की रचना की। पौराणिक काव्यों में से कुछ अपनी प्रौढ़ता, कवित्व तथा भाषागत सौन्दर्य के कारण शास्त्रीय काव्यों के भी निकट पहुँच

1 कुंभाकालीन जैन साहित्य, पृ.69

2 ब्रजमोहन जावलिया , मेवाड़ का जैन साहित्य , मझमिका, पृ. 138; राजस्थानी भाषा एवं साहित्य, पृ. 257

3 ब्रजमोहन जावलिया , मेवाड़ का जैन साहित्य , मझमिका, पृ. 139; राजस्थानी भाषा एवं साहित्य, पृ. 252

4 ब्रजमोहन जावलिया, मेवाड़ का जैन साहित्य, मझमिका, पृ. 140

गए।[1] 15वीं शताब्दी से साहित्य में विषयगत परिवर्तन देखा जा सकता है। अब पौराणिक प्रसंगों के अतिरिक्त लोक कथाओं को लेकर भी भाषा-काव्य लिखे जा रहे थे। [2]संवत 1500 के बाद का काल जैन साहित्य के लिए बहुत महत्वपूर्ण रहा। संवत 17वी एवं 18वी शताब्दी का काल राजस्थानी रचनाओं का चरमोत्कर्ष काल था। इसी समय जैन रचनाओं मे चरित काव्य जिसे 'रास-चौपाई' की संज्ञा दी गई है, अधिक रचे गए थे।[3] प्रताप के काल में चौपाई एवं रास रचे गए। हेमरत्न सूरी ने 'गोरा बादल चौपाई' एवं भट्टराक नरेन्द्र कीर्ति ने 'अंजनी सुंदरी रास' की रचना की थी।

हेमरत्न सूरी

हेमरत्न सूरी (1556-1616 ई.) के निजी जीवन के बारे में विस्तृत सूचना नहीं मिलती है। हेतरत्न सूरी पूर्णिमा गच्छ के वाचक पद्मराज के शिष्य थे। ये प्रताप के प्रधान भामाशाह के भाई सादड़ी के मुख्य प्रशासक ताराचंद के आश्रित थे। इन्होंने करीब आठ से नौ पुस्तकों की रचना की थी। इन रचनाओं में ताराचंद के समय ही सादड़ी में 'गोरा बादल चरित्र' की रचना सबसे महत्वूपर्ण है। हेमरत्न सूरी की अन्य रचनाएं निम्न थी-

1. महीपाल चौपाई सं. 1636
2. अमरकुमार चौपाई सं. 1636-37
3. लीलावती सं. 1673
4. सीता चौपाई
5. रामरासो

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त तीन अन्य ग्रंथ हेमरत्न सूरी द्वारा रचित मानी जाती है- 1. जदंबा बावनी, 2. अष्टक तथा 3. शनिश्चर छंद।[4]

---

1 राजस्थान का जैन साहित्य, जैन संस्कृत महाकाव्य, सत्यव्रत, पृ.124

2 हीरालाल माहेश्वरी, राजस्थानी साहित्य का सामान्य परिचय, राजस्थान का जैन साहित्य, पृ.167

3 अगरचन्द नाहटा, राजस्थानी पद्य साहित्यकार, राजस्थान का जैन साहित्य, पृ.170

4 अगरचंद नाहटा, हेमरत्न रचित गोराबादल का रचनाकाल और अन्य ज्ञातव्य बातें, शोध पत्रिका, भाग 3, अंक-2, पृ.111; हेमरतन कृत गोरा बादल चौपाई, संपा. उदयसिंह भटनागर, पृ. 20

गोरा बादल चरित्र

हेमरत्न सूरी द्वारा रचित गोरा बादल चौपाई प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य है। यह चित्तौड़ की रानी पद्मिनी को लेकर लिखी गई उपलब्ध प्रथम राजस्थानी रचना है। इसी घटना लेकर मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा पद्मावत नामक ऐतिहासिक काव्य की रचना हेमरत्न की रचना के 48 वर्ष पूर्व अवधि भाषा में की थी। इस काव्य में पद्य संख्या 616 थी। धीरे-धीरे इसमें क्षेपक जुड़ जाने से कालातंर में इसकी संख्या 900 से ऊपर पहुँच गई। उदयसिंह भटनागर ने इसकी भाषा मध्यकालीन राजस्थानी तथा क्षेत्र की दृष्टि से इसको मध्य राजस्थानी माना है। इस ग्रंथ की रचना गोडवाड़ क्षेत्र में हुई थी अत: कहीं-कहीं गोडवाड़ी की स्थानीय प्रवृत्तियों का भी समावेश दिखाई पड़ता है। चौपाई में वीर रस की प्रधानता होने से 'डींगल शैली' का प्रभाव भी दृष्टिगत होता है।[1] गोरा बादल चरित्र को साहित्य की दृष्टि से देखें तो इसमें वीर एवं श्रृंगार रस की प्रधानता है। यद्यपि लेखक स्वंय पुस्तक में हास्स रस से परिपूर्ण होने का दावा करता है किंतु इसमें हास्य रस का अभाव है।[2]

गोरा बादल चौपाई के विषय वस्तु पर आने से पूर्व इससे संबंधित दो मूलभुत तथ्यों पर चर्चा करते है। पहला इसके नाम से जुड़ा है। रचनाकार ने ग्रंथ के अंत में इसका नाम 'गोरा बादल चरित्र' दिया है। अत: रचनाकार का उद्देश्य पद्मिनी के माध्यम से गोरा एवं बादल के चरित्र पर लिखना मुख्य ध्येय था। दूसरा उपर्युक्त ग्रंथ को देखकर यह लगता है कि रचनाकार का उद्देश्य दो खण्डों में इसकी रचना को पूर्ण करना रहा होगा। यह रचना गोरा के बलिदान एवं बादल द्वारा रतनसिंह को अलाउद्दीन के कैद से छुड़ा कर चित्तौड़ लाने के साथ ही समाप्त हो जाती है। हेमरत्न सूरी स्वंय कहता है कि यह बादल की विजय व कीर्ति के वर्णन का पहला खण्ड है।[3] संभव है कि अलाउद्दीन एवं रतनसिंह के मध्य संघर्ष वाली घटना का वर्णन दूसरे खण्ड में करने कि योजना हो।

---

1 उदयसिंह भटनागर , हेमरत्न कृत पदमिनी चउपई , गोराबादल का रचनाकाल और अन्य ज्ञातव्य बातें, शोध पत्रिका, भाग 3, अंक-4, पृ. 213; हेमरतन कृत गोरा बादल चौपाई, संपा. उदयसिंह भटनागर, पृ. 14

2 अक्षय कीर्ति देराश्री (सं.) : *गोरा बादल चरित्र*, प्रकाशाधीन, पृ. 62

3 वही, पृ. 178

इस रचना में स्वामी धर्म का बहुत महत्व दिया गया है। हेमरत्न सूरी स्वामी धर्म का वर्णन करते हुए कहते है कि स्वामी धर्म के पालन से मनुष्य का शरीर तेजस्वी हो जाता है। स्वामी धर्म किसी भी व्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट गुण है। हेमरत्न सूरी ने तो स्वामी भक्ति को वीरता से भी उच्च गुण माना है। वह कहता है कि जो अपने स्वामी के प्रति वफादार है उसके प्रति समर्पित है वही योद्धाओं के मध्य अपने सम्मान एवं प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने में सक्षम रहा है।[1]

यह ग्रंथ भामाशाह एवं ताराचंद की स्वामीभक्ति को आधार बना कर लिखा गया। लेखक ने भामाशाह को स्वामीधर्म की धुरी एवं ताराचंद को इंद्र का अवतार बताया।[2]

वीरता से भी अधिक स्वामी भक्ति को उच्च स्थान देने का कारण समकालीन परिस्थितियां उत्तरदायी रही। प्रताप एवं मुगल संघर्ष के दौर में सामंतों का शासक के प्रति समर्पित बने रहना भावी संघर्ष एवं संघर्ष को सतत् बनाएं रखने के लिए अति महत्वपूर्ण था। संभवत: यह भी रचना के निर्माण के पीछे एक कारण था जो उस समय आमजन के मध्य एक आदर्श चरित्र स्थापित कर सकें। कवि गोरा-बादल की इस कथा को आमजन में प्रचलित करने का प्रयास करता हुआ इसी रचना में दिखाई देता है। रचना को आमजन में विख्यात करने हेतु यह प्रचारित किया गया कि जो व्यक्ति इस कथा को सुनेगा उसके सारे रोग, दु:ख और कष्ट मुक्त हो जाते है और सारे मनोरथ पूर्ण हो जाते है।[3]

स्वामीभक्ति के साथ-साथ प्रताप की चारित्रिक विशेषताएं भी इस रचना की प्रेरणा स्त्रोत रही। हल्दीघाटी के संघर्ष के बाद जिस प्रकार प्रताप ने दु:ख सहकर भी धैर्यपूर्वक कुल के मान-मार्यादा की रक्षा की थी। प्रताप की यह गौरवगाथा दूर-दूर तक गायी जाने लगी थी। जैन लेखकों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। पद्मसागर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'जगद्गुरू काव्य' (वि.सं. 1646) में अकबर के

---

1 अक्षय कीर्ति देराश्री (सं.) : *गोरा बादल चरित्र*, प्रकाशाधीन, पृ. 62

2 वही, पृ. 177

3 बादिल राउतानी ए कथा।
सुणतां नावइ निज घटि विथा।।
रोग सोग द्वेष दोहरा टलद।
मन ना सयल मनोरथ फलद।।609।। गोरा बादल चरित्र

आगे अपनी आन बेचने वाले राजाओं की भर्त्सना करते हुए राणा प्रताप के प्रति श्रद्धा प्रकट की थी।[1]

इस पुस्तक से समकालीन स्थिति एवं परंपराओं की भी जानकारी मिलती है। प्रशासनिक स्थिति के संदर्भ में गोरा एवं बादल की स्थिति को देखकर ज्ञात होता है कि राजा द्वारा सामंतों को प्राप्त जागीरें ही उनके जीवन निर्वाह का मुख्य साधन होता था।[2]

प्रताप के सामंतों के रूप में राव, राजा एवं बत्तीस उमरावों का उल्लेख मिलता है जो कि इस बात का द्योतक है कि मेवाड़ में सोलह, बत्तीस एवं गोल के रूप में जो सामंतों का वर्गीकरण प्रचलित था वह किसी अन्य रूप में प्रताप के समय में भी इसका प्रचलन रहा था।[3] सामाजिक प्रथाओं में शरणागत की रक्षा, जौहर, सती प्रथा जैसी परंपराएं प्रचलन में थी।[4] पिता के छोटे भाई को काका कहकर संबोधित करने का भी उल्लेख मिलता है।[5]

सबसे महत्वपूर्ण उस समय की कुछ ऐसे सामाजिक अंधविश्वास जो आमजन में आज भी प्रचलित है ऐसी परंपराओं का उल्लेख मिलता है। जैसा कि जनमानस में प्रचलित मान्यता है कि नमक को शरीर के अंगों पे उतार कर बुरी नजर से बचाया जा सकता है। इसी प्रकार की घटना का उल्लेख गोरा-बादल चरित्र में मिलती है। कथानक के अनुसार रतनसिंह को कैद करने के बाद जब पद्मिनी गोरा व बादल के पास सहायतार्थ जाती है तब बादल विकट परिस्थितियों में भी मदद के लिए तैयार हो जाता है तब कच्ची उम्र के किंतु परिपक्व विचारों वाले वीर बादल को बुरी नजर से बचाने के लिए पद्मिनी बादल के अंगों पर नमक उतारती है।[6]

1 हेमरतन कृत गोरा बादल चौपाई, संपा. उदयसिंह भटनागर, पृ. 23
2 अक्षय कीर्ति देराश्री (सं.), गोरा बादल चरित्र, पृ. 133
3 वही, पृ. 171
4 गोरा बादल चरित्र, संपा. अक्षय कीर्ति देराश्री, प्रकाशाधीन, पृ. 137
5 वही, पृ.138
6 वही, पृ.138

वीर रस से परिपूर्ण इस रचना में भी पृथ्वीराजरासों एवं पृथ्वीराजविजय के समान ही क्षात्र धर्म के अनुरूप एक क्षत्रिय के लिए युद्ध में लड़ते हुए मरना श्रेयस्कर है जबकि युद्ध से बचकर निकलना निंदनीय माना गया। एक क्षत्राणी कभी यह सहन नहीं कर सकती थी कि उसका पति युद्ध के मैदान में पीछे हटे।[1] यहाँ मध्यकालीन विशेषकर प्रताप के काल के मनोभाव के दर्शन होते है।

जहां तक रचना में वर्णित ऐतिहासिक ज्ञान की बात है तो इसमें कई त्रुटियां भी दृष्टिगत होती है। यद्यपि ऐतिहासिक सत्यता पर बात करने से पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि 'गोरा बादल चरित्र' यह कोई इतिहास विषयक कृति नहीं है अपितु यह काव्य है जिसमें कल्पना का समावेश होता है। फिर भी एक सजग पाठक होने के नाते इसमें आई त्रुटियों से परिचित होना आवश्यक है। कवि चित्तौड़ की प्रशंसा एवं महत्व को बताते हुए कहता है कि भगवान राम वनवास के दौरान यहाँ रूके थे।[2] जो कि ऐतिहासिक रूप से सत्य नहीं है। दूसरा रचनकार को भूगोल संबंधि ज्ञान तो था अत: वह सिंहल द्वीप के चारों ओर समुद्र होना बताता है किंतु एक त्रुटि यह दिखाई देता है कि वह चित्तौड़ दुर्ग को विंध्याचल श्रेणी पर स्थित होना बताता है। जबकि चित्तौड़ दुर्ग अरावली पर्वत श्रेणी पर स्थित है।[3]

तीसरा, तोपों एवं बारूद का प्रयोग बाबर के भारत आगमन के बाद से हुआ था। जबकि कवि ने अलाउद्दीन के समय तोप एवं बारूद का प्रयोग होना लिखा है।[4]

रावल रतनसिंह के समय मुगलों का भारत में शासन स्थापित नहीं हुआ था। अलाउद्दीन खिलजी तुर्क था किंतु कवि ने उसे मुगल बताया है जो कि तत्कालीन मुगल सम्राट के अनुरूप ही कह दिया गया था।[5]

---

1 गोरा बादल चरित्र, संपा. अक्षय कीर्ति देराश्री, प्रकाशाधीन, पृ. 135

2 वही, पृ. 63

3 वही, पृ.108

4 वही, पृ.109

5 वही, पृ.147

कवि ने वीर रस एवं श्रृंगार रस के साथ-साथ कथानक के मध्य में नीति शास्त्र एवं शिक्षा पर भी सारगर्भित लिखा है। आख्यान के मध्य में विभिन्न घटनाओं के दृष्टांत द्वारा कवि ने नीति शास्त्र की शिक्षा दी है। शिक्षा के महत्व को बताते हुए उसे सभी वस्तुओं से श्रेष्ठ बताया है। कवि ने नीति शास्त्र एवं शिक्षा के महत्व को बताने के लिए कई स्थानों पर संस्कृत के श्लोक भी उद्दधत किए जो कि महाभारत, चाणक्यनीति, नीतिशतकम् तथा पंचतंत्र से लिए गए है।

रचनाकार ने राघव चेतन की अंत:पुर में प्रवेश की घटना के माध्यम से शिष्टता के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण शिक्षा दी है बताया है कि किसी भी शिष्ट व्यक्ति को कैसे व्यवहार करना चाहिए। जब दो व्यक्तियों के मध्य में हो रही बातचीत के समय, चिकित्सा के समय, भोजन करते समय और स्त्री-पुरूष के संगम के समय जो भी व्यक्ति बिना बुलाये ही आकर खड़ा जो जाता है, क्या वह सचमुच ही सभ्य नागरिक कहलाने का अधिकारी है। बिना बुलाये जो घर में प्रवेश करता है, बिना पूछे ही बहुत भाषण करता है, बिना बुलाये आसन ग्रहण करता है, हे पार्थ! वह व्यक्ति अधम कोटि का निकृष्ट व्यक्ति है। जो व्यक्ति बिना बुलाए प्रवेश करता है तथा असूचित वार्तालाप करता है। दूसरों का आसन ग्रहण करने वाला, और दूसरों के शरीर का स्पर्श करने वाला मनुष्य क्षणभर में ही शत्रुता प्राप्त कर लेता है।[1]

चतुर व्यक्ति की इसमें होशियारी नहीं है कि वह बिना बुलाये आये और बार-बार आता रहें। बातें करते समय अशोभनीय बातें करे और निकाले जाने पर भी न निकले। दो व्यक्तियों की हो रही बातचीत में, बीच में आकर बोलने लगे। एकांत में स्त्रियों के मध्य में दूर तक प्रवेश करे, वार्तालाप हेतु कहे बिना अत्यधिक बोले, और बिना सम्मानपूर्ण आसन दिये आसन ग्रहण कर ले।[2]

हेमरत्न सूरी की रचना राजा के सेवकों को लक्ष्य करके रची गई थी अत: कवि ने इस बात पर भी ध्यान दिया है कि राजा एवं सेवकों के मध्य कैसे संबंध होने चाहिए ? साथ ही राजा के व्यवहार की पूर्वानुमानता की संभावना को दुर्लभ

---

1 गोरा बादल चरित्र, संपा. अक्षय कीर्ति देराश्री, प्रकाशाधीन, पृ. 83

2 वही, पृ.84

बताता है। राजा के मित्र एवं उसके व्यवहार के बारे में पंत्रतंत्र के श्लोक के माध्यम से कहता है कि-

काके शौचं, द्यूतकारे च सत्यं
सर्पे क्षान्तिः, स्त्रीषु कामोपशान्तिः।
क्लीवे धैर्य, मद्यपे तत्वचिन्ता,
राजा मित्रं, केन दृष्टं, श्रुतं वा?।।158।। पंचतंत्र

अर्थात्- कौवे में पवित्रता, जुआड़ी में सच्चाई, सर्प में क्षमा और सहनशीलता, स्त्रियों में कामवासना की शान्ति, हिंजड़ों और नपुसंकों में धैर्य, शराबी में विचार, और राजा मित्र- इस जगत में किसने देखा और सुना है?। अर्थात्-ये बातें बहुत दुर्लभ है।[1]

यद्यपि कवि राघव चेतन के माध्यम से यह कहता है कि व्यक्ति को राजा के क्रोध से बचना चाहिए। राजा के कोप का प्रभाव बताते हुए कवि कहता है कि-

कविरकविः पटुरपटुः, सूरो भीरूश्रिरायुल्पायुः।
कुलजः कुलेन हीनो भवति नरो नरपतेः कोपात्।।

अर्थात्- राजा के क्रोध से कवि अज्ञानी, चतुर मूर्ख, शूरवीर कायर, चिरायु, अल्पायु, कुलवान, कुलहीन हो जाते है।[2]

कवि राजा से अति समीपता एवं दूरी दोनो ही अवस्था से बचने की सलाह देता है। इसके लिए कवि चाणक्य नीति के माध्यम से कहता है कि-

अत्यासन्ना विनाशाय दूरस्था न फलप्रदाः।
ते सेव्या मध्यभागेन राजा बर्हिगुरुः स्त्रियः।।11।।

अर्थात्- राजा, अग्नि, गुरू और स्त्री- इसका सेवन मध्यम मार्ग से करना चाहिए, क्योंकि ये अत्यन्त दूर रहने पर फल नहीं देते और अत्यंत नजदीक रहने पर मृत्यु का कारण बनते है।[3]

---

1 अक्षय कीर्ति देराश्री (सं.), गोरा बादल चरित्र, पृ. 85

2 वही, पृ.85

3 वही, पृ. 85

शिक्षा जीवन का महत्वपूर्ण अंग रहा है अत: इसीलिए इसे जीवन के सोलह संस्कारों के साथ जोड़ दिए गए है। अत: शिक्षा पर काफी ध्यान दिया जाता था।[1]

कवि ने युद्ध, प्रेमाख्यान और शिष्टता के साथ जीवन में शिक्षा के महत्व को प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के माध्यम से स्थापित किया है। कवि ने श्रृंगार, धन एवं संबंधों से बढ़कर विद्या को बताया है। कवि नीतिशतक के श्लोक को उद्धृत करते हुए जीवन में विद्या के महत्व को बताते हुए निम्न श्लोक के माध्यम से कहता है

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं, प्रछन्नगुप्तं धनं।
विद्या भोगकरी यश: सुख करी विद्या गुरूणां गुरू:।
विद्या बन्धुजनों विदेश गमने, विद्या परा देवता।
विद्या राजसु पूज्यते न तु धनं विद्या विहीन: पशु।।2।।

नीतिशतकम्

अर्थात्- मनुष्यों के लिए विद्या रूप से बढ़कर है। विद्या गुप्त धन है। विद्या भोग, यश और सुख देने वाली है। विद्या प्रिय बन्धु के समान है। विद्या ही परम भाग्य है। राजाओं द्वारा विद्वानों को पूजा जाता है न कि धनियों को। विद्याविहीन मनुष्य पशु के समान है।[2]

विद्या वित्त तणु भंडार। विद्या घटि सोलइ सिणगार।।
मान मुहत जस विद्या थकी। वित थी विद्या अधिकी जीक।।138।।

अर्थात् - विद्या ही उसका खजाना है। शरीर के सभी सोलह-श्रृंगार विद्या से नीचे हैं। मनुष्य का मान-सम्मान और यश विद्या के कारण होता है। अत: विद्या धन से भी अधिक महत्वपूर्ण है।[3]

पुरू घटि विद्या परवेस। तेहनई केहा देस विदेस।।
विद्या माता विद्या पिता। विद्या सयण सगा सासता।। 137।।

---

1 के.एम. अशरफ, हिंदुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ, पृ.183

2 अक्षय कीर्ति देराश्री (सं.), गोरा बादल चरित्र, पृ. 87; नीतिशतकम् पृ. 52

3 वही, पृ. 87

अर्थात्- जिनके सम्पूर्ण शरीर में विद्या का निवास है, उसके लिए कोई देश-विदेश नहीं है। उसके लिए विद्या ही माता है और विद्या ही पिता, विद्या ही सगे संबंधी है और वही सदा साथ रहने वाली वस्तु है। विद्या ही सज्जनों की सभा का जीवन है।[1]

कवि ने राघव चेतन के माध्यम से शिक्षा के महत्व को बताया कि विद्या हर समस्या का समाधान है तथा यह विद्या से महत्वपूर्ण और मूल्यवान कुछ भी नहीं है। कवि राघव चेतन के चित्तौड़ छोड़ने के बाद के वृत्तांत के माध्यम से बताता है कि किस प्रकार राघव चेतन जो एक प्रकाण्ड विद्वान था राज्याश्रय छुटने के बाद विदेश में जाकर भी अपनी विद्धता एवं प्रियभाषण से दिल्ली में अल्प समय में प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है। कवि उपर्युक्त गुण का निम्न श्लोक के माध्यम से वर्णन देता है कि-

ऽतिभार: समर्थानां, किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेश: सुविद्यानां, क: पर: प्रियवादिनाम्।।1।।

भावार्थ- समर्थ व्यक्तियों कि लिए कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है। व्यापारियों के लिए कोई भी स्थान दूर नहीं है। विद्वानों के लिए कोई भी जगह विदेश नहीं है। प्रिय भाषण करनेवालों के लिए कोई पराया नहीं है।[2]

उपर्युक्त ग्रंथ प्रताप कालीन एक महत्वपूर्ण कृति है। पौराणिक गाथाओं से इतर प्रसिद्ध लोक कथा को आधार बना कर यह ग्रंथ लिखा गया जो कि प्रताप के पूर्वजों से ही जुड़ा हुआ था। कवि ने वैसे तो कई ग्रंथों की रचना की किंतु यह कवि की सबसे प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण रचना है। ग्रंथ वैविध्य से पूर्ण है। इसमें युद्ध, प्रेम, सौन्दर्य, नीति शास्त्र, परंपरा एवं शिक्षा जैसे विविध विषयों पर बेहद संतुलित तरीके से लिखा गया है। काव्य होने से कल्पना का समावेश तो है किंतु फिर भी यह सच्चाई के समीप ज्यादा दिखता है।

---

1 अक्षय कीर्ति देराश्री (सं.), गोरा बादल चरित्र, पृ. 86

2 वही, पृ. 87

भट्टराक नरेन्द्र कीर्ति

हेमरत्न सूरी के बाद प्रताप के शासन काल के प्रमुख जैन रचनाकार में आचार्य नरेन्द्र कीर्ति का नाम आता है। आचार्य नरेन्द्र कीर्ति दिगम्बर साधु थे। वैसे तो आचार्य नरेन्द्र कीर्ति द्वारा रचित पुस्तक 'अंजना सुंदरि रास' में अपनी गुरू परंपरा का जो उल्लेख किया है उसमें इन्होंने भट्टारक सकल भूषण को अपना गुरू बताया है।[1]

भट्टराक वादिभूषण से भी इनके मधुर संबंध थे। भट्टराक वादिभूषण के ही शिष्य ब्रह्म नेमिदास के अनुग्रह पर इन्होंने 'सगर प्रबन्ध' नामक कृति की रचना की थी।[2] भट्टराक नरेन्द्र कीर्ति की अन्य रचनाओं में निरमाण पूजा, अंजना सुंदरि रास,[3] तीर्थंकर चौबीसना छप्पय[4] मुख्य है। आचार्य नरेन्द्र कीर्ति ने 1585 ई. में जावर में 'अंजना सुंदरी रास' नामक ग्रंथ की रचना की थी।[5] जावर प्रताप के काल एवं उससे पूर्व ही आर्थिक गतिविधियों का केन्द्र होने के साथ ही साहित्य एवं कला के केन्द्र के रूप में स्थापति हो चुका था। आर्थिक गतिविधियों के कारण यहाँ जैन समाज का प्रभाव था जिन्होंने व्यापारिक गतिविधियों के साथ जैन साधुओं को भी संरक्षण प्रदान किया था। आचार्य नरेन्द कीर्ति ने पौराणिक कथा को आधार बना कर ही 'अंजना सुंदरी रास' की रचना की थी।

अंजना सुंदरी रास जैन साहित्यकारों का प्रिय विषय रहा है। इसी कथानक को आधार बनाकर कई जैन आचार्यों ने साहित्य की रचना की। नरेन्द्र कीर्ति के ही समकालीन भट्टराक ब्रह्म रायमल्ल जिनका मुख्य क्षेत्र ढूंढाड़ था। इन्होंने हनुमान जी पर हनुमन्त कथा लिखी जो कि एक वृहद रचना है। इसमें कवि ने हनुमान जी की कथा को बेहद सुन्दर तरीके से प्रस्तुत किया है।[6]

---

1 ब्रजमोहन जावलिया, मेवाड़ का जैन साहित्य, मझमिका, 1971, पृ. 140

2 भट्टराक रत्नकीर्ति वं कुमुदचन्द: व्यक्तित्व एवं कृतित्व, कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ. 25

3 मेवाड़ का जैन साहित्य, मझमिका, पृ. 140

4 भट्टराक रत्नकीर्ति वं कुमुदचन्द: पृ. 25

5 मेवाड़ का जैन साहित्य, मझमिका, मझमिका, पृ.140

6 महाकवि ब्रह्म रायमल्ल एवं भट्टारक त्रिभुवनकीर्त, कस्तूरचन्द कासलीवाल,पृ.12

'अंजना सुन्दरी रास' कथानक का संबंध हनुमान जी के माता अंजना एवं पिता पवनंजय से है। जैनी रामायण में हनुमान की जन्मकथा रामायण पर आधारित होते हुए भी इससे बहुत भिन्न है। पउमचरियं क अनुसार आदित्यपुर के राजकुमार पवनंजय ने महेन्द्रपुर की राजकुमारी अंजना कुमारी से विवाह किया था, विवाह से पूर्व ही पवनंजय ने अंजना कुमारी की सखी के मुँह से अपनी निन्दा सुन रखी थी; इसलिए वह 22 वर्ष तक अपनी पत्नी के प्रति उदासीन रहा। तब वह रावण की ओर से वरूण के विरूद्ध युद्ध करने गया; किसी संध्या को अंजना के प्रति उसका अनुराग जाग्रत हुआ जिससे वह आदित्यपुर लौटा और छिपकर अपनी पत्नी से मिला। उसने उसी रात का युद्ध के लिए प्रस्थान किया। इस गुप्त मिलन के फलस्वरूप अंजना कुमारी गर्भवती हुई; पति की अनुपस्थिति में गर्भ होने के कारण अंजना कुमारी को अपनी सखी वसन्तमाला के साथ सुसराल तथा मायके दोनों से निकाल दिया गया। इस निष्कासन का परोक्ष कारण यह माना गया है कि पूर्वजन्म मे उसने एक सपत्नी की जिन-प्रतिमा उठाकर घर के बाहर रख दी थी। उसने एक गुफा में पुत्र को जन्म दिया। बाद में अंजना का मामा प्रतिसूर्यक उसे पुत्रसहित हनुरूहपुर ले गया। हनुरूहपुर की ओर जाते समय बालक अपनी माता की गोद से उछलकर पर्वत की शिला पर जा गिरा। विमान से उतरकर अंजना ने देखा कि बालक के गिरने से पहाड़ चूर्ण-चूर्ण हो गया है; इससे उसका नाम श्रीशैल रखा गया। युद्ध से लौटकर पवनंजय ने अपनी पत्नी के सतीत्व का साक्ष्य दिया और अंजनाकुमारी पुत्रसहित अपने सुसराल लौटी, हनुरूहपुर में रहने के कारण बालक का हनुमान् नाम प्रचलित होने लगा।[1]

चारण साहित्य

मध्ययुगीन रजास्थानी साहित्य में चारण कवियों की एक लम्बी और गौरवपूर्ण परम्परा रही है। चारण कवि अपनी सशक्त काव्य-क्षमता और प्रतिभा से क्षत्रियोचित गुणों को प्रोत्साहित करते थे। स्फूर्ति और प्रेरणा से ओतप्रोत अपने काव्य का स्वंय ओजस्वी वाणी में पाठ करके वीरों में नए प्राण फूंक देते थे।

1 कामिल बुल्के, राम कथा, पृ. 529

कलम के धनी इन कवियों ने अनेक युद्धों में स्वंय तलवार चलाकर अपनी वीरता का भी परिचय दिया है।[1]

हल्दीघाटी के युद्ध में भी चारण कवियों ने भाग लिय था। इनमें कवि रामा सांदू, भादू, कान्ह सान्दू, जैसा बारठ और कवि केशव बारठ आदि चारणों ने अपने प्राणों की आहुति दी। ऐसा लगता है कि प्रताप ने इन चारणों को युद्ध का आँखों देखा हाल लिखने और काव्यपाठ करने के लिए अपनी सेना में नियुक्त किया था परन्तु युद्ध का हाल लिखने के कोई भी चारण जीवित नहीं रहा। प्रताप कालीन चारण साहित्य की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि वे बिना किसी संरक्षण के भी प्रताप के प्रति श्रद्धा भाव रखकर लिखे गए। इनमें दुरसा आढ़ा, डूंगरसी रतनू, जाड़ा मेहडू, पीरा आशिया, माला सांदू और गोरधन बोगसा के नाम उल्लेखनीय है।[2]

जाडा मेहडू ग्रंथावली - सौभाग्यसिंह शेखावत

बादशाह अकबर तथा जहॉगीर के दरबार में जाड़ा मेहडू, दुरसा आढ़ा, लक्खा बारहठ, शंकर बारहठ, माला सांदू, हापा बारहठ आदि चारण कवि राजस्थान के तत्कालीन कतिपय राजाओं के माध्यम से सम्मान पा चुके थे।[3]

कविवर जाड़ा मेहडू, दुरसा आढ़ा, दूदा आसिया प्रभूति चारण कवि समसामयिक एक ही जातीय तथा राज्यश्रित कवि थे। इन कवियों ने अपने समकालीन योद्धाओं की वीरता का वर्णन अपनी वीररस वाले डिंगल काव्य में किया है। समसामयिकता तथा विषय-समता के कारण इनकी भाषा में वैसे अधिक अंतर नहीं है; तब भी कवि की अपनी मौलिक समझ, शब्द-चयन तथा प्रभाव-प्रक्षेणत्व अपना अलग होता है। कवि जाड़ा की भाषा पर पूर्ण अधिकार है। जाड़ा के काव्य से प्रतीत होता है कि वह सिद्धान्त-प्रेमी, सत्यभाषी, स्वतंत्रतानुरागी और वीरता के गुणों से युक्त था। जाड़ा की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसने केवल अपने संरक्षक की प्रशंसा में ही नहीं लिखा है अपितु निरपेक्ष भाव से शत्रु-मित्र,

1 दूरसा आढ़ा, पृ. 30

2 हुकुमसिंह भाटी, महाराणा प्रताप: ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 112

3 सौभाग्यसिंह शेखावत, जाडा मेहडू ग्रंथावली, पृ. 11

अभय पक्षीय योद्धाओं के श्रेष्ठ कर्मों का भी वर्णन किया है। जाड़ा मेहडू अकबर के दरबार में सम्मान प्राप्त कवि तथा जगमाल सिसोदिय का राज्याश्रित होने पर भी उसके प्रतिद्वन्द्वी महाराणा प्रताप, अमरसिंह की वीरता का उन्मुक्त रूप से यशगान किया है।[1]

जाड़ा ने महाराणा उदयसिंह, प्रताप एवं अमरसिंह इन तीनों महाराणों पर काव्य की रचना कर इनके गुणों की स्तुती की है। कवि ने उदयसिंह की स्वाधीनता-भावना की श्लाघा करते हुए कहा है कि अकबर रूपि कपि ने उदयसिंह रूपी आकाश का स्पर्श करने के लिए बहुविध प्रयत्न किए पर वह उसका स्पर्श नहीं कर सका-

बह झंप सजे बह करे कटक बल, नमणि करावण तणै नियाई।
वानर असुर उदैसिंघ ब्रह्मंड, तलपि न पूगा तो लग ताइ।। [2]

अकबर की कूटनीति का प्रताप द्वारा प्रत्युत्तर देने पर जाड़ा मेहडू महाराणा प्रताप के क्षत्रियत्व, धर्म-भावना और स्वातंत्र्य प्रेम की सराहना करते हुए यवनों की सेवा करने वाले क्षात्र-मर्यादा से विमुख अन्यान्य नरेशों को स्पष्ट कहता है-

लख जूटै मीर स खूटै लोहे, लख द्रव्य कोड़ि भंडारां लाइ।
अकबर बरतण दियौ ऊँवरां, पातल राण तणै पसाइ।।

राजस्थान के सभी शासकों ने जब अकबर के समक्ष समर्पण कर दिया तब कवि के समक्ष केवल एकमात्र प्रताप ही था जो अटल खड़ा था। कवि अपनी रचना के माध्यम से यह बताता है कि कैसे प्रताप की वजह से शहंशाह पीड़ित है-

हेत ताइ कुलवाट हालै, भिड़ण बांधै नेत भाले।
साह अकबर हीये सालै, तूझ तेग प्रताप।।

इसी प्रकार महाराणा प्रतापसिंह की खड्ग-बल से अर्जित सम्पत्ति और सुयश की देवतागण द्वारा सविस्मय सरहना की जाती है-

---

1 सौभाग्यसिंह शेखावत, जाडा मेहडू ग्रंथावली, पृ. 45

2 वही, पृ. 40

ऊतिम मधिम देवरज ऊपरि, कै घट राखै रमै कला।
धार खड़ग बे मयकं कलोधर, कीत्ति अनै चलवी कमला।।

कवि राजस्थान के शासकों पर कटाक्ष करते हुए कहता है कि आप गजपति और अश्वपति के नाम से प्रख्यात नरेश है, आज अकबर जैसे विदेशी शासक के तीन हजारी, पंच हजारी मनसबदार बन कर किस बात पर गर्व कर रहे हो? महाराणा प्रताप तुम्हारी इस स्थिति के कारण तुम्हारे पौरूष की खिल्ली उड़ा रहा है कि तुम लोग भाड़े के सैनिक मात्र बन कर महलों में बैठे-बैठे पेट भरने में ही अपने कर्तव्य की इति श्री समझ बैठे हो।

हाथी बंध घणां घणां हैवरबंध, किसू हजारी गरब करौ।
पातल राणां हंसे त्यां पुरसां, भाड़ै महलां पेट भरौ।। [1]

रतन गढ़वी

महाराणा प्रताप के ही समकालीन कवि रतन गढ़वी के प्रताप की प्रशस्ति स्वरूप 65 सोरठे मिलते है। ये दौहे ऐतिहासिह महत्व के हैं। कतिपय सोरठे प्रस्तुत है-

धू आधीन तणाह, सीसोदां सहिया नहीं।
आंटे सतो असाह, पतिसाहां सूं प्रतापसी।।
अकबर आकारेह, पंचमुख तणै प्रतापसी।
आंकुस तो आंणोह, सीसौदा विबहर तणूं।।
पाखरियो पूरेह, साह आलम सै खंड तणै।
ससत्तै सालेह, पर हँसतणौ प्रतापसी।
बीजा वा नथियाह, अधिपति अकबर साह का।
तुंउ वाकी अछेह, परियां गलै प्रतापसी।।
भलुंज भालालोह, नेजाला नमियौ नहीं।
कोई पातल पतिसाह, आगै अकबर जे वहीं।। [2]

---

1 सौभाग्यसिंह शेखावत, जाडा मेहडू ग्रंथावली, पृ. 47

2 ब्रज मोहन जावलिया, 'महाराणा प्रताप कालीन साहित्य' महाराणा प्रताप और उनका युग, सं. देव कोठारी, पृ.85

रामा सांदू

ये भी प्रताप के समकालीन था किंतु ये प्रधानत: बीकानेर के रायसिंह से जुड़ा हुआ था। दयालदास के अनुसार रायसिंह ने इसे पुरस्कृत भी किया था। रामा सांदू ने डींगल में प्रताप की प्रशंसा में झूलणे की रचना की जो 'झूलणा महराणा प्रतपासिंघ जी रा' के नाम से जाने जाते है। यह लगभग 300 पंक्तियों का काव्य है। जिसके प्रारंभ में एक पाहा, अन्त में एक कवित (छप्पय) और बाकी सब झूलणा छन्द है। इस रचना का प्रधान विषय इतिहास-प्रसिद्ध हल्दीघाटी के युद्ध का वर्णन है। रामा सांदू के अन्य काव्यों की भांति अपने चरित्र-नायक प्रताप के पूर्वजों का उल्लेख किया है जो बापा रावल से प्रारंभ होता है जिसमें प्रताप से पूर्व के सभी वंशजों का संक्षिप्त वर्णन है। अकबर के चित्तौड़ विजय के बाद हल्दीघाटी युद्ध का बड़ा सजीव वर्णन रामा सांदू की रचना में मिलता है। उदयसिंह की मृत्यु के बाद प्रतापसिंह गद्दी पर बैठे। वे मेवाड़ पर आई विपत्ति से पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने युद्ध के लिए कमर कस ली। आखिर वह दिन आ ही गया। हल्दीघाटी के मैदान में, सावन की काली घटाओं के समान मुगल-वाहिनी आकर जुट गई। रणभेरी बज उठी[1]

हल्दीघाटी ऊपरै दल वाजत्र वाई।
सूंडाहल डंडाहल दमांम घुराई।
सांमा रण दिवारीया नींसाण त्रधाई।
दोप दल देठालै हुवा सोजंता पाई।
गजपटा सांवण घटा दांमण दरसाई।
काली भेवट कूंजरां ऊपड़ी अछाई।
रांण वषर अस पषरै हैजफ हलाई।
घामंड डक संबाहीया हक नारद वाई।

युद्ध में राजपूतों ने अद्‌वितीय पराक्रम का परिचय दिया और मुगल सेना पीछे हट गई। अंतिम छप्पय में कवि प्रताप को सम्बोधित कर,उनके पराक्रमों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार देता है-

1 हीरालाल माहेश्वरी, राजस्थानी भाषा एवं साहित्य, पृ. 111

तूं उत्तर भड़ घड़ किवाड़ आडौ पुरसांणां
सुरतांणां केवांण मुंह तै मळीया मांणां
असपत घड़ा षंभणौर सिर परणौ परबंषह
चकतां तणा चढ़ावोया सीह केवा कंबंवह
सुड़तांण डांण चढ़ताहरै पुरसांणी फौजां विसी
मूंड मै हाथ मंडावीयाह वै पाव मंडाड़ प्रतापसी।

दुरसा आढ़ा

मध्यकालीन राजस्थान में उन प्रमुख कवियों में जिन्होंने अपने काव्य प्रतिभा के बल पर बहुत धन एवं सम्मान अर्जित किया उनमें एक नाम दुरसा आढ़ा का है। दुरसा आढ़ा जिनका बचपन गरीबी में व्यतित हुआ किंतु बाद में कई प्रमुख व्यक्तियों का राज्याश्रय इन्हें मिला था। दुरसा आढ़ा को संरक्षण देने वालों में अकबर, अब्दुर्र रहीम खानखाना, मोहब्बत खान, रायसिंह, देवड़ा सुरताण, गजसिंह तथा महाराणा अमरसिंह आदि मुख्य थे।[1]

दुरसा आढ़ा की लगभग आठ से नौ रचनाओं का उल्लेख मिलता है जिसमें सबसे प्रसिद्ध काव्यकृति प्रताप पर रचित 'विरूद छहत्तरी' है। इस ग्रंथ में कुल 76 सोरठे है। यह राणा प्रताप की प्रशंसा की गई तथा अकबर की नीति राजपूत नीति पर भी लिखा है। राणा प्रताप और अकबर के बीच हल्दीघाटी में हुए युद्ध का भी कुछ छन्दों में अत्यन्त ओजस्वी वर्णन है। दुरसा आढ़ा की लोकप्रियता को शिखर पर पहुँचानें में इस कृति का महत्वपूर्ण योगदान है।[2]

विरूद छिहत्तरी मुख्य रूप से प्रताप एवं अकबर के मध्य के संघर्ष को ही आधार बना कर रचना की गई है। कवि अपनी रचना में उन राजाओं की आलोचना करता है जो कि प्रताप को पकड़ने में अकबर की सहायता करते है-

मन अकबर मजबूत, फुट हिंदवा बेफिकर।।
काफर कोम कपूत, पकड़ूं राण प्रतापसी।।6।।

---

1 दुरसा आढ़ा, रावत सारस्वत, पृ.15

2 रामप्रसाद दाधिच, राजस्थान के पांच महाकवि, पृ. 8; Prabhakar, Manohar. A Critical Study Of Rajasthani Literature. P.No. 76

अर्थात्- हिंदू राजाओं की आपसी फूट के कारण अकबर के मन में हिम्मत आ गई और बेफिक्र हो गया। कवि उन हिंदू राजाओं को कपूत कह रहा है जो राणा प्रताप को पकड़ने के लिए अकबर का साथ दे रहे है।

प्रताप विकट समय में भी क्षात्र धर्म का निर्वाह करते हुए अपने पूर्वजों की नीति पर चल रहा है उसकी कवि प्रशंसा करता है-

बुहा बडेरा बाट, वाट तिकण वहणो विसद।।
खाग त्याग खत्रवाट, पूरो राण प्रतापसी।।9।।

अर्थात्- जिस मार्ग पर पूर्वज चलते आए है, उसी मार्ग पर सदैव चलते रहना चाहिए। क्षत्रिय धर्म का मार्ग सत्य की रक्षा के लिए शस्त्र धारण करना तथा सुपात्र को दान देना चाहिए। राणा प्रताप क्षात्र धर्म पर अडिग है।

कवि की उक्त रचना से ज्ञात होता है कि प्रताप चित्तौड़ प्राप्त करने हेतु तत्पर थे तथा इसके लिए वे निरंतर उद्योग कर रहे थे-

चितवे चित चीतोड़, चिता जलाई सो चतुर।।
मेवाड़ो जग-मौड़, पावन पुरूष प्रतापसी।।10।।

अर्थात्- संसार के मुकुट मेवाड़ का पावन पुरूष राणा प्रताप चित्तौड़ की पुन: विजय प्राप्त करने के लिए विचार कर रहा है। इसी सोच में उनके हृदय को चिन्ता रूपी अग्नि उन्हें जलाती रहती है।

चित में गढ़ चितौड़, राणा रै खटकै रयण।
अकबर पुन रो आड़, पैले दौड़ प्रतापसी।।57।।

अर्थात्- मेवाड़ का सिरमौर दुर्ग चितौड़गढ़ मुगलों के हाथ में है- यह बात महाराणा प्रताप सिंह के हृदय में सदैव शूल की भांति चुभती रहती है। परन्तु अब अकबर के पुण्य के आड़ का नाश के लिए महाराणा प्रताप सिंह दौड़ लगाकर निकट आ गये है।

कवि अकबर की तत् समय के राज्यों के प्रति अपनाई गई नीति के बारे में कहता है-

महि दाबण मेवाड़, राड़ चाड़ अकबर रचै।
विखै विखायत वाड़, प्रथुल पहाड़ प्रतापसी।।50।।

अर्थात्- मेवाड़ को अपने अधिकार में करने के लिए अकबर ने युद्ध एवं प्रेम के कई आयोजन करता है किंतु अकबर के समक्ष प्रताप जैसा कष्ट सहिष्णु शासक दीर्घ पहाड़ के रूप में बाधा बन के खड़ा है जिस पर अकबर का वश नहीं चलता है।

प्रताप के संघर्ष के दौरान कष्टपूर्ण जीवन को चित्रित किया। प्रताप कष्ट सह कर भी समर्पण नहीं कर रहे है-

बंधियो अकबर वैर, रसत घेर रोकी रिपू।
कंदमूल, फूल, कैर, पावै राण प्रतापसी।।51।।

अर्थात्- अकबर से राणा प्रताप की शत्रुता हो जाने के कारण उस शत्रु ने रसद रोक दी। अत: इस विकट परिस्थिति में प्रताप राजसी भोजन के स्थान पर कंद मूल, फल एवं कैर जैसी जंगल में उपलब्ध खाद्य का प्रयोग भोजन के रूप में कर रहे है।

लंघण कर लंकाल, सादूलो भूखो सुवै।
कुलवट छोड़ क्रपाल, पैंड न देत प्रतापसी।।56।।

अर्थात्- भोजन नहीं मिलने पर शेर उपवास कर सकता है और भूखा ही सो सकता है। परन्तु अपनी वंश मर्यादा को छोड़कर प्रताप अकबर की अधीनता स्वीकार करने के लिए एक पांव भी आगे नहीं बढ़ा सकता है।

कवि ने प्रताप के संघर्ष को उसके पूर्वज राणा सांगा एवं हमीर के साथ जोड़ा है-

अकबर तड़फै आप, फतै करणं च्यारूं तरफ।
पण रखो परताप, हाथ न चढ़ै हमीर हर।।45।।

अर्थात्- अकबर विजय प्राप्त करने के लिए चारों तरफ से भरसक प्रयत्न कर रहा है। परन्तु हमीर का वंशज प्रतिज्ञापालक राणा प्रताप उसके हाथ नहीं आ रहा है।

सांगो धरम सहाय, बाबर सूं भिड़ियो बिहद।।
अकबर कदमां आय, पडै न राण प्रतापसी।।15।।

अर्थात्- धर्म की रक्षा हेतु राणा संग्राम सिंह ने बाबर के साथ भयंकर युद्ध किया। उसी तरह राणा प्रतापसिंह ने अकबर की अधीनता स्वीकार न कर अपने कुल की मर्यादा को नहीं तोड़ा।

जीवन में भौतिक साधनों की चाह तो रहती है किंतु वे स्थायी नहीं है। स्थायी तो केवल यश है जो मृत्यु के बाद भी युगों तक कीर्ति को फैलाता रहता है। कवि प्रताप के यश का वर्णन करता है-

अकबर जासी आप, दिल्ली पासी दूसरा।
पुन-रासी परताप, सुजस न जासी सूरमा।।65।।

अर्थात्- काल की गति बड़ी विचित्र है। सभी को एक दिन संसार सागर छोड़कर जाना है। उसी नियत नियमानुसार अकबर को भी एक दिन काल का ग्रास बनना है और दिल्ली पर दूसरों का अधिकार हो जाएगा। परन्तु हे पुण्यराशि शूरवीर प्रताप! तुम्हारी शूरवीरता का यश संसार से काल भी नहीं मिटा सकेगा।

घट सूं ओघट घाट, घसियो अकबरियो घणो।
इल चंनण उप्रवाट, परमल उठी प्रतापसी।।59।।

अर्थात्- प्रताप को अधीन करने के लिए अकबर ने कई प्रकार से कपट-जाल गूंथे, परन्तु उसकी एक भी नहीं चली। जिस प्रकार चंदन की लकड़ी को घीसने से उसकी सुगन्ध प्रकट होती है, उसी प्रकार विविध कष्टों को सहन करेन से राणा प्रताप का यश समस्त पृथ्वी पर फैल गया।

दुरसा आढ़ा व प्रताप कभी प्रत्यक्ष संपर्क में नहीं आएं फिर भी दूरसा आढ़ा द्वारा रचित रचना प्रताप की यश कीर्ति की द्योतक है। अमरसिंह ने अपने शासन काल में दुरसा आढ़ा को सम्मानित किया था।[1] यह रचना उस समय के मनोविज्ञान तथा प्रताप, अकबर एवं समकालीन राज्यों के प्रति क्या धारणाएं प्रचलित थी उसके कुछ अंश उपर्युक्त रचना में देखे जा सकते है।

1 महराणा प्रताप एवं राष्ट्र कवि दुरसा आढ़ा, अनु. नरेन्द्र सिंह चारण, पुनाराम पटेल, पृ. 68

प्रताप कालीन चित्र

मेवाड़ में चित्रकला की प्राचीन काल से ही समृद्ध परम्परा रही है। तिब्बेतियन इतिहासकार लामा तारानाथ ने दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान में समकालीन प्रचलित कला पद्धति को "प्राचीन पश्चिमी भारतीय शैली" नाम से सम्बोधित किया। यहाँ पर सातवीं सदी के प्रमुख चित्रकार एवं आचार्य श्रृंगधर का उल्लेख मिलता है जिसे शिलादित्य ने संरक्षण प्रदान किया था। चितौड़गढ़ में लिखे गये 8वीं सदी के प्राचीन प्राकृत ग्रंथों में चित्रकला की प्रचुर सामग्री मिलती है। हरिभद्रसूरिकृत 'समराइच्चकहा' में तत्कालीन चित्रकार 'भूषण एवं चित्रमति' के उल्लेख तथा उनके सृजन में इस क्षेत्र की कला परम्परा का परिचय मिलता है।[1] यह परंपरा परवर्ती काल में भी जारी रही। धार्मिक विषयवस्तु का चित्रण मेवाड़ के प्रारम्भिक चित्रों में अधिक हुआ था। चूंकि कला और धर्म एक-दूसरे से अनन्य रूप से जुड़े हुए है। कला ने धर्म का रूप प्रदान किया तो धर्म ने कला को सात्विकता दी यही बात मेवाड़ के धार्मिक चित्रों में दिखाई देती है। इन चित्रों पर जैन व हिन्दू धर्म का विशेष प्रभाव रहा है। जिनमें विभिन्न धार्मिक दर्शन के साथ-साथ पशु पक्षियों का भी भावात्मक अंकन है। सचित्र ग्रंन्थों में जो चित्रण सामग्री है, वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित जैन ग्रन्थों में पश्चिमी भारतीय चित्र कला के रूप में मेवाड़ में विकसित हुई थी। कालान्तर में यहीं विषय वस्तु राजपूत चित्र शैली में दिखाई देती है। आहड़ में श्वेताम्बर जैन सचित्र ग्रंथ 'श्रावक प्रतिक्रमण सुत्तचूर्णि' का चित्रण रावल तेजसिंह के समय हुआ।[2] देलवाड़ा में श्वेताम्बर जैनियों द्वारा सुपासनाह चरियम (1423 ई.) सचित्र ग्रन्थ एवं वहीं नेमिनाथ मन्दिर में सचित्र ग्रंथ ज्ञानार्णव (1427 ई.) नामक दिगम्बर जैन सचित्र ग्रन्थ भी रचा गया। इन सचित्र ग्रंथों का मेवाड़ के शैलीगत चित्रण परम्परा में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ये तिथियुक्त चित्र मेवाड़ की चित्रकला में प्रारम्भिक पुष्ट प्रमाण है।[3]

---

1 Bhatnagar, Nidhi. Changing face of mewar painting. P.No. 19

2 उदयपुर राज्य का इतिहास भा.1 पृ.161

3 राधाकृष्ण वशिष्ठ, मेवाड़ की चित्रांकन की परंपरा, पृ.51

15वीं शताब्दी वैचारिक इतिहास में एक जल-विभाजक के समान थी। इस समय चित्रकला, संगीत, वास्तु आदि सांस्कृतिक पुनरूत्थान से प्रभावित थी। इस शताब्दी में महाराणा कुंभा, ग्वालियर के मानसिंह तोमर, जोनपुर में इब्राहिम शाह शर्की तथा हुसेनशाह शर्की तथा कश्मीर में जैनुल आबदीन जैसे रचनात्मक शासक हुए जिनके शासन काल में चित्रकला, संगीत एवं वास्तु कला में अद्भुत उन्नति हुई थी।[1]

यह काल धार्मिक विचारों में आमूलचूल परिवर्तन दिखाई देते है जिससे भक्ति आंदोलन का उद्भव हुआ था। इस समय के लोग संवेदनशीलता से आप्लावित थे। इसका प्रभाव कला पर भी पड़ा। कला में भी अब नया रूप, नई पृष्ठभूमि तथा जीवंतता दिखाई देती है। उपर्युक्त परिवर्तन का कारक वैष्णववाद था जिसे जयदेव, रामानंद, बल्लभाचार्य एवं चैतन्य महाप्रभु ने नवजीवन प्रदान किया था। भक्ति आंदोलन में वैष्णव मत ने ज्यादा प्रसिद्धि पाई क्योंकि संत और आमजन राधा और कृष्ण के प्रेम एवं सखी भाव में स्वंय को ईश्वर के ज्यादा समीप और सहज महसूस करता था। राधा और कृष्ण के चित्र कलाकार के प्रमुख विषय हो गए थे। इस समय वैष्णव धर्म के विषय को लेकर जो कला की जा रही थी उसमें भी जैन एवं जैनोत्तर विषय लिए गए। अब जैन विषय पर जो सचित्र ग्रंथ लिखे जा रहे थे वे धीरे-धीरे राम-कृष्ण की लीला, नायिका भेद तथा संगीत जैसे विषय में बदल गए। धर्म में हुए भावनात्मक परिवर्तन ने भी कला को बदला। इसका सकारात्मक परिणाम यह था कि अब कला आमजन के और करीब आ गई थी। कला में नई जिंदादिली एवं उत्साह उत्पन्न हुआ तथा उसने स्वंय को परंपरागत बंधन से मुक्त कर दिया था। कला की अपभ्रंश शैली में कलाकार के पास न तो कोई जीवंत प्रेरणा थी नहीं उसे पर्याप्त स्वतंत्रता थी। नए धार्मिक परिवर्तन में वह भी स्वतंत्र हुआ। 1550 ई. में चित्रित बालगोपाल स्तुति में कला के क्षेत्र में हुआ परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता है।[2]

1 कृष्णदास राय, भारत की चित्रकला, पृ. 54

2 Bhatnagar, Nidhi. Changing face of mewar painting. P.No. 30, भारतीय चित्रकला,राय कृष्णदास पृ.59

मेवाड़ में कुंभा का काल सृजन का काल था। कुंभा के शासनकाल में कला के हर पक्ष में महत्वपूर्ण कार्य हुआ था। कुम्भाकालीन सूत्रधार मण्डन शिल्पकला के साथ चित्रकला का भी अच्छा ज्ञाता था, स्थान-स्थान पर उन्होंने मूर्ति कला के साथ चित्र कर्म एवं मूर्तियों के रंग का विवरण दिया है जो चित्रकला के सूक्ष्म ज्ञान से सम्बन्धित है। राजवल्लभ मण्डन में चित्रकला की विस्तृत सामग्री है। महलों की दीवार पर बने सुन्दर चित्रों के उल्लेख में भयोत्पादक दृश्य महलों में चित्रित न करने के निर्देश दिये हैं। यहीं नहीं महारणा कुम्भा ने स्वंय जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' की टीका लिखी है तथा 'संगीतराज' में नाट्य शालओं के चित्रों का उल्लेख किया है।[1] महाराणा कुंभा के राज्यकाल में भीखम द्वारा 'रसिकाष्टक' (1435 ई.) नामक सचित्र ग्रंथ की रचना की थी।[2]

16वीं शताब्दी में मेवाड़ी चित्रकला अपने उत्कर्ष पर थी। मेवाड़ में कला के प्रधान केन्द्र चित्तौड़, चावन्ड,[3] जावर, देलवाड़ा, गोगुन्दा व आयड़ थे जहां पर कई सचित्र ग्रंथों का निर्माण किया गया था। साथ ही यह काल संघर्ष एवं विनाश का भी था। राणा सांगा के काल से जो संघर्ष का दौर चला था वह अमरसिंह के समय में जाकर शांत हुआ। इन विध्वंसात्मक परिस्थितियों का प्रभाव सृजन एवं कला पर दिखाई देता है, जो कि इस समय कुछ मंद हो गई थी। अत: इस कालखण्ड में बेहद कम चित्र मिलते है। 16वीं सदी में कलात्मक गतिविधियों में कुछ कमी जरूर आई थी किंतु यह ठहराव का काल नहीं था अपितु इस समय निरंतरता एवं और अधिक उत्कृष्ठता दिखाई देती है।[4]

उपर्युक्त परिस्थितियां प्रताप के राज्य काल में बेहद कठिन हो चुकी थी। खानवा के युद्ध से जो संघर्ष प्रारंभ हुआ उसके बाद मेवाड़ प्रताप के काल में लगभग संघर्षरत ही रहा। अकबर के अंतिम अभियान तक करीब 59 साल मेवाड़ आंतरिक एवं ब्राह्य चुनौतियों में उलझा रहा जिसने उसके संसाधनों को बहुत

1 श्रीकृष्ण 'जुगनू', राजवल्लभ मण्डल, पृ. 11

2 मेवाड़ की चित्रांकन परंपरा पृ. 14

3 वाचस्पति गैरोल, भारतीय चित्रकला, पृ. 158

4 Changing face of mewar painting. P.No. 31

हानि पहुँचाई थी। संसाधानों का अभाव सृजनात्मक गतिविधियों को अवरोधित करता है। प्रताप ने कुंभा के समय से चले आ रहे कला सृजन के कार्य को निरंतर रखा। प्रताप के राज्य काल में चावन्ड में राग माला, आहड़ में ढोला मारू तथा जावर में गीत-गोविन्द का चित्रांकन हुआ।

गीत-गोविन्द

17 फरवरी 1594 ई. के जावर में जोशी कीरतदास द्वारा गीत-गोविन्द की रचना की गई थी जो कि एक सचित्र ग्रंथ है। इसमें 30 पत्रात्मक तथा 28 लघु चित्र है। यह भावों में विभक्त है। इसमें कुल 41 भाव है। यह रचना जयदेव के गीत-गोविन्द की रचना से थोड़ी अलग है। उक्त रचना स्थानीय तत्वों एवं शैली से प्रभावित है। जयदेव रचित गीत-गोविन्द के सर्ग एवं प्रबन्ध के अनुरूप इसकी रचना नहीं हुई अपितु यह रचना पद्य में न होकर के गद्य में है। इसके बारे में यह कहा जाएं कि यह गीत-गोविन्द का अक्षरश: अनुवाद नहीं है अपितु इसे गीत-गोविन्द शैली मे ढाला गया है तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। यह नाटक है जो कि गीत-गोविन्द पर आधारित है जिसे 'भागवत गोविन्द रागमाला' भी कहा जाता है।[1]

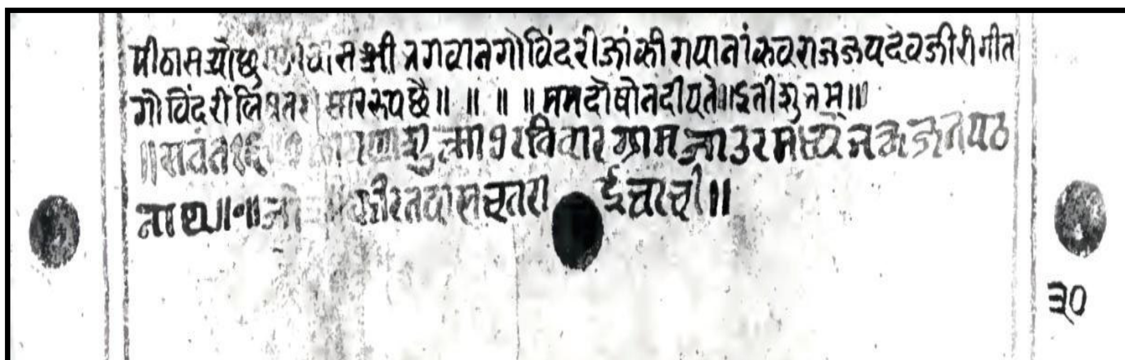
रचना की अंतिम पुष्पिका में इसको भगवान गोविन्द की झांकी की संज्ञा दी गई है और 'कविराज जयदेव री गीत गोविन्द री लिखत रो सार' कहा गया है। यह रचना न तो जयदेव के गीत-गोविन्द की टीका की श्रेणी मे आती है नहीं ये मंदिर में होने वाले कीर्तन एवं नृत्य के श्रेणी में आती है। यहाँ प्रयोग में झांकी शब्द महत्वपूर्ण है। झांकी से तात्पर्य है दृश्यकाव्य जो मंच पर प्रस्तुत कर दर्शनार्थियों का मनोरंजन कर सके। यह उत्तर भारत में प्रचलित लीला नाटक के समान है। जिसमें भावों के रूप में विभाजन होता जो कथा के एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव में जाने में बदलते है।[2]

---

1 Vatsyayan, Kapila. Jaur Gita Govinda. P.No .2

2 Ibid. P. No. 4

चित्र संख्या 6.1 : गीत गोविन्द का अंतिम पृष्ठ इसमें जानकारी मिलती है कि गीत गोविन्द की रचना जावर में हुई थी



किंतु इसको चित्रित कर कीरतदास ने इसको 'दर्शनों की पोथी' का रूप दे दिया है, जिसके प्रात: काल उठते ही दर्शन कर भक्त अपने को कृतकृत्य समझ सके।[1]

गीत-गोविन्द की भाषा बागड़ी और मेवाड़ी मिश्रित है। चूंकि यह जावर में लिखि गई थी। जहां पर वागड़ी भाषा का प्रभाव प्रारंभ हो जाता है। अत: मेवाड़ी के साथ इसमें वागड़ी भाषा का प्रभाव भी झलकता है।[2]

गीत-गोविन्द कथा के अनुसार लिखी गई है। जिसमें तीन मुख्य चरित्र है- राधा, कृष्ण एवं सखी। संवाद बिना किसी अलंकारिक भाषा का प्रयोग किए बेहद सरल तरीके से एवं वार्तालाप करते हुए है। यद्यपि कई स्थानों पर जयदेव के गीत-गोविन्द के क्रमानुसार न होकर के कुछ स्थानों पर इसमें परिवर्तन दिखाई देता है। फिर भी रचना को मूलकथानक के संदर्भ में देखने पर प्रतीत होता है कि रचनाकर गीत-गोविन्द की मूल रचना अर्थात् जयदेव के गीत-गोविन्द से परिचित था। रचनाकार पर जिसका प्रभाव अधिक रहा होगा वह कुंभा की रसीक प्रिया रही।

---

1 Vatsyayan, Kapila. Jaur Gita Govinda. P.No .102; ब्रजमोहन जावलिया, महाराणा प्रताप कालीन साहित्य, महाराणा प्रताप का युग, पृ.84

2 Jaur Gita Govinda. P.No.2

चित्र संख्या 6.2 : गीत गोविन्द में राधा एवं कृष्ण के संवाद के दृश्य



सचित्र ग्रंथ की महत्वपूर्ण विशेषता इसमें 'शब्द' एवं 'दृश्य' का सामंजस्य महत्वपूर्ण होता है। जो भाव शब्दों में है उसी का प्रदर्शन चित्रों के माध्यम से किया जाता है। गीत-गोविन्द के चित्रकार झांकी के निर्देशक की भूमिका में था। जावर में रचित गीत-गोविन्द के चित्रों को पूर्व एवं बाद के बने चित्रों से तुलना करने पर दिखता है कि यहाँ का चित्रकार अन्य की अपेक्षा बौद्धिक रूप से कम प्रभावशाली था किंतु उसके चित्रों में भावनात्मक संवेग अधिक था।[1]

चित्रकार ने लगभग उसी परंपरा को बनाए रखा जो पूर्व में चली आ रही थी जैसे- की गीत-गोविन्द के प्रारंभिक पृष्ठ पर दशावतार का चित्रण होता है जो यहाँ पर भी मिलता है।[2]

1 Jaur Gita Govinda. P.No. 72

2 Ibid P.No. 40

चित्र संख्या 6.3 : गीत गोविंद में दशावतार का चित्रण



स्थानीय भाषा के अतिरिक्त स्थानीय क्षेत्र का भी उल्लेख आया है। गीत-गोविन्द में स्थानीय स्थल का प्रयोग संभवत: पाठक वर्ग को कथा से भावनात्मक रूप से जोड़ना रहा हो। यहाँ केवड़े की नाल का उल्लेख है जो कि उदयपुर से जावर के मार्ग के बीच में स्थित है। दूसरा घूमर नृत्य का जिक्र है जो कि राजस्थान का प्रतिनिधित्व नृत्य है। इसके अतिरिक्त भी कई स्थानीय शब्दों एवं मुहावरों का प्रयोग हुआ है।[1]

गीत-गोविन्द बेहद सुन्दर सचित्र ग्रंथ जो कि धार्मिक एवं मनोरंजन दोनों की उद्देश्य से रचा गया था। यह कला का भी अद्भुत नमूना है। पश्चिमी भारतीय शैली की अंतिम श्रेष्ठ रचना भी थी।[2]

रागमाला

राग-रागिनियों के चित्रों का प्रारम्भिक स्वरूप 15वीं सदी से ही दृष्टिगत होता है। चूंकि मेवाड़ में कुंभा का काल संगीत के अभिवृद्धि के महत्वपूर्ण काल था। रायकृष्ण दास कहते है कि संगीत की इतनी उन्नति ने रागमाला के चित्रो की मांग की।[3]

चोरपंचाशिका के बाद निश्रदी द्वारा चित्रित रागमाला इस दिशा में किया गया महत्वपूर्ण कार्य है। नवीन अनुसंधान के अनुसार निश्रदी द्वारा चावण्ड रागमाला का चित्रण 1585 ई. में किया गया था। अत: यह अमरसिंह कालीन

---

1 Jaur Gita Govinda. P.No. 97

2 Changing face of Mewar Painting P.No. 29

3 भारत की चित्रकला, पृ. 58

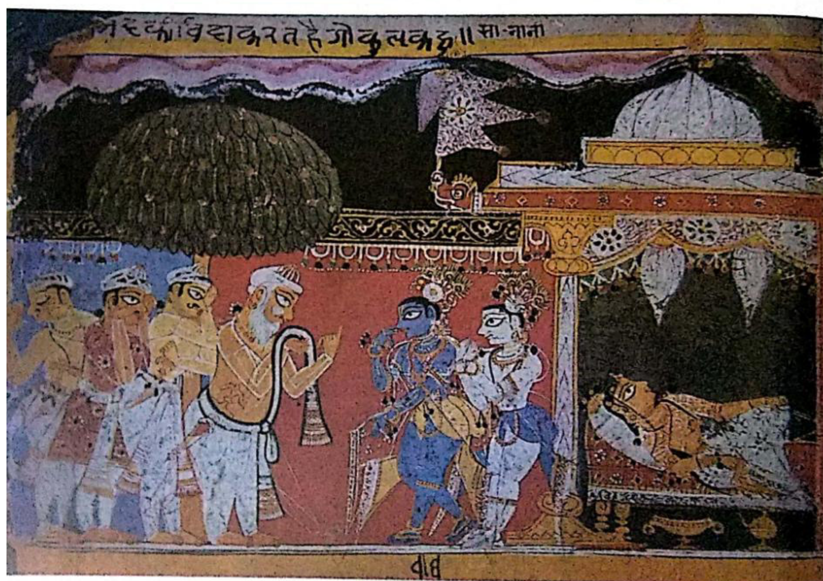
रचना न होकर इसका चित्रांकन महाराणा प्रताप के समय ही हुआ था। रागमाला का चित्रण कब हुआ था इसको लेकर विद्वानों संशय है। चूंकि जिस मारू राग की पुष्पिका पर जो तिथि अंकित है वह अस्पष्ट है किंतु प्रारंभिक विद्वानों ने इसे 1605 ई. माना किंतु कलाविदों ने मेवाड़ की पूर्व एवं परवर्ति काल में जो चित्र बने उनका विश्लेषण किया।

चित्र संख्या 6.4 : भागवत एवं रागमाला के चित्रों का तुलनात्मक विश्लेषण

भागवत में चित्रित महिला



रागमाला



नंद की बिदाई 1580 ई.

उनका मानना है कि निश्रदी द्वारा रागमाल में जो मानवाकृतियां अंकित हुई हैं, वे नि:संदेह ही मेवाड़ के पूर्व चित्रित भागवत पुराण के चित्र संख्या 19 नंद की विदाई (1580 ई.) में चित्रित नारी शुभ्रा एवं कृष्ण व बलराम जिसके चित्र सा. नाना ने बनाएं थे उनकी मुख मुद्रा तथा चित्र संख्या 26 दीपकराग की मुखाकृति

में शैलीगत ही नहीं अपितु चैत्रिक समानता भी ज्यों की त्यों मिलती है। इससे स्पष्ट होता है कि निश्रदी का रचना काल चित्र पुष्पिका में अंकित तिथि से पूर्व का रहा है। प्रसिद्ध कला समीक्षक प्रमोदचन्द संवत 1662 के अस्पष्ट अंको को सहीं नहीं मान कर चित्रों को इससे पूर्व निर्मित मानते है। श्रीधर अंधारे तो इसे वि. सं. 1532 (1575 ई.) की रचना मानते है। उनके अनुसार इसमें सल्तनत कालीन कला की कई विशेषताएं दृष्टिगत होती है। निश्रदी दिल्ली से चावण्ड आया तो वहां की विशेषताएँ भी इसके साथ आई।[1]

रागमाला में एक राग के साथ पाँच रागिनियां (पत्नियां) मानी गई हैं जिसमें 36 या 42 चित्र बनते हैं। चावण्ड के चित्रित चित्रों मे एक राग की छः पत्नियां मानकर 42 चित्रों का रागमाला ग्रंथ तैयार किया गया है। इनमें राग के पुत्र व पुत्रवधुओं तक को जोड़कर 72-76, 80, 84 तथा 108 तक के चित्र-सम्पुट बने हैं। चावण्ड का उक्त चित्र सम्पुट 42 चित्रों का है जिस में अभी 26 चित्र ही मिले है।[2]

इन चित्रों पर अंकित आकृतियां व शैली चौरपंचशिका के अनुरूप है। पुरूष के मुंह की आकृतियां इस प्रकार चित्रित है कि इससे राजपूती वीरता, अभिमान एवं शौर्य का प्रदर्शन होता है। पुरूष की बड़ी-बड़ी मूछे तथा गलमुच्छे चित्रित कि गई है। आंखे मोटी, नाक तथा ठुड्डी लम्बी, औरतों का मुख गोल, अपभ्रशं शैली के समरूप है। मारू रागिनी में ऊंट गेरूए रंग में, आदमी का लाल जामा, सफेद पगड़ी, स्त्री का घाघरा लाल, चोली पीली, काले फुन्दके अलग रंगों में, पृष्ठ भूमि बेंगनी व आसमान का बहुत सुहावना चित्रण हुआ है।[3]

दीपक राग में दरबार का चित्रण किया है जिसमें राजा व रानी तथा संगीतज्ञ साथ मे दासी को चित्रित किया गया है। निश्रदी ने रागमाला का जो चित्रण किया है उसमें कुलेहदार समूह के चित्रों की परम्परानुसार चित्रण हुआ है।

---

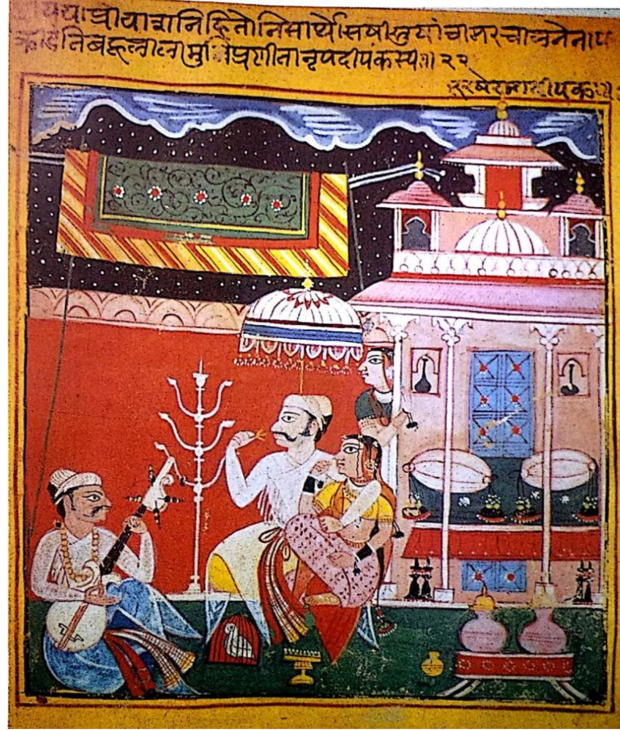
1 Art and Artiests of Rajasthan. P.No. 68

2 Ibid P.No. 56

3 Ibid. P.No. 22

इन चित्रों में तत्कालीन कुलेहदार पगड़ी, जामा, तत्कालीन राजप्रसादों तथा भवनों का अच्छा चित्रण हुआ है।

चित्र संख्या 6.5 : दीपक राग, चावण्ड रागमाला



चावण्ड राग माला के दो प्रमुख चित्र जो बाद में मिले है 'गौडकरी रागिनी' और 'दीपक राग'। इनमें नारी मुद्रायें कुलेहार चित्र समूह के चित्रों में हूबहू समान है। खुले नेत्र, साड़ियों का अंकन आदि चौरपंचाशिका के चित्रों में वर्णित छत्र एवं दीपक राग के अनुरूप मिलता है।[1]

रागमाला में जिस दक्षतापूर्ण तरीके से रागों का वर्णन किया गया है यह कलाकार की प्रतिभा का बेजोड़ नमूना है। इस कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि मानव के परिष्कृत एवं सूक्ष्म मनौविज्ञान पर आधारित है। कला के क्षेत्र में इसका अपना एक अलग स्थान है। रंगों का सामंजस्य बड़ा प्रभावपूर्ण है। निश्रदी ने रागमाला का सचित्र वर्णन करते हुए चित्रों के ऊपर भी राजस्थानी में दोहे लिखे है।[2]

---

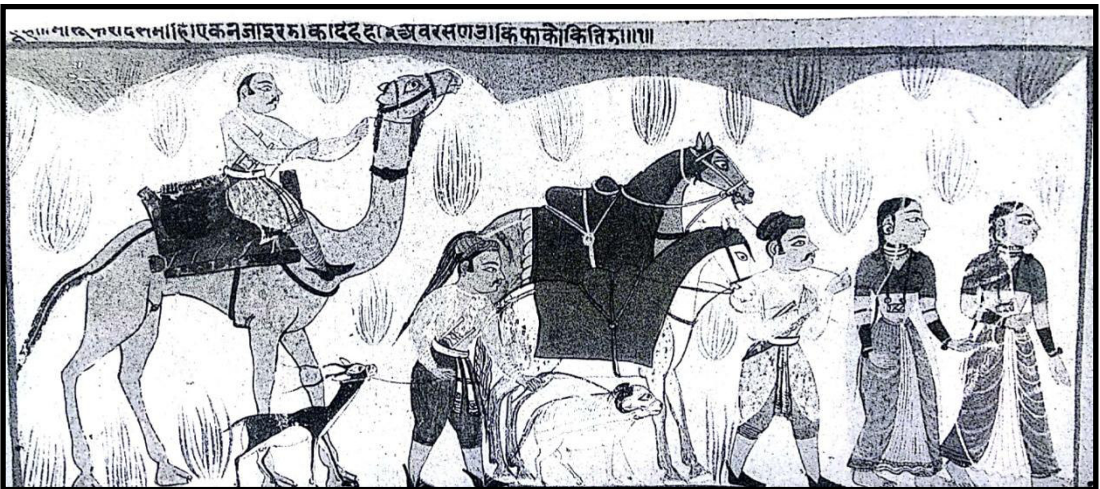
1 Art and Artiests of Rajasthan. P.No. 23

2 Changing face of Mewar Painting P.No. 32

ढोला मारू का चित्र

महाराणा प्रताप के काल में गीत-गोविन्द एवं रागमाला के बाद ढोला-मारू पर विस्तृत चित्रों की रचना हुई थी। आहड़ में 1592 ई. में चित्रित ढोला मारू का चित्र सम्पुट राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में सुरक्षित है। इसमें 104 चित्र हैं, पुष्पिका में कार्तिक सुदी 13 सं. 1649 का उल्लेख है। जिसमें प्रताप कालीन समाज की कला की अभिव्यक्ति दिखाई देती है। इसमें विषय वस्तु का क्रमबद्ध चित्रण है। घुड़सवारों के काफिले में नारी आकृतियां व शिकार के चित्र में पहनावा, पशु-पक्षियों व पेड़-पौधों का गतिपूर्ण अंकन चावण्ड के चित्रों से प्रभावित दिखते है। इनमें भवनों का अलंकरण चौरपंचाशिका एवं भागवत के समरूप है यही नहीं चित्र में नीचे जमीन पर अंकित पत्र-पुष्प के सांकेतिक अभिप्राय प्राचीन भागवत एवं गीत गोविन्द की श्रृंखला में पाते है। चित्रों की रंग योजना स्थानीय है। मटमैले रामरज पीले एवं गेरूए लाल रंगों को गहरी हरी या काली पृष्ठभूमि में उभारा है।[1] प्रताप का काल मेवाड़ी चित्रकला के क्रमिक विकास एवं पश्चिमी भारतीय चित्रकला के चरम उत्कर्ष का काल था। प्रताप कालीन चित्रकला में धर्म, कला एवं मनोरंजन का समन्वय दिखाई देता है।

चित्र संख्या 6.6 : घुड़सवार के काफिले का चित्र, 1592 ई. में आयड़ में चित्रित ढोला मारू की चौपाई[2]



1 Changing face of Mewar Painting P.No. 22

2 Art and Artist of Rajasthan

चित्र संख्या 6.7 : शिकार का चित्र, ढोलामारू की चौपाई



चित्र संख्या 6.8 : यात्रा का चित्र : ढोला मारू की चौपाई



रागमाला का चित्रण संगीत की समृद्ध परंपरा का द्योतक है। प्रताप का राज्य काल केवल संघर्ष एवं विध्वंस का समय नहीं था अपितु यहाँ शांति एवं सृजन भी हो रहा था। प्रताप के काल में भित्ति चित्रों का विकास भी दिखाई देता है। चित्तौड़ में भामाशाह की हवेली पर तथा सगत रासो से जानकारी मिलती है कि गोगुंदा के महलों पर भी भित्ति चित्र बने हुए थे।

स्थापत्य कला

मेवाड़ में स्थापत्य के प्रारंभिक अवशेष आहाड़ सभ्यता से ही दिखाई देते है। स्थापत्य कला का मेवाड़ के इतिहास में स्वर्ण काल की अगर बात की जाएं तो महाराणा कुंभा का शासन काल सर्वाधिक उपयुक्त लगता है। कुंभा के राज्य काल में स्थापत्य कला में अद्भुत उन्नति देखने को मिलती है। इसी काल में

सर्वाधिक निर्माण कार्य हुए थे। कुंभा का दरबार कई वास्तुकारों का संरक्षण स्थल था। जहां तत् समय का सबसे प्रसिद्ध कलाविद् मण्डन कुंभा के दरबार में उपस्थित था। कुंभा के परवर्ती काल में जो भी निर्माण कार्य हुए उनमें मण्डन की शैली का ही अनुसरण किया गया। कुंभा के बाद के काल में स्थापत्य कला में एक ठहराव दिखाई देता है। फिर भी प्रताप के राज्य काल में भी स्थापत्य संबंधी गतिविधियां दिखाई देती है। प्रताप कालीन कला में स्थापत्य कला का भी अहम् स्थान है।

प्रताप काल की कला की एक अहम् विशेषता जो दिखाई देती है वह उसकी जन-उपयोगिता है। भले ही वह साहित्य हो या चित्रकला उसकी रचना लोकोपचार का दृष्टिगत रखकर किया गया था। यहीं विशेषता स्थापत्य कला में भी दिखाई पड़ती है। इस काल में ज्यादातर निर्माण कार्य जलाशय, बावड़ी एवं मंदिर के रूप में हुआ था। जिसका संबंध राजसी कला से न होकर के आमजन से जुड़ाव वाली अधिक थी।

जलाशय एवं सुरक्षा स्थलों का निर्माण

सुंधा के पहाड़ों में स्थित लोयणा ग्राम में रहते हुए महाराणा प्रताप ने जलापूर्ति के लिए एक बावड़ी और बगीचा बनवाया था। प्रताप के हाकिम ताराचंद ने सादड़ी (गोड़वाड़) में रहते हुए वहाँ भव्य बावड़ी का निर्माण कराया जो वास्तुविन्यास की दृष्टि से अपना अपना विशेष स्थान रखती है।[1]

इसके अलावा प्रताप ने गोड़वाड़ में रहते हुए नाणा और बेड़ा में कुण्ड का निर्माण करवाया[2] और मायरा, रानीमाल्या[3] की गुफा का प्रयोग क्रमशः शस्त्रागार एवं आवास के रूप में किया। प्रताप ने नवीन दुर्ग एवं महलों का निर्माण नहीं कराया था। इसके पीछे संसाधनों का रचनात्मक प्रवृत्ति का अभाव कम अपितु सैन्य रणनीति का एक अहम् हिस्सा भी था। प्रताप के शासनकाल में सुरक्षात्मक दृष्टि से छोटी-मोटी गढ़ियों का निर्माण अवश्य हुआ होगा। जावर के क्षेत्र में जो कि प्रताप कालीन राजधानी चावण्ड के समीप था वहां पर कई गढ़ियां जो सैन्य

1 उदयपुर राज्य का इतिहास, भा. 2 पृ.

2 हुकुमसिंह भाटी, महाराणा प्रताप: ऐतिहासिक अध्ययन, पृ. 73

3 गोगुंदा की ख्यात, पृ. 83

चौकियों के रूप में रही होगी। अवश्य ही इनका संबंध प्रताप के शासन काल से रहा होगा। क्योंकि प्रताप के अतिरिक्त कोई महाराणा ने यहाँ नहीं रहा था जिससे सुरक्षा के पुख्ता इंतजाम की इतनी आवश्यकता हो।

किसी भी वर्ग का व्यक्ति हो सभी के लिए मंदिर एवं जलाशय जीवन का आवश्यक अंग रहे है। प्राचीन धर्म ग्रंथों में तो इनके निर्माण को पुण्य का कार्य बताया गया है। अग्नि पुराण में तो उल्लेख मिलता है कि जो देवता के लिये मन्दिर-जलाशय आदि के निर्माण कराने की इच्छा करता है, केवल उसका शुभ संकल्प ही उसके हजारों जन्मों के पापों का नाश कर देता है।[1] मेवाड़ में मंदिर निर्माण की एक समृद्ध परंपरा दिखाई देती है। यहीं प्रताप के राज्य काल में भी जारी रहीं। प्रताप के शासन काल में मंदिरों के जीर्णाद्धार का कार्य अधिक हुआ था। इस समय में बने प्रमुख मंदिर का उल्लेख आता है जिसमें जावर तथा बादरायण का हरिहर मंदिर प्रमुख है।

मंदिर

शिव मंदिर



जावर माता मंदिर के दक्षिण में टीरी नदी के दूसरे छोर पर शिव मंदिर है जो कि वैद्यनाथ शिव मंदिर के नाम से जाना जाता है। रमानाथ, जावर माता एवं जैन मंदिरों की अपेक्षा इसका स्थापत्य सामान्य है। इस मंदिर के बारे में जानकारी बेहद कम है। यद्यपि मंदिर के सभा मंडप के स्तंभों पर बहुत कुछ लिखा गया है किंतु इस पर रंग कर दिए जाने की वजह से इससे पढ़ना कठिन हो गया है। किंत थोड़ा बहुत पढ़ने में आया है वह इस प्रकार है-

1 अग्नि पुराण

सिधरू शिव शक्ति प्रसादात् ....श्री री यात्रा सफल सम्वत् 1648 बरषे माग शुदि; बुदिद्ध 3 दिने र. पोमा र. महा र.मह र. वसता

एक अन्य स्तम्भ पर कुछ इस प्रकार लिखा है-

साह किस्ना स. नरहरि......व......ना......सा......ह......राम वान न...... सुत......त; प्रतिष्ठा करावि साह सो।

उपर्युक्त स्तंभ लेखों से यह प्रतीत होता है कि यह कोई धार्मिक यात्रा 3, सुदि अथावा बुदि माघ माह, वि.सं. 1648 (1591 ई.) को सफलतापूर्वक पूरी हुई।

इस मंदिर का पूर्व में भी जीर्णोद्धार हो चुका था। 1553 ई. में गदाधर द्वारा जीर्णोद्धार करने का उल्लेख मिलता है।[1]

यह शिव मंदिर सप्तरथ शैली में निर्मित है। जहां समीप स्थित जावर माता मंदिर में दो मंजिल का मंडप बना हुआ है जो कि एकलिंग जी मंदिर के समान है। यह सोमपुरा स्थापत्य शैली से प्रभावित है।[2]

चित्र संख्या 6.9 : जावर स्थित शिव मंदिर का चित्र



1 Deboranh Stein."Smelting Zinc and Housing the Divine at Jawar." Artibus Asiae Pubishers. Vol 72, No.1 (2012), P.no.157; जावर का इतिहास, पृ. 43

2 Deboranh Stein."Smelting Zinc and Housing the Divine at Jawar." Artibus Asiae Pubishers. Vol 72, No.1 (2012), P.no.156

वहीं पर शिव मंदिर में दो मंजिला मंडप को छोड़कर मोटे तौर पर जावर माता मंदिर के समान ही है। जहां जावर माता का मंदिर आंतरिक एवं बाह्य दीवारों पर विभिन्न पशु एवं मानव आकृतियों से सुसज्जित है वहीं शिव मंदिर की बाह्य दिवार अलंकरण रहित है। गर्भगृह के तीन ओर गवाक्ष में प्रतिमा स्थापित की गई थी किंतु ये चोरी हो जाने के कारण वर्तमान मे मौजूद नहीं है। चूंकि यहाँ पर शिव लिंग स्वयंभू होने से कोई अलंकृत प्रतिमा नहीं है किंतु गर्भगृह के बाहर स्थित द्वार बेहद सुन्दर है। मंदिर के द्वार जावर माता के मंदिर के समान ही बेहद अलंकृत है। द्वारपाल की प्रतिमा गदा, चक्र धारण किए हुए है व शरीर आभूषणों से सुसज्जित है। द्वार के ऊपरी हिस्से में गणेश व हाथियों की मूर्तियां है। मण्डप की छत व स्तंभ सादगी पूर्ण है।

जावर क्षेत्र में बड़ी संख्या में जैन, शिव एवं शक्ति के मंदिर मिलते है। स्टीन का मानना है कि यह मंदिर वणिक एवं राजपूत समुदाय के सुदुढ़ संबंधों के प्रतिक है।[1]

प्रताप के चावंड में राजधानी स्थानांतरित करने के बाद इस क्षेत्र में मेवाड़ के राज्य प्रशासन का प्रभाव भी बड़ा होगा क्योंकि यह क्षेत्र राजधानी के समीप था।

जावर माता का मंदिर

प्रताप के मंत्री वर्ग द्वारा भी यहाँ निर्माण कार्य करवाने का उल्लेख मिलता है। जावर माता के मंदिर की जानकारी महाराणा लाखा एवं मोकल के समय से ही जानकारी मिलती है। मेवाड़ पर हुए आक्रमण के समय आक्रांता द्वारा इसे कई नुकसान पहुँचाया था। रायमल के काल में मालवा के बादशाह द्वारा इस मंदिर को क्षति पहुँचाई थी। भामाशाह ने यहाँ रहते हुए इस मंदिर का पुनर्निर्माण करवाया था।[2]

---

1 Deboranh Stein."Smelting Zinc and Housing the Divine at Jawar." Artibus Asiae Pubishers. Vol 72, No.1 (2012), P.no.157

2 बलवन्त सिंह मेहता, कर्मवीर भामाशाह, महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ, पृ.114

चित्र संख्या 6.10 : जावर माता मंदिर का चित्र



बलवन्त सिंह मेहता ने अपने लेख में भामाशाह द्वारा करवाये गए जीर्णाद्धार की जानकारी देने वाले वि. सं. 1650 के शिलालेख का उल्लेख किया है। किंतु वर्तमान में ऐसा कोई शिलालेख दिखाई नहीं देता है। संभव है कि मंदिर के आधुनिकीकरण के दौरान यह कहीं दब गया हो। चूंकि प्रताप द्वारा जिन हरि विजय सूरि को पत्र लिखकर मेवाड़ में आमंत्रित किया था। उन्हीं के शिष्य महोपाध्याय श्री क्षेमक विजय गणि का जावर आने का उल्लेख मिलता है। अत: संभव है कि जैन धर्म का प्रभाव क्षेत्र होने से भामाशाह ने मंदिर पुनर्निर्माण किया हो। यहाँ यह भी जनश्रुति प्रचलित है कि माता ने भामाशाह के स्वप्न में आकर यहाँ पर एक मंदिर का निर्माण करवाने को कहा अत: भामाशाह ने माता के आदेश की पालना करते हुए जावर माता का मंदिर बनवाया।

हरिहर बदराना

प्रताप के काल के संदर्भ में कहा जाता है कि कमलनाथ-आवरगढ़ के आवास के समय महाराणा प्रताप ने बदराना ग्राम में हरिहर के मन्दिर का निर्माण करवाया था।[1]

---

1 आर. पी. व्यास, महाराणा प्रताप, पृ. 202

किंतु शिलालेखीय स्त्रोत इस मंदिर को प्रताप के राज्य काल से बहुत पुराना बताते है। जनश्रुति परंपरा में इसे प्रताप कालीन बताया जाता रहा है। हरिहर के समक्ष बड़े व छोटे दो गरूड़ की प्रतिमाएं स्थापित कि हुई है। बड़े गरूड़ की प्रतिमा के नीचे एक संक्षिप्त शिलालेख खुदा हुआ है जो कि वि. सं. 1211 (1154 ई.) का है। अत: यह मंदिर प्रताप से पूर्व ही विद्यमान था। यहाँ हरिहर की काले शिष्ट पत्थर की बेहद सुन्दर प्रतिमा है। प्रताप द्वारा मंदिर निर्माण न करवा कर इसका जीर्णोद्धारा करवाना संभव है।

महल

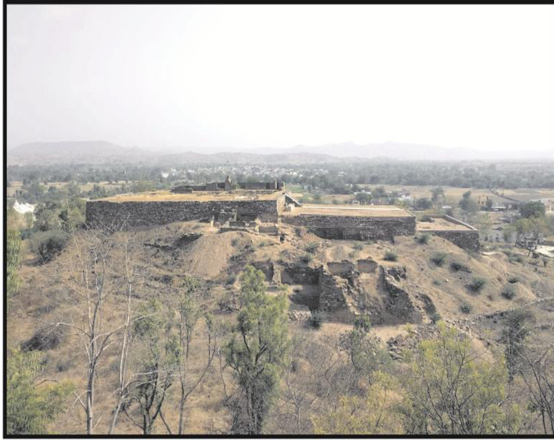
चावंड के महल

चावंड उदयपुर से करीब 56 कि. मी. दूर दक्षिण-पूर्व में स्थित है। यह गरगल नदी के बांये किनारे पर बसा हुआ है। लूणा राठौड़ को पराजित कर प्रताप ने चावंड को अपनी राजधानी बनाया। चावंड 1615 ई. में मेवाड़-मुगल संधि तक मेवाड़ की राजधानी रही थी। [1]

चावंड प्राचीन वास्तुशास्त्र के ग्रंथों के दिशा-निर्देशों के अनुरूप निर्मित है। प्राचीन वास्तु ग्रंथों के अनुसार राजधानी नदी एवं पर्वत के समीप होने चाहिए ताकि उससे कृषि के लिए सिंचाई की सुविधा मिल सकें तथा निर्माण कार्य के लिए पत्थर एवं लकड़ी व राजस्व हेतु खनिज प्राप्ति हो सकें। मानसार, मयमत जैसे वास्तु ग्रंथों में राजधानी नदी के पूर्व दिशा में स्थापना करने के लिए कहा है। उपर्युक्त निर्देशों के अनुरूप ही राजधानी चयन की हुई प्रतीत होती है।[2]

1 छपन्नस्थितराठोड़ा: हतास्तन्मस्तकै: कृत।।18.11।। अमरकाव्यम्, सूरखण्ड प्रशस्ति, राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत, पृ.169

2 Architectural Glories of Mewar, P.no.29



चित्र संख्या 6.11 : चावण्ड़ का महल



चित्र संख्या 6.12 : महल का ऊपरी भाग



चित्र संख्या 6.13 : महल के द्वितीय तल



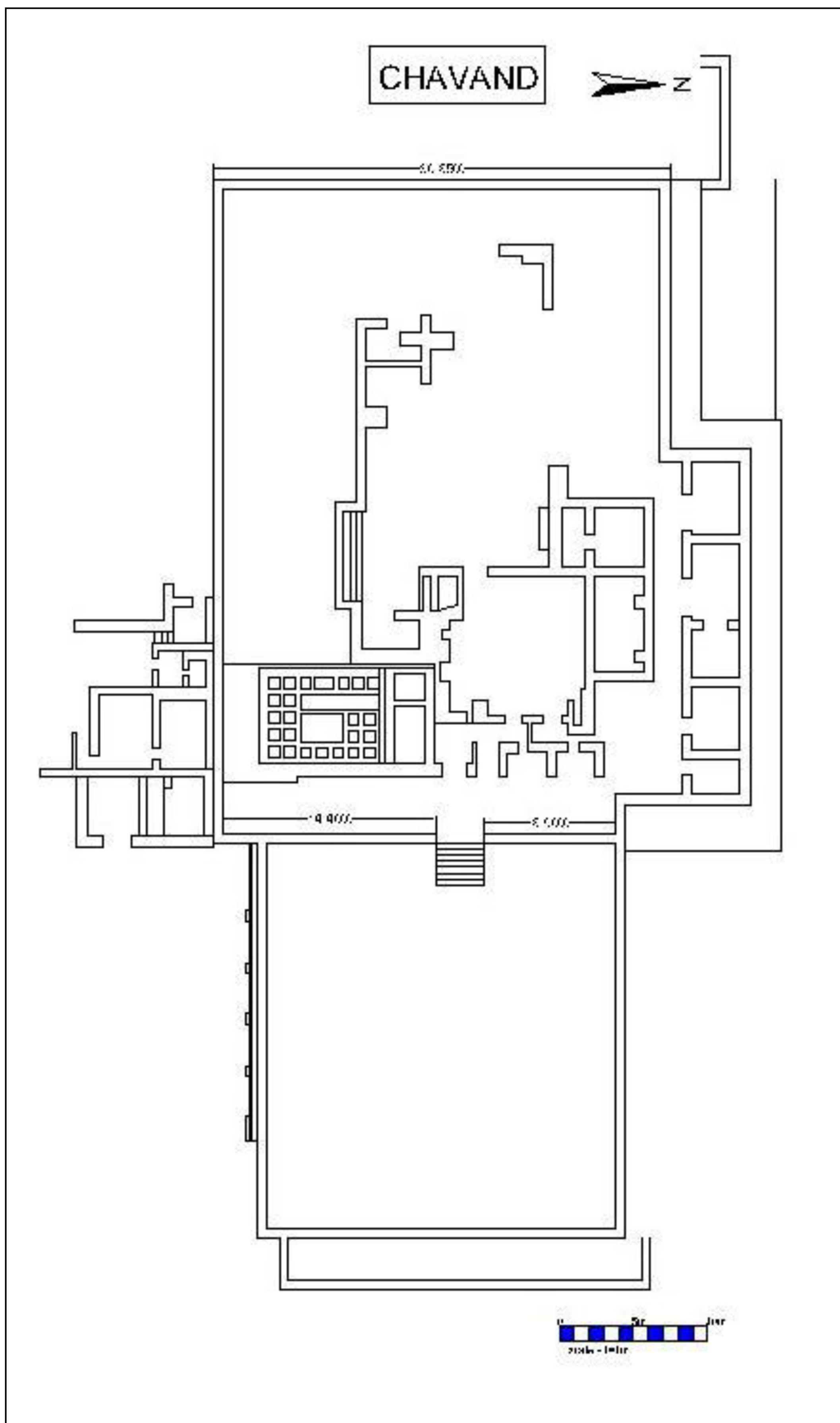
चित्र संख्या 6.14 : जल शुद्धि करण हेतु निर्मित





चित्र संख्या 6.15 : महल के स्तम्भ के अवशेष

MAP NO. 6.1 : GROUND PLAN OF CHAVAND FORT



प्रताप कालीन महल स्थापत्य में चावण्ड का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। प्रताप ने अपने जीवन का शांति काल चावंड मे ही बिताया था अत: यहाँ रहते हुए उसके द्वारा किया गया निर्माण कार्य प्रताप कालीन भवन स्थापत्य कला का जानने का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत है। किंतु दुर्भाग्य से आज चावंड दुर्ग बस एक खंडहर मात्र रह गया है। इसके पुरावशेषों के बारे में गोपीनाथ शर्मा ने कहा है कि,"इनकी निर्माण शैली उदयसिंह एवं महाराणा कुंभा कालीन इमारतों से साम्यता है। यहाँ भग्नावशेषों की चौपालों तथा कमरों की बनावट चित्तौड़ के कंवर पदो के महलों सी है, परन्तु आकार तथा प्रकार की कुछ विशेषताएं पूर्व की शैली से भिन्न है। इसी शैली का ही सुंदर रूप बड़े पैमाने पर राजसिंह काल में देख जाता है। इन महलों के स्थापत्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता स्थापत्य कला ने युद्ध कालीन भीषणता को बनाए रखा है। हर स्थान पर बचाव, रक्षा, सुदृढ़ता आदि तथ्यों का ध्यान में रखा गया है। परंतु राजसिंह कालीन सजावट का लवलेश मात्र इनमें नहीं दिखाई देता है। सम्पूर्ण राजप्रसाद के स्वरूप में अनायास प्रताप के कठोर जीवन की झांकी देख सकते हैं, मानों कि बनाने वाले ने प्रताप के जीवन का ठीक नमूना महलों के रूप में रख दिया हो। ये महल युद्ध कालीन स्थापत्य कला के अनूठे उदाहरण हैं।"[1]

इन महलों के पास सामंतों के बने हुए महलों के आकार भग्नावस्था में दिखाई देते हैं। कुछ एक दीवारों के निषान से हम अनुमान लगा सकते हैं कि सामंतों की बस्ती के मकानों में कुछ कमरे, चबूतरे व खुली घुड़साल होती थीं और मकानों को बांस और केलु से ढका जाता था। दीवारों के ढेरों में कई बांस के टुकड़े और लम्बे आकार के मजबूत 'केलू' अब भी वहां लगे ढेर में देखने को मिलते हैं। इस बस्ती से कुछ दूर कच्चे मकानों के ढेर भी हैं जो जन साधारण की बस्ती के हैं। इस बस्ती से वर्तमान बस्ती मिल सी गई है। मकानों की बनावट सादी है, जिनमें मुख्य द्वार के पीछे आंगन और आंगन के आगे चौपाल और एक दो बड़े कमरों के सिवाय कुछ नहीं दिखाई देता। रास्ते ऊँची-नीची भूमि पर हैं और उनका

1 ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ. 57

कोई निश्चित क्रम नहीं हैं। उस युग में साधारण बस्ती की बनावट और विशेष अधिकारी वर्ग की बस्ती की बनावट में कुछ भेद अवश्य होता था।[1]

चावंड में शोध कार्य के दौरान किए गए सर्वे से यह स्पष्ट होता है कि यह दुर्ग प्रताप के आगमन से बहुत पुराना था। प्रताप से पूर्व यह क्षेत्र राठौड़ों के अधीन रहा था।[2]

इस दुर्ग के दो भाग दिखाई देते है एक भाग जो प्रताप से पूर्व मौज़ूद था दूसरा वह भाग जिसे प्रताप के समय में निर्माण कर विस्तृत किया। प्रताप से पूर्व के पुराने भाग की पृष्टि वहां से प्राप्त होने वाली ईटों से होती है। यहाँ मुगलिया ईटों से पूर्व काल की बड़ी-बड़ी ईटें बड़े पैमाने पर मिली है। दूसरा पुराने दुर्ग का भाग पत्थरा या ईटों पर खड़ा न होकर के यह जावर से जस्ता प्रगलन में प्रयोग किए जा रहें मूसों के ढेर पर है। इस क्षेत्र में आसपास और कहीं पर मूसों का प्रयोग दिखाई नहीं देता है। इस दुर्ग के आधार में मूसों का प्रयोग यह बताता है कि यहाँ जस्ता लाकर प्रगलन करने का प्रयास किया गया होगा। प्रताप से पूर्व यह सामंत का आवास था अत: बहुत बड़े दुर्ग की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। प्रताप द्वारा राजधानी बनाने के बाद प्रशासकीय एवं आवासीय आवश्यकता के अनुरूप दुर्ग का विस्तार किया गया। यहाँ दरबार, रनिवास, सामंत एवं प्रमुख अधिकारियों के निवास की जरूरतों को पूरा करना था। चावंड वैसे तो यह महल है जो आवासीय आवश्यकता का पूरा करता है। चूंकि शत्रु के आक्रमण का भय रहता था। अत: महल के चारों और सुरक्षा दीवार बना कर इसे दुर्ग का रूप दिया गया है। अस्तबल भी महल के एकदम समीप ही है। महल के ऊपर बनी छोटे-छोटे कुण्ड पानी शुद्धिकरण के लिए निर्मित हुए प्रतीत होते है। ये सभी कुण्ड एक-दूसरे से मिट्टी के पाइप द्वारा जुड़े हुए है। पानी के कुण्ड इतनी ऊँचाई पर होने का मतलब है कि पानी को लिफ्ट करके ऊपर लाया जाता होगा।[3]

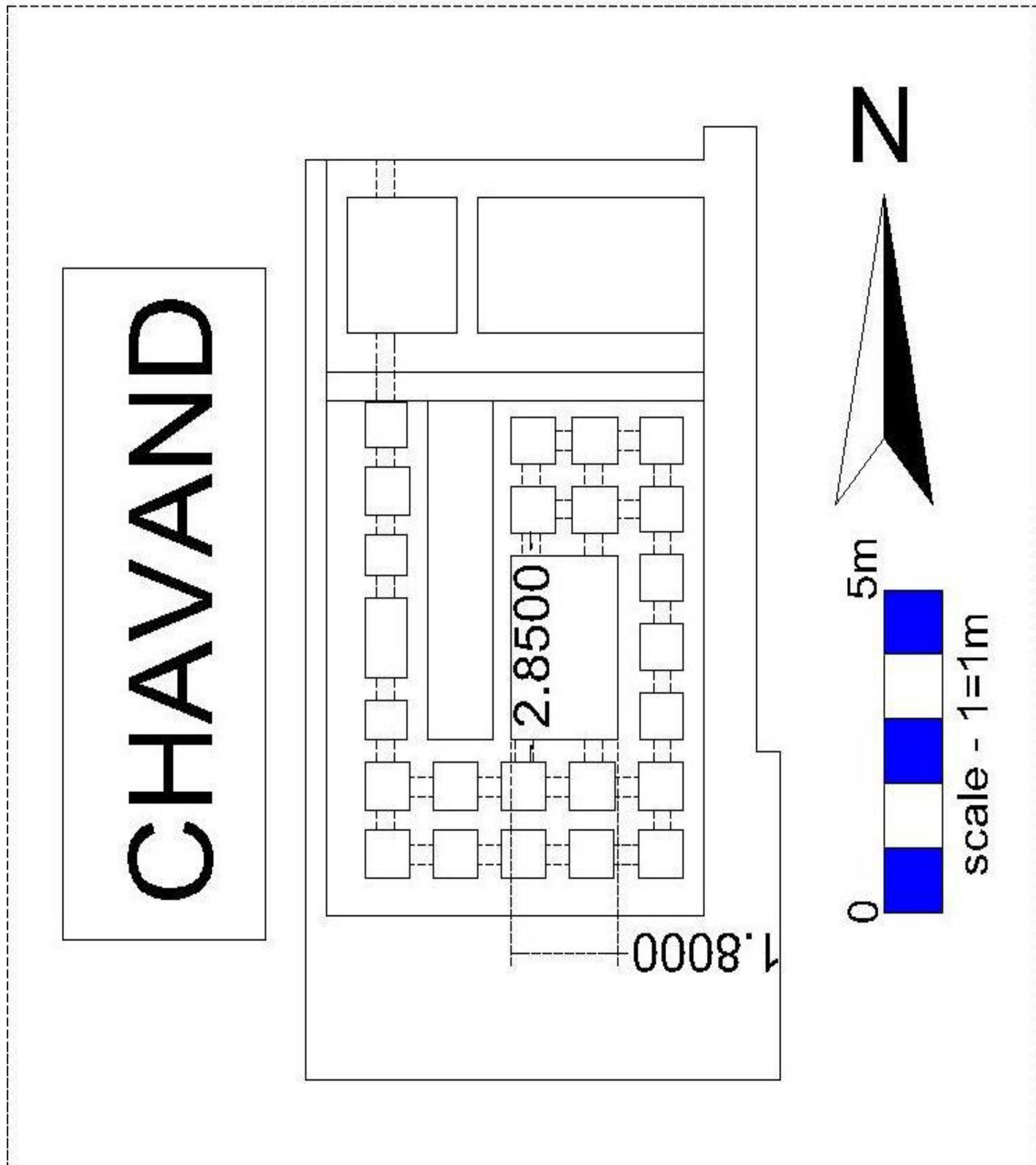
---

1 ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ. 58

2 नैणसी की ख्यात, भा.-1 पृ. 40

3 चावण्ड के व्यक्तिगत सर्वेक्षण के आधार पर

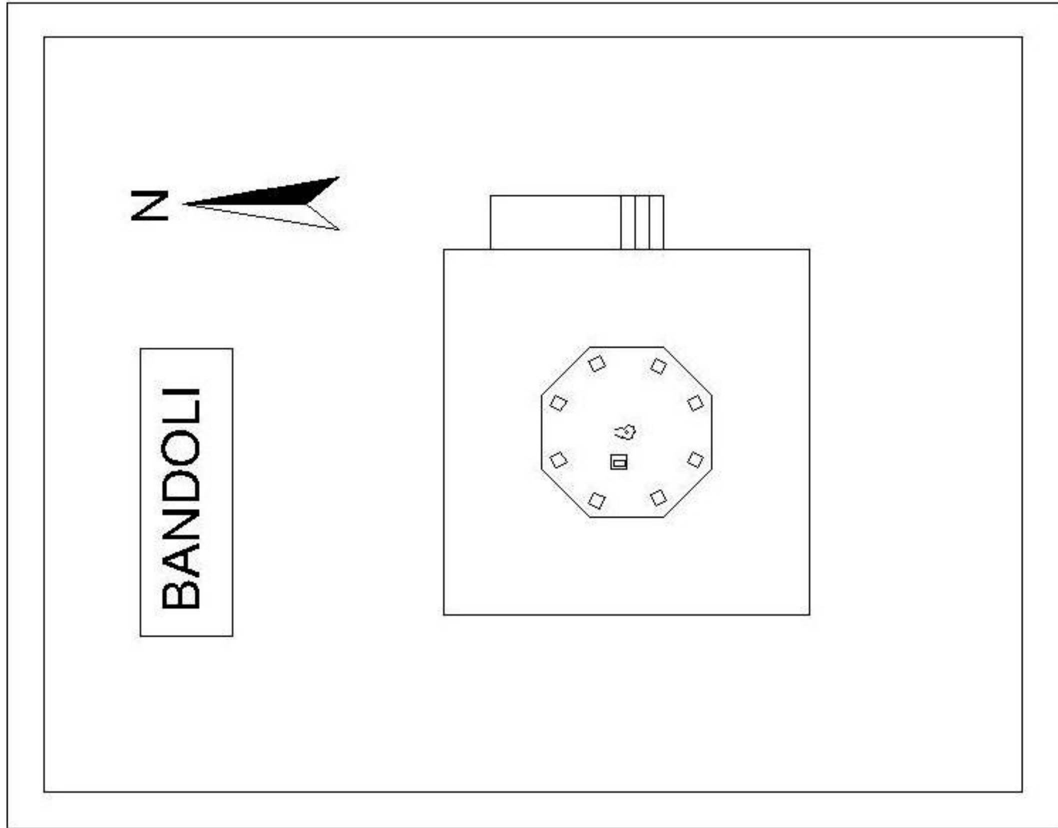
MAP NO. 6.2 : WATER PURIFICATION SYSTEM AT CHAVAND FORT



चावंड महल एवं दुर्ग का सम्मिश्रण है। प्रताप एवं अमरसिंह के राज्य काल में इसका विस्तार हुआ। मूल महल तो छोटा ही था जहां लूणा राठौड़ निवास करता था। राजधानी के रूप में इसकी स्थापना एवं प्रताप के समय मुगल आक्रमण का भय तथा अमरसिंह के काल में हो रहे निरंतर हमलों ने इसके सुरक्षात्मक निर्माण पर अधिक ध्यान दिया। यहाँ के स्तंभ इसकी सादगी एवं

कला के पक्ष की निरंतरता को बताते है। चावण्ड दुर्ग के समीप स्थित बाडोली के तालाब के मध्य में प्रताप की छतरी बनी।

मानचित्र संख्या 6.3 : प्रताप की छतरी



इतिहासकारों ने प्रताप कालीन कला के पक्ष में बहुधा यह विचार व्यक्त किए है कि प्रताप अकबर जैसे शक्तिशाली मुगल शासक से लड़ रहा था तथा मेवाड़ के उपजाऊ प्रदेश मुगलों के अधीन चले जाने से सृजन कार्य बाधित हुआ। सृजन कार्य हेतु शांति एवं संसाधन का होना प्राथमिक आवश्यकता मानी जाती है। इसी प्रकार के प्रश्न कुंभा काल पर भी उठते आएं है। कुंभा गुजरात, मालवा एवं नागौर से दीर्घकालीन संघर्षों में उलझे रहे। अत: इतिहासकारों के एक वर्ग सदैव यह आपत्ति करता है कि जब कुंभा एक दीर्घकालीन संघर्ष में उलझे हुए थे तो उन्हें कला एवं साहित्य के लिए अवकाश कहां से मिला। समय एवं संसाधन विनाशात्मक कार्य में लग रहे थे। यहाँ प्रताप एवं कुंभा के मध्य तुलना करना

कदापि उद्देश्य नहीं है। बल्कि इस तथ्य पर जोर देना अधिक है कि संघर्ष के दौर में भी प्रताप लोकोपयोगी कलात्मक कार्य में संलग्न थे। प्रताप कालीन कला की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि यह राज्याश्रित के साथ-साथ कुलीन एवं जनआश्रित कला थी। यह कला के विविध पक्षों को तो जानने में मदद करता है साथ ही यह भम्र तोड़ने में भी सहायक है कि प्रताप का काल अभावों का समय था। जहाँ जन आश्रित कला इस दौर में आमजन के सहयोग से मंदिर के निर्माण एवं जीर्णोद्धार का कार्य हो रहा था वहां अर्थाभाव होना कठिन है। प्रताप के राज्य काल में पौराणिक, ऐतिहासिक, ज्योतिष, आयुर्वेद एवं व्यवहार आदि विषयों पर साहित्य की रचना हुई। कला में चित्रकला, संगीत कला एवं स्थापत्य में भी कार्य होता दिखता है।

***

संदर्भ ग्रंथ सूची

संदर्भ ग्रंथ सूची

संस्कृत

1. अमरकाव्यम् (सं. शक्ति कुमार शर्मा और राजेन्द्र प्रकाश भटनागर), साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, 1985
2. अमरसार (सं. भानु कुमार शास्त्री), अंकुर प्रकाशन, उदयपुर, 2010
3. एकलिंग महात्म्य (सं. प्रेमलता शर्मा) , मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1976
4. काश्यपीकृत कृषी पद्धति (सं. श्री कृष्ण जुगनू), चौखम्बा, वाराणसी, 2013 (प्रथम)
5. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् (सं. वाचस्पति गैरोला), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2013
6. पृथ्वीराजविजयमहाकाव्यम् (सं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी), राजस्थान ग्रंथागार, जोधपुर, 2011
7. मनु स्मृति (अनु. गिरिजा प्रसादा द्विवेदी) , नवल किशोर विद्यालय , लखनऊ, 1917
8. राजप्रशस्तिः महाकाव्यम् (सं. मोतीलाल मेनारिया), साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, 1973
9. राजरत्नाकरमहाकाव्य (सं. मूलचन्द्र पाठक), राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रन्थांक-201
10. रूपमण्डन (सं. बलराम श्रीवास्तव), मोतिलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1989
11. विश्ववल्लभ (अनु. शिवचरण लाल चौधीरी), एशियन एग्री-हिस्ट्री फाउण्डेशन राजस्थान चेप्टर, उदयपुर

12. वृक्षायुर्वेद (अनु. शिवचरण लाल चौधरी), एशियन एग्री हिस्ट्री फाउण्डेशन, उदयपुर

13. श्रीमद् एकलिंगपुराणम् (सं. श्रीकृष्ण जुगनू और भँवर शर्मा) , आर्यावर्त संस्कृति संस्थान, दिल्ली, 2011

14. हम्मीर महाकाव्य (सं. मुनि जिनाविजय), राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1993

फारसी अनुवादित

1 A-IN-I-AKABARI. (TRANS.) H.S. Jarrett. Vol. I,II,III. Low Price Publication. New Delhi. 2011

2 Akbarnama. (TRANS.) H. Beveridge. Vol. I,II,III. Asiatic Society of Bengal. Calcutta. 1897

3 History of India as told by its own Historian. (TRANS.) H. M. Elliot and John Dowson. Trubner and Co. London. 1873

4 Muntakhabul Tawarikh. (TRASN.) W.H. Lowe. Vol. I,II,. Idarah-I-Adabiyat-I-Delhi. 1973

5 The Tabakat-I-Akbari. (TRANS.) B. De. Asiatic Society of Bengal. Calcutta. 1913

6 तारीखे-फरिश्ता (अनु.) नरेन्द्र बहादुर श्रीवास्तव, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2003

राजस्थानी

1 कवि हेमरतन कृत गोरा बादल पदमिणी चड़पई (सं. उदयसिंह भटनागर) राजस्थान प्राच्य प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रंथांक-35, 1966

2 गोगूंदा की ख्यात (सं. हुकमसिंह भाटी), प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1996

3 जाडा मेहडूग्रंथावली (सं. सौभाग्यसिंह शेखवत), राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी, जोधपुर, 1975

4 दयालदास राव कृत राणा रासो, (सं. ब्रजमोहन जावलिया), महाराणा प्रताप, स्मारक समिति, उदयपुर, 2017

5 दीपंग-कुल-प्रकाश (सं. ब्रजमोहन जावलिया, प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1994 (प्रथम)

6 पृथ्वीराज रासउ (सं. माता प्रसाद गुप्त), साहित्य सदन, झाँसी, वि.सं. 2020

7 प्राचीन डिंगल काव्य में महाराणा प्रताप (सं. देवीलाल पालीवाल), अरुणिमा प्रकाशन, उदयपुर, 1966

8 बाँकीदास की ख्यात (सं. नरोत्तमदासजी स्वामी), राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान ,जोधपुर, ग्रंथांक-21, 1956

9 महाराणा राजसिंह पट्टा बही पट्टेदारों री विगत (सं. हुकम सिंह भाटी), हिमा

10 मारवाड़ रा परगनां री विगत (सं. नारायण सिंह भाटी), राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, भाग-1,2,3 ग्रंथांक,-121, 1974

11 मुँहणोत नैणसी की ख्यात, (अनु. रामनारायण दूगढ़), महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केनद्र, जोधपुर, भाग-1,2, 2010 (प्रथम संसकरण-1925)

12 मेवाड़ रावल राणाजी री बात (सं. हुकमसिंह भाटी), प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर 1994 (प्रथम)

13 राठौड़ां री ख्यात (सं. कैलाशदान उज्जवल और पुष्पेन्द्रसिंह), राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1999, ग्रंथांक-195,

14 राठौड़ां री ख्यात (सं. हुकमसिंह भाटी), राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2007 (प्रथम)

15 हम्मीर महाकाव्य (सं. मुनि जिनविजय), राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रंथांक-65, 1993

हिंदी

1 अरविन्द कुमार : *जावर का इतिहास,* हिमांशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर, 2017

2 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : *मुगलकालीन भारत (1526-1803),* शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1953 (प्रथम)

3 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : *मुगलकालीन भारत 1526-1803,* शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा

4 आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : *अकबर महान्, राजनीति इतिहास,* (भाग-1) शिवलाल अगवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1967 (प्रथम)

5 आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : *मध्यकालीन भारतीय संस्कृति,* शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा

6 इरफान हबीब (सं.) : *मध्यकालीन भारत,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999 (1993 प्रथम)

7 ईश्वर सिंह मडाढ़ : *महाराणा प्रताप*, नेशनल फाइन आर्ट प्रेस , करनाल, 1983

8 ए. एल. बाशम : *अद्भुत भारत,* शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा

9 ओंकार नाथ उपाध्याय : *अकबर तथा जहाँगीर के अन्तगर्त हिन्दू अमीर वर्ग,* वाई. के. पब्लिशर्स, आगरा, 1992, (प्रथम)

10 कन्हैयालाल देव : *बीकानेर राज्य का इतिहास,* श्रीवेंकेटेश्वर स्ट्रीम प्रेस बम्बई, 1926

11 कस्तूर चन्द कासलीवाल : *महाकवि ब्रहम रायमल्ल एवं भट्टारक त्रिभुवनकीर्ति*, श्री महावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1978

12 कामिल बुल्के : *राम-कथा,* हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 2004

13 काशीप्रसाद जायसवाल : *हिंदू राज्य तंत्र,* (अनु. रामचंद्र वर्मा), काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1942

14 के. एम. अशरफ : *हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ,* (अनु.) के. एस. लाल, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली, 1969 (प्रथम)

15 के. सी. श्रीवास्तव : *प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति* , यूनाईटेड बुक डिपो, इलाहाबाद, 2005-06

16 गोपीनाथ शर्मा : *मेवाड़-मुगल संबंध,* राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1976 (प्रथम)

17 गोपीनाथ शर्मा : *राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत,* राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1976 (प्रथम)

18 गोपीनाथ शर्मा, एन. एन. माथुर, एस.एस. राणावत (सं.) : *महाराणा प्रताप के प्रमुख सहयोगी,* राजस्थानी ग्रथागार, जोधपुर, 1997 (प्रथम)

19 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : *उदयपुर राज्य का इतिहास,* राजस्थान ग्रंथागार, जोधपुर, 2015 (चतुर्थ)

20 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : *बांसवाड़ा राज्य का इतिहास,* राजस्थानी ग्रंथागार जोधपुर, 1998 (प्रथम-1936)

21 चन्द्रशेखर शर्मा : *राष्ट्ररत्न महाराणा प्रताप,* आर्यावर्त संस्कृति संस्थान, दिल्ली, 2008 (प्रथम)

22 चिंतामणि विनायक वैद्य : *हिन्दू भारत का उत्कर्ष श्री काशी विद्यापीठ,* काशी सं. 1986

23 जगदीश सिंह गहलोत : *मेवाड़ राज्य का केन्द्रीय शक्तियों से संबंध,* हिंदी साहित्य मंदिर, जोधपुर

24 जगदीश सिंह गहलोत : *राजपूताने का इतिहास,* हिन्दी साहित्य मंदिर, जोधपुर, वि.सं. 1994 (प्रथम)

25 जगदीशसिंह गहलोत : *बून्दी राज्य का इतिहास,* हिन्दी साहित्य मंदिर, जोधपुर, 1960

26 जवाहरलाल नेहरू : *विश्व इतिहास की झलक* , (अनु. चंद्रगुप्त वार्ष्णेय) सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, 2013

27 डब्ल्यू. एच. मोरलैंड : *अकबर से औरंगजेब तक,* (अनु. के. के. त्रिवेदी) ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

28 दशरथ शर्मा : *चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2015 (1972, प्रथम)

29 दामोदर लाल गर्ग : *महाराणा प्रताप,* साहित्यगार, जयपुर, 2013

30 देवीलाल पालीवाल : *झाला राजवंश,* राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2004 (प्रथम)

31 देवीलाल पालीवाल : *महाराणा प्रताप महान्,* नवभारत प्रकाशन ,जोधपुर, 2012

32 देवीलाल पालीवाल : *महाराणा प्रताप स्मृति ग्रन्थ,* साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, 1969

33 देवीलाल पालीवाल और गिरीशनाथ माथुर (सं.) : *मेवाड़ के राजाओं की राणियों, कुंवरों और कुंवरिओं का हाल* , साहित्य संस्थान , राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, 1985

34 देवीसिंह मंडावा : *कच्छवाहों का इतिहास,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2010 (प्रथम 2001)

35 धर्मपाल शर्मा : *मेवाड़ संस्कृति एवं परम्परा,* प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1999 (प्रथम)

36 धाय भाई तुलसीनाथ तंवर : *शिकार और शिकारी,* उदयपुर, 1956

37 न. वी. राजगोपालन : *कंब रामायण,* भाग-1,2, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 2000

38 नन्दिता सिंघवी : *वेद एवं पुराणों में औषधीय पादप तथा रोगोपचार,* विकास प्रकाशन, बीकानेर, 2013

39 नरेन्द्र सिंह चारण, पुनाराम पटेल : *महाराणा प्रताप एवं राष्ट्र कवि दुरसा आढ़ा,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2015 (प्रथम)

40 नीरजा भट्ट : *राजस्थान का भील समाज,* हिमांशु पब्लिकेशंस, उदयपुर, 2007

41 नीलम कौशिक : *बेगूँ का इतिहास,* हिमांशु पब्लिकेशन्स उदयपुर, 2014

42 बाबूराम पाण्डेय : *सैन्य अध्ययन की पाठ्य पुस्तक,* प्रकाश बुक डिपो, बरेली, 2004 (प्रथम)

43 बिन्ध्याराज चौहान : *भारतेश्वर पृथ्वीराज चौहान और उनका युग,* श्री आशापुरा अर्हत् अर्पण प्रतिष्ठान, आजमगढ़, (उत्तरप्रदेश), 2010 ई. (प्रथम)

44 मनोरमा जोशी : *महाराणा अमरसिंह प्रथम और उसका समय (1597-1620 ई.*), अंकुर प्रकाशन, उदयपुर, 1992

45 मनोहरसिंह राणावत : *महाराणा प्रताप अप्रकाशित ख्यातों में,* महाराणा प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 2000

46 मीना गौड़ : *मेवाड़ ठिकाने के पट्टे परवाने,* अंकुर प्रकशन, उदयपुर, 2008

47 मोतिलाल मेनारिया : *डिंगल में वीररस,* राजस्थान ग्रंथागार, जोधपुर

48 रघुबीर सिंह : *पूर्व आधुनिक राजस्थान,* राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर, 1951

49 रघुबीर सिंह : *महाराणा प्रताप जीवनी, महत्व व देन,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2012

50 रमेश दत्त शर्मा : *प्राचीन भारत में पेड़-पौधों का ज्ञान,* प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2013 (प्रथम)

51 राघवानन्द : *भगवान एकलिंग और हारित,* ठिकाना और कैलाशपुरी, मेवाड़, विक्रमाब्द 2000

52 राघवेन्द्र सिंह मनोहर : *राजस्थान के प्रमुख दुर्ग,* राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2014 (दसवाँ)

53 राजीव नयन प्रसाद : *राजा मानसिंह आमेर,* (अनु.) रतनलाल मिश्र, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2005 (प्रथम)

54 राजेन्द्र शंकर भट्ट : *महाराणा प्रताप,* नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2013

55 राजेन्द्र शंकर भट्ट : *मेवाड़ के महाराणा और शहंशाह अकबर,* स्फटिक प्रकाशन, जयपुर, 1976 (प्रथम)

56 राजेन्द्रनाथ पुरोहित : *मेवाड़ दरीखाने के रीति-रिवाज एवं संस्कार,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2005 (प्रथम)

57 राज्य श्री कुमारी बीकानेर : *बीकानेर के महाराजा,* महाराजा गंगा सिंह जी ट्रस्ट, बीकानेर, 2018 (प्रथम)

58 रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्ड़ावत : *रजवाड़ों की रीति-रिवाज,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2006 (प्रथम)

59 राम शरण शर्मा : *भारतीय सामंतवाद,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000 (प्रथम 1993)

60 रामप्रसाद दाधीच : *राजस्थान के पाँच महाकवि,* जैनसन्स, जोधपुर, 1976 (प्रथम)

61 रामवल्लभ सोमानी : *कुम्भलगढ़,* राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर,, 2011 (प्रथम)

62 रामवल्लभ सोमानी : *महाराणा कुंभा,* हिन्दी साहित्य मन्दिर, जोधपुर, 1968 (प्रथम)

63 रामवल्लभ सोमानी : *महाराणा प्रताप एक अध्ययन* , बोहरा प्रकाशन , जयपुर, 1998

64 राय कृष्णदास : *भारत की चित्रकला,* भारती भण्डार, इलाहाबाद, 1960

65 रायबहादुर मुंशी हरदयालसिंह : *रिपोर्ट-मरदुमशुमारी राजमारवाड़ 1819 ई.*, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र, जोधपुर, 1894 (प्रथम), 1997 (द्‌वितीय)

66 रावत सारस्वत : *दुरसा आढ़ा,* साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1983

67 रोमिला थापर : *पूर्वकालीन भारत (प्रारम्भ से 1300 ई. तक),* हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्‌यालय, दिल्ली, 2008 (प्रथम) 2015 (सातवाँ)

68 ईश्वर सिंह राणावत, *राजस्थान के जल संसाधन,* चिराग प्रकाशन, उदयपुर, 2004 (प्रथम)

69 वाचस्पति शर्मा त्रिपाठी : *पुराण वाड़मय में युद्ध एवं सैन्य विज्ञान,* कला प्रकाशन, वाराणसी, 2009 (द्‌वितीय)

70 विजय कुमार वशिष्ठ : *राजस्थान के सामाजिक और राजनैतिक इतिहास के आयाम,* लिट्रेरी सर्किल, जयपुर, 2016

71 विद्‌या भास्कर : *शेरशाह सूरी, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास,* नई दिल्ली, 1972 (पहला), 2016 (दसवीं आवृत्ति) शक् (1938)

72 वी. एस. भार्गव : *मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास,* कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1966

73 शीरीं मूसवी : *अकबर के जीवन की कुछ घटनाएँ,* नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2000 (पहला), 2011 (सावतीं) (शक् 1933)

74 श्यामलदास : *वीर विनोद,* महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, उदयपुर, 2007

75 श्री केशवकुमार ठाकुर : *भारत की प्रसिद्ध लड़ाईयाँ,* सत्यधर्म प्रकाशन, रोहतक हरयाणा 2009 (तृतीय)

76 श्रीकृष्ण 'जुगनू' : *भारतीय ऐतिहासिक प्रशस्ति परम्परा एवं अभिलेख,* आर्यावर्त संस्कृति संस्थान, दिल्ली, 2019 (प्रथम)

77 श्रीकृष्ण 'जुगनू' : *महाराणा प्रताप का युग,* आर्यावर्त संसकृति संस्थान, दिल्ली, 2010 (प्रथम), 2016 (द्वितीय) संशोधित संस्करण)

78 श्रीकृष्ण जुगनू : *राजवल्लभ वास्तुशास्त्रम्,* परिमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

79 सज्जनसिंह राणावत, के. एस. गुप्ता (सं.) : *महाराणा प्रताप एवं सोलहवीं शताब्दी का मेवाड़,* महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर, 2017 (प्रथम)

80 सज्जनसिंह राणावत, के. एस. गुप्ता, स्वरूप सिंह चूंडावत (सं.) : *महाराणा प्रताप से संबंधित स्त्रोत एवं स्थान,* महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर, 2002 (प्रथम)

81 सतीश चनद्र : *मध्यकालीन भारत (1526-1761),* जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नयी दिल्ली

82 सतीश चन्द्र : *मध्यकालीन भारत, (1526-1761),* जवाहर पब्लिशर्स एण्ड, डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2010 (प्रथम), (चतुर्थ संशोधित संस्करण)

83 सतीश चन्द्र : *मध्यकालीन भारत, दिल्ली सल्तनत 1206-1526,* जवाहर पब्लिशर्स एण्ड, डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2000 (प्रथम), 2010 (चतुर्थ संशोधित संस्करण)

84 सी. दोरजे और डी. एम. डिमरी : *कुम्भलगढ़,* भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली, 2012

85 हरविलास सारदा : *हिन्दुपति महाराणा सांगा,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2012

86 हरीशचंद्र वर्मा : *मध्यकालीन भारत (750-1540),* हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993 (प्रथम), 2009 (चौतींसवाँ)

87 हर्षप्रभा : *कुम्भाकालीन जैन साहित्य,* स्वाति पब्लिकेशन्स, उदयपुर, 2010

88 हुकम सिंह भाटी : *जैतावत राठौड़ों का इतिहास,* जैतावत इतिहास समिति, बगड़ी-सोजत, राजस्थान, 2013

89 हुकम सिंह भाटी : *युग पुरूष महाराणा प्रताप,* प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1991

90 हुकम सिंह भाटी : *राजस्थान के ठिकानों एवं घरानों की पुरालेखीय सामग्री,* प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1996 (प्रथम)

91 हुकम सिंह भाटी : *सिसोदा वंशावली एवं राजस्थान के रजवाड़ों की वंशावलियें,* प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1995 (प्रथम)

92 हुकमसिंह भाटी : *महाराणा प्रताप ऐतिहासिक अध्ययन,* राजस्थानी शोध संस्थान, जोधुपर, 2001

ENGLISH

1 Agarwal, B.D. Rajasthan District Gazetteers; Udaipur Government of Rajasthan. Jaipur 1979

2 Bhadhani, B.L. Water Harvesting, Conservation and Irrigation in Mewar. Marwar. 2012

3 Bhattacharya, A. N. Human Geography of Mewar. Himanshu Publications. Udiapur. 2000

4 Bingley, A.H. Rajput & Government Printing Press Simla, 1899

5 Chakrawati, P.C. The art of war in Ancient India low Price Publication. 2010 (First-1941)

6 Dikshitar, R. War in Ancient India. Co & Mo Publication. New Delhi. 1999 (First)

7 Dutta, Manmatha Nath (TRANS.) Kamandakiya Nitisara. Elysium Press, Calcutta. 1896

8 Hooja, Rima : A History of Rajasthan Rupa & Lo New Delhi. 2009 (First- 2006)

9 Irvin, William. The Army of the Indian Moghuls. Luzac & Co London. 1903

10 Jain, K. C. Ancient Cities And Towns of Rajasthan, Book Treasure. Jodhpur. 2015 (First-1974)

11 Kharakwal, J.S. Indian Zinc Technology. Pentagon Press. New Delhi, 2011

12 Kumar, Raj. Rajput Military Systems. Commonwealth. New Delhi. 2004 (First)

13 Machiavelli, Niccolo. The Prince Fingerprinting Classics, New Delhi, 2015

14 Majumadar, Girija Prasanna. UPAVANA VINODA. The Indian Research Institute. Calcutta. 1935

15 Mathour, Tej Kumar. Feudal polity in Mewar Publication Scheme Jaipur. 1987

16 Paliwal, D. L. Ed. Mewar Through the Ages. Sahity Sansthan. Udaipur. 1970 (First)

17 Prasad, Rajiva Nain Raja Man Singh of Amber.

18 Randhawa, M. S. A History of Agriculture in India Vol. I,II. Indian Council of Agriculture Research New Delhi. 1980

19 Ratnawat, Shayam Singh. Rajput Nobility. PunchSheel Prakashan. Jaipur. 1989

20 Roy, Kaushik. Hinduism And The Ethics of Warfare in South Asia Cambridge University Press New. York. 2012

21 Sarda, Har Bilas Maharana Sanga Scottish Mission. Ajmer. 1918

22 Sarda, Har Bilas. Maharana Kumbha Scottish Mission, Ajmer. 1917

23 Sarkar, Jagadish Narayan. The Art of War in Medieval India. Munshiram Manoharlal New Delhi. 1984 (First)

24 Seesodia, Jessraj Singh. The Rajputs : A Fighting Race. East and west. London. 1915

25 Sharma, Dashratha. Early Chauhan Dynasties. S. Chand & Co. Delhi., 1959

26 Sharma, G.N. Social life in Medieval Rajasthan. Lakshmi Narain Agarwal. Agra.

27 Sharma, Gautam. Indian Army Through The Ages. Allied Publishers. New Delhi. 1966

28 Sharma, Gopinath Mewar & The Mughal Emperors. Shiva Lal Agarwala Co. Agra. 1954

29 Sharma, Krishna Gopal. History And Culture of Rajasthan Centre For Rajasthan Studies. Jaipur. 2014 (First)

30 Sharma, Shri Ram, Maharana Pratap. Kapur Art Printing Works. Lahore. 1930

31 Singh T. Bahadur. Kshatrya Rajput Caste. Job Printing Press, Ajmer.

32 Somani, Ram Vallabh. History of Mewar. kitab Mahal. Jaipur.1976

33 Somani, Ram Vallabh. Prithviraj Chauhan And His Times. Publication Schem. Jaipur. 1981 (First)

34 Srivastav, Ashoka. Khalji sultans in Rajasthan. Purvanchal Prakashan. Gorakhpur. 1981

35 Tod, James. Annals and Antiquities of Rajasthan, Book Treasure, Jodhpur. 2015- Vol. 1-2

36 Vatsyayan, Kapila. Jaur Gita Govinda. National Museum, New Delhi. 1979

37 Vyas, Raj Shekhar. Architectural Glories of Mewar. Raj Book Enterprises. Jaipur. 2004

पत्र-पत्रिका

1 EPIGRAPHIA INDICA

2 ASI Reports

3 Proceeding of Rajasthan History Congress

4 नागरी प्रचारिणी

5 शोध पत्रिका

6 मज्जमिका

7 मीरायंन

***

परिशिष्ट

परिशिष्ट

गोगूंदा स्थित प्रतापकालीन स्मारक



उदयसिंह की छतरी



प्रताप की राजतिलक स्थली



राजतिलक स्थल के समीप स्थित महादेव बावड़ी



मायरा की गुफा



रक्त तलाई स्थित तंवर परिवार की छतरी

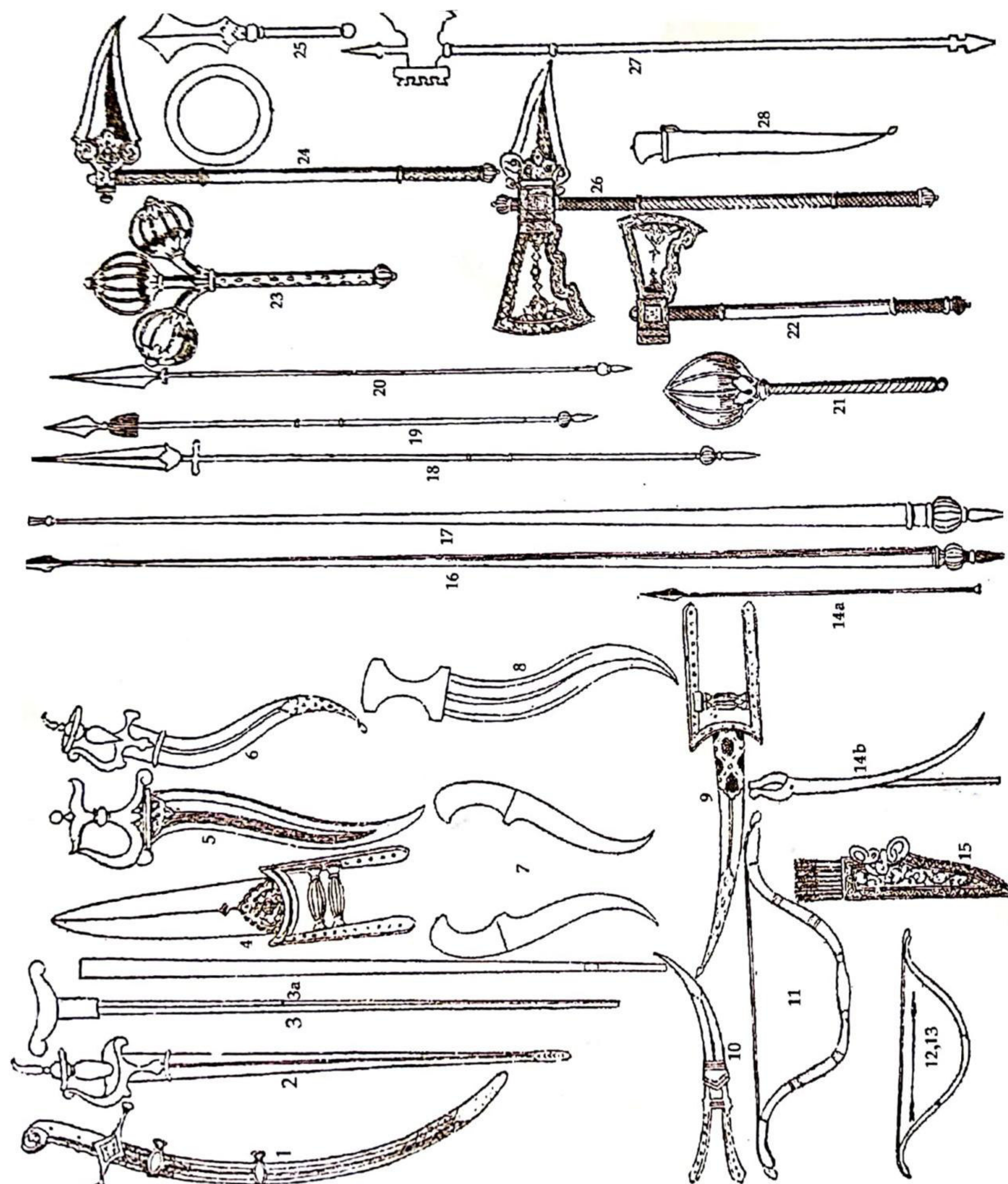


रक्त तलाई स्थित झाला मानसिंह की छतरी



आवरगढ़ से प्राप्त वि. सं. 707 का सती लेख

16वीं शताब्दी में प्रचलित अस्त्र-शस्त्र



राणा जगत सिंह कालीन बहि में जावर से प्राप्त आय का उल्लेख

पंचोली सिवकरण लालचंद री बही[1] (वि० सं० 1691)

राणा जगतसिंघ रै खालसो छै जागीरदार नु जागीर छै त्यां री नामो—मुंत (मुहता) पीथै नारायणोत याददास्त मंडयो कुड़ साच रो श्री परमेश्वर जी जाणै सं० 1691 सावण वद 1—मेडतै। राणा रो चाकर थको आयो तरे मंडायो खालसै रुपीया

60000 मेवाड़ रा गांव मुकते छै

45000 मांडलगढ़ रा

32000 बधनावर रा

25000 मीमच रा

22000 चीतौड़ री तलहटी रा

45000 छप्पन रा च्यार

10000 गिरवा रा

13000 सहरो

9000 मामल रा

8000 गोढ़वाड रा

15000 पुर रा परगना रा

250000 जावर रुपा सीसा जसद री खान रा वरस 1 रा. दिन 1 रा 700

———

534000 परगना माय इतरो खालसो छै

चक्रपाणी मिश्र रचित विश्ववल्लभ

[illegible]

महाराणा प्रताप द्‌वारा बालाचार्य को 1633 ई. में दिया गया पीपली गाँव का ताम्र पत्र

कमलनाथ - आवरगढ़ से प्राप्त ध्वनसावशेष










प्रकाशित शोध पत्र

SHODHAK

A Journal of Historical Research

ISSN 0302-9832

Vol. 44 Pt C Sr 132 / Diwali 2071/Sept.-Dec. 2014

Editor : Dr. Ram Pande

Mailing Address

SHODHAK

B-424, Malviya Nagar, Jaipur-302017

Phone : 0141-2524453 Mobile : 09828467885

E-mail : shodhak_journal@yahoo.co.in

INDIA

Manish Shrimali
Research Scholar, History
M.L.S. University, Udaipur

SHODHAK
Vol. 44, Pt. C
Sr. 132, 2014

महाराणा प्रताप से संबंधित स्त्रोत : साहित्यिक एवं पुरातात्विक

भारतीय इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व होने के कारण प्रताप सदैव अध्ययन के केन्द्र बिंदु रहे है। ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से प्रताप पर साहित्यिक एवं पुरातात्विक दोनों प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध है। साहित्यिक साक्ष्य, फारसी, संस्कृत एवं राजस्थानी भाषा में सुलभ है तथा ये गद्य एवं पद्य दोनों में मिलते है। पुरातात्विक साक्ष्य जो कि ऐतिहासिक स्त्रोतों के प्राण तत्व है, ये पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। पुरातात्विक स्त्रोतों में शिलालेख, ताम्र-पत्र एवं स्मारक मुख्य है।

फारसी स्त्रोतों में मुख्यत: अकबर के दरबारी इतिहासकारों के वर्णन मुख्य है। सर्वप्रमुख अब्दुल बदायुँनी की मुन्तखब-उल-तवारीख है। जैसा कि बदायुँनी स्वयं हल्दीघाटी के युद्ध में उपस्थित था अत: उसका दिया गया विवरण महत्वपूर्ण हो जाता है। बदायुँनी द्वारा युद्ध में दोनों पक्षों के सैनिकों की संख्या एवं हताहत हुए सैनिकों की संख्या का विवरण अधिक न्याय संगत प्रतीत होता है। बदायुँनी के अनुसार हल्दीघाटी युद्ध में 500 के लगभग सैनिक मारे गये, जिसमें 120 मुस्लिम शेष हिंदू सैनिक थे।[1] अबुल फजल का अकबरनामा एवं आईने-अकबरी भी मेवाड़ मुगल संबंध पर प्रकाश डालते है। आईने-अकबरी से तत्कालीन मेवाड़ की प्रशासनिक स्थिति का पता चलता है। चित्तौड़गढ़ सरकार, अजमेर सूबे के अंतर्गत था जिसमें 26 परगने थे। इसमें चित्तौड़ सरकार से प्राप्त होने वाले राजस्व की जानकारी भी दी गई है, जो मेवाड़ की आर्थिक स्थिति के निर्धारण में सहायक है।[2] अकबर कालीन ग्रंथों में निजामुद्दीन अहमद का तबकात-ए-अकबरी भी प्रताप की जानकारी का एक उपयोगी स्त्रोत है। मोतमिद खाँ का इकबालनामा जो कि समकालीन नहीं है, फिर भी कुछ अनसुलझे प्रश्नों को सुलझाता है, जैसे-मानसिंह को ही प्रताप के विरूद्ध क्यों भेजा?[3] आदि। फारसी स्त्रोतों के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य भी प्रताप के बारे में जानकारी के महत्वपूर्ण स्त्रोत है। रणछोड़ भट्ट का अमरकाव्यम् प्रताप संबंधित जानकारी प्राप्त करने का प्रमुख संस्कृत ग्रंथ है। इसकी रचना अमरसिंह द्वितीय[4] के काल में हुई थी। इस काव्य से प्रताप के युवराज काल से ही भीलों के साथ भोजन करने[5] एवं शक्ति सिंह के हल्दी घाटी युद्ध में उपस्थित होने[6] जैसी घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। अमरकाव्यम् से ज्ञात होता है कि प्रताप ने 24 वर्ष 8 माह व कुछ

दिन तक शासन किया था।[7] सदाशिव भट्ट के राजरत्नाकर से जानकारी मिलती है कि मेवाड़ी सेना के पार्श्व में भील सैनिक बाण वर्षा हेतु तैयार खड़े थे।[8] भीलों का वर्णन इसके अतिरिक्त उदयपुर–चित्तौड़ पाटनामा में भी मिलता है, कि 1194 भील, मीणा हल्दीघाटी युद्ध में काम आये थे।[9] प्रताप के संरक्षण में चक्रपाणि मिश्र विरचित ग्रंथ विश्ववल्लभ, राज्याभिषेक पद्धति एवं मुहूर्तमाला प्रताप को साहित्य के संरक्षक एवं सृजनात्मक व्यक्तित्व के रूप में स्थापित करती है। विश्ववल्लभ, कृषि एवं जल प्रबंधन से संबंधित है वहीं राज्याभिषेक पद्धति एवं मुर्हूतमाला ज्योतिष संबंधि ग्रंथ है।[10] जगत सिंह प्रथम के समय में पं. जीवधर रचित अमरसार में भी प्रताप संबंधित जानकारी मिलती है।[11] मुरारीदास का मानप्रकाश इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह 'मानसिंह प्रथम' की स्तुति में लिखा गया एक अप्रकाशित महाकाव्य है, जो खण्डित रूप में एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ते में सुरक्षित है। इसमें 'हल्दीघाटी युद्ध' में प्रताप की पराजय एवं मानसिंह की विजय बताई है तथा इसमें मानसिंह को अर्जुन तथा पृथु के समान बताया है।[12]

साहित्यिक स्त्रोतों में प्रताप की जानकारी के स्त्रोतों में राजस्थानी स्त्रोतों की संख्या अधिक है। राजस्थानी स्त्रोत काव्य के रूप में डिंगल में लिखे गये है। इन स्त्रोतों से विरूद छतहरी, दयालदास री ख्यात, प्रताप सिंह का झूलणा एवं मानचरित्र रासो प्रमुख है क्योंकि यह प्रताप के समकालीन होने के साथ ही यह अकबर या उसके अधीन शासकों के संरक्षण में लिखे गये है। विरूद्ध छतहरी का लेखन अकबर के दरबारी दुरसा आढ़ा ने किया।[13] दयालदास की ख्यात में ही पृथ्वीराज राठौड़ एवं प्रताप के बीच पत्र व्यवहार का ज्ञान होता है।[14] प्रतापसिंह का झूलणा, रायसिंह के दरबारी माला सांदू की रचना है।[15] इसमें हल्दीघाटी युद्ध का विशद् वर्णन मिलता है तथा माला सांदू ने भी अबुल–फजल की तरह हल्दीघाटी युद्ध को खमनोर का युद्ध कहा है।[16] हल्दीघाटी युद्ध का कारण विभिन्न ग्रंथों में भिन्न–भिन्न बताये गये है, जैसे – कवि नरोत्तम ने मानचरित्र रासो में लिखा है कि हल्दीघाटी युद्ध से पहले प्रताप ने जालौर पर आक्रमण कर वहाँ से दण्ड वसूल किया, जो हल्दीघाटी युद्ध का कारण बना, जबकि इसका अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता है।[17] वहीं दलपत विजय के ग्रंथ खुमाण रासो में युद्ध का कारण प्रताप की कछवाही रानी को बताया गया है। अन्य राजस्थानी स्त्रोतों में, पतायण, सगत रासो, राजप्रकाश, राणा रासो, गजगत राणा श्री प्रताप सिंह जी रो प्रमुख ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त ख्यातें, बातें एवं वंशावलियां भी प्रताप संबंधित इतिहास निर्माण के प्रमुख स्त्रोत रहे है। इनमें प्रमुख निम्नलिखित है – नैणसी री ख्यात, उदयपुर री ख्यात, बाकीदास री ख्यात, दयालदास री ख्यात, रावल राणा री बात, राणा प्रताप री तीन बातें एवं बड़वा देवीदान री पोथी आदि। यद्यपि इन ग्रंथों में काल्पनिक कथाओं का समावेश हो जाने से इनकी ऐतिहासिकता कुछ कम हुई है फिर भी इन ग्रंथों से ऐसी जानकारी मिलती है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है जैसे – प्रताप की आर्थिक स्थिति, प्रताप के परिवार के बारे में जानकारी, मेवाड़–मारवाड़ संबंध आदि। अतः इन्हें कमतर आंकने की बजाएँ सूक्ष्म विश्लेषणात्मक अध्ययन कर उपयोगी सामग्री प्राप्त की जा सकती है।

प्रताप के इतिहास को जानने में पुरातात्विक स्त्रोत भी महत्वपूर्ण है, जिनमें शिलालेख, ताम्र पत्र एवं इमारतें मुख्य है। शिलालेखों में जगन्नाथ राय प्रशस्ति एवं राज प्रशस्ति मुख्य है। जगन्नाथ राय प्रशस्ति (1652) जगत सिंह के समय की है। इसमें हल्दीघाटी युद्ध का वर्णन वास्तविकता लिए हुए है।[19] राज-प्रशस्ति इसकी रचना राजसिंह के समय में रणछोड़ भट्ट तैलंग ने की थी। ग्रन्थ में कुल 24 सर्ग है। जिसमें प्रताप संबंधी अंश चतुर्थ सर्ग में श्लोक संख्या 21 से 50 तक में उत्कीर्ण है। प्रशस्ति में प्रताप पर विस्तार से लिखा गया है।[20] मेवाड़ी एवं खड़ी बोली में उत्कीर्ण सूरखण्ड प्रशस्ति (1585) में प्रताप द्वारा राठौड़ों को हराकर छप्पन में राज्य स्थापित करने की सूचना मिलती है।[21] भाषा संबंधी संदेह होने के कारण यह लेख विश्वसनीय नहीं है। कर्णसिंह कालीन रक्तताल का लेख, जो ग्वालियर के तंवर शासकों की छतरी पर उत्कीर्ण है।[22] प्रस्तुत लेख साहित्यिक स्त्रोतों के कथन को सिद्ध करता है कि रामशाह एवं उनके पुत्र हल्दीघाटी युद्ध में काम आए।

ताम्र-पत्र जो सामान्यत: भूमि-दान हेतु दिए जाते थे, इनसे शासकों की दानशीलता एवं धार्मिक प्रवृत्ति का ज्ञान होता है। प्रताप के संदर्भ में ये इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इनसे ज्ञान होता है कि हल्दीघाटी के युद्ध के बाद भी प्रताप का किन-किन क्षेत्रों पर अधिकार था। ढोल गांव का ताम्र पत्र (1576 ई.), यह हल्दीघाटी युद्ध पूर्व किये गए प्रबंध की जानकारी देता।[23] गांव पीपली का ताम्र-पत्र (1576 ई.) प्रस्तुत लेख से भामाशाह के प्रधान बनने एवं हल्दीघाटी युद्ध के बाद केंद्रीय मेवाड़ की प्रजा के पुन: बसाने का कार्य प्रारंभ करने की सूचना मिलती है।[24] ओडा गांव का ताम्र-पत्र (1577 ई.)[25] से भी प्रताप की व्यवस्था नीति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। 1582 ई. के मृगेश्वर ताम्र-पत्र[26] से विदित होता है कि गोडवाड का भाग प्रताप के अधिकार में था वहीं 1588 ई. का गांव पंडेर के ताम्रपत्र[27] (जहाजपुर के निकट) से पता चलता है कि पंडेर गांव पर प्रताप का अधिकार हो गया था। अत: ताम्र-पत्र प्रताप के अधिकार क्षेत्र को रेखांकित करने में उपयोगी भूमिका अदा करते है। प्रताप कालीन इमारतें प्रताप कालीन इतिहास के जीते-जागते साक्ष्य है, जिनसे प्रताप की आर्थिक स्थिति, तत्कालीन कला के स्तर पर एवं उनकी विशेषताएँ एवं प्रताप के प्रभाव क्षेत्र का भान होता है। प्रताप-कालीन इमारतों में महल (निवास-स्थान) मंदिर, सामरिक स्थल एवं अन्य प्रकार की इमारतें मुख्य है। प्रताप का जीवन संघर्षमय था अत: विभिन्न समय पर परिस्थितिनुसार उनके निवास स्थल भी बदलते रहे जैसे – कुंभलगढ़, प्रताप का जन्म स्थान था,[28] गोगुंदा के महल प्रताप की राजतिलक स्थली एवं मेवाड़ मुगल की कूटनीतिक स्थली भी रहा[29] वहीं कमलनाथ पर्वत पर स्थित आवरगढ़ को प्रताप ने हल्दीघाटी युद्ध बाद अस्थायी राजधानी बनाया था।[30] चावण्ड, प्रताप के जीवन का महत्वपूर्ण स्थल जो 16 वर्ष तक प्रताप की राजधानी रही[31] तथा प्रताप ने अपने जीवन की अंतिम सांसे भी यही ली थी। चावण्ड से ढाई किलोमीटर की दूरी पर ही बाड़ोली[32] गांव में प्रताप का दाह संस्कार किया गया, यहाँ उनकी आठ खंभो वाली स्मारक छत्री भी विद्यामान है। चूंकि प्रताप का अधिकांश समय संघर्ष में व्यतीत हुआ अत: प्रताप से संबंधित सामरिक स्थल महत्वपूर्ण हो जाते है, जिनमें प्रमुख है – गोगुंदा के निकट स्थित मायरे की गुफा, ऐसा माना जाता है कि यह स्थान प्रताप का शस्त्रागार था।[33] कुम्भलगढ़-उदयपुर मार्ग पर

स्थित कटार की गुफा मुगल आक्रमण के समय सुरक्षित स्थान पर पहुंचने में मददगार सिद्ध होती थी।[34] प्रताप के दिए ताम्र-पत्र से भी ज्ञात होता है कि ढोल गांव हल्दीघाटी युद्ध के समय प्रताप का मोर्चा स्थल रहा था। अन्य प्रमुख स्थलों में गोगुन्दा तहसील में स्थित रोहिड़ा के महल[35] बलुआ की गढ़ी[36] तथा राजसमंद जिले में स्थित दिवेर[37] प्रमुख सामरिक स्थल है। मंदिर में झाड़ोल (उदयपुर) में स्थित हरिहर-बदरायन एवं चावण्ड में स्थित चामुण्डा देवी का मंदिर प्रमुख है।[38] अन्य स्थलों में मचींद[39] भी एक प्रमुख स्थल है।

इतिहास लेखन के लिए किसी एक स्त्रोत पर निर्भर नहीं रहा जा सकता क्योकि सभी स्त्रोतों की अपनी सीमाएं होती है। अत: ऐतिहासिक स्त्रोतों की इस कमी को दूर करने के लिए साहित्यिक एवं पुरातात्विक दोनों ही स्त्रोतों का अध्ययन किया जाता है। प्रतापकालीन अध्ययन हेतु दोनों ही प्रकार के स्त्रोत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। अत: इससे प्रतापकालीन, अधिक वैज्ञानिक, वस्तुनिष्ठ एवं सूक्ष्म विश्लेषणात्मक अध्ययन संभव हो पाया है।

संदर्भ सूची

1. Badaoni, A.L. Muntakhau-ut-Tawarikha, Tran. W.H. Lowe Acabemica Asiatica, Patna, 1973, Vol II, P.No. 239
2. Fazal, Abual. **Ain-I-Akbari**, Trans. Col. H.S. Jarrett, Crown Publication, New Delhi, 1988, Vol. II, P.No. 278-279.
3. ओझा, हीराचंद, गौरीशंकर. **उदयपुर राज्य का इतिहास**. राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर 1996-97, भाग-I , पृ.क्र. 429
4. पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने गलती से अमरकाव्य को अमरसिंह प्रथम (1597-1620 ई.) के काल में रचित ग्रंथ मान लिया।; पालीवाल, देवीलाल. **महाराणा प्रताप महान्**. जोधपुर, नवभारत प्रकाशन 2012, पृ.क्र. 29
5. पालीवाल, देवीलाल. **महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ**. उदयपुर : साहित्य संस्थान, 1669, द्वितीय खण्ड,क. 27.
6. वही, पृ.क्र. 38.
7. वही, पृ.क्र. 46.
8. वही, पृ.क्र. 18.
9. राणावत, मनोहरसिह. मझमिका : महाराणा प्रताप अप्रकाशित ख्यातों में प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर 2000, पृ.क्र. 27.
10. सं. जुगनू, श्रीकृष्ण. **चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य**. महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर, 2004, पृ.क्र. 233-235.
11. नं. 5, पृ.क्र. 7.

12. मुरारीदास. **मानप्रकाशन**. सं. किशनलाल दुबे. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर. 1991. प्रस्तावना, पृ.क्र. 2
13. नं. 5, पृ.72
14. भाटी, हुकूमसिंह. ''ख्यात ग्रंथ और महाराणा प्रताप''. महाराणा प्रताप से संबंधित स्त्रोत एवं स्थान. सं. सज्जनसिंह राणावत, के.एस. गुप्ता एवं स्वरूप सिंह चूण्डावत, महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर. 2002, पृ.क्र. 126-131.
15. नं. 5, पृ.क्र. 54.
16. वही, पृ.क्र. 67-68.
17. नं. 12 प्रस्तावना, पृ.क्र. 4.
18. **दलपत विजय, खुमाण रासो,** सं. ब्रजमोहन जावलिया, महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर, 2001-Vol. 3, पृ.क्र. 289-290.
19. शर्मा, गोपीनाथ. **राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत**. जयपुर, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, 1973, पृ.क्र. 184.
20. नं. 5, पृ.क्र. 20.
21. नं. 19, पृ.क्र. 169.
22. नं. 5, पृ.क्र. 35.
23. नं. 19, पृ.क्र. 254-255.
24. वही, पृ.क्र. 255.
25. वही, पृ.क्र. 255-256.
26. वही, पृ.क्र. 256.
27. वही, पृ.क्र. 256.
28. गुप्ता, एस.के. ''कुंभलगढ़ एवं प्रताप''. **महाराणा प्रताप से संबंधित स्त्रोत एवं स्थान**. सं. सज्जनसिंह राणावत, के.एस. गुप्ता एवं स्वरूप सिंह चूण्डावत, महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर. 2002, पृ.सं. 244-248
29. गुप्ता, एस.के. ''महत्वपूर्ण कूटनीतिक स्थल : गोगुंदा''. **महाराणा प्रताप से संबंधित स्त्रोत एवं स्थान**. सं. सज्जनसिंह राणावत, के.एस. गुप्ता एवं स्वरूप सिंह चूण्डावत, महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर. 2002, पृ.स. 206-210
30. अग्रवाल, मथुराप्रसाद. ''कमलनाथ-आवरगढ़''. महाराणा प्रताप से संबंधित स्त्रोत एवं स्थान. सं. सज्जनसिंह राणावत, के.एस. गुप्ता एवं स्वरूप सिंह चूण्डावत, महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर. 2002, पृ.स. 216-219.

31. पालीवाल, देवीलाल. **महाराणा प्रताप महान्**. नवभारत प्रकाशन, जोधपुर 2012, पृ.क्र. 198 एवं 103.

32. ओझा, हीराचंद, गौरीशंकर. उदयपुर राज्य का इतिहास. राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 1996-97, भाग-। पृ.क्र. 468; श्यामलदास, वीर विनोद, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, उदयपुर, भाग-।। 2007, पृ.क्र. 165.

33. नं. 28, पृ.स. 209.

34. वही, पृ.क्र 209.

35. जुगनू श्रीकृष्ण. ''महाराणा प्रताप से सम्बद्ध कुछ नवीन, अल्पज्ञात स्थल''. महाराणा प्रताप से संबंधित स्त्रोत एवं स्थान. सं. सज्जनसिंह राणावत, के.एस. गुप्ता एवं स्वरूप सिंह चूण्डावत, महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर. 2002, पृ.क्र. 201.

36. वही, पृ.क्र. 201-202.

37. व्यास, पी.आर. **महाराणा प्रताप**. राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2012, पृ.क्र. 152.

भट्ट, राजेन्द्र शंकर, **मेवाड़ के महाराणा और शाहशाह अकबर** स्फटिक संस्थान, जयपुर, 2002, पृ.क्र. 291. 1582 में दिवेर प्रताप एवं सुल्तान खाँ के मध्य युद्ध हुआ था, जिसे कर्नल जेम्स टॉड ने मेवाड़ के इतिहास का मैराथन कहा है।

38. व्यास, पी.आर. नं. 37

39. मंचीद राजसमंद जिले में स्थित है। यहाँ किंवदती प्रचलित है कि अमरसिंह का जनमापूजन यहीं हुआ था। किंतु ऐतिहासिक कालक्रम में यह सही नहीं बैठता है। क्योंकि अमर सिंह का जन्म 1559 ई. में चित्तौड़ में हुआ था। समय उपस्थिति को देखते हुए अमर सिंह के पुत्र कर्ण सिंह (जन्म 1584 ई.) का जनमापूजन होना ज्यादा संभव प्रतीत होता है। यह ऐसा समय था जब प्रताप स्थान-स्थान पर भटक रहे थे।

गजानंद, ''ऐतिहासिकता की कसौटी पर प्रताप और मचींद'' महाराणा प्रताप से संबंधित स्त्रोत एवं स्थान. सं. सज्जनसिंह राणावत, के.एस. गुप्ता एवं स्वरूप सिंह चूण्डावत, महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर. 2002, पृ.स. 211-215.



उपसंहार

उपसंहार

16 वीं शताब्दी भारतीय इतिहास की एक प्रमुख कड़ी है जिसमें कई कालगत परिवर्तन दृष्टिगत होते है। भारत की केन्द्रिय राजनीति भी इस दौरान बेहद महत्वपूर्ण रही थी। जहां एक ओर पूर्व स्थापित दिल्ली सल्लतनत बेहद कमजोर हो चुकी थी। तुगलक काल से ही इसकी सत्ता को चुनौती मिलने लग गई थी। कई क्षेत्रीय राज्यों ने स्वयं को स्वतंत्र कर केन्द्रीय धुव्र के विपरीत शक्ति के छोटे-छोटे रूप में स्वयं को स्थापित कर दिया। इन नवीन क्षेत्रीय राज्यों के अस्तित्व में आने से दिल्ली सल्तनत को भौतिक एवं मानवीय संसाधनों की क्षति का सामना करना पड़ा था। सल्तनत की शक्ति को क्षीण होते देख कई महत्वकांक्षी सामंतों एवं क्षेत्रीय क्षत्रपों की दिल्ली पर काबिज होने की चाह प्रबल होने लगी थी। इस समय दिल्ली के अतिरिक्त उत्तर भारत में सत्ता के मुख्य केन्द्र-मेवाड़, गुजरात, मालवा, जौनपुर एवं बंगाल थे। दिल्ली के समीप होने से मेवाड़, गुजरात एवं मालवा का उत्तर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप भी अधिक था। मेवाड़ में महाराणा सांगा का शासन था। सांगा का राज्य काल मेवाड़ की राजनीति का चरम उत्कर्ष का काल था। मेवाड़ राज्य की सीमाएं लोदियों की राजधानी आगरा के समीप बयाना तक पहुँच गई थी। बाबर ने भी अपनी आत्मकथा में सांगा को उत्तर भारत का सबसे शक्तिशाली शासक बताया। सांगा खातोली एवं बाड़ी के युद्ध में इब्राहिम लोदी को पराजित कर अपनी श्रेष्ठता को सिद्ध कर चुका था। इस दौर में केन्द्रीय राजनीति पर मेवाड़ राज्य का वर्चस्व स्थापित होता प्रतीत हो रहा था। बाबर के आगमन एव खानवा के युद्ध में सांगा की पराजय ने भारत के राजनीतिक परिदृश्य को पूर्णत: बदल दिया। सांगा की अकस्मात् मृत्यु एवं मेवाड़ में छिड़ा आंतरिक कलह तथा गुजरात के आक्रमण ने राज्य की शक्ति को पूर्व की अपेक्षाकृत कुछ कमजोर किया था। किंतु उदयसिंह के योग्य नेतृत्व में मेवाड़ राज्य पुन: सशक्त बना।

अकबर के राज्य भार ग्रहण करने के बाद 1562 ई. के लगभग मुगल राज्य ने सीमा विस्तार की जिस नीति का अवलंबन किया उसमें कई क्षेत्रीय राज्य का अस्तित्व मिट गया। अकबर की साम्राज्यवादी नीति के 'दो' ही अंग थे - 'युद्ध' या 'समर्पण' तीसरा कोई विकल्प नहीं था। मेवाड़ को भी अकबर की साम्राज्यवादी नीति का शिकार होना पड़ा। 1567 ई. में अकबर ने मेवाड़ पर आक्रमण कर जिस मेवाड़-मुगल संघर्ष की नींव डाली वह 1615 ई. में अमरसिंह के समय में समाप्त हुआ। मेवाड़ के तीन महाराणाओं को इस संघर्ष का हिस्सा बनना पड़ा था - महाराणा उदयसिंह, प्रताप एवं अमरसिंह। उदयसिंह की अपेक्षा प्रताप के समय मुगल आक्रमण की प्रबलता एवं सघनता कई गुना अधिक थी। अत: प्रताप का काल कुटनीति एवं युद्ध रणनीति के लिहाज से बेहद महत्वपूर्ण है।

अकबर ने बेहद कम समय में जिस विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था वह उसकी योग्यता एवं कूटनीतिज्ञता दर्शाने को काफी है। अकबर के साम्राज्य निर्माण की विभिन्न नीतियों में 'राजपूत नीति' उसकी कूटनीति का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। अकबर के साम्राज्य निर्माण में राजपूतों की भूमिका को देखते हुए इतिहासकारों ने उसे मुगल साम्राज्य की भुजा कहकर संबोधित किया है। किंतु अकबर की नीति राजपूतों के प्रति समय के साथ बदलती रही। इक्तिदार आलम खान ने अपने शोध से यह सिद्ध किया है कि अकबर की विभिन्न वर्ग एवं जाति से संबंधित नीति राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित थी। 1562 ई. से 1567 ई. तक अकबर की राजपूतों के प्रति उदार नीति असफल रही उसी का परिणाम मेवाड़ आक्रमण के रूप में दिखता है। 1567 ई. में मेवाड़ पर आक्रमण के साथ मेवाड़-मुगल संघर्ष का प्रारंभ होता है। यह संघर्ष प्रताप के समय अधिक गहरा जाता है। प्रताप के राज्याभिषेक होने के बाद से ही मेवाड़ एवं अकबर के मध्य एक कूटनीतिक द्वंद्व की शुरूआत होती है। यह कूटनीतिक संघर्ष केवल हल्दीघाटी की पूर्व संध्या तक चलने वाली परिघटना मात्र नहीं थी। कूटनीति मुगल अभियान पूर्व तथा बाद दोनों ही कालखण्ड में समान रूप से प्रभावी थी। अकबर की कूटनीति का प्रारंभ प्रताप के राज्याभिषेक के बाद शिष्टमण्डल को भेजने के साथ नहीं हुआ था अपितु 1562 ई. में आमेर के मुगल गुट में शामील होने के

साथ ही इसकी शुरूआत देखी जा सकती है। इन कूटनीतिक संबंधों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए समकालीन राजस्थान के राजनीतिक परिदृश्य को समझना होगा। राजस्थान में अकबर के समकालीन दो शक्तियां प्रमुख रूप में सक्रिय थी एक मारवाड़ जिसका नेतृत्व मालदेव कर रहा था दूसरी मेवाड़ जिसका नेतृत्व उदयसिंह एवं तत्पश्चात प्रताप ने किया। उत्तरी राजस्थान में मारवाड़ एवं दक्षिण राजस्थान में मेवाड़ मिलकर संपूर्ण राजस्थान के शक्ति संतुलन को बनाए हुए थे। अकबर की साम्राज्यवादी नीति के लिए यह शक्ति संतुलन प्रतिकूल था। मालदेव की मृत्यु तथा उसकी नीतियों ने ही उत्तरी राजस्थान में कई आंतरिक एवं बाह्य कलह पैदा कर दिए थे, जो कि अकबर की घुसपैठ के लिए बेहतर थी। आमेर के साथ वैवाहिक संबंधों की स्थापना के बाद धीरे-धीरे उत्तरी राजपूताना 1570 ई. तक अकबर के समक्ष समर्पण कर चुका था।

अकबर के समक्ष दक्षिण राजस्थान के राज्य अभी भी चुनौती दे रहे थे। शिष्टमण्डल के साथ जो कूटनीतिक दांव पेंच चल रहे थे वे दोहरे रूप में एक तरफ प्रताप के पास प्रभावी दरबारियों को भेजकर समझाने एवं समर्पण के प्रयास किए जा रहे थे वहीं प्रताप के पड़ोसी राज्यों को बल प्रयोग कर अधीन करने का कार्य हो रहा था। अकबर के साम्राज्य विस्तार की महत्वकांक्षा में उसकी साम्राज्यवादी नीतियों आक्रमणात्मक थी इसके विपरीत प्रताप की नीति रक्षात्मक थी। प्रताप के अकबर के विरूद्ध कूटनीतिक सफलता का महत्वपूर्ण कारण 'दक्षिण राजपूताना' के शक्ति संतुलन को बनाए रखना तथा दूसरा कारण 'आंतरिक संघर्ष' को रोकना था। प्रताप इस तथ्य से पूर्णतया परिचित था कि राज्य के आंतरिक संघर्ष को अगर रोकने में सफल रहा एवं सभी एकजुट रहें उसी अवस्था में शत्रु का सामना किया जा सकता है और तभी विदेश नीति भी सफल होंगी। राजस्थान के उत्तरी राज्यों के समर्पण का सबसे महत्वपूर्ण कारण उन राज्यों में होने वाला आंतरिक संघर्ष तथा षड्यंत्र था। जिनकी वजह से ये राज्य अर्थात् जोधपुर, बीकानेर एवं आमेर कमजोर हो गए थे तथा अपनी इन्हीं समस्याओं के समाधान के लिए मुगलों की शरण में गए जिससे उन्हें घुसपैठ का अवसर मिला। प्रताप के आंतरिक समस्याओं के समाधान के बाद आवश्यकता थी शक्ति संतुलन को बनाए

रखने की अर्थात् पड़ोसी राज्यों को अपने प्रभाव क्षेत्र में रखने की। केन्द्रीय साम्राज्यवादी सत्ता पड़ोसी राज्यों का गठबंधन उसकी शक्ति का मुख्य आधार था। इस गठबंधन में शामिल मुख्य राज्य डूंगरपुर, बांसवाड़ा, देवलिया (प्रतापगढ़), सिरोही, ईडर तथा जालौर थे। अत: अकबर के "शक्ति संतुलन बिगाड़ने" की कूटनीति को प्रति संतुलित करने के लिए प्रताप ने 'हस्तक्षेप', युद्ध एवं गठबंधन जैसे उपकरणों का प्रयोग कर रहा था। इसके अतिरिक्त वैवाहिक संबंध भी कूटनीति के महत्वूपर्ण उपकरण थे। आमेर को छोड़ राजस्थान की लगभग सभी महत्वपूर्ण रियासतों से वैवाहिक संबंध थे। विवाह आपसी विश्वास एवं सहयोग को मजबूत करने का माध्यम था। प्रताप की वैवाहिक कूटनीति को समझने के लिए हमीर से लेकर अमरसिंह तक की वैवाहिक स्थिति का विश्लेषण करना होगा। हमीर से उदयसिंह तक नौ शासक हुए उनमें सिर्फ रायमल (11) एवं सांगा (28) के विवाह की संख्या दहाई के अंक तक जाती है अर्थात् दस या उससे अधिक है। वैसे उनमें भी अधिकांश विवाह की संख्या पांच ही है। उदयसिंह के बीस रानियां थी तथा सभी महत्वपूर्ण राज्यों से वैवाहिक संबंध थे। अकबर के मेवाड़ आक्रमण के बाद के चुनौती के दौर में भी प्रताप के 14 रानियां थी किंतु वही अमरसिंह के 26 रानियां जो इस तथ्य का प्रमाण है कि प्रताप राज्य की स्थिति को मजबूत करने एवं मित्रों की संख्या बढ़ाने हेतु वैवाहिक कूटनीति का सफलतापूर्वक प्रयोग कर रहा था। विवाह संबंध स्थापित करने वाले सामंतों एवं राज्यों का प्रताप के प्रति श्रद्धा समर्थन एवं सहयोग की भावना प्रतिबिंबित होती है। प्रताप ने उपर्युक्त नीतियों का प्रयोग युद्ध पूर्व एवं युद्ध पश्चात् दोनों ही समय में किया था।

कूटनीति सफलता ने प्रताप को मुगल सेनाओं का सामना करने में सक्षम बनाया था। किंतु प्रताप सैन्य कुशलता के बल पर ही दीर्घकालीन संघर्ष का सामना कर रहे थे। प्रताप के राज्य काल में परंपरागत युद्ध नीति में निरंतरता एवं परिवर्तन के तत्व दृष्टि-गोचर होते है। प्राचीन मध्यकालीन ग्रंथों में एक क्षत्रिय के लिए युद्ध में लड़ते हुए वीर गति प्राप्त करने से बढ़कर कुछ नहीं माना गया है। भीष्म पर्व से पृथ्वी-राज रासों तक यही भावना परिलक्षित होती है। राजपूतों के इन्हीं गुणों की प्रशंसा कर्नल टॉड ने भी की थी। उदयसिंह के समय में इस नीति

में परिवर्तन आता है। अब मरने की अपेक्षा संघर्ष और संघर्ष की भावना बलवती होती है। उदयसिंह के समय जो यह परिवर्तन हुआ वह अभी पूर्ण रूप से राजपूती वीरों में घर नहीं कर गया था। हल्दीघाटी युद्ध के पूर्व युद्ध-परिषद् की सभा में हुए विवाद में देख सकते है। वहाँ एक गुट खुले में मुगल सेना से आमने-सामने के युद्ध हेतु तत्पर था वहीं दूसरा गुट मैदानी लडाई से बचने का सुझाव दे रहा था, उसकी प्राथमिकता में पहाड़ी युद्ध था। यहाँ दो गुट दो भिन्न मनोवैज्ञानिक दशा का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। पहला गुट जो आमने-सामने के युद्ध हेतु तत्पर था उनमें मेवाड़ के युवा सामंत थे। इन युवा सामंतों के मैदानी युद्ध लड़ने की अभिलाषा बदले की भावना से अधिक प्रेरित थी, इनके पिता, पितामह 1567ई. के चित्तौड़ अभियान में काम आए थे। दूसरा गुट जो मैदानी युद्ध से बचने एवं पहाड़ी युद्ध करने की सलाह दे रहा था उसका प्रतिनिधित्व ग्वालियर का रामशाह तंवर कर रहा था। रामशाह तंवर को मुगलों की सैन्य क्षमता एवं उनकी रण-नीति की अच्छी जानकारी थी। जब रणनीति का प्रश्न युद्ध परिषद् में उठा तब प्रताप के समक्ष दोनों गुटों में सामंजस्य बनाए रखना चुनौती थी। प्रताप किसी भी गुट को नाराज कर सेना को विभाजित नहीं करना चाह रहा था। अत: युद्ध रणनीति हेतु ऐसे स्थल का चयन करना आवश्यक था जो मैदानी एवं पहाड़ी युद्ध दोनों के अनुरूप हो तथा सबसे महत्वपूर्ण यह मुगल सेना के युद्ध हेतु बिल्कुल अनुकूल न हो। खमनोर से आगे हल्दीघाटी के समीप का क्षेत्र उपर्युक्त परिस्थितियों के लिए अनुकूल था अत: बादशाही बाग के क्षेत्र को युद्ध के लिए चुना गया। प्रताप अपने युवराज काल में युद्ध में सेना का नेतृत्व कर चुका था। युद्ध रणनीति का एक नियम है कि किसी भी युद्ध में जो पक्ष युद्धस्थल एवं युद्ध के समय को अपने अधीन रखता है वह आधे युद्ध को विजित कर लेता है। क्योंकि युद्ध की प्रारंभिक गतिविधियों पर उसी का नियंत्रण रहता है। प्रताप ने भी हल्दीघाटी में स्थान एवं समय के चयन को अपने अधीन रखा। प्रताप के उद्देश्य एवं रणनीति के मध्य संबंध को देखे तो स्पष्ट होता है कि हल्दीघाटी युद्ध में प्रताप का मुख्य उद्देश्य शत्रु सेना को अधिकतम हानि पहुँचाना था। किंतु इसी के साथ युद्ध रणनीति का हिस्सा था कि युद्ध के दौरान किसी भी स्थिति में समर्पण न किया जाए दूसरा

आगे के संघर्ष हेतु नवयुवकों की एक पीढ़ी को सुरक्षित रखना तथा तीसरा जो कि सामंतों का मुख्य उद्देश्य था प्रताप को युद्ध-भूमि से जीवित लाना। पहाड़ी व मैदानी भूमि के साथ दर्रे का चयन सुरक्षित वापसी हेतु ही किया गया था। दर्रे पर कुछ सैनिकों के बल पर संपूर्ण मुगल सेना को रोका जा सकता था। हल्दीघाटी के युद्ध की शुरुआत प्रताप की पूर्व-निश्चित योजना के अनुरूप ही हुई थी किंतु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि युद्ध शतरंज का खेल नहीं होता जहां चतुराई चालों से शत्रु को मात दी जा सकें। मिहत्तर खाँ के नेतृत्व में रखी मुगलों की सुरक्षित सेना के आगमन ने युद्ध की परिस्थितियों एवं रणनीति को ही बदल दिया।

हल्दीघाटी युद्ध के बाद प्रताप को मुगल आक्रमण के गंभीर हमलों का सामना करना पड़ा जिनमें स्वयं अकबर सेना का नेतृत्व करता है। अकबर के बाद मुगल साम्राज्य का सबसे योग्य सेनापति शाहबाज एक के बाद एक तीन बड़े हमले मेवाड़ पर करता है किंतु कोई भी मुगल सेनापति अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। हल्दीघाटी की लड़ाई के तुरंत बाद ही यह स्पष्ट हो गया था कि प्रताप मुगल संघर्ष को जारी रखेगा। अत: प्रताप युद्ध से वापसी के बाद कुंभलगढ़ दुर्ग में न जाकर आवरगढ़ में शरण ली। आवरगढ़ अरावली की विस्तृत पर्वत श्रृंखला से घिरा सघन वन वाला दुर्गम प्रदेश था। इस क्षेत्र में शरण लेने का तात्पर्य था प्रताप अब मैदानी युद्ध की अपेक्षा छापामार युद्ध पद्धति ही अपनाएगा। वही कुंभलगढ़ दुर्ग में शरण लेने का मतलब था कि मुगल घेराबंदी में फंस कर चौथे शाके की ओर अग्रसर होना। जबकि प्रताप इस संघर्ष को जारी रखना चाहता था।

मुगल सेना के विरूद्ध सफलतापूर्वक विरोध मे प्रताप एवं उसके सामंतों की सैन्य कुशलता एवं वीरता तो थी ही किंतु सबसे महत्वपूर्ण जन-सहयोग रहा। विशेषकर छापामार युद्ध में भी प्रताप एवं उसकी सामंतों की सेना के अतिरिक्त जनसामान्य भी युद्ध में शामिल हुआ था। खमनोर के पास के गांवों में आज भी रक्त तलाई के मैदान में जहां प्रताप एवं मानसिंह की सेना के मध्य संघर्ष हुआ था वहां पर आस-पास के गांवों के परिवारों की सती माता को स्थापित कर रखा है, जिसका वे पूजन भी करते है। प्रताप की सेना में हर वर्ण एवं जाति के सिपाही

थे। प्रताप को केवल सैनिक आपूर्ति के माध्यम से ही जन-समर्थन नहीं था सेना की खाद्य आपूर्ति स्थानीय निवासियों द्वारा भी की जाती थी। यहाँ 'लांगूरी सेना' नामक एक जनश्रुति प्रचलित है जो यह बताती है कि किस प्रकार ब्राह्मण वर्ग के व्यक्ति तालाब के किनारे पर बाटी बनाकर उसे बुझे हुए कंडों के मध्य डाल देते थे। जिससे कि उनमें हल्की गर्मी बनी रहती थी और वे खराब नहीं होती थी। जब भी सैनिक वहां से निकलता था वह बाटी उठा लेता। बाटी जैसा खाद्य यात्रा का भोजन है जो जल्दी खराब भी नही होता था। प्रताप की खाद्य या सैन्य आवश्यकता की पूर्ति आमजन द्वारा की जा रही थी। इसी क्रम में भीलों का योगदान भी अति महत्वपूर्ण रहा। भील प्रताप की गुप्तचर व्यवस्था के मुख्य अंग थे। मेवाड़ के पर्वतीय दुर्गमक्षेत्र में लंबे समय तक रहने से वे इस क्षेत्र से भली-भांति परिचित थे। अत: भील प्रताप के आंख व कान थे। प्रताप का आमजन में प्रिय होने का कारण उसकी नीतियां थी। हल्दीघाटी युद्ध से पूर्व का उल्लेख मिलता है कि प्रताप ने गोगुंदा में सभी लोगों के लिए दो समय के खाने का प्रबंध कर रखा था। प्रताप के इन लोकोपयोगी कार्यों ने आमजन में उसकी छवि को और मजबूत किया। छापामार युद्ध की सफलता जन समर्थन पर ही निर्भर करती है। चन्द्रसेन की पराजय का एक कारण उसे स्थानीय सहयोग न मिलना था।

रणनीति एवं कूटनीति के माध्यम से प्रताप बाहरी शत्रुओं को नियंत्रित रखने में तो सफल रहा। यह सफलता आंतरिक प्रशासन की सुदृढ़ता के अभाव में स्थायी नहीं रह सकती थी। कानून एवं व्यवस्था को बनाएं रखना एक चुनौती थी। विशेषकर युद्ध काल में प्रताप का राज्य काल प्रशासनिक व्यवस्था का संक्रमण काल था। यहाँ दो प्रकार की व्यवस्था एक साथ- समानांतररूप से चल रही थी। उदयसिंह के समय मेवाड़ राज्य का एक भाग मुगलों के अधीन चला गया था तथा दूसरा भाग प्रताप के पास था। मुगल अधीन मेवाड़ प्रदेश पर अन्य राज्यों की भांति यहाँ भी मुगलों की प्रचलित प्रशासनिक व्यवस्था को यहाँ स्थापित किया गया। मुगल अधीन मेवाड़ क्षेत्र को अजमेर सूबे में शामिल किया गया। मुगल साम्राज्य 15 सूबों में विभाजित था। जिसमें अजमेर भी एक सूबा था। सूबा सरकार में विभाजित था। मेवाड़ का मैदानी प्रदेश अजमेर सूबे के अंतर्गत चित्तौड़

सरकार के नाम से एक पृथक् सरकार के रूप में स्थापित कर दिया गया था। सरकार परगने में विभाजित था। परगने का निर्माण कई गांवों से मिलकर होता था। प्रताप अधीन क्षेत्र में मुगल व्यवस्था प्रचलित नहीं थी। यहाँ परागनों के स्थान पर क्षेत्र आधारित विभाजन को अपनाया गया था, जैसे- भोमट, मगरा, मेरवाड़ा, मेवल, ऊपरमाल, गोड़वाड़ और छप्पन आदि। इन्हें ही राज्य की प्रशासनिक इकाईयों के रूप में विकसित किया गया था। यही व्यवस्था मेवाड़-मुगल संधि तक चलती रही।

मेवाड़ मे मुगलों से पूर्व प्रांतीय प्रशासन का अभाव दिखाई देता है यहाँ केन्द्रीय एवं सामंतीय प्रशासन, ये दो राज्य व्यवस्था के आधार थे। गांव शासन की मूल इकाई थी। गांव की संख्या से राज्य की स्थिति का बोध होता था। अचलदास खीचि री वचनिका में मोकल को 'दस सहस मेवाड़ रो धणी' कहा गया। शाकम्भरी के चौहान गांवों की संख्या के आधार पर ही 'सपादलक्ष नृपति' कहलाएं। राज्य के विस्तार के साथ ही राजा की भूमिका बदली। राजा का मुख्य ध्यान केन्द्रीय प्रशासन पर होता था। प्रताप राज्य काल तक पूर्ववर्ती प्रशासनिक अधिकारी ही पाएं जाते है। अल्लट के सारणेश्वर के लेख में आमात्य, संधिविग्रह, अक्षपटलिक और बंदिपति (मुख्य भाट) आदि प्रशासनिक अधिकारियों का उल्लेख मिलता है। प्रताप के काल में कुछ नाम आदि परिवर्तन के साथ यह अधिकारी मिलते है अमात्य अब 'प्रधान' एवं 'मुख्यमंत्री' के नाम से जाना जा रहा था। सेनापति का पद महत्वपूर्ण होता है जो दुर्गाधिराज एवं स्कंधावारिक कहलाते थे वे प्रताप एवं अमरसिंह के समय में सेनापति एवं दलाधिकारी या दलपति के नाम से संबोधित किए जाते थे। वैद्याचार्य एवं पुरोहित भी केन्द्रीय प्रशासन के अंग थे जो प्रताप के समय क्रमश: आचार्य बलाचार्य जिन्होंने प्रताप के राज्य काल में सुश्रुतसार नामक ग्रंथ की रचना की जो किसी कारणवश अपूर्ण ही रह गई थी। पुरोहित पद पर राम व काशी थे। हल्दीघाटी युद्ध के बाद फैली अव्यवस्था को पुन: व्यवस्थित करने पर प्रताप का ध्यान दिया गया। अकबर से निरंतर संघर्ष से मेवाड़ की भूमि उजाड़ हो गई थी। अत: प्रताप ने उसे बसाने पर ध्यान दिया। किसानों को कृषि के लिए भूमि दी। जिनके संबंधी मेवाड़ के स्वतंत्रता संग्राम में

काम आए थे, उनको जीवन निर्वाह के लिए पट्टे पर भूमि दी गयी। आचार्य बलभद्र एवं किसनदास को संथाणा व पीपली ग्रामों की जागीर दी गयी और उन्हीं को मोही गांव के तीन रहट दिये गये। जिन लोगों के पट्टे या भूमि संबंधी पत्र आदि युद्ध के दौरान खो गये थे या जल गये थे, उन्हें फिर से बनवाया गया। ढोलान, पीपली व टिकड़ ग्रामों को जो उजड़ गए फिर से बसाया। बालक रुद्‌यनाथ जिनके पिता युद्ध के दौरान वीरगति को प्राप्त हुए थे उसे बुलाकर लालन-पालन व शिक्षा-दीक्षा की जिम्मेदारी अपने उपर ली।

केन्द्रीय प्रशासन का सर्वेसर्वा महाराणा ही होता था। राज्य प्रांतों में विभाजित न होकर के खालसा एवं जागीर में बंटा होता था। खालसा क्षेत्र केन्द्रीय प्रशासन के ही अधीन होता था। जागीर क्षेत्र में कानून एवं व्यवस्था जागीरदारों के माध्यम से लागू किया जाता था। जागीर सामंतों को दी जाती थी इसके अतिरिक्त 'सासण' क्षेत्र में भी होता था जो ब्राह्मणों को कर मुक्त भूमि प्रदान की जाती थी। प्रताप ने कई गांव के गांव ही ब्राह्मणों को सासण में दे दिये थे। प्रताप द्‌वारा झाड़ोल, पीपली, मोही, संथाना, चावंड के समीप तथा गोड़वाड़ क्षेत्र में सासण दिऐ थे। कर मुक्त भूमि अनुदान ब्राह्मणों के अतिरिक्त चारणों को भी दिये थे।

प्रताप के राज्य काल में प्रशासनिक व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आया था। वह पूर्ववर्ती व्यवस्था के समान अनवरत जारी था। संघर्ष काल में प्रताप के पास शक्तियां अधिक होती थी। किंतु शक्तियों का विकेन्द्रीकरण भी इस समय अधिक रहा होगा। संकट के समय सामंत परिस्थितिनुरूप निर्णय लेने में स्वतंत्र होंगे।

प्रताप के शासन काल का एक महत्वपूर्ण दौर संघर्ष में ही निकल गया था प्रताप के शासन को जो शांति काल कहा जाता है उस काल-खण्ड में भी मेवाड़ विरूद्ध अभियान हुए थे। जिस प्रकार प्रताप के काल को अर्थाभाव से ग्रसित बताया गया है उसी प्रकार से प्रताप कालीन कला के सृजन पक्ष पर इतिहासकारों को बहुत कम ध्यान गया है हाल के कुछ वर्षों में प्रतापकालीन साहित्य पर कुछ नवीन जानकारी उजागर हुई किंतु वह भी बेहद सीमित है। उक्त शोध ग्रंथ के

माध्यम से कुछ नवीन जानकारी पेश की गई हैं जिसमें जैन मुनि भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति द्वारा जावर में 'अंजना सुदरी रास' की रचना की गई जो कि जैन रामायण के पात्र हनुमान जी के जन्म एवं उनके माता-पिता के संबंध में जैन प्रचलित कथानक को आधार बना कर रचा गया है। जावर, देलवाड़ा, गोगुंदा तथा आयड़ तथा चावंड इस समय कला एवं औद्योगिक गतिविधियों के प्रमुख केन्द्र थे। जावर में 'अंजना सुदरी रास' के अतिरिक्त जोशी किशनदास द्वारा 'गीत गोविन्द' की रचना की। यह मेवाडी एवं बागड़ी मिश्रित भाषा में रचित है। जावर में प्रताप के राज्य काल में ही शिव मंदिर का निर्माण स्थानीय व्यक्ति द्वारा ही किया गया था यह मंदिर स्थापत्य की दृष्टि से सादगीपूर्ण है। इसी के समीप स्थित जावरमाता तथा रमा मंदिर की तुलना मे अलंकार पूर्ण नहीं है। इसका शिखर एवं जगती एवं मण्डप की बाहरी दीवारों पर मूर्तिकला के माध्यम से सज्जा नहीं की गई है। इसी प्रकार स्थानीय प्रयासों से मंदिर निर्माण उदयपुर के समीप स्थित खरसाण में भी किया गया। खरसाण में विष्णु मंदिर बनाया गया। आयड़ एवं चावंड में क्रमश: ढोला मारू एवं रागमाला बेहद सुन्दर चित्र बने। अभी तक यह माना जा रहा था कि रागमाला के चित्र अमरसिंह के राज्य काल में बने किंतु नवीन अनुसंधान मे यह सिद्ध होता है यह चित्र 1585 में प्रताप के शासन काल में ही बने थे। इस समय की सबसे प्रसिद्ध रचना हेमरत्न सूरि रचित 'गोरा बादल-चरित' जो कि सादड़ी के प्रशासनिक ताराचंद के संरक्षण में रची गई थी।

प्रताप कालीन कला की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि यहाँ हमें राज्याश्रित कला, सामंत आश्रित कला एवं आमजन की कला सभी रूप दिखाई देते है। कला एवं उसके पीछे छुपी भावना दोनों के माध्यम से सूक्ष्म में से वृहत् अर्थात् आमजन से अभिजात वर्ग के मनोविज्ञान, समाज एवं आर्थिक पक्ष को जाना जा सकता है। प्रताप के राज्याश्रय में जो रचनाएं हुई वे संस्कृति भाषा में थी जबकि सामंत के अधीन एवं स्वतंत्र रचना स्थानीय एवं राजस्थानी भाषा में हुई। प्रताप आश्रित रचना का ध्येय जनपयोगी एवं लोकोपचार था। जबकि सामंत आश्रित एवं स्वतंत्र रचना के विषय ऐतिहासिक एवं पौराणिक पात्र थे।

प्रताप के संघर्ष काल के संदर्भ में प्रताप की आर्थिक स्थिति एवं संघर्ष की दशा में स्वयं को स्थापित विवाद है जो इस तथ्य पर आधारित है। कि बिना आर्थिक संसाधनों के संघर्ष नहीं किया जा सकता है। संघर्ष हेतु एक बड़ी सेना की आवश्यकता थी जिसके बल पर अकबर के द्वारा 9 वर्षों में छः बड़े अभियान हुए उनका सामना करने में सक्षम हो सकें। प्रताप जो कि 300 मील की परिधि वाले पर्वतीय प्रदेश मात्र का स्वामी था क्या वह आर्थिक रूप से इतना सक्षम था कि अकबर जैसे अथाह संसाधनों के स्वामी से टक्कर ले सके? इस स्थापित विवाद के दो मूल तत्व है जिन पर विचार करने की आवश्यकता है- पहला आर्थिक दशा- बहुधा इतिहासकारों ने इस बात पर अधिक बल दिया है कि राज्य के मजबूत सैन्य तंत्र हेतु राज्य का वृहद् आर्थिक संसाधनों का स्वामी होना एक अपरिहार्य आवश्यकता है। जिस राज्य के पास आर्थिक संसाधन अधिक है उसका सैन्य बल उतना ही अधिक माना जाता है। दूसरा सेना की प्रभावशीलता इस पर इतिहासकारों के दो मत है। एक जो यह मानता है कि सेना क प्रभावशीलता सीधे तौर पर राज्य की आर्थिक स्थिति से है। जो राज्य जितना समृद्ध है उसकी सैन्य प्रभावशीलता उतनी ही अधिक मानी जाती है। इस मत के विपरीत विचारको का एक दूसरा मत भी है जो यह मानता है कि सैन्य की प्रभावशीलता एवं राज्य की आर्थिक दशा का कोई प्रत्यक्ष आनुपातिक संबंध नहीं है। स्टीफन बिडल का मानना है कि युद्ध या संघर्ष को जीतने हेतु की गई कार्यवाही स्वयं में कसी हुई है। अंर्तसंबंधित जटिल प्रक्रिया है जिसमें छिपना, छिपाना, फैलना, दबाना, कभी सामूहिक रूप से तो कभी छोटी स्वतंत्र इकाई रूप में युद्ध का कुशलतापूर्वक संचालन रणनीतिक रूप से करते हुए स्वयं से अधिक संसाधनों के स्वामी शत्रु शासक को पराजित कर देता है। कर्नल ट्रेवर एन. डम्पी इस बात पर जोर देते है कि सेना की प्रभावशीलता को बढ़ाने में अमूर्त कारकों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है जैसे मनोबल नेतृत्व एवं प्रशिक्षण आदि युद्ध की दशा एवं दिशा को प्रभावित करते है। इसके अतिरिक्त रणनीति, सैद्धांतिकी एवं सामरिक नीतियों का युद्ध के परिणाम पर गहरा प्रभाव रहता है।

उपर्युक्त दोनों तथ्यों पर विचार करने निष्कर्षत: यह सही है कि आर्थिक संसाधन का राज्य की सैन्य क्षमता एवं सैन्य क्षमता एवं सैन्य संख्या पर प्रभाव पडता है किंतु इसे एकमात्र निर्णायक कारक मानना गलत है। राज्य की सैन्य क्षमता अर्थ के अतिरिक्त अन्य कई तत्वों से भी प्रभावित रहती है जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करती है। राष्ट्र की सैन्य संख्या बल छः कारकों से प्रभावित रहता है जिसमें अर्थ एक कारक है इसके अतिरिक्त पांच अन्य कारक है- सैन्य कार्मिक, ऊर्जा का प्रयोग, लोहे का उत्पादन, नगरीय जनसंख्या तथा कुल जनसंख्या। सैन्य प्रभावशीलता को प्रभावित करने में अर्थ के अतिरिक्त लोकतांत्रिक नेतृत्व पद्धति, समाज एवं संस्कृति, मानवीय पूंजी, मित्रवत् सैन्य-नागरिक संबंध उल्लेखनीय ढंग से सैन्य शक्ति को बढ़ाने में सहायक है। मुस्लिम शासकों ने आक्रमण के दौरान सेना में उत्साह तथा मानोबल बढ़ाने हेतु युद्ध को धार्मिक रूप देने का प्रयास किया। इस पीछे मूल मंतव्य यह था कि अर्थ की अपेक्षा धर्म सेन्य प्रभावशीलता को बढ़ाने वाला कारक था। गजनवी द्वारा 'बुतशिकन' (मूर्ति भंजक) की तथा बाबर द्वारा 'गाजी' (धर्मयोद्धा) की उपाधि धारण की गई थी। देवीलाल पालीवाल, रामप्रसाद व्यास आदि इतिहासकारों द्वारा यह मत रखा जाता है कि 'प्रताप' आर्थिक रूप से समृद्ध थे अत: प्रताप के सामंतों ने उनका साथ नहीं छोड़ा अन्यथा बिना आर्थिक संसाधनों के साथ देना संभव नहीं था। प्रताप के सामंतों द्वारा दिए गए सहयोग को केवल अर्थ प्राप्ति के संदर्भ में देखना सही नहीं होगा। संघर्ष काल में एवं उसके बाद एक वर्ग मेवाड़ छोड़कर बाहर भी गया था कुछ मुगल सेवा में तो शेष मारवाड़ा में। जयमल मेड़तिया के पुत्र ने मुगल दरबार में शरण ली प्रताप के भाई जगमाल तथा बाद में सगर ने भी मुगल दरबार की ओर रूख किया। प्रताप की मृत्यु के बाद उसका पुत्र चतुर्भुज मारवाड़ गया। प्रताप का भांजा झाला सरदार शत्रुसाल ने मारवाड़ में शरण ली थी। उपर्युक्त में से एक भी मेवाड़ छोड़ना का कारण आर्थिक संसाधनों का अभाव नहीं था अपितु मतभेद या पद प्राप्ति की लालसा अधिक थी। जगमाल राजा के पद से बलपूर्वक हटाएं जाने पर मेवाड़ से गया। सगर जो जगमाल का सगा भाई था। वह जगमाल के साथ नहीं अपितु उसकी मृत्यु के उपरांत प्रताप की सिरोही के प्रति

नीति से नाराज होकर मुगल दरबार में गया था। शत्रु शाल एवं प्रताप के मध्य मतभेद होने पर मारवाड़ गया किंतु मुगल आक्रमण के समय आवश्यकता पड़ने पर पुन: मेवाड़ भी आ गया।

मेवाड़-मुगल संघर्ष दीर्घकाल तक चला। इसमें भीषण संघर्ष के दौर में प्रताप को अपने राज्य की सीमाओं को भी कुछ समय के लिए छोड़ना पड़ा था। फिर भी प्रताप ने अपने राज्य काल में बेहद कुशलता पूर्वक प्रशासन एवं युद्ध नीति में सामंजस्य बिठाया। वह कठिन दौर लंबे समय तक नहीं बना रहा किंतु प्रताप के संघर्ष का भावुकता भरा जो चित्रण कर्नल टॉड द्वारा किया गया है वह जनमानस में आज भी दिखायी देता है। टॉड ने प्रताप को गंभीर अर्थ के अभाव से जूझते बताया है। ऐसा ही चित्रण श्यामलदास ने भी किया। परवर्ती इतिहासकार जिनमें गौरीशंकर ओझा महत्वपूर्ण है उन्होंने यह बताने का प्रयास किया है कि प्रताप के पास संघर्ष हेतु पर्याप्त आर्थिक संसाधन मौजूद थे। उपर्युक्त शोध से भी यह सिद्ध होता है कि प्रताप के पास आर्थिक संसाधन के कई माध्यम थे जिससे उसे निरंतर आय हो रही थी जैस- कृषि, उद्योग, खनन, कर तथा मुगल क्षेत्र की लूट से प्राप्त आय। आईन-ए-अकबरी में दिए गए आंकड़ो से यह ज्ञात होता है कि राजस्थान के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा चित्तौड़ सरकार से अधिक आय हो रही थी। इस क्षेत्र की कृषि समृद्ध एवं विकसीत थी। कृषि की समृद्धता का एक कारण यहां के शासकों द्वारा प्रारंभ से ही जल संसाधनों के विकास पर अपना पूरा ध्यान दिया था। अत: सिंचाई की एक मजबूत प्रणाली यहां मौजूद थी। प्रताप के निर्माण कार्य में सर्व प्रमुख प्राथमिकता जलाशयों के निर्माण की दिखाई देती है। प्रताप ने आवरगढ़, लोयण जो सुंधा के पहाड़ों में स्थित था तथा चावण्ड में निवास के दौरान भी वहां जलाशयों का निर्माण करवाया था। कृषि अर्थव्यवस्था का आधार है अत: सिंचाई का विकास तो हुआ ही था किंतु इस क्षेत्र में जो प्रताप के अधीन था पहाड़ी भूमि होने के कारण यहां परती भूमि की अधिकता थी। राजस्व की वृद्धि के लिए इस परती भूमि को विकसित करना आवश्यक था अत: ब्राह्मणों तथा मंदिरों को भूमिदान के माध्यम से कृषि उत्पादन में वृद्धि की। प्रताप से पूर्व तथा प्रताप के राज्य काल में ब्राह्मणों एवं चारणों को कई भूमिदान दिए गए थे। राज्य की आय का बड़ा भाग खनीजों से प्राप्त होता था। मेवाड़ क्षेत्र अरावली पर्वत श्रृंखला

के मध्य स्थित होने से यहां पर खनिज संसाधनों का बाहुल्य था। मुगल स्त्रोतों में भी प्रताप के समय में जावर एवं चेनपुरा में खनन होने की जानकारी मिलती है। इसके अतिरिक्त नठारा की पाल से भी लोहा मिल रहा था। खनीज के निर्यात से तो आय हो ही रही थी साथ ही इसने उद्योगों को भी यहां विकसीत किया था। निरन्तर होने वाले युद्धों ने शस्त्र की आवश्यकता में वृद्धि कर दी थी। युद्ध शस्त्र हेतु लोह उद्योग की मांग अधिक थी। सभी का ध्यान लोहे के उद्योग धंधे पर अधिक था। वे शस्त्रों के निर्माण में लगे हुए थे। कहीं पर राज्य में शस्त्र की कमी होने की उल्लेख नहीं मिलता है। चूंकि संघर्ष के दौर में राणा का जीवन भी अस्थिर हो गया था। अतः इस धंधे में लगे हुए लोगों का जीवन भी अस्थिर हो गया। धीरे-धीरे वे घुमक्कड़ जाति के रूप में परिणत हो गये। गाड़ोलिया लौहार उनमें से एक है। ऐसी मान्यता है कि गाड़ोलिया लौहारों के घुम्मकड़ जीवन का प्रारंभ प्रताप के शासनकाल में ही हुआ था।

प्रताप के राज्य काल में एवं पूर्व की स्थिति में कोई महत्वपूर्ण अंतर दिखाई नहीं देता है। संघर्ष के काल को छोड़ दे तो प्रताप को कर के रूप में भी अच्छी आय हो रही थी। मध्यकाल में आय का अन्य स्त्रोत शत्रु क्षेत्र में लूटमार कर भी राजस्व वृद्धि का प्रयास किया जाता था। यद्यपि यह एक स्थायी स्त्रोत नहीं था फिर भी इससे राजस्व में वृद्धि की जा सकती थी। भामाशाह एवं उनके भाई सादड़ी के प्रशासक ताराचंद ने मालवा की लूट से एक बड़ी धनराशि प्राप्त की जिससे करीब 12 वर्षों तक सैन्य आवश्यकता की पूर्ति की जा सकती थी। प्रताप के समक्ष अर्थाभाव की समस्या नहीं थी, अपितु आय के कई साधन मौजुद थे।

प्रताप का शासन काल संघर्ष, शांति एवं सृजन का काल था। अभी तक प्रताप के राजनीतिक एवं सैन्य पक्ष पर ही अधिक शोध हुआ है। सृजन पक्ष पर ध्यान दिया गया किंतु उस पर केन्द्रण अपेक्षाकृत कम रहा। उक्त शोध से यह ज्ञात होता है कि प्रताप के राज्यकाल में केवल युद्ध ही नहीं हुए अपितु साहित्य, संगीत, नाटक, स्थापत्य, मूर्तिकला एवं चित्रकला पर महत्वपूर्ण कार्य हुआ।

***

संदर्भ ग्रंथ सूची

संदर्भ ग्रंथ सूची

संस्कृत

1. अमरकाव्यम् (सं. शक्ति कुमार शर्मा और राजेन्द्र प्रकाश भटनागर), साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, 1985
2. अमरसार (सं. भानु कुमार शास्त्री), अंकुर प्रकाशन, उदयपुर, 2010
3. एकलिंग महात्म्य (सं. प्रेमलता शर्मा) , मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 1976
4. काश्यपीकृत कृषी पद्धति (सं. श्री कृष्ण जुगनू), चौखम्बा, वाराणसी, 2013 (प्रथम)
5. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् (सं. वाचस्पति गैरोला), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2013
6. पृथ्वीराजविजयमहाकाव्यम् (सं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी), राजस्थान ग्रंथागार, जोधपुर, 2011
7. मनु स्मृति (अनु. गिरिजा प्रसादा द्विवेदी) , नवल किशोर विद्यालय , लखनऊ, 1917
8. राजप्रशस्ति: महाकाव्यम् (सं. मोतीलाल मेनारिया), साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, 1973
9. राजरत्नाकरमहाकाव्य (सं. मूलचन्द्र पाठक), राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रंन्थांक-201
10. रूपमण्डन (सं. बलराम श्रीवास्तव), मोतिलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1989
11. विश्ववल्लभ (अनु. शिवचरण लाल चौधीरी), एशियन एग्री-हिस्ट्री फाउण्डेशन राजस्थान चेप्टर, उदयपुर

12. वृक्षायुर्वेद (अनु. शिवचरण लाल चौधरी), एशियन एग्री हिस्ट्री फाउण्डेशन, उदयपुर

13. श्रीमद् एकलिंगपुराणम् (सं. श्रीकृष्ण जुगनू और भँवर शर्मा) , आर्यावर्त संस्कृति संस्थान, दिल्ली, 2011

14. हम्मीर महाकाव्य (सं. मुनि जिनाविजय), राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1993

फारसी अनुवादित

1 A-IN-I-AKABARI. (TRANS.) H.S. Jarrett. Vol. I,II,III. Low Price Publication. New Delhi. 2011

2 Akbarnama. (TRANS.) H. Beveridge. Vol. I,II,III. Asiatic Society of Bengal. Calcutta. 1897

3 History of India as told by its own Historian. (TRANS.) H. M. Elliot and John Dowson. Trubner and Co. London. 1873

4 Muntakhabul Tawarikh. (TRASN.) W.H. Lowe. Vol. I,II,. Idarah-I-Adabiyat-I-Delhi. 1973

5 The Tabakat-I-Akbari. (TRANS.) B. De. Asiatic Society of Bengal. Calcutta. 1913

6 तारीखे-फरिश्ता (अनु.) नरेन्द्र बहादुर श्रीवास्तव, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2003

राजस्थानी

1 कवि हेमरतन कृत गोरा बादल पदमिणी चड़पई (सं. उदयसिंह भटनागर) राजस्थान प्राच्य प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रंथांक-35, 1966

2 गोगूंदा की ख्यात (सं. हुकमसिंह भाटी), प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1996

3 जाडा मेहडूग्रंथावली (सं. सौभाग्यसिंह शेखवत), राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी, जोधपुर, 1975

4 दयालदास राव कृत राणा रासो, (सं. ब्रजमोहन जावलिया), महाराणा प्रताप, स्मारक समिति, उदयपुर, 2017

5 दीपंग-कुल-प्रकाश (सं. ब्रजमोहन जावलिया, प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1994 (प्रथम)

6 पृथ्वीराज रासउ (सं. माता प्रसाद गुप्त), साहित्य सदन, झाँसी, वि.सं. 2020

7 प्राचीन डिंगल काव्य में महाराणा प्रताप (सं. देवीलाल पालीवाल), अरुणिमा प्रकाशन, उदयपुर, 1966

8 बाँकीदास की ख्यात (सं. नरोत्तमदासजी स्वामी), राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान ,जोधपुर, ग्रंथांक-21, 1956

9 महाराणा राजसिंह पट्टा बही पट्टेदारों री विगत (सं. हुकम सिंह भाटी), हिमा

10 मारवाड़ रा परगनां री विगत (सं. नारायण सिंह भाटी), राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, भाग-1,2,3 ग्रंथांक,-121, 1974

11 मुँहणोत नैणसी की ख्यात, (अनु. रामनारायण दूगढ़), महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केनद्र, जोधपुर, भाग-1,2, 2010 (प्रथम संसकरण-1925)

12 मेवाड़ रावल राणाजी री बात (सं. हुकमसिंह भाटी), प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर 1994 (प्रथम)

13 राठौड़ां री ख्यात (सं. कैलाशदान उज्जवल और पुष्पेन्द्रसिंह), राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1999, ग्रंथांक-195,

14 राठौड़ां री ख्यात (सं. हुकमसिंह भाटी), राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2007 (प्रथम)

15 हम्मीर महाकाव्य (सं. मुनि जिनविजय), राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, ग्रंथांक-65, 1993

हिंदी

1 अरविन्द कुमार : *जावर का इतिहास,* हिमांशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर, 2017

2 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : *मुगलकालीन भारत (1526-1803),* शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1953 (प्रथम)

3 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : *मुगलकालीन भारत 1526-1803,* शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा

4 आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : *अकबर महान्, राजनीति इतिहास,* (भाग-1) शिवलाल अगवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1967 (प्रथम)

5 आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : *मध्यकालीन भारतीय संस्कृति,* शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा

6 इरफान हबीब (सं.) : *मध्यकालीन भारत,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999 (1993 प्रथम)

7 ईश्वर सिंह मडाढ़ : *महाराणा प्रताप*, नेशनल फाइन आर्ट प्रेस , करनाल, 1983

8 ए. एल. बाशम : *अद्भुत भारत,* शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा

9 ओंकार नाथ उपाध्याय : *अकबर तथा जहाँगीर के अन्तगर्त हिन्दू अमीर वर्ग,* वाई. के. पब्लिशर्स, आगरा, 1992, (प्रथम)

10 कन्हैयालाल देव : *बीकानेर राज्य का इतिहास,* श्रीवेंकेटेश्वर स्ट्रीम प्रेस बम्बई, 1926

11 कस्तूर चन्द कासलीवाल : *महाकवि ब्रहम रायमल्ल एवं भट्टारक त्रिभुवनकीर्ति*, श्री महावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1978

12 कामिल बुल्के : *राम-कथा,* हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, 2004

13 काशीप्रसाद जायसवाल : *हिंदू राज्य तंत्र,* (अनु. रामचंद्र वर्मा), काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1942

14 के. एम. अशरफ : *हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ,* (अनु.) के. एस. लाल, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली, 1969 (प्रथम)

15 के. सी. श्रीवास्तव : *प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति* , यूनाईटेड बुक डिपो, इलाहाबाद, 2005-06

16 गोपीनाथ शर्मा : *मेवाड़-मुगल संबंध,* राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1976 (प्रथम)

17 गोपीनाथ शर्मा : *राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत,* राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1976 (प्रथम)

18 गोपीनाथ शर्मा, एन. एन. माथुर, एस.एस. राणावत (सं.) : *महाराणा प्रताप के प्रमुख सहयोगी,* राजस्थानी ग्रथागार, जोधपुर, 1997 (प्रथम)

19 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : *उदयपुर राज्य का इतिहास,* राजस्थान ग्रंथागार, जोधपुर, 2015 (चतुर्थ)

20 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : *बांसवाड़ा राज्य का इतिहास,* राजस्थानी ग्रंथागार जोधपुर, 1998 (प्रथम-1936)

21 चन्द्रशेखर शर्मा : *राष्ट्ररत्न महाराणा प्रताप,* आर्यावर्त संस्कृति संस्थान, दिल्ली, 2008 (प्रथम)

22 चिंतामणि विनायक वैद्य : *हिन्दू भारत का उत्कर्ष श्री काशी विद्यापीठ,* काशी सं. 1986

23 जगदीश सिंह गहलोत : *मेवाड़ राज्य का केन्द्रीय शक्तियों से संबंध,* हिंदी साहित्य मंदिर, जोधपुर

24 जगदीश सिंह गहलोत : *राजपूताने का इतिहास,* हिन्दी साहित्य मंदिर, जोधपुर, वि.सं. 1994 (प्रथम)

25 जगदीशसिंह गहलोत : *बून्दी राज्य का इतिहास,* हिन्दी साहित्य मंदिर, जोधपुर, 1960

26 जवाहरलाल नेहरू : *विश्व इतिहास की झलक* , (अनु. चंद्रगुप्त वार्ष्णेय) सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, 2013

27 डब्ल्यू. एच. मोरलैंड : *अकबर से औरंगजेब तक,* (अनु. के. के. त्रिवेदी) ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

28 दशरथ शर्मा : *चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2015 (1972, प्रथम)

29 दामोदर लाल गर्ग : *महाराणा प्रताप,* साहित्यगार, जयपुर, 2013

30 देवीलाल पालीवाल : *झाला राजवंश,* राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 2004 (प्रथम)

31 देवीलाल पालीवाल : *महाराणा प्रताप महान्,* नवभारत प्रकाशन ,जोधपुर, 2012

32 देवीलाल पालीवाल : *महाराणा प्रताप स्मृति ग्रन्थ,* साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, 1969

33 देवीलाल पालीवाल और गिरीशनाथ माथुर (सं.) : *मेवाड़ के राजाओं की राणियों, कुंवरों और कुंवरिओं का हाल* , साहित्य संस्थान , राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, 1985

34 देवीसिंह मंडावा : *कच्छवाहों का इतिहास,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2010 (प्रथम 2001)

35 धर्मपाल शर्मा : *मेवाड़ संस्कृति एवं परम्परा,* प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1999 (प्रथम)

36 धाय भाई तुलसीनाथ तंवर : *शिकार और शिकारी,* उदयपुर, 1956

37 न. वी. राजगोपालन : *कंब रामायण,* भाग-1,2, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 2000

38 नन्दिता सिंघवी : *वेद एवं पुराणों में औषधीय पादप तथा रोगोपचार,* विकास प्रकाशन, बीकानेर, 2013

39 नरेन्द्र सिंह चारण, पुनाराम पटेल : *महाराणा प्रताप एवं राष्ट्र कवि दुरसा आढ़ा,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2015 (प्रथम)

40 नीरजा भट्ट : *राजस्थान का भील समाज,* हिमांशु पब्लिकेशंस, उदयपुर, 2007

41 नीलम कौशिक : *बेगूँ का इतिहास,* हिमांशु पब्लिकेशन्स उदयपुर, 2014

42 बाबूराम पाण्डेय : *सैन्य अध्ययन की पाठ्य पुस्तक,* प्रकाश बुक डिपो, बरेली, 2004 (प्रथम)

43 बिन्ध्याराज चौहान : *भारतेश्वर पृथ्वीराज चौहान और उनका युग,* श्री आशापुरा अर्हत् अर्पण प्रतिष्ठान, आजमगढ़, (उत्तरप्रदेश), 2010 ई. (प्रथम)

44 मनोरमा जोशी : *महाराणा अमरसिंह प्रथम और उसका समय (1597-1620 ई.*), अंकुर प्रकाशन, उदयपुर, 1992

45 मनोहरसिंह राणावत : *महाराणा प्रताप अप्रकाशित ख्यातों में,* महाराणा प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 2000

46 मीना गौड़ : *मेवाड़ ठिकाने के पट्टे परवाने,* अंकुर प्रकशन, उदयपुर, 2008

47 मोतिलाल मेनारिया : *डिंगल में वीररस,* राजस्थान ग्रंथागार, जोधपुर

48 रघुबीर सिंह : *पूर्व आधुनिक राजस्थान,* राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर, 1951

49 रघुबीर सिंह : *महाराणा प्रताप जीवनी, महत्व व देन,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2012

50 रमेश दत्त शर्मा : *प्राचीन भारत में पेड़-पौधों का ज्ञान,* प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2013 (प्रथम)

51 राघवानन्द : *भगवान एकलिंग और हारित,* ठिकाना और कैलाशपुरी, मेवाड़, विक्रमाब्द 2000

52 राघवेन्द्र सिंह मनोहर : *राजस्थान के प्रमुख दुर्ग,* राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2014 (दसवाँ)

53 राजीव नयन प्रसाद : *राजा मानसिंह आमेर,* (अनु.) रतनलाल मिश्र, राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2005 (प्रथम)

54 राजेन्द्र शंकर भट्ट : *महाराणा प्रताप,* नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2013

55 राजेन्द्र शंकर भट्ट : *मेवाड़ के महाराणा और शहंशाह अकबर,* स्फटिक प्रकाशन, जयपुर, 1976 (प्रथम)

56 राजेन्द्रनाथ पुरोहित : *मेवाड़ दरीखाने के रीति-रिवाज एवं संस्कार,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2005 (प्रथम)

57 राज्य श्री कुमारी बीकानेर : *बीकानेर के महाराजा,* महाराजा गंगा सिंह जी ट्रस्ट, बीकानेर, 2018 (प्रथम)

58 रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्ड़ावत : *रजवाड़ों की रीति-रिवाज,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2006 (प्रथम)

59 राम शरण शर्मा : *भारतीय सामंतवाद,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000 (प्रथम 1993)

60 रामप्रसाद दाधीच : *राजस्थान के पाँच महाकवि,* जैनसन्स, जोधपुर, 1976 (प्रथम)

61 रामवल्लभ सोमानी : *कुम्भलगढ़,* राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर,, 2011 (प्रथम)

62 रामवल्लभ सोमानी : *महाराणा कुंभा,* हिन्दी साहित्य मन्दिर, जोधपुर, 1968 (प्रथम)

63 रामवल्लभ सोमानी : *महाराणा प्रताप एक अध्ययन* , बोहरा प्रकाशन , जयपुर, 1998

64 राय कृष्णदास : *भारत की चित्रकला,* भारती भण्डार, इलाहाबाद, 1960

65 रायबहादुर मुंशी हरदयालसिंह : *रिपोर्ट-मरदुमशुमारी राजमारवाड़ 1819 ई.,* महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र, जोधपुर, 1894 (प्रथम), 1997 (द्‌वितीय)

66 रावत सारस्वत : *दुरसा आढ़ा,* साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1983

67 रोमिला थापर : *पूर्वकालीन भारत (प्रारम्भ से 1300 ई. तक),* हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्‌यालय, दिल्ली, 2008 (प्रथम) 2015 (सातवाँ)

68 ईश्वर सिंह राणावत, *राजस्थान के जल संसाधन,* चिराग प्रकाशन, उदयपुर, 2004 (प्रथम)

69 वाचस्पति शर्मा त्रिपाठी : *पुराण वाङ्मय में युद्ध एवं सैन्य विज्ञान,* कला प्रकाशन, वाराणसी, 2009 (द्‌वितीय)

70 विजय कुमार वशिष्ठ : *राजस्थान के सामाजिक और राजनैतिक इतिहास के आयाम,* लिट्रेरी सर्किल, जयपुर, 2016

71 विद्‌या भास्कर : *शेरशाह सूरी, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास,* नई दिल्ली, 1972 (पहला), 2016 (दसवीं आवृत्ति) शक् (1938)

72 वी. एस. भार्गव : *मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास,* कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1966

73 शीरीं मूसवी : *अकबर के जीवन की कुछ घटनाएँ,* नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2000 (पहला), 2011 (सावतीं) (शक् 1933)

74 श्यामलदास : *वीर विनोद,* महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, उदयपुर, 2007

75 श्री केशवकुमार ठाकुर : *भारत की प्रसिद्ध लड़ाईयाँ,* सत्यधर्म प्रकाशन, रोहतक हरयाणा 2009 (तृतीय)

76 श्रीकृष्ण 'जुगनू' : *भारतीय ऐतिहासिक प्रशस्ति परम्परा एवं अभिलेख,* आर्यावर्त संस्कृति संस्थान, दिल्ली, 2019 (प्रथम)

77 श्रीकृष्ण 'जुगनू' : *महाराणा प्रताप का युग,* आर्यावर्त संसकृति संस्थान, दिल्ली, 2010 (प्रथम), 2016 (द्वितीय) संशोधित संस्करण)

78 श्रीकृष्ण जुगनू : *राजवल्लभ वास्तुशास्त्रम्,* परिमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

79 सज्जनसिंह राणावत, के. एस. गुप्ता (सं.) : *महाराणा प्रताप एवं सोलहवीं शताब्दी का मेवाड़,* महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर, 2017 (प्रथम)

80 सज्जनसिंह राणावत, के. एस. गुप्ता, स्वरूप सिंह चूंडावत (सं.) : *महाराणा प्रताप से संबंधित स्त्रोत एवं स्थान,* महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर, 2002 (प्रथम)

81 सतीश चनद्र : *मध्यकालीन भारत (1526-1761),* जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नयी दिल्ली

82 सतीश चन्द्र : *मध्यकालीन भारत, (1526-1761),* जवाहर पब्लिशर्स एण्ड, डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2010 (प्रथम), (चतुर्थ संशोधित संस्करण)

83 सतीश चन्द्र : *मध्यकालीन भारत, दिल्ली सल्तनत 1206-1526,* जवाहर पब्लिशर्स एण्ड, डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2000 (प्रथम), 2010 (चतुर्थ संशोधित संस्करण)

84 सी. दोरजे और डी. एम. डिमरी : *कुम्भलगढ़,* भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली, 2012

85 हरविलास सारदा : *हिन्दुपति महाराणा सांगा,* राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 2012

86 हरीशचंद्र वर्मा : *मध्यकालीन भारत (750-1540),* हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993 (प्रथम), 2009 (चौतींसवाँ)

87 हर्षप्रभा : *कुम्भाकालीन जैन साहित्य,* स्वाति पब्लिकेशन्स, उदयपुर, 2010

88 हुकम सिंह भाटी : *जैतावत राठौड़ों का इतिहास,* जैतावत इतिहास समिति, बगड़ी-सोजत, राजस्थान, 2013

89 हुकम सिंह भाटी : *युग पुरूष महाराणा प्रताप,* प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1991

90 हुकम सिंह भाटी : *राजस्थान के ठिकानों एवं घरानों की पुरालेखीय सामग्री,* प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1996 (प्रथम)

91 हुकम सिंह भाटी : *सिसोदा वंशावली एवं राजस्थान के रजवाड़ों की वंशावलियें,* प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 1995 (प्रथम)

92 हुकमसिंह भाटी : *महाराणा प्रताप ऐतिहासिक अध्ययन,* राजस्थानी शोध संस्थान, जोधुपर, 2001

ENGLISH

1 Agarwal, B.D. Rajasthan District Gazetteers; Udaipur Government of Rajasthan. Jaipur 1979

2 Bhadhani, B.L. Water Harvesting, Conservation and Irrigation in Mewar. Marwar. 2012

3 Bhattacharya, A. N. Human Geography of Mewar. Himanshu Publications. Udiapur. 2000

4 Bingley, A.H. Rajput & Government Printing Press Simla, 1899

5 Chakrawati, P.C. The art of war in Ancient India low Price Publication. 2010 (First-1941)

6 Dikshitar, R. War in Ancient India. Co & Mo Publication. New Delhi. 1999 (First)

7 Dutta, Manmatha Nath (TRANS.) Kamandakiya Nitisara. Elysium Press, Calcutta. 1896

8 Hooja, Rima : A History of Rajasthan Rupa & Lo New Delhi. 2009 (First- 2006)

9 Irvin, William. The Army of the Indian Moghuls. Luzac & Co London. 1903

10 Jain, K. C. Ancient Cities And Towns of Rajasthan, Book Treasure. Jodhpur. 2015 (First-1974)

11 Kharakwal, J.S. Indian Zinc Technology. Pentagon Press. New Delhi, 2011

12 Kumar, Raj. Rajput Military Systems. Commonwealth. New Delhi. 2004 (First)

13 Machiavelli, Niccolo. The Prince Fingerprinting Classics, New Delhi, 2015

14 Majumadar, Girija Prasanna. UPAVANA VINODA. The Indian Research Institute. Calcutta. 1935

15 Mathour, Tej Kumar. Feudal polity in Mewar Publication Scheme Jaipur. 1987

16 Paliwal, D. L. Ed. Mewar Through the Ages. Sahity Sansthan. Udaipur. 1970 (First)

17 Prasad, Rajiva Nain Raja Man Singh of Amber.

18 Randhawa, M. S. A History of Agriculture in India Vol. I,II. Indian Council of Agriculture Research New Delhi. 1980

19 Ratnawat, Shayam Singh. Rajput Nobility. PunchSheel Prakashan. Jaipur. 1989

20 Roy, Kaushik. Hinduism And The Ethics of Warfare in South Asia Cambridge University Press New. York. 2012

21 Sarda, Har Bilas Maharana Sanga Scottish Mission. Ajmer. 1918

22 Sarda, Har Bilas. Maharana Kumbha Scottish Mission, Ajmer. 1917

23 Sarkar, Jagadish Narayan. The Art of War in Medieval India. Munshiram Manoharlal New Delhi. 1984 (First)

24 Seesodia, Jessraj Singh. The Rajputs : A Fighting Race. East and west. London. 1915

25 Sharma, Dashratha. Early Chauhan Dynasties. S. Chand & Co. Delhi., 1959

26 Sharma, G.N. Social life in Medieval Rajasthan. Lakshmi Narain Agarwal. Agra.

27 Sharma, Gautam. Indian Army Through The Ages. Allied Publishers. New Delhi. 1966

28 Sharma, Gopinath Mewar & The Mughal Emperors. Shiva Lal Agarwala Co. Agra. 1954

29 Sharma, Krishna Gopal. History And Culture of Rajasthan Centre For Rajasthan Studies. Jaipur. 2014 (First)

30 Sharma, Shri Ram, Maharana Pratap. Kapur Art Printing Works. Lahore. 1930

31 Singh T. Bahadur. Kshatrya Rajput Caste. Job Printing Press, Ajmer.

32 Somani, Ram Vallabh. History of Mewar. kitab Mahal. Jaipur.1976

33 Somani, Ram Vallabh. Prithviraj Chauhan And His Times. Publication Schem. Jaipur. 1981 (First)

34 Srivastav, Ashoka. Khalji sultans in Rajasthan. Purvanchal Prakashan. Gorakhpur. 1981

35 Tod, James. Annals and Antiquities of Rajasthan, Book Treasure, Jodhpur. 2015- Vol. 1-2

36 Vatsyayan, Kapila. Jaur Gita Govinda. National Museum, New Delhi. 1979

37 Vyas, Raj Shekhar. Architectural Glories of Mewar. Raj Book Enterprises. Jaipur. 2004

पत्र-पत्रिका

1 EPIGRAPHIA INDICA

2 ASI Reports

3 Proceeding of Rajasthan History Congress

4 नागरी प्रचारिणी

5 शोध पत्रिका

6 मज्जमिका

7 मीरायंन

***

परिशिष्ट

परिशिष्ट

गोगूंदा स्थित प्रतापकालीन स्मारक



उदयसिंह की छतरी



प्रताप की राजतिलक स्थली



राजतिलक स्थल के समीप स्थित महादेव बावड़ी



मायरा की गुफा



रक्त तलाई स्थित तंवर परिवार की छतरी

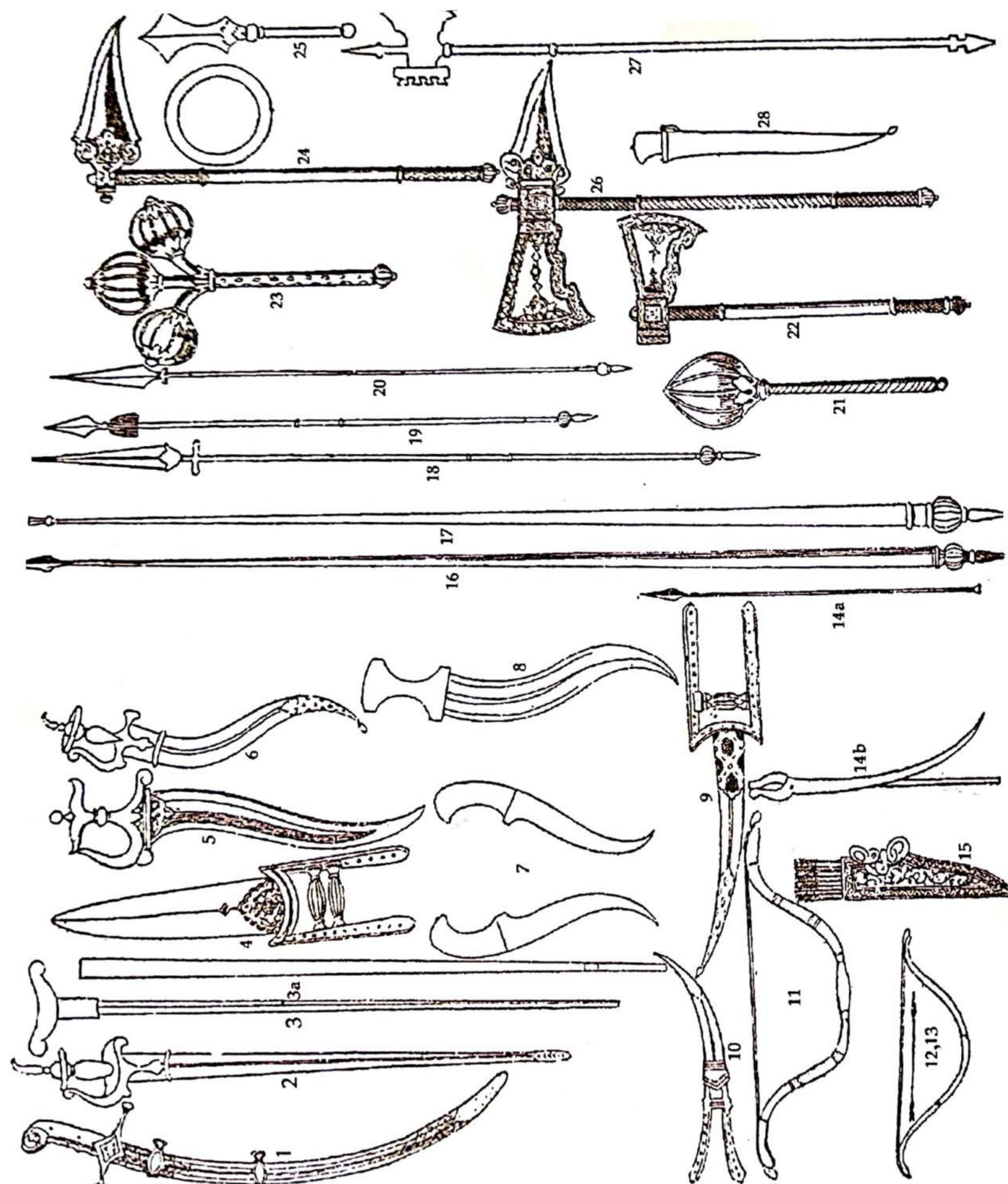


रक्त तलाई स्थित झाला मानसिंह की छतरी



आवरगढ़ से प्राप्त वि. सं. 707 का सती लेख

16वीं शताब्दी में प्रचलित अस्त्र-शस्त्र



राणा जगत सिंह कालीन बहि में जावर से प्राप्त आय का उल्लेख

पंचोली सिवकरण लालचंद री बही[1] (वि० सं० 1691)

राणा जगतसिंघ रै खालसो छै जागीरदार नु जागीर छै त्यां री नामो—मुंत (मुहता) पीथै नारायणोत याददास्त मंडयो कुड़ साच रो श्री परमेश्वर जी जाणै सं० 1691 सावण वद 1—मेडतै। राणा रो चाकर थको आयो तरे मंडायो खालसै रुपीया

60000 मेवाड़ रा गांव मुकते छै

45000 मांडलगढ़ रा

32000 बधनावर रा

25000 मीमच रा

22000 चीतोड़ री तलहटी रा

45000 छप्पन रा च्यार

10000 गिरवा रा

13000 सहरो

9000 मामल रा

8000 गोढ़वाड रा

15000 पुर रा परगना रा

250000 जावर रुपा सीसा जसद री खान रा वरस 1 रा. दिन 1 रा 700

534000 परगना माय इतरो खालसो छै

चक्रपाणी मिश्र रचित विश्ववल्लभ



महाराणा प्रताप द्वारा बालाचार्य को 1633 ई. में दिया गया पीपली गाँव का ताम्र पत्र

कमलनाथ - आवरगढ़ से प्राप्त ध्वनसावशेष





